प्रथम संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक पूर्णरूप से अर्थशास्त्र की प्रस्तावना है। ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों में आज आर्थिक प्रणाली किस प्रकार चलती है इसका यथार्थ दिग्दर्शन कराना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। यद्यपि कुछ विपयों का विवेचन प्रारंभिक पुस्तकों की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है फिर भी यह विषयारंभ करनेवालों के लिए ही लिखी गई है। मैं आशा करता हूँ कि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों तथा सिविल सर्विस और व्यवसायात्मक संस्थाओं की परीक्षाओं की तैयारी करनेवालों के लिए भी यह उपादेय पाठ्य पुस्तक सिद्ध होगी।

विगत कुछ वर्षों में आर्थिक सिद्धान्त एवं आर्थिक क्रिया में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं; अतः उन परिवर्तनों का वर्णन करनेवाली एक नवीन पाठ्य पुस्तक की मुझे आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस ग्रंथ में सिद्धान्त-संबंधी जिन विकासों का उल्लेख हुआ है वे ये हैं :—विकल्पों के बीच चुनाव की धारणा और अधिमान-माप पर अधिक जोर, वास्तविक लागत की अपेक्षा अवसर-लागत को महत्त्व देना और उपयोगिता को निरपेक्ष एवं मापनीय मानने के सिद्धान्त का परित्याग, ह्रासमान उत्पत्ति के सिद्धान्त एवं महामात्रोत्पादन की मितव्ययता में सुधार, सीमान्त लागत और सीमान्त आय के रूप में एकाधिकार अथवा अपूर्ण स्पर्द्धा का विश्लेषण और द्रव्य का द्रव-संपत्ति के रूप में विवेचन, द्रव्य रखने की माँग का "द्रवताधिमान" और व्याज की दर के साथ साथ परिवर्तित होने आदि का विवेचन। श्री कींस के मत के प्रति पर्याप्त उदारता प्रदर्शित की गई है परन्तु इससे मैं उनका अनुयायी नहीं माना जा सकता। विवादास्पद प्रश्नों को अधिकांश में या तो मैंने टाल दिया है या उनकी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके विचार करने के लिए छोड़ दिया है।

आर्थिक क्रिया में जिन परिवर्तनों का विवेचन किया गया है वे ये हैं—सितंबर १९३१ से, जब कि ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग किया, बैंक औफ इंग्लैंड तथा लंदन के द्रव्य-बाजार में होनेवाले परिवर्तन, सुलभ मुद्रानीति के परिणाम, नियंत्रण-योजनाओं की वृद्धि, विनिमय-समक निधियों की स्थापना अथवा कुछ देशों में पूर्णविनिमय नियंत्रण और शुल्कों तथा यथांशों द्वारा संरक्षण की वृद्धि।

मैं अपने सहाध्यापकों का बहुत कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अनेक प्रकार से मेरी सहायता की है। इस पुस्तक में जो कुछ गुण हैं उनका श्रेय उन्हीं को है और यदि उनकी सहायता न प्राप्त होती तो यह लिखी ही न जाती।

आगामी संस्करण में सुधार करने के लिए यदि कोई सुझाव—विशेषतः अध्यापकों द्वारा—दिए जायँगे तो मैं सहर्ष उनका स्वागत करूँगा।

पृष्ठ १८४ के पश्चात् दी गई सरणि के लिए अनुमति देने के कारण मैं सर्वश्री विकर्स लिमिटेड का भी ऋणी हूँ।

लंदन स्कूल औफ इकनौमिक्स
अप्रैल १९३८

फ्रेड्रिक बेन्हम्

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

"संसार युद्धरत है, युद्ध के द्वारा नृशंसता, भयंकरता, दुःख और पीड़ा की उत्पत्ति होती है, फिर भी संसार पर अन्याय और अनुदारता का शासन और आगामी अगणित वर्षों के लिए मानव की आत्मा का हनन हम नहीं सह सके। अतः प्राण देकर स्वतंत्रता और सभ्यता की रक्षा करना हमारे लिए एकमात्र मार्ग था।"

१९४२ में "युद्ध का अर्थशास्त्र" नामक अध्याय के ये आरंभिक शब्द थे। अब युद्ध समाप्त हो गया है। थके माँदे परन्तु अब भी स्वतंत्र रह कर हम युद्धोत्तरकालीन संसार की कठिनाइयों और समस्याओं का सामना कर रहे हैं।

आर्थिक जीवन में सरकार का भाग दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है और कम से कम कुछ काल के लिए अनेक नियंत्रण चालू रहेंगे। आज ऐसे बच्चे बढ़ रहे हैं जिन्होंने समभाजन, पंक्तिबद्धता, और अनुमति-पत्र-हीन संसार नहीं देखा है।

फिर भी अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त अब भी वैसे ही सत्य और महत्त्वपूर्ण हैं जैसे कि पहले थे। निजी संपत्ति, उद्यम की स्वतंत्रता और उपभोक्ताओं द्वारा चुनाव की स्वतंत्रता अब भी हमारे आर्थिक जीवन के अधिक भागों में चालू है, यद्यपि युद्धपूर्व की अपेक्षा उन पर सरकार का अधिक नियंत्रण है और सामाजिक उद्देश्यों के अनुकूल मूल्य-प्रणाली बनाने के उद्देश्य से किए जानेवाले सरकार के कार्यों के परिणामों और तात्पर्यों को समझने के लिए अपेक्षाकृत स्वतंत्र मूल्य-प्रणाली की कार्यविधि को समझना आवश्यक है।

अतः मेरी दृष्टि में प्रत्येक नागरिक के लिए अर्थशास्त्र का अध्ययन करना युद्धपूर्व की अपेक्षा आज अधिक महत्त्वपूर्ण एवं वांछनीय है। अंतिम अध्याय को छोड़कर मैंने पुस्तक में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया है। जो थोड़े बहुत परिवर्तन हुए हैं वे पादटिप्पणियों के रूप में हैं और इसलिए किए गए हैं कि अद्यावधि आँकड़े प्रस्तुत हो जायँ, अथवा पाठकों को यह स्मरण दिलाने के लिए कि कुछ वर्णनात्मक अंश युद्ध के पूर्व लिखे गए थे। मैं समझता हूँ कि ये अंश युद्धपूर्व की स्थिति का—विशेषतः द्रव्य एवं महाजनी के क्षेत्र में—दिग्दर्शन कराने में अब भी लाभ-

दायक हैं। नए अध्याय में दिए गए युद्धोत्तरकालीन आँकड़ों से उनकी तुलना की जा सकती है।

यह नवीन अध्याय, जो "युद्ध का अर्थशास्त्र" के स्थान पर रखा गया है, युद्धोत्तरकालीन आर्थिक समस्याओं का—विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन और वर्तमान मजदूर-सरकार की आर्थिक नीति का—विवेचन करता है। निःसंदेह इनमें से कुछ प्रश्न विवादग्रस्त हैं परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के समान आरंभिक पुस्तक में भी उनका विवेचन होना आवश्यक है। मैंने अपने मतों और धारणाओं को अधिक महत्त्व दिए बिना तर्क की दृष्टि से विवेचन करने का प्रयास किया है। प्रत्येक पीढ़ी के साथ अपनी अपनी आर्थिक समस्याएँ होती हैं और वह उन्हें अपने ढंग से सुलझाती है। नवीन अध्याय द्वारा पुस्तक को अद्यावधि बनाने का प्रयत्न किया गया है और विशेषतः युद्धोत्तरकालीन आर्थिक नीति के मुख्य उद्देश्यों और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा उन्हें सिद्ध करने के प्रयासों पर विचार किया गया है।

दिसंबर, १९४९ फ्रेड्रिक बेन्हम्

अनुवादक के दो शब्द

श्री फ्रेड्रिक बेन्हम् का "अर्थशास्त्र" नामक ग्रंथ अर्थशास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में एक विशेष स्थान रखता है। बी. ए. के छात्रों के लिए अंग्रेजी में इससे उत्तम पाठ्य-पुस्तक दूसरी नहीं है। बेन्हम् के ग्रंथ की विशेषता यह है कि उन्होंने रूढ़िगत प्रणाली को छोड़ कर एक नए ढंग से पुस्तक लिखी है। इसीसे उन्होंने कुछ विषयों को, जिन्हें पुराने लेखक कम महत्त्व देते थे, अधिक महत्त्व दिया है; और इसके विपरीत जिन विषयों का पुराने लेखक बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन करते थे उन्हें बेन्हम् ने संक्षेप में दिया है। यही कारण है कि रूढ़िवादी अध्यापकों को बेन्हम् की पुस्तक अपूर्ण जान पड़ती है। वास्तव में बेन्हम् ने आर्थिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। पुस्तक में आदि से अन्त तक लेखक का उद्देश्य यही रहा है कि विषय को जहाँ तक हो सके सरल बनाया जाय। इसीसे उसने सरल किन्तु काल्पनिक उदाहरणों द्वारा पहले विषय को स्पष्ट किया है और तब वास्तविकता पर आए हैं। इसमें संदेह नहीं कि बेन्हम् की यह शैली विषयारंभ करनेवाले विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

बेन्हम् के इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता है कुछ नए विषयों का समावेश और उनका विस्तारपूर्वक विवेचन। इन नवीन विषयों का उल्लेख उन्होंने अपनी भूमिका में कर दिया है। ये विषय केवल अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए ही नहीं वरन् आज की दुनिया में प्रत्येक नागरिक के लिए ज्ञेय हैं। परन्तु इनका विवेचन अर्थशास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में विरले ही पाया जाता है। अतः लेखक ने उनका इस छोटी सी पुस्तक में अत्यन्त सरल विवेचन करके छात्रों का बड़ा उपकार किया है।

इसमें संदेह नहीं कि बेन्हम् ने आदि से अन्त तक अपने देश ग्रेट ब्रिटेन को ही ध्यान में रखकर पुस्तक लिखी है। अतः उनके उदाहरण और आँकड़े आदि सब उसी देश से लिए गए हैं। फिर भी हम उन्हें अपने देश पर लागू करके उनसे लाभ उठा सकते हैं। अनुवादक ने इसी उद्देश्य से कहीं कहीं उदाहरणों का भारतीयकरण किया है और कहीं कहीं पर भारतीय आर्थिक जीवन से ब्रिटेन की तुलना करने का संकेत किया है। परन्तु पुस्तक का अविकल रूप रखने का आग्रह होने के कारण अधिक परिवर्तन नहीं किया जा सका है। फिर भी चतुर विद्यार्थी उन संकेतों से लाभ उठाएँगे ऐसा मुझे विश्वास है।

अनुवाद का कार्य कितना कठिन होता है इसे वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें इस कार्य का अनुभव है। मूल लेखक के भावों को अविकल रूप में व्यक्त करना तो कठिन होता ही है उस पर यदि पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई पड़ती है तो यह कार्य और भी दुष्कर हो जाता है। वर्तमान समय में हिन्दी में जो संक्रमण का युग चल रहा है उसमें पारिभाषिक शब्दों के संबंध में कितनी मतभिन्नता है इससे प्रायः सभी शिक्षित परिचित हैं। इधर प्रायः प्रत्येक नवीन लेखक अपने अपने विषय की नवीन शब्दावली गढ़ कर चला रहा है। अर्थशास्त्र के अनेक विद्वानों ने कुछ शब्दकोष भी प्रकाशित कराए हैं परन्तु अभी उनमें से किसी के भी अधिकांश शब्द बहुजनग्राह्य नहीं हुए हैं। अतः पारिभाषिक शब्दों की कठिनाई पद-पद पर बाधक होती है। मैंने अबतक के प्राप्य सभी अर्थशास्त्र के कोषों को देखकर उनके अधिक प्रचलित शब्दों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। फिर भी कुछ शब्द नए गढ़ने पड़े हैं। कारण यह कि कुछ शब्द तो किसी भी शब्दकोष में नहीं मिले (बेन्हम् के विषय जो नए नए हैं) और कुछ शब्दों की रचना बड़े भद्दे ढंग से हुई है। कुछ अत्यन्त प्रचलित शब्दों को भी मुझे इसलिए परिवर्तित करना पड़ा कि उनके चालू रूप बहुत लंबे हैं। अतः मैंने उनके संक्षिप्त परन्तु ठीक ठीक अर्थ देनेवाले रूप प्रस्तुत किये है। आशा है ये नए रूप अधिक सरल और उपयोगी होंगे। यद्यपि अर्थशास्त्र जैसे विषय की भाषा का कुछ कठिन होना अनिवार्य है फिर भी यथासंभव पुस्तक की भाषा सरल रखने का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी माध्यम द्वारा पढ़े हुए विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की सुविधा के लिए बहुत से शब्दों के अंग्रेजी रूप कोष्ठकों में दे दिए गए हैं जिससे उन्हें विषय को ग्रहण करने में सुविधा हो। पुस्तक के अंत में शब्दकोष देकर यह सुविधा और भी अधिक कर दी गई है। आशा है इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जायगी और विद्यार्थी इससे पूरा लाभ उठा सकेंगे।

अंग्रेजी भाषा की कठिनाई और उसके अपर्याप्त ज्ञान के कारण बहुत से विद्यार्थी बेन्हम् के हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता समझते थे। आशा है इस अनुवाद द्वारा उनकी बहुत दिनों की अभिलाषा पूर्ण होगी। यदि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को अर्थशास्त्र का विषय समझने में कुछ भी सुविधा हुई तो अनुवादक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

विजयादशमी,
सं० २००७ वि०

रमापति शुक्ल

विषय-सूची

प्रथम खंड

माँग

पहला अध्याय

साधारण पर्यवलोकन

दूसरा अध्याय

बाजार

तीसरा अध्याय

माँग

चौथा अध्याय

स्थिर माँग पर मूल्य

पाँचवाँ अध्याय

माँग में परिवर्तन

छठा अध्याय

माँग, पूर्ति और मूल्य

प्रथम खंड का परिशिष्ट

तटस्थता वक्र

द्वितीय खंड

उत्पादन

साँतवा अध्याय

उत्पादन की मात्रा

आठवाँ अध्याय

श्रम-विभाजन

नवाँ अध्याय

साधनों का संयोग

दसवाँ अध्याय

पूँजी

ग्यारहवाँ अध्याय

अविनायक के अधीन उत्पादन

तीसरा खण्ड

पूँजीवाद में मूल्य-प्रणाली की कार्य-विधि

बारहवाँ अध्याय

माँग की नियन्त्रण-शक्ति

तेरहवाँ अध्याय

व्यवसाय-संस्था की समस्याएँ

चौदहवाँ अध्याय

उत्पादन के साधनों की गतिशीलता

पन्द्रहवाँ अध्याय

एकाधिकार

सोलहवाँ अध्याय

लागत का सिद्धान्त

उन्नीसवाँ अध्याय

लगान

बीसवाँ अध्याय

आर्थिक प्रगति

चतुर्थ खंड

द्रव्य और महाजनी

इक्कीसवाँ अध्याय

द्रव्य की प्रकृति और कार्य

बाईसवाँ अध्याय

बैंक

तेईसवाँ अध्याय

द्रव्य-बाजार और केन्द्रीय बैंक

चौबीसवाँ अध्याय

द्रव्य का अर्घ

पंचम खंड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पचीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

छब्बीसवाँ अध्याय

भुगतानों का आधिक्य

सत्ताईसवाँ अध्याय

मुक्त विनिमय-दर

अट्ठाईसवाँ अध्याय

स्वर्ण-मान

उन्तीसवाँ अध्याय

विनिमय-नियंत्रण

तीसवाँ अध्याय

आयात-शुल्क और यथांश

युद्धोत्तर काल

एकतीसवाँ अध्याय

युद्धोत्तरकालीन आर्थिक समस्याएँ

प्रथम खंड

माँग

अर्थशास्त्र

पहला अध्याय

साधारण पर्यवलोकन (General Survey.)

१. क्रिया और आवश्यकताएँ (Activity and Wants)

संसार में सभी अपने अपने कार्य में व्यस्त हैं। चरवाहा मैदान में ढोर चरा रहा है, खेतिहर मजदूर खेत में बीज बो रहा है अथवा पकी फसल काट रहा है, कारखाने में काम करनेवाला मजदूर मशीनों का नियंत्रण कर रहा है अथवा उनमें कच्चा माल दे रहा है जो तैयार माल के रूप में निकल रहा है। खनक (Miner) पृथ्वी के गर्भ से खनिज पदार्थ खोद कर बाहर निकाल रहा है। आफिस में काम करनेवाला करणिक (क्लर्क) लेखाजोखा ठीक कर रहा है। डाक्टर अपने दवाखाने में बैठा रोगियों को सलाह दे रहा है। अध्यापक विद्यालय में अपने शिष्यों को पाठ पढ़ा रहा है। यातायात (Transport) के कर्मचारी जल, स्थल या वायुयान द्वारा यात्रियों या माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में व्यस्त हैं। तार, टेलीफोन या बेतार के तार द्वारा आश्चर्यजनक तीव्र गति से आदेश भेजे जा रहे हैं। सारांश यह है कि आर्थिक क्रियाओं का चक्र निरंतर चल रहा है।

इन्हीं क्रियाओं का विवेचन करना—यह दिखाना कि किस प्रकार यह सब होता है और इसका परिणाम क्या होता है—हमारा मुख्य कार्य है। परन्तु इसका विस्तारपूर्वक विवेचन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। यदि इस प्रकार की कोई पुस्तक लिखी जाय जिसके अध्यायों के शीर्षक, "नार्फक के एक फार्म में", "यार्कशायर की कोयले की खानों के भीतर", "डैगनहम के फोर्ड के कारखानों में भ्रमण" "लायड बैंक में क्षण भर" इत्यादि हों तो वह निःसंदेह पढ़ने में बड़ी रुचिकर होगी। परन्तु उसके द्वारा आर्थिक संसार की विविध क्रियाओं का पूर्ण चित्र उपस्थित करने के लिये बहुत विस्तार की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त यद्यपि आर्थिक समस्याओं के अध्ययन के लिए इस प्रकार का वर्णन बहुत उपयोगी भूमिका उपस्थित करेगा फिर भी वह स्वयं उन समस्याओं पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सकेगा, कारण यह है कि केवल वर्णन द्वारा किसी समस्या का विधिवत् विश्लेषण नहीं किया जा सकता। जो विद्यार्थी इस प्रकार की पुस्तक का पूर्ण पंडित होगा, जिसने उसके अनेक चित्रों को ध्यान से देखा होगा

अथवा चित्रपट पर उसके चलचित्र देखे होंगे, उसे अनेक प्रकार की क्रियाकल्पात्मक विधियों (Technical processes) और लोगों के जीविकोपार्जन के ढंगों का बहुत विस्तृत और बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु उसे इस बात का बिलकुल ज्ञान नहीं होगा कि भिन्न भिन्न वस्तुओं का मूल्य भिन्न भिन्न क्यों होता है? कुछ मजदूर दूसरों की अपेक्षा अधिक क्यों कमाते हैं? कोई धंधा किसी समय उन्नत और किसी समय अवनत क्यों रहता है? कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक प्रणाली की कार्यविधि का उसे कुछ भी ज्ञान न होगा। और यही प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य विषय है।

सबसे पहले इस प्रश्न द्वारा आरंभ करना अच्छा होगा कि ये सब क्रियाएँ क्यों होती हैं? प्रत्येक मजदूर यह भलीभांति जानता है कि वह काम पर क्यों जाता है। चाहे उसे अपना काम पसन्द हो या नहीं, वह अपनी जीविका उपार्जन करने के लिए काम पर जाता ही है। परन्तु उसका उद्देश्य रुपया कमा कर उसका संग्रह करना नहीं है, वह रुपया इसलिए कमाता है कि उसे कुछ खरीदना है। वह यथासंभव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रुपया कमाता है। वह उससे वे वस्तुएँ खरीदता है जिन्हें हम "उपभोग्य वस्तुएँ" (Consumers' goods) कहेंगे; जैसे भोजन की सामग्री, कपड़ा, वासस्थान और अन्य सभी वस्तुएँ जिनसे वह अपना जीवन निर्वाह करता है। यदि उसे इन वस्तुओं की आवश्यकता न होती, अथवा बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किए ही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती तो वह काम पर कभी न जाता। वह इसलिए काम करता है कि खा सके अथवा अर्थशास्त्र की भाषा में 'उपभोग' कर सके।

यह बात उन सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है जो किसी न किसी प्रकार की आर्थिक क्रिया करते हैं, चाहे वह प्रयत्न व्यक्तिगत परिश्रम द्वारा हो या अपना रुपया लगा कर हो, अथवा दूसरों को अपनी सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार दे कर हो। यह संभव है कि कोई व्यक्ति जिस कार्य या व्यवसाय में अधिक धन मिलता है उसे न चुन कर जिसमें उसकी अधिक रुचि है उसे चुने। इसी प्रकार यह भी संभव है कि कभी कोई व्यवसायी उदारतावश किसी निर्धन ग्राहक को सस्ता माल बेच दे। परन्तु संसार के अधिकांश लोग द्रव्य के रूप में कुछ आय की आशा से ही आर्थिक क्रिया में लगते हैं। और द्रव्य उपार्जन का अन्तिम उद्देश्य है उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि संसार के अधिकांश लोग स्वार्थी और क्षुद्र प्रकृति के होते हैं। कोई मनुष्य अपनी आय का जिस प्रकार उपयोग करता है उससे उसके चरित्र का पता लगता है। कोई तो अपनी आय का अधिकांश अपने स्त्री-बच्चों या अन्य आश्रितों के ऊपर व्यय करता है और कोई अपने धन का अधिक

भाग दान-पुण्य करने में लगाता है । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी और अपने परिवार की आवश्यकताओं के लिए उपभोग्य वस्तुएँ प्राप्त करने को द्रव्य चाहता है। उपभोग्य वस्तुओं से पूरी होनेवाली आवश्यकताएँ ही अधिकतर आर्थिक क्रियाओं को प्रेरणा देती हैं।

जब हमारा ध्यान व्यक्तिगत संकल्प (Motive) की ओर से हटकर आर्थिक प्रयत्नों द्वारा होनेवाले कार्यों की ओर आकृष्ट होता है तब हम देखते हैं कि उत्पादन के समस्त साधनों का उपयोग उपभोग्य वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए हो रहा है। परन्तु संसार के कार्यों का केवल कुछ ही अंग उपभोग्य वस्तुओं को सँवार कर अन्तिम रूप देने और उन्हें उपभोक्ता के पास पहुँचाने में लगता है। जो दूकानदार सिले हुए कपड़े, मान लीजिये सूती कमीज, बेचता है उसके पीछे न जाने कितने मजदूरों और कर्मचारियों का जाल फैला हुआ है। उन सब लोगों ने प्राकृतिक साधनों, भवनों, यंत्रों तथा यातायात के साधनों की सहायता से उस कमीज को दूकानदार तक पहुँचाया है। इनमें कपास के खेतों में, कपास ओटनेवाले कारखानों में, सूत कातने और कपड़ा बुननेवाली मिलों में, कपड़ों को रँगने या छापनेवाले कारखानों में, और दर्जी की दूकान में, जहाँ कमीज तैयार हुई है, काम करनेवाले सभी मजदूर और कर्मचारी सम्मिलित हैं । इनके अतिरिक्त यातायात के साधनों में काम करनेवाले भी हैं, जैसे मोटर लारी चलानेवाले, रेल-कर्मचारी, जहाज के कर्मचारी इत्यादि। फिर कितने ही बंकों के कर्मचारियों, व्यापारियों तथा करणिकों (क्लर्कों) ने भी उसके उत्पादन में भाग लिया है। परन्तु इतने से ही कमीज के उत्पादकों की सूची समाप्त नहीं हो जाती। खान से खोद कर कोयला निकालनेवाले मजदूरों ने यद्यपि कमीज के उत्पादन में नगण्य भाग लिया है फिर भी वह आवश्यक था और हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि उनके निकाले हुए कोयले से ही कोक (नरम कोयला) बना जिससे लोहा पिघलानेवाली भट्ठियाँ जलीं जिनमें कच्चा लोहा तैयार हुआ जिससे इस्पात बना और जिस इस्पात से सूत कातनेवाले तकुए बनाये गए। (समाज की दृष्टि से) उनके श्रम के अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति तभी हुई जब उस कमीज का उपभोग हुआ जिसकी उत्पत्ति में वह श्रम सहायक हुआ था।

यह समझना कठिन नहीं है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत समस्त आर्थिक प्रसाधक (Economic apparatus) बिक्री पर—बल्कि उपभोक्ता के हाथ बिक्री पर—निर्भर है। उदाहरणार्थ किसी कारखाने का मजदूर मजदूरी पाने के लिए काम करता है; परन्तु उसका मालिक उसे वेतन क्यों देता है ? क्योंकि वह आशा करता है कि सूत की बिक्री से उसे जो आय होगी वह उसके व्यय से (जिसमें मजदूर का वेतन भी सम्मिलित है)

बोने का निश्चय करता है तो उसके जौ की "लागत" वह गेहूं है जो यदि जौ न बोया जाता तो बोया गया होता। इस अर्थ में लागत को व्यक्त करने के लिये अर्थशास्त्री प्राय: "अवसर-लागत" (Opportunity Cost) और कभी कभी "अपसारण लागत" (Displacement Cost) पदों का प्रयोग करते हैं। आर्थिक विश्लेषण में "अवसर-लागत" के सिद्धान्त (Concept) का बड़ा महत्त्व है *

आर्थिक निर्णयों (Decisions) को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—निजी निर्णय और व्यावसायिक निर्णय। निजी निर्णय के भी चार भेद किये जा सकते हैं—(१) प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह निर्णय करना आवश्यक है कि वह अपने समय को अवकाश और सवेतन कार्य (Remunerative work) के बीच किस प्रकार बाँटे, (२) उसे यह निर्णय करना आवश्यक है कि वह अपनी आय का कितना अंश वर्तमान उपभोग में व्यय करे और कितना भविष्य में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यय करे। (३) उसे यह निर्णय करना आवश्यक है कि वह अपनी संपत्ति (Assets) का किस रूप में संग्रह करे अर्थात् वह अपनी समस्त संपत्ति को किन-किन रूपों में वितरित करके रखे, (४) उसे यह निर्णय करना आवश्यक है कि वह अपने व्यय को विभिन्न प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं पर किस प्रकार वितरित करे।

यह स्पष्ट है कि ये सभी निर्णय एक दूसरे से संबद्ध हैं। किसी व्यक्ति की आय की मात्रा उसके कार्य की मात्रा पर निर्भर रहती है। यदि वह अधिक बचाने का निश्चय करता है तो उसका संचित धन पहले की अपेक्षा अधिक होगा और तात्कालिक व्यय के लिये उपलब्ध धन कम होगा। कभी-कभी एक पाँचवें प्रकार का निर्णय भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है: वह है एक व्यवसाय के बदले दूसरा व्यवसाय चुनने का निर्णय। इस प्रकार के निर्णय को भी "निजी" निर्णय की श्रेणी में ही रखना चाहिये ; क्योंकि मजदूर एक कार्य को छोड़कर और, कुछ सीमा तक, उससे प्राप्त होनेवाली अधिक मजदूरी का त्याग करके अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने का निर्णय करता है।

आगे चलकर हम इन निर्णयों का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। इस स्थल पर हम इनके विषय में कुछ साधारण बातें लिख कर ही संतोष करेंगे। हमने इन्हें "निजी" निर्णय इसलिये कहा है कि ये किसी व्यक्ति की अपनी रुचि पर अवलम्बित रहते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि भिन्न-भिन्न

---

* दे० Robbins, "Remarks on Certain Aspects of the Theory of Ccsts"; Economic Journal, 1934.

होती है। एक व्यक्ति अधिक वेतन पाने की इच्छा से अधिक कार्य करना पसंद करता है परन्तु दूसरा अधिक अवकाश का इच्छुक रहता है। एक व्यक्ति व्यय करने में उदार होता है और दूसरा मितव्ययी। एक आदमी मिठाई पसन्द करता है दूसरा नमकीन। सारांश यह है कि रुचि-भिन्नता की कोई सीमा नहीं है। जब तक हम किसी व्यक्ति की रुचि को न जानें तब तक उसके विषय में पहले से यह कहना कठिन है कि यदि वह अमुक वस्तु या कार्य का चुनाव करने को बाध्य हो तो क्या करेगा।

इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि इन सभी चुनावों का अर्थ है किसी निश्चित निधि को विभिन्न प्रकार के "उपयोगों" में बाँटना। दिन के २४ घंटे या एक निश्चित आय या एक निश्चित मूल्य की संपत्ति अथवा व्यय के लिए उपलब्ध कोई निश्चित धन विभिन्न प्रकार से बाँटना है। अतः एक प्रकार के व्यवहार के लिए जितना ही अधिक लगाया जायगा दूसरे प्रकार के व्यवहार के लिए उतना ही कम बचेगा। ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों त्यों उपलब्ध निधि की मात्रा (दिन के २४ घंटों को छोड़ कर) परिवर्तित हो सकती है। संभव है कि उस व्यक्ति की आय बढ़ जाय या वह अधिक बचाने का निश्चय करे अथवा उसकी संपत्ति का मूल्य घट या बढ़ जाय। तब वह सम्पूर्ण निधि को विभिन्न प्रकार के उपयोगों में विभिन्न अनुपातों में वितरित करेगा, चाहे उसकी रुचि में कोई परिवर्तन न भी हो। परन्तु जिस समय वह निर्णय करता है उसकी सम्पूर्ण निधि निश्चित है। यदि इस प्रकार की सीमाबद्धता न होती, यदि प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ वह चाहता बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाता तो इस प्रकार के चुनाव या निर्णय की, जिसमें एक को चुनने में अन्य वस्तुओं से वंचित रहना पड़ता है, आवश्यकता ही न पड़ती और तब कोई आर्थिक समस्या ही न उत्पन्न होती। आर्थिक समस्याएँ तो तभी खड़ी होती हैं जब लोग चुनने को विवश होते हैं।

"निर्णय" शब्द से यह व्यक्त होता है कि जानबूझकर, बहुत सोच विचारकर, और अनेक विकल्पों को त्यागकर चुनाव किया गया है। बहुत से आर्थिक निर्णय इस प्रकार भी किए जाते हैं, क्योंकि बहुत से लोगों को अपने पैसे-पैसे का नहीं तो आने-आने का व्यय बड़ी सावधानी से करना पड़ता है, और तनिक भी असावधानी उनके लिए अहितकर हो सकती है। परन्तु कुछ निर्णय उसी क्षण, बिना सोचे विचारे, किए जाते हैं और कुछ को तो साधारण बोलचाल की भाषा में "निर्णय" कह ही नहीं सकते क्योंकि वे पहले पड़ी हुई आदतों के परिणाम होते हैं। लोग कोई काम यों ही करते जाते हैं क्योंकि वैसा करने की उनकी आदत पड़ी हुई है। जबतक कि कोई ऐसी घटना नहीं घटती जिससे विवश होकर उन्हें सोचना पड़े कि

क्या उससे भिन्न कुछ और करना उन्हें पसन्द न आता, तबतक वे अपनी आदत के अनुसार काम करते जाते हैं। फिर भी इस प्रकार के चुनाव के सभी कार्य, चाहे वे सोच विचारकर या आवेग में या अभ्यासवश किए गए हों, "निर्णय" ही कहे जायँगे, क्योंकि हम यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि आर्थिक प्रणाली किस प्रकार चलती है; अतः इन चुनावों के परिणामों में हमारी विशेष रुचि है; और सबका परिणाम होता भी एक ही है, चाहें चुनाव के पूर्व कम सोच विचार किया गया हो या अधिक।

अब हम व्यावसायिक निर्णय (Business decisions) पर आते हैं। ये उस व्यक्ति या समिति (Committee) द्वारा किए जाते हैं जो किसी व्यवसाय-संस्था (Firm) की नीति का संचालन करती है। ऐसे व्यक्ति या समूह के लिए हम "साहसी" (Entrepreneur) शब्द का प्रयोग करेंगे। "साहसी" को यह निर्णय करना आवश्यक है कि उसकी संस्था क्या उत्पन्न करेगी, उसके उत्पादन की मात्रा कितनी होगी, उत्पादन की कौन-कौन सी विधियाँ व्यवहृत होंगी और उसके भिन्न-भिन्न अधिष्ठान (Establishments) किन किन स्थानों पर स्थित होंगे। आगे चल कर ऐसे निर्णयों का हम विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। अभी केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि ये निर्णय रुचि पर अवलंबित नहीं होते। परन्तु इसके पहले हमें यह मान लेना पड़ेगा कि साहसी अपने लिये अधिक से अधिक आय प्राप्त करने का इच्छुक है (साथ ही यह भी मान लिया गया है कि उसने अपना 'निजी निर्णय' पहले ही कर लिया है कि अपना कितना समय वह विश्राम करने में न लगा कर व्यवसाय में लगाएगा)। इसके विपरीत यदि हमें इस बात का ज्ञान है कि साहसी के सामने कितने प्रकार के विकल्प (Alternatives) उपस्थित हैं, तो हम प्रायः पहले से ठीक ठीक बता सकते हैं कि उसका निर्णय किसके पक्ष में होगा, क्योंकि प्रायः एक का चुनाव दूसरों की अपेक्षा अधिक आय का साधन होगा। उसके भावी निर्णय को पहले से बतलाना सर्वदा संभव इसलिए नहीं है कि कभी-कभी वह अपनी इस धारणा को अधिक महत्त्व देता है कि वस्तुओं के मूल्य एक दिशा में न जाकर दूसरी दिशा में जाएँगे और हमारे लिए पहले से यह जानना कठिन है कि इस संबंध में उसका दृष्टिकोण आशावादी होगा या निराशावादी।

किसी समाज के लिए, जो एक आर्थिक संगठन (Economic Organisation) माना जाता है, सब से बड़ी समस्या यह है कि क्या उत्पन्न किया जाय। उसके अधिकांश सदस्य उपभोग्य वस्तुओं के इच्छुक रहते हैं परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के इच्छानुसार उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति करना, अर्थात् उसके जीवन-निर्वाह-स्तर (Standard of living) को उसके इच्छानुसार ऊँचा

उठाना, असंभव है। यदि सब लोग जैन होते—अर्थात् अपनी इच्छाओं का दमन कर डालते—तो यह संभव था। यदि उपभोग्य वस्तुएँ आवश्यकतानुसार प्रायः और प्रचुर मात्रा में स्वर्ग से गिरा करतीं तो यह संभव था; परन्तु जैसी वस्तुस्थिति है उसमें ऐसा होना संभव नहीं है। सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में उपभोग्य वस्तुएँ नहीं प्राप्त हो सकतीं; केवल कुछ धनी-मानी व्यक्ति ही ऐसे भाग्यशाली हैं जो अपने इच्छानुसार उपभोग्य वस्तुओं को प्राप्त कर अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठा सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि उपभोग्य वस्तुओं का अभाव क्यों है? प्रकृति की देन (Gifts of Nature) के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं। उन्हें उत्पन्न करने के लिए भूमि, श्रम, यंत्रों आदि की आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं को अर्थशास्त्री "उत्पादन के साधन" (Factors of Production) कहते हैं। उपभोग्य वस्तुएँ उस मात्रा में नहीं प्राप्त होतीं जितनी उनकी आवश्यकता है क्योंकि उत्पादन के साधनों का अभाव है। मनुष्य की शक्ति परिमित है और उनकी संख्या बढ़ाने से उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़ जाएँगी। इसके अतिरिक्त अच्छी भूमि और अन्य प्रकार की प्राकृतिक संपत्तियों तथा यंत्रों का पर्याप्त मात्रा में अभाव है। इन्हीं कारणों से वस्तुओं का उत्पादन भी परिमित होता है।

परन्तु प्रत्येक समाज को यह निर्णय करना आवश्यक है कि उसके उपलभ्य उत्पादन के साधनों का किस प्रकार उपयोग हो, क्योंकि उनमें से बहुतों का व्यवहार कई प्रकार से होता है। जैसे भूमि का उपयोग अनेक प्रकार की फसलों में से किसी के उत्पादन के लिए अथवा विभिन्न प्रकार के पशुओं को चराने के लिए चरागाह के रूप में, या गेंद खेलने के मैदान या उद्यान या भवन बनाने के काम में हो सकता है। श्रम का उपयोग विभिन्न प्रकार के कार्यों में से किसी एक के लिए हो सकता है। इसी प्रकार यंत्रों और भवनों का उपयोग विभिन्न प्रकार के कार्यों में से किसी एक के लिए हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि गहूँ उत्पन्न करने के लिए अधिक भूमि का उपयोग होता है तो अन्य कार्यों के लिए वह कम मात्रा में उपलब्ध होगी। यदि अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन के लिए अधिक श्रम का उपयोग होने लगे तो अन्य धंधों के लिए कम श्रम उपलब्ध होगा, इत्यादि। अतः यह निर्णय करने में कि उत्पादन के साधनों का उपयोग किस प्रकार किया जाय कोई समाज वास्तव में यह निर्णय करता है कि विभिन्न प्रकार की अपरिमित वस्तुओं में से, जो उपलब्ध उत्पादन के साधनों से उत्पन्न की जा सकती हैं, किस विशेष वस्तु का उत्पादन किया जाय। अर्थात् वह इस बात का निर्णय करता है कि अन्य आवश्यकताओं को अपूर्ण छोड़ कर किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय।

३. सामाजिक संस्थाएँ
(Social Institutions.)

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि कोई आधुनिक राष्ट्र, जैसे ग्रेट ब्रिटेन या संयुक्त राज्य (अमेरिका), अपने उत्पादन के साधनों का उपयोग किस प्रकार किया जाय, इस समस्या को सुलझाने के लिये अपना संगठन किस प्रकार करता है। इसके लिए हम मूल्य-रचना (Price mechanism) की कार्यविधि, बंक-संबंधी नीति का प्रभाव, अपने सदस्यों की मजदूरी बढ़ाने की मजदूर-संघों की शक्ति, एकाधिकार की शक्ति (Monopoly power) के आधार और उसके परिणाम तथा इससे संबंध रखनेवाले अन्य विषयों का विवेचन करेंगे। परन्तु ऐसा करने के पूर्व हम संक्षेप में यह विचार कर लेना चाहते हैं कि यह समस्या किस प्रकार सुलझाई जा सकती है।

एक उपाय केन्द्रीय योजना (Central Planning) है। एक व्यक्ति अथवा समिति आर्थिक अधिनायक (Economic Dictator) का कार्य कर सकती है। उसका कर्तव्य होगा कि राष्ट्र की समस्त जन-संपत्ति तथा भौतिक सम्पत्ति की छानबीन करे और यह निर्णय करे कि उनका उपयोग किस प्रकार किया जाय तथा उनसे उत्पन्न पदार्थों को वह क्या करे। रूस का प्रजातंत्र राज्य कुछ इसी प्रकार का प्रयत्न कर रहा है।

इस प्रकार के कार्य का विस्तार बहुत बड़ा होगा। यदि हम इसका विश्लेषण करें तो संक्षेप में इस कार्य का अर्थ है: उपलभ्य साधनों का किस प्रकार उपयोग किया जाय? परन्तु इसे व्यवहार में लाने के लिये अधिनायक को अनेक प्रकार के निर्णय करने होंगे और सुचारु रूप से व्यवहार में लाने के लिये उसे बहुत अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिये जिसका उपयोग वह यथाअवसर कर सके। उसे यह निर्णय करना चाहिये कि किस प्रकार प्रत्येक मजदूर और भूमि का प्रत्येक खंड काम में लाया जाय। उसे यह निर्णय करना चाहिये कि कौन सा कारखाना किस स्थान पर स्थापित किया जाय और उत्पादन की कौन सी विधि काम में लायी जाय। उसे यह भी निर्णय करना चाहिये कि देश में जो कच्चा माल उत्पन्न होता है तथा उत्पादन के जो अन्य साधन हैं उनका विभिन्न कारखानों में किस प्रकार वितरण हो, कितने भवन बनवाए जायँ, और कहाँ कहाँ, इत्यादि। इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निर्णय करना उसके लिए आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति या समिति अकेले इस कार्य को नहीं कर सकती। व्यवहार में विभिन्न प्रकार के निर्णयों के लिए सुझाव देने का कार्य अनेक उपसमितियों को सौंपा जायगा और वे उपसमितियाँ

भी अधिकांश में स्थानीय उपसमितियों की सलाह पर ही चलेंगी। इस प्रकार यह सम्पूर्ण योजना-संगठन (Planning Organisation), जिसमें जानकारी एकत्र करनेवाले भी सम्मिलित हैं, राष्ट्र की जनशक्ति तथा अन्य प्रकार के उपलब्ध साधनों का बहुत बड़ा अंश अपना लेगा। यह बात इस प्रणाली के विरुद्ध जाती है। इसके अतिरिक्त अधिनायक (Dictator) अथवा केन्द्रीय योजना-समिति को अनेक उपसमितियोंके सुझावों को परस्पर सम्बद्ध करने में बड़ी कठिनाई होगी। उदाहरणार्थ प्रत्येक धंधा इतने मजदूर या इतना कोयला चाहता है, परन्तु देश में उतने मजदूर या उतना कोयला नहीं है कि प्रत्येक धन्धे की माँग पूरी की जाय। ऐसी दशा में अधिनायक अपनी आर्थिक समस्याओं को विभक्त करके एक प्रकार की समस्याएँ एक उपसमिति को और दूसरे प्रकार की समस्याएँ दूसरी उपसमिति को सुलझाने के लिये नहीं सौंप सकता। उसे स्वयं अन्तिम निर्णय देने को बाध्य होना पड़ेगा। और मनुष्य नहीं देवता ही अनेक भूलें करने से बच सकता है अर्थात् शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जिसे एक बार एक निर्णय करके फिर पीछे अपनी भूल के लिए अथवा अपने व्यावहारिक निर्णय के लिए पछताना न पड़े। उधर उपभोक्ताओं को जो मिल जायगा वही लेना पड़ेगा। वे यह नहीं कह सकते कि हमें यह नहीं वह वस्तु चाहिये। उन्हें उसी वस्तु का उपभोग करना होगा जो अधिनायक चाहेगा।

पूर्णरूपेण केन्द्रीय योजना का ठीक विलोम (Opposite) "यथेच्छं कुर्वन्तु" (Laissez Faire) की नीति है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का अपने इच्छानुसार जो चाहे कर सकता है। परन्तु प्रत्येक समाज किसी राज्य या अन्य शासक-संस्था के अधीन रहता है, जिसके द्वारा उस समाज के सदस्यों के लिए कुछ नियम बनाए जाते हैं जिनका पालन करना सबके लिए आवश्यक होता है। इसलिए कोई भी समाज पूर्णतः "यथेच्छं कुर्वन्तु" की नीति का पालन नहीं करता। अब प्रश्न यह है कि कोई राज्य व्यक्तिगत कार्य-स्वतंत्रता (Individual Freedom of Action) का नियन्त्रण किस सीमा तक करता है? प्रायः सभी राज्य कुछ सीमा तक नियंत्रण या हस्तक्षेप करते हैं, परन्तु कुछ राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक करते हैं।

प्रायः सभी राज्य अपनी प्रजा को एक दूसरे की हानि करने अथवा बलपूर्वक संपत्ति छीनने से रोकते हैं और यह ध्यान रखते हैं कि उनके आपसी समझौतों का पालन हो। यही सम्पत्ति की संस्था का आधार है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार जो चाहता सो छीन कर अपना सकता तो उत्पादन की मात्रा बहुत सीमित होती। किसी दूसरे को काटने

के लिए कोई फसल क्यों बोता? किसी को मकान बनाने में इसलिए हिचक होती कि तैयार होने पर कोई दूसरा उसे छीन न ले। आजकल जिस देश में निकट भविष्य में (क्रान्ति अथवा राज्य-परिवर्तन के कारण) सम्पत्ति के छीने जाने की आशंका रहती है वहाँ के लोग अपनी अचल सम्पत्ति की वृद्धि करने में संकोच करते हैं। सम्पत्ति की संस्था (Institution of Property) द्वारा व्यक्तिओं और संस्थाओं (व्यक्ति-समूहों) को, राज्य द्वारा बाँधी हुई सीमा के बाहर, जमीन, मकान और दूसरी चीजों के, जो उस व्यक्ति की 'सम्पत्ति' गिनी जाती हैं, रखने, व्यवहार करने तथा उपभोग अथवा विनिमय करने का अधिकार दिया गया है।

प्रायः सभी इससे सहमत हैं कि सम्पत्ति की संस्था वांछनीय है। जंगल का कानून (पूर्णस्वच्छन्दतावाद) कोई नहीं पसन्द करता। न तो कोई यही चाहता है कि वह अपनी व्यक्तिगत वस्तु (जैसे उसकी कंघी अथवा मंजन करने की कूँची) का व्यवहार करने के अधिकार से वंचित किया जाय। परन्तु विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि उत्पादन के साधनों (जैसे भूमि तथा रेल और कल-कारखानों) का स्वामित्व राज्य के हाथ में हो या व्यक्ति के।

केन्द्रीय योजना (Central Planning) के विपरीत निजी सम्पत्ति की संस्था का अर्थ है जानकारी प्राप्त करने तथा निर्णय करने के कार्य का विकेन्द्रीकरण। इसका यह भी तात्पर्य है कि जो कुछ उत्पन्न किया जाता है वह अधिनायक के आदेश पर नहीं वरन् उपभोक्ता की रुचि पर निर्भर रहता है। जिस आदमी के पास थोड़ी सी भूमि है वह यथासंभव उससे अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। यदि उससे उत्पन्न पदार्थों का वह स्वयं उपभोग करना चाहता है तो अन्य पदार्थों को छोड़ कर वह वही पदार्थ उत्पन्न करेगा जिसकी उसे आवश्यकता है। परन्तु यदि वह विनिमय के लिए—मूल्य प्रणाली के अनुसार जिसका अर्थ है विक्रय के लिए—उत्पादन करता है, तो वह वही पदार्थ उत्पन्न करेगा जिसके विनिमय से उसे सबसे अधिक लाभ की आशा है। द्रव्य के रूप में वह अपनी आय को व्यय से जितना ही अधिक बढ़ा सकेगा बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ताओं का अर्घापण (Valuation) ही उसका पथ-प्रदर्शक होगा। अपने सामने पड़े हुए अनेक विकल्पों में से वह उसे चुनेगा जिसे, उसकी दृष्टि में, उपभोक्ता अधिक पसन्द करेंगे, क्योंकि उसीसे उसे अधिक से अधिक लाभ होगा। यही बात उत्पादन की विधियों के संबंध में भी है। वह उन्हीं विधियों का व्यवहार करने का प्रयत्न करेगा जिनसे किसी निश्चित मात्रा में सस्ती से सस्ती दर पर कोई पदार्थ उत्पन्न किया जा सके। उपभोक्ता जो चाहते हैं वही देना और उसे जितनी कुशलता से हो

सके उत्पन्न करना उसके हित में उत्तम होगा। भविष्य में विभिन्न पदार्थों की संभाव्य माँग का पहले से अनुमान करना, अपनी भूमि की संभाव्य उत्पादन शक्ति का पता लगाना, उत्पादन की सबसे सस्ती विधि ढूँढ़ना —ये सब कार्य योजना करनेवाले अधिकारियों द्वारा नहीं वरन् स्वयं स्वत्वाधिकारी द्वारा होते हैं। आगे चल कर हम यह दिखाएँगे कि किसी निश्चित मात्रा में किसी वस्तु का सस्ती से सस्ती दर में उत्पादन राष्ट्र के लिए हितकर है क्योंकि उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्य (Price) दूसरे क्षेत्रों में उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले अर्घों (Values) को व्यक्त करते हैं। उत्पादन में कुशलता का अर्थ है उत्पादन के दुर्लभ साधनों का मितव्यय अर्थात् जब एक निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिये दो प्रकार के उत्पादन के साधन समान रूप से उपयोगी हों तो उनमें से सस्ते साधन का व्यवहार करना।

अतएव केन्द्रीय-योजना का ठीक ठीक विलोम निजी सम्पत्ति (Private Property) की वह प्रणाली है जिसमें राज्य की ओर से सम्पत्ति के स्वामियों के अधिकारों की रक्षा की जाती है। परन्तु साथ ही समाज के अन्य सदस्यों के हित के लिए राज्य को इन अधिकारों की सीमा बाँध देनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने घर में आग लगा देता है तो वह दूसरों के घरों को भी संकट में डाल देता है। इस प्रकार यह सर्वथा तर्कसम्मत है कि किसी भू-भाग पर रेल की लाइन या सड़क बनाने के लिए राज्य उसके स्वामी को विवश करे कि वह उस भू-भाग को उसी मूल्य पर बेच दे जो उसे अन्य किसी कार्य के लिए उपयोग में लाने पर मिलता। परन्तु यदि साधारणतः लोग अपनी सम्पत्ति का अपने इच्छानुसार उपयोग करने के लिये स्वतंत्र हों तो उस सामाजिक व्यवस्था को पूँजीवाद कहते हैं। इसका विस्तृत विवेचन हम एक अग्गामी अध्याय में करेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही बता देना चाहते हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रिया की प्रकृति और मात्रा उन अगणित "निजी" और "व्यावसायिक" निर्णयों पर निर्भर रहती है जो व्यक्तियों द्वारा अपने हित के लिए सर्वोत्तम मानकर किए जाते हैं। उन व्यक्तियों के निर्णयों के आधार हैं मूल्य, और भविष्य में उन मूल्यों में होनेवाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में उनके अनुमान। दूसरी ओर उनके निर्णयों का प्रभाव मूल्यों पर पड़ता है और वे ही उनकी सीमा निर्धारित करते हैं। अर्थशास्त्र अधिकांश में इसी का अध्ययन है कि मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते हैं और उनके क्या कार्य है।

परन्तु सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का आधार मूल्य-रचना (Price-mechanism) नहीं है और न तो वे केवल लाभ की आशा से की जाती हैं। परिवार अब भी एक महत्त्वपूर्ण संस्था है जहाँ मातापिता प्रेम के वशी-

भूत होकर अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं और प्रायः माता ही सारे परिवार के लिए "निर्णय" करती है।

सारा संसार एक "महान् समाज" कहा गया है। यातायात के साधनों में उन्नति होने के कारण संसार के विभिन्न भाग एक दूसरे के बहुत निकट आ गए हैं। संसार के एक भाग में होनेवाली घटनाओं का प्रभाव प्रायः दूसरे भागों पर भी पड़ता है, विदेशी व्यापार ही वह मुख्य साधन है जिसके द्वारा एक देश के निवासी दूसरे देशवालों के साथ सहयोग करते हैं। संसार के व्यापार की गतिविधि का निरीक्षण करनेवाले को यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि एक देश (या प्रान्त) के लोग दूसरे देश के लोगों से एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु देने का समझौता कर लेते हैं। फिर भी राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना के कारण प्रत्येक देश का सामाजिक संगठन दूसरों से भिन्न होता है। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पूर्व भी इंगलैंड की सरकार सम्पत्ति-स्वामियों (Property-owners) के अधिकारों और उद्यम-स्वातंत्र्य (Freedom of Enterprise) पर कई प्रकार का नियंत्रण रखती थी, फिर भी जर्मनी और इटली की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन "यथेच्छं कुर्वन्तु" (Laissez Faire) की नीति की ओर अधिक झुका हुआ था। इस पुस्तक में हम विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य प्रजातंत्र देशों में प्रचलित प्रणाली को ही ध्यान में रखेंगे।

हमारा कार्य किसी प्रणाली की प्रशंसा या निन्दा करना नहीं वरन् उसका वर्णन और विश्लेषण करना होगा। परन्तु यहाँ संक्षेप में उन आपत्तियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो निजी सम्पत्ति की संस्था (जैसी वह आजकल व्यवहार में है) के विरोधियों द्वारा उपस्थित की जाती हैं।

सबसे पहले तो यह संस्था आय में असमानता उत्पन्न करती है। इंगलैंड जैसे देश के लोगों में भी संपत्ति का बहुत असमान बँटवारा हुआ है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में बहुत अधिक सम्पत्ति है और अधिकांश लोगों के पास बहुत ही कम। अतएव कुछ थोड़े से भाग्यशाली व्यक्ति संपत्ति के स्वामित्व द्वारा पर्याप्त आय पा जाते हैं, और यदि चाहें तो बिना कोई कार्य किए बड़े आनन्द से रह सकते हैं। उधर अधिकांश जनता को ब्याज या लाभ या लगान के रूप में प्रायः नहीं के बराबर धन मिलता है। उत्तराधिकार तथा दान देने का कानून इस असमानता को स्थायी बनाए रखने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम आगे चल कर मजदूरीवाले अध्याय में बताएँगे, सम्पन्न मातापिताओं के बच्चे, निर्धनों के बच्चों की अपेक्षा, अच्छे वेतनवाले तथा उच्च पदों के लिए योग्यता प्राप्त करने और अपने आप व्यवसाय आदि में अधिष्ठित होने में

लिए व्यय किया जाता है। बहुत से राज्य एकाधिकार को भी रोकने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु इस विषय में भी वे अधिक कर सकते हैं। वे समवायों (कम्पनियों) के सम्बन्ध में नियम बना कर, तथा अन्य उपायों द्वारा थोड़े से व्यक्तियों के प्रभाव को रोक सकते हैं। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य प्रजातंत्र देशों में भी स्वयं राज्य ही अनेक प्रकार के एकाधिकार (Monopoly) उत्पन्न करते और रखते हैं और कभी-कभी किसी विशेष दल के प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

हम पाठकों को यह सूचित कर देना चाहते हैं कि पूंजीवाद अन्य "वादों" से अच्छा है या बुरा इस बात का विवेचन इस पुस्तक में नहीं किया जायगा और न तो यही बताने का प्रयत्न किया जायगा कि किस प्रकार का आर्थिक या सामाजिक सुधार करना वांछनीय है। ये जटिल प्रश्न हैं जिन पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मेरे मत से इन प्रश्नों का तर्कसम्मत और न्यायोचित उत्तर प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र और राजनीति-विज्ञान का गंभीर अध्ययन करना आवश्यक है। अतएव उनका विवेचन इस प्रकार की आरंभिक पुस्तक में विषयान्तर होगा।

४. मूल्य और मूल्य-प्रणाली
(Price and Price System)

पूंजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्रिया का नियंत्रण अधिकतर मूल्य प्रणाली की रचना (Mechanism) द्वारा होता है। मूल्य में परिवर्तन उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को पथ-प्रदर्शक का काम देते हैं। यदि उपभोक्ता किसी वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदते हैं तो उसका मूल्य चढ़ जाने की संभावना रहती है और इससे उत्पादकों को अपना उत्पादन बढ़ाना लाभदायक होता है। यदि किसी वस्तु विशेष का उत्पादन करना कठिन हो जाता है अथवा पहले की अपेक्षा उसकी मात्रा कम हो जाती है (जैसे फसल आदि नष्ट हो जाने के कारण) तो उसका मूल्य चढ़ जाने की संभावना रहती है, जिससे उपभोक्ताओं को चेतावनी मिल जाती है कि उस वस्तु का अपेक्षाकृत अभाव हो गया है और उनमें से बहुत से उसका उपभोग कम कर देते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता अपनी रुचि से उत्पादकों को परिचित कराते रहते हैं, और स्वयं बिना किसी केन्द्रीय योजना संस्था के केवल मूल्य-प्रणाली द्वारा वस्तुओं के आपेक्षिक अभाव के अनुसार कार्य करने को प्रेरित होते हैं।

अर्थशास्त्र की अन्य पुस्तकों के समान ही इस पुस्तक में भी अधिकतर इसी बात का उल्लेख होगा कि मूल्य-प्रणाली किस प्रकार कार्य करती है तथा विभिन्न मूल्यों में पारस्परिक सम्बन्ध कैसे निश्चित किया जाता है।

इस आरंभिक अध्याय में 'मूल्य' (Price) की धारणा पर तथा किस प्रकार सभी मूल्य एक दूसरे से सम्बद्ध रहते और एक 'प्रणाली' का सृजन करते हैं—इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख कर देना उपयोगी होगा।

किसी वस्तु का मूल्य (Price) द्रव्य (Money)—केवल माँगे हुए अथवा दिए जानेवाले द्रव्य की मात्रा नहीं वरन् वास्तव में प्राप्त द्रव्य—की वह मात्रा है जो उसके बदले दी जाती है। इसके लिये अर्घ (Value) का स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि द्रव्य के रूप में किसी वस्तु के अर्घ (Value) को ही उसका मूल्य (Price) कहते हैं।

अर्थशास्त्र की आधुनिक पुस्तकों में अर्घ (Value) शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग होता है उसका तात्पर्य सर्वदा 'विनिमय के अर्घ' से होता है। इसका आपेक्षिक होना अनिवार्य है; क्योंकि एक वस्तु का अर्घ सर्वदा दूसरी वस्तु की तुलना में ही व्यक्त किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ में किसी वस्तु के 'वास्तविक' (Intrinsic) अर्घ का कोई अर्थ नहीं है। ख के रूप में क का अर्घ ख की वह मात्रा है जो क के विनिमय में प्राप्त हो सकती है। यदि एक सेर चाय के बदले ४ सेर चीनी मिल सकती है तो एक सेर चाय का मूल्य सेर चीनी के रूप में ४ है। अथवा इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि एक सेर चीनी का सेर चाय के रूप में मूल्य एक चौथाई है। अर्घ (Value) वह अनुपात है जिसमें चाय और चीनी एक दूसरे के विनिमय में दी जाती हैं।

वास्तव में अर्घ प्रायः सर्वदा द्रव्य के रूप में ही व्यक्त किया जाता है और तब उसे मूल्य (Price) कहते हैं। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, द्रव्य की पूर्ति या माँग में परिवर्तन होने पर निरपेक्ष मूल्य (Absolute Price) पर भी प्रभाव पड़ता है।

मूल्य में सामान्य चढ़ाव या उतार हो सकता है, सभी वस्तुओं का मूल्य चढ़ या उतर सकता है। परन्तु परिभाषानुसार अर्घ का साधारण चढ़ाव या उतार नहीं हो सकता। यदि सभी वस्तुओं का मूल्य दूना हो जाय तो इसका यह अर्थ है कि द्रव्य का अर्घ आधा हो गया है। परन्तु निरपेक्ष मूल्य (Absolute Price) में परिवर्तन की अपेक्षा सापेक्ष मूल्य (Relative Price) में परिवर्तन अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। उदाहरणार्थ किसी मजदूर का रहन-सहन उसकी मजदूरी और जो वस्तुएँ वह खरीदता है उनके मूल्य पर निर्भर रहता है। यदि द्रव्य के रूप में उसकी मजदूरी दूनी हो जाय और साथ ही जो वस्तुएँ वह खरीदता है उनका मूल्य दूने से अधिक चढ़ जाय तो उसका जीवन-स्तर (Standard of living) गिर जायगा। इसी प्रकार किसी व्यवसाय-संस्था का काम द्रव्य रूप में

उसकी आय और व्यय दोनों पर निर्भर रहता है। उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने पर उसके लाभ के बढ़ने की सम्भावना रहती है। परन्तु यदि इसके साथ ही उसके व्यवहार में आनेवाले कच्चे माल तथा उत्पादन के अन्य साधनों का मूल्य और भी अधिक चढ़ जाय तो उसका लाभ कम हो जायगा।

हम "अर्घों" (Values) के विषय में नहीं वरन् "मूल्यों" (Price) के विषय में विवेचन करेंगे। परन्तु जबतक द्रव्य के सिद्धान्त (Theory of Money) तक हम नहीं पहुँचते तबतक निरपेक्ष मूल्य से नहीं वरन् सापेक्ष मूल्य से ही हमारा संबंध रहेगा अर्थात् कुछ वस्तुओं के मूल्य दूसरी वस्तुओं के मूल्यों से अधिक क्यों होते हैं और एक दूसरे की तुलना में मूल्यों में परिवर्तन क्यों होता है—इन समस्याओं से ही हमारा तात्पर्य रहेगा।

पाठक ने ध्यान दिया होगा कि हम 'मूल्य' (Prices) शब्द का प्रयोग परिभाषा-अनुसार साधारण बोल चाल की भाषा से भिन्न और अधिक व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। मजदूरी या वेतन भी एक प्रकार का 'मूल्य' ही है क्योंकि वह श्रम के विनिमय में दिया जाता है। यदि मजदूर को उसके कार्य के अनुसार मजदूरी दी जाय, जैसे खनकों (Miners) को ठीके की दर से दी जाती है, तो इस अर्थ में श्रम की इकाई वह मात्रा है—जैसे टोकरी या बाट—जिससे कोयला नापा जाता है। यदि समय के अनुसार मजदूरी दी जाती है तो श्रम की इकाई घंटा, दिन या महीना होता है। किसी भूमि, भवन या भवन के एक भाग या सिनेमा फिल्म का 'लगान' (Rent) या किराया वह मूल्य है जो कुछ निश्चित समय तक उसका व्यवहार करने के बदले दिया जाता है। इसी प्रकार व्याज भी किसी ऋण का कुछ समय के लिए दिया गया मूल्य है। व्याज की दर प्रायः मूल के प्रतिशत प्रतिवर्ष के रूप में व्यक्त की जाती है। विदेशी विनिमय की दर मूल्य ही है; जैसे एक पौंड का मूल्य इतने डालर या रुपया है।

मूल्यों के अध्ययन से आय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। मुद्रा के रूप में किसी व्यक्ति की आय वह द्रव्य है जो किसी निश्चित समय में, जैसे एक महीना या साल में, व्यवसाय का व्यय निकाल देने पर उसे प्राप्त होती है। इस प्रकार जो कुछ मूल्य दिया जाता है वह पानेवाले की सतुष आय (Gross income) का एक अंश होता है, परन्तु उसकी निस्तुष आय (Net income) उसके व्यय के ऊपर उसकी कुल प्राप्ति का आधिक्य है जिसमें मूल्य भी सम्मिलित है। श्रम के उपयोग के बदले, द्रव्य के रूप में ऋण के बदले, अथवा सम्पत्ति के उपयोग के बदले साहसी (Entre preneur,) जो धन देता है, यदि पानेवालों को उनकी पूर्ति में कुछ व्यय न करना पड़े तो, वह उनकी निस्तुष आय होगी। इस प्रकार कोई मजदूर

पाश्चात्य देशों में घोड़ों की संख्या कम हो जाने के कारण उनके मुख्य भोजन जई (Oats) का उत्पादन भी बहुत घट गया है। जिस भूमि पर पहले जई उत्पन्न की जाती थी वह जौ, गेहूं आदि अन्य धान्यों के उत्पादन के काम में लाई जा सकती है, इसलिए उन धान्यों का उत्पादन बढ़ जाने से उनका भाव गिरने की संभावना रहती है। यंत्रों की उन्नति होने से उत्पादन की मात्रा बढ़ गई है, इससे जीवन-स्तर (Standard of living) ऊँचा उठ गया है। परन्तु अनेक प्रकार के श्रमों के बदले यंत्रों का उपयोग होने के कारण उस विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी भी घट जा सकती है; जैसे यंत्र से चलनेवाले कर्घों का आविष्कार होने से हाथ के कर्घों पर बुनने वाले बुनकरों की मजदूरी घट गई है।

'अवसर-लागत' (Opportunity Cost) के सिद्धान्त द्वारा सापेक्ष मूल्य (Relative Price) पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यहाँ 'आदम स्मिथ' की पुस्तक से एक उदाहरण देना उचित होगा। मान लीजिए कि आखेट पर निर्भर रहनेवाले असभ्य मनुष्यों के एक समाज में एक दिन के श्रम द्वारा कोई व्यक्ति दो सामर या तीन हरिन मार सकता है। तो तीन हरिनों के विनिमय में दो सामर मिल सकते हैं। यदि दो सामरों के बदले तीन से कम हरिन मिलने लगें तो सामरों का शिकार कोई नहीं करेगा, क्योंकि तीन हरिन मार करके दो से अधिक सामर प्राप्त किए जा सकेंगे। फलस्वरूप सामरों का अभाव हो जाने से उनका मूल्य चढ़ जायगा जिससे फिर तीन हरिनों के बदले दो सामर मिलने लगेंगे। इसी प्रकार यदि दो सामरों के बदले तीन से अधिक हरिन मिलनें लगें तो लोग हरिनों के बदले सामरों का ही शिकार करने लगेंगे। जिससे बाजार में फिर दो और तीन का अनुपात स्थापित हो जायगा। परन्तु इस उदाहरण में यह बात मान ली गई है कि सभी लोग समान रूप से कुशल शिकारी हैं और उन्हें एक के बदले दूसरे जानवर का शिकार करने में कोई आपत्ति नहीं है और प्रत्येक दिन के श्रम से दो सामर या हरिन मारे जा सकते हैं। अतएव हरिन और सामर के विनिमय की दर वही होगी जो "अवसर-लागत" का अनुपात है, अर्थात् ३ : २। हरिन और सामर की आपेक्षिक माँग के परिवतन का सापेक्ष मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता किन्तु उनके उत्पादन की आपेक्षिक मात्रा पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा।

यह सिद्धान्त (Concept) आधुनिक युग के किसी समाज के लिए भी समान रूप से लागू हो सकता है। परन्तु उसके लिए लागू होने में कुछ कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि आजकल भिन्न-भिन्न धंधों में उत्पादन के साधनों का भिन्न-भिन्न प्रकार से संयोग (Combination) होता है। अतएव साधारणतः हम कह सकते हैं कि किसी साधन अथवा साधनों के समूह द्वारा

उत्पन्न किसी वस्तु का अर्थ (Value) संभवतः उस दूसरी वस्तु के अर्थ के बराबर होगा जिसका उत्पादन उन्हीं के समान साधन या साधनों के समूह द्वारा हो सकता है। इसमें यह बात मान ली गई है कि उत्पादन के साधन एक धंधे से दूसरे में तुरन्त जा सकते हैं और ऐसा करने से यदि वे कोई अधिक अर्थ की वस्तु उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थात् अधिक आय उत्पन्न कर सकते हैं, तो वे अवश्य जायँगे।

किसी टिकाऊ माल (Durable good) के मूल्य और उसके द्वारा होनेवाली सेवा के मूल्य में बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उस माल का मूल्य उसके अर्थ या सेवा से "व्युत्पन्न" (Derived) है; और वह प्रचलित व्याज-दर पर आँके गए उसके संभावित भावी सेवा के मूल्य (expected value of future services) के बराबर होगा। उदाहरणार्थ १०० रु० अंकित मूल्य (Face value) के २½ प्र० श० वाले बंट (Consols) का अर्थ है सर्वदा के लिए २ रु० ८ आ० प्रतिवर्ष पाने का अधिकार। यदि वर्तमान व्याज-दर ५ प्र० श० है तो कोई भी व्यक्ति ५० रुपया व्यय करके २ रु० ८ आ० प्रतिवर्ष प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मान लीजिए कि एक मकान का किराया, मरम्मत आदि का व्यय काट कर, १००० रु० प्रतिवर्ष मिलने की आशा है। यदि व्याज की वर्तमान दर ५ प्र० श० है तो उस मकान का मूल्य २०००० रु० होगा क्योंकि २०००० रु० लगाने से १०००रु० प्रतिवर्ष की आय हो सकेगी; परन्तु यदि व्याज की दर ४ प्र० श० हो जाय तो उस मकान का मूल्य २५,००० रु० हो जायगा, इत्यादि।

यदि पूँजी लगानेवाले अन्य व्यवसायों में पूँजी लगाने की अपेक्षा कंपनी के हिस्सों से या मकानों से अधिक आय प्राप्त कर सकें तो उनकी प्रवृत्ति हिस्से या मकान खरीदने की ओर अधिक होगी। इससे उन चीजों का बाजार भाव बढ़ जायगा और तबतक बढ़ता जायगा जबतक कि उनसे प्राप्त आय अन्य व्यवसायों से प्राप्त आय के बराबर न हो जाय।

इसके विपरीत यदि उनसे प्राप्त आय अन्य धंधों से प्राप्त आय की अपेक्षा कम होगी तो उनकी माँग कम हो जायगी और उनका भाव गिर जायगा जिसके फलस्वरूप उसमें लगाई जानेवाली नई पूँजी पर प्रतिशत आय बढ़ जायगी।

अतएव निश्चित व्याज-दरवाले हिस्से या टिकाऊ माल का मूल्य प्रायः उस संख्या के बराबर होगा जो उनकी भावी सेवाओं के संभावित निस्तुष वार्षिक अर्थ (expected net annual value) को १०० से गुणा करके प्रचलित व्याज दर से भाग देने पर आयगी। इन सबका सारांश यह है कि किसी निश्चित भावी आय का वर्तमान अर्थ प्रचलित व्याज-दर के अनुसार बदलता रहेगा।

दूसरा अध्याय

बाजार

१. संसारव्यापी बाजार और स्थानीय बाजार

(The World Market and local Markets)

"बाजार" शब्द से प्राय: उस स्थान का अर्थ लिया जाता है जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। जैसे फल और तरकारियाँ कौवेंटगार्डेन के बाजार में और मांस स्मिथफील्ड के बाजार में बिकता है। परन्तु स्थूल पदार्थों के बाजार से भिन्न अन्य प्रकार की वस्तुओं के लिए भी बाजार होते हैं; जैसे भू-संपत्ति-बाजार (Real estate market) विदेशी-विनिमय बाजार (Foreign exchange market), श्रम-बाजार (Labour market), अल्पकालीन पूँजी बाजार (Short-term capital market), इत्यादि। जिन वस्तुओं का विनिमय-मूल्य होता है उनका बाजार भी होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उन वस्तुओं का लेन-देन किसी निश्चित स्थान पर ही हो। क्रेता (Buyers) और विक्रेता (Sellers) संसार के कोने-कोने में फैले हो सकते हैं और किसी एक स्थान पर मिलने के बदले वे टेलीफोन, तार या पत्र द्वारा लेन-देन कर सकते हैं। यदि लेन-देन किसी एक स्थान पर सीमित भी हो तो लेन-देन करनेवालों में कुछ अथवा प्राय: सभी दलाल या एजेंट हो सकते हैं जो अपने ग्राहकों (Clients) के आदेशानुसार कार्य करते हैं। जैसे स्मिथफील्ड के बाजार में इंगलैंड भर के फुटकर वधिकों के दलाल मांस खरीदते हैं। इसी प्रकार लंदन के बंट-विनिमय (Stock Exchange) में दलाल संसार के कोने-कोने में फैले हुए अपने ग्राहकों के आदेशानुसार प्रतिभूतियों (Securities) का लेन-देन करते हैं। अत: बाजार की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है:—"बाजार वह क्षेत्र है जिसमें क्रेता और विक्रेता प्रत्यक्ष अथवा एजेंटों या दलालों के द्वारा, एक दूसरे के संपर्क में इस प्रकार रहें कि बाजार के एक भाग में प्रचलित मूल्य का दूसरे भाग में प्रचलित मूल्य पर प्रभाव पड़े।"

यातायात के आधुनिक साधन इतने वेगवान हैं कि हजारों मील दूर बैठा हुआ क्रेता क्षण भर में यह जान सकता है कि कोई विक्रेता अपनी वस्तु का क्या मूल्य चाहता है, और यदि वह चाहे तो तुरत उसे खरीद सकता है। अत: सारा संसार किसी वस्तु का बाजार हो सकता है। परन्तु

प्रायः बहुत सी वस्तुओं का बाजार स्थानीय या राष्ट्रीय ही होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश वस्तुओं की पूरी माँग प्रान्तीय या स्थानीय होती है। जैसे काँच की चूड़ियों और सिंदूर की माँग भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में ही सीमित है। काशी में बननेवाले कामदार सलवार और कुर्ते की माँग पंजाब तथा सीमाप्रान्त में ही होती है। तथाकथित तुर्की टोपी की माँग अधिकतर भारतवर्ष के कुछ मुसलमानों में ही होती है। इसी प्रकार मारवाड़ी चादरें, पारसियों की टोपियाँ, महाराष्ट्रीय पगड़ियाँ इत्यादि कुछ विशेष वर्गों या क्षेत्रों में ही बिकती हैं। परन्तु ऐसी वस्तुएँ दूर-दूर देशों में उत्पन्न करके उन स्थानों में भेजी जा सकती हैं जहाँ उनकी माँग हो। जैसे भारतवर्ष में चूड़ियाँ पहले जापान से बन कर आती थीं और अब चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया आदि देशों से बन कर आती हैं।

परन्तु ये स्थानीय माँगें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। बहुत सी वस्तुओं का बाजार संसारव्यापी न होने का मुख्य कारण यह है कि या तो वे अधिक मूल्यवान होती हैं या कठिनाई से स्थानान्तरित (Transported) हो सकती हैं।

किसी वस्तु का प्रतिमन अर्घ जितना ही कम होगा उसके मूल्य में उतना ही अधिक प्रतिमन मील स्थानान्तरण-व्यय (भाड़ा) जुड़ जायगा; जैसे, मान लिया जाय कि कोयला उत्पत्ति-स्थान पर १२ आना मन है और लोहा १२ रु० मन। यदि दोनों का किसी निश्चित दूरी तक एक मन का भाड़ा समान हो तो वह लोहे के मूल्य के प्रतिशत की अपेक्षा कोयले के मूल्य का सोलह गुना होगा। अतः स्थानान्तरण-व्यय के कारण उन वस्तुओं का बाजार सीमित हो सकता है जिनका प्रतिमन अर्घ कम है, यद्यपि वे अपेक्षाकृत कम व्यय में दूर तक ढोई जा सकती हैं। मान लिया कि क स्थान पर कोयला या लोहा उत्पन्न करना ख की अपेक्षा सस्ता पड़ता है, परन्तु क से ख तक ले जाने का मार्ग-व्यय दोनों स्थानों के उत्पादन-व्यय के अन्तर से अधिक पड़ जाता है तो ख पर उसका उत्पादन स्थानीय माँग की पूर्ति के लिए होगा और क के उत्पादन के लिए वह बाजार नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, इंगलैंड या अमेरिका में भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत सस्ता कोयला उत्पन्न होता है परन्तु वहाँ का कोयला भारतवर्ष में नहीं मँगाया जाता, क्योंकि कोयले का स्थानान्तरण-व्यय बहुत अधिक पड़ता है, और वहाँ के कोयले की अपेक्षा देशी कोयला सस्ता पड़ता है।

स्थल की अपेक्षा जल द्वारा स्थानान्तरण सस्ता पड़ता है। इसलिए इस प्रकार की भारी वस्तुएँ यदि बन्दरगाह के आस-पास उत्पन्न होती हैं तो समुद्री मार्ग से दूर-दूर के देशों में बहुत सस्ते में भेजी जा सकती हैं। जैसे

स्वीडन का असिद्ध लौह (Iron ore) समुद्र के रास्ते नारविक से दूर तक आता है और दक्षिण अफ्रीका का कोयला बंबई तक आता था। इसी प्रकार इंगलैंड का कोयला औस्ट्रेलिया और कनाडा भेजा जाता है।

भू-संपत्ति (Real estate) का बाजार स्थानीय होता है। यद्यपि फ्रांस के अंगूर-उद्यानों (Vineyards) की मिट्टी कैलीफोर्निया (अमेरिका) भेजी गई है और यूरोप में ऐतिहासिक भवन तोड़ कर संयुक्त राज्य (अमेरिका) में पुनः निर्मित हुए हैं; फिर भी साधारणतः भूमि और भवन स्थानान्तरित नहीं होते।

कुछ वस्तुएँ—जैसे दूध, मलाई, रबड़ी, सागभाजी, अमरूद, मकोय आदि फल—उत्पादन के बाद तुरत उपयोग में लाई जाती हैं, नहीं तो वे खराब हो जाती हैं; इससे उनका बाजार स्थानीय होता है। कुछ अन्य वस्तुएँ स्थानान्तरण में नष्ट हो जाती हैं; जैसे कुछ प्रकार की शरावें स्थानान्तरण में बिगड़ जाती हैं। अतएव अन्य शरावों की अपेक्षा, जिनका बाजार विस्तृत होता है, वे अपने उत्पत्ति-स्थान में अधिक सस्ती खरीदी जा सकती हैं। रिफ्रिजरेटर या शीतक (एक प्रकार का यंत्र जिसमें तत्काल नाशवान वस्तुएँ रख कर सुदूर स्थानों पर भेजी जा सकती हैं) तथा सुरक्षण के अन्य उपायों के आविष्कार से, जिनसे भोज्य पदार्थ सुरक्षित रख कर दूर तक भेजे जा सकते हैं, ऐसी वस्तुओं का बाजार, जैसे मांस, मछली, ताजे फल, तरकारियाँ इत्यादि, विस्तृत हो गया है। परन्तु उपभोक्ता की दृष्टि से प्रायः इन उपायों द्वारा सुरक्षित वस्तुएँ ताजा से कुछ भिन्न हो जाती हैं। जैसे डब्बों में भरे हुये जमे दूध का स्वाद ताजा दूध के समान नहीं होता; इसी प्रकार वर्फ के अन्दर रखे हुये मांस या जमे हुये मक्खन का स्वाद ताजा से घटिया होता है।

बहुत से मजदूर दूसरे देशों, अथवा अपने ही देश के सुदूर प्रान्तों, में अधिक मजदूरी के लिये जाने में हिचकते हैं। परन्तु यह हिचक धीरे-धीरे घट रही है इसलिये इसको अधिक महत्व नहीं देना चाहिये। सन् १९१४ के महायुद्ध के पूर्व प्रतिवर्ष दस लाख से अधिक व्यक्ति यूरोप से दूसरे देशों में जाया करते थे। उसके बाद ग्रेट ब्रिटेन में ही निर्धन क्षेत्रों के लोग दक्षिण के सम्पन्न भाग की ओर अधिक संख्या में जाकर बस जाते थे। इसमें अधियोजकों (Employers) का हाथ अधिक रहता था। जैसे यार्कशायर (उत्तरी इंगलैंड) की ऊनी मिलों में काम करनेवाली लड़कियाँ औस्ट्रेलिया के कारखानों में काम करने के लिये भर्ती की जाती थीं। युद्ध के दिनों में फ्रांस के पूंजीपतियों ने पोलैंड और इटली के निवासियों को फ्रांस की कोयले की खानों और लोहे के कारखानों में काम करने के लिये

लगाया था।[1] फिर भी श्रम का बाजार प्रायः स्थानीय या अधिक से अधिक राष्ट्रीय ही होता है।

यातायात के साधनों (Transport services) का बाजार स्थानीय होना स्वाभाविक है। जैसे रेल या ट्राम द्वारा यात्री या माल उसी स्थान तक ले जाये जा सकते हैं जो निश्चित मार्गों पर पड़ते हैं। यहाँ से यूरोप या अमेरिका माल भेजने के लिये कोई व्यवसाय-संस्था अंग्रेजी जहाज ठीक करके फ्रांसीसी या अमेरिकी जहाज ठीक कर सकती है; परन्तु जिस व्यवसायी को हिन्दुस्तान के एक भाग से दूसरे भाग में माल भेजना है उसके लिये इंगलैंड या बेल्जियम में रेल का किराया कम होने से कोई लाभ नहीं है। इसी प्रकार गैस (जलाने के लिये वायु), पानी और बिजली जैसी वस्तुएँ, जो कि नलियों या तारों द्वारा भेजी जाती हैं, उन स्थानों पर नहीं बेची जा सकतीं जहाँ तार या नलियाँ नहीं लगाई गई हैं।

कोई देश या प्रान्त बाहर से आनेवाली कुछ वस्तुओं पर आयात-कर लगा सकता है। यदि ऐसा कर बहुत अधिक नहीं है—अर्थात् कर लगाने पर भी यदि कुछ बाहरी माल आ ही जाता है—तो वह प्रान्त या देश फिर भी उन वस्तुओं के लिये संसारव्यापी बाजार का एक भाग है। उस कर से "संरक्षित" (Protected) क्षेत्र में मूल्य, निर्यात करने वाले क्षेत्र की अपेक्षा बहुत अधिक हो सकता है। परन्तु यदि यह बाहरी मूल्य (अर्थात् निर्यात होनेवाली वस्तुओं का स्वदेश में मूल्य) गिर जाय तो संरक्षित क्षेत्र में उस वस्तु का आयात बढ़ जाएगा और अधिक माल आ जाने के कारण उस वस्तु का भाव गिर जाएगा। इसके विपरीत बाहरी मूल्य चढ़ जाने से उलटा परिणाम होगा। यदि किसी देश में किसी वस्तु का आयात किसी निश्चित मात्रा तक परिमित है तो उस देश में संसार-व्यापी मूल्य से उसका मूल्य भिन्न होगा और वह देश एक पृथक् बाजार गिना जायगा। इधर कुछ वर्षों में बहुत से देशों में—विशेषतः पश्चिमी यूरोप के देशों में—वस्तुओं के आयात की सीमा बाँध दी गई थी। इसी प्रकार किसी देश में बाहर से आनेवालों की संख्या भी परिमित की जा सकती है—जैसे संयुक्त राज्य में है। कुछ देश अपनी पूँजी के बाहर जाने पर रोक लगा देते हैं।

फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि वस्तु क्रेताओं तक नहीं पहुँच सकती तो क्रेता ही वस्तु तक पहुँच सकते हैं। जैसे यदि एक प्रान्त

---

[1] इसी प्रकार हमारे देश से भी पहले बहुत से मजदूर "गिरमिट" (Agreement) होकर मारिशस, अफ्रीका, फिजी आदि दूर देशों में जाया करते थे और सन् १९४२ के पूर्व लाखों हिन्दुस्तानी जीविका के लिये बर्मा, स्याम, सिंगापुर आदि स्थानों में जाया करते थे।—अनुवादक।

में मकान और बिजली सस्ती मिले तो दूसरे स्थल के लोग अन्य स्थानों पर जाने की अपेक्षा वहाँ रहने के लिये जा सकते हैं. और अधियोजक (Employers) प्रायः उस स्थान पर कारखाना बनवाते हैं जहाँ मजदूर सस्ते मिलते हैं।

२. पदार्थ (Commodity) क्या है ?

साधारण बोल चाल में हम 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग प्रायः किसी पदार्थ की संपूर्ण जाति के लिये करते हैं। गेहूँ, चावल, रुई, ऊन, आलू, सिगरेट और सच पूछिये तो प्रायः वे सभी वस्तुएँ, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, कई प्रकार की होती हैं। उत्पादक की वस्तु (Producers' good) का एक भेद (Variety) उत्पादन में दूसरे भेद की अपेक्षा भिन्न कार्य कर सकती है। कुछ उपभोक्ता किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक भिन्नता के कारण एक प्रकार की उपभोग्य वस्तु से दूसरे प्रकार की वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक वस्तु के सभी अथवा कुछ भेद एक दूसरे के बदले काम में लाये जा सकते हैं और बहुत से क्रेता इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वे किस भेद का व्यवहार करते हैं। परन्तु अधिकतर कुछ क्रेता किसी वस्तु के एक भेद को दूसरे से अधिक महत्त्व देते हैं। इससे उन दोनों भेदों के मूल्यों में यथेष्ट भिन्नता उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में प्रत्येक भेद एक पृथक् 'पदार्थ' (Commodity) है जिसके लिये पृथक् माँग होती है।

पिछले कुछ वर्षों में इंग्लैंड और डेनमार्क के शूकर-मांसों (Bacon) के आपेक्षिक मूल्य इसका बड़ा अच्छा उदाहरण उपस्थित करते हैं। सन् १९३० से १९३२ तक सर्वोत्तम कोटि के अंग्रेजी शूकर-मांस का मूल्य डेनमार्क के सर्वोत्तम शूकर-मांस के मूल्य की अपेक्षा एक तिहाई अधिक था। इंग्लैंड में बिकनेवाला अधिकांश शूकर-मांस डेनमार्क का होता था जिसके लिये तीन साढे तीन लाख टन शूकर-मांस का प्रतिवर्ष आयात होता था। उसके बाद डेनमार्कीय शूकर-मांस के आयात पर नियंत्रण लगा दिया गया। १९३६ में लगभग पौने दो लाख टन अंग्रेजी और डेनमार्कीय शूकर-मांस इंग्लैंड में बिका था। १९३० की अपेक्षा अंग्रेजी मांस की पूर्ति दूनी हो गई थी और डेनमार्कीय की आधी। डेनमार्कीय मांस का मूल्य अंग्रेजी मांस से अधिक था। डेनमार्कीय मांस के नियंत्रण से यह बात प्रकट हुई, जिसकी पहले आशंका भी नहीं थी कि से क्रेता अंग्रेजी मांस की अपेक्षा डेनमार्कीय को अधिक पसन्द करते हैं। इसका सारांश यह है कि हमें यह मान नहीं लेना चाहिये कि किसी वस्तु के भिन्न-भिन्न भेदों के आपेक्षिक मूल्यों का संबंध सर्वदा एक सा रहेगा। किसी वस्तु की दो इकाइयाँ तब तक समान नहीं मानी जा सकती जबतक वे एक दूसरी की ठीक-ठीक

स्थानापन्न (Substitutes) न हों—अर्थात् जब तक प्रत्येक संभावित (Potential) क्रेता इस बात से तटस्थ न हो जाय कि उसके द्रव्य के बदले उसे उस वस्तु का कौन सा भेद मिल रहा है।

कोई उत्पादक किसी प्रतिद्वन्द्वी द्वारा उत्पादित उसी प्रकार के पदार्थ से अपने पदार्थ की भिन्नता बनाये रखने के लिये अपना एक व्यापार-चिह्न (Trade mark) रख सकता है जिसका उपयोग दूसरों के लिये कानून से वर्जित है। कई प्रकार की उपभोग्य वस्तुएँ (Consumers' goods)—जैसे मोटरकार, शृंगार-सामग्री (Toilet requisites) पेटेंट दवाएँ, भोज्य पदार्थ इत्यादि—इस प्रकार के चिह्नों से "अंकित" (Branded) रहती हैं। प्रायः किसी "अंकित" वस्तु का उत्पादक प्रतिद्वन्द्वी व्यापार-चिह्नों द्वारा अंकित वस्तुओं की अपेक्षा अपनी वस्तु की अधिक माँग उत्पन्न करने के लिये उसका विज्ञापन देता है। उस वस्तु के अन्य भेद, चाहे वे अंकित हों या न हों, उसकी वस्तु के समान ही हो सकते हैं परन्तु केवल वही उस व्यापारचिह्न का प्रयोग कर सकता है इसलिये उस वस्तु का उसे एकाधिकार प्राप्त है।

एक ही भौतिक पदार्थ यदि दूसरे स्थान पर है तो हम तर्क की दृष्टि से उसे दूसरा पदार्थ कह सकते हैं। उदाहरणार्थ कौर्बो में इस्पात की नली केपटाउन की उसी प्रकार की नली से भिन्न वस्तु है और भिन्न मूल्य पर विकती है। दोनों के मूल्यों में अन्तर स्थानान्तरण-व्यय (Cost of transport), बीमा, व्यापारी का लाभ, आयात-कर आदि के कारण होता है।

इसी प्रकार एक ही वस्तु तर्क की दृष्टि से एक समय एक पदार्थ है और दूसरे समय दूसरा; और उसका मूल्य भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। वस्तुओं का कालान्तरण (Transport of goods over time), अर्थात् एक समय से दूसरे समय तक सुरक्षित रखने की क्रिया, ठीक उसी प्रकार आर्थिक प्रयत्न गिना जा सकता है जिस प्रकार स्थानान्तरण (अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की क्रिया)। बहुत से व्यापारी, जिनमें दूकानदार भी सम्मिलित हैं, अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति तुरत करने के लिये वस्तुओं की राशि (Stock) रखते हैं और यह एक प्रकार की सेवा है जिसका मूल्य देने के लिये ग्राहक सहर्ष तैयार रहते हैं। इससे वे स्वयं उन वस्तुओं की राशि रखने की असुविधा से बच जाते हैं। दो तीन शताब्दी पहले किसी प्रान्त की अन्न की आवश्यकता वहाँ की स्थानीय वार्षिक उपज से ही पूरी होती थी। यदि कोई जानबूझकर पीछे बेचने लिये अन्न संग्रह करके रखता तो वह फसल कटने पर तो बहुत सस्ता विकता परन्तु दूसरी फसल आने तक धीरे-धीरे बहुत महँगा होता जाता। अन्न का सट्टा करनेवाले (Speculators) फसल कटते ही अन्न खरीद कर उसे अधिक सस्ता होने से रोकते थे और राशि रखकर पीछे बेचते थे

जिससे दूसरी फसल आने के पूर्व उसका मूल्य बहुत अधिक नहीं चढ़ता था। यह एक प्रकार की उपयोगी सेवा थी। इससे वे जो लाभ उठाते थे वह व्यर्थ नहीं था। वह उपभोक्ता की उस सेवा के बदले था जो वे वर्ष भर में मूल्य में अधिक उतार-चढ़ाव होने से रोक कर करते थे। तब से आजतक यातायात के साधनों में जो अभूतपूर्व उन्नति हुई है उससे अधिकांश वस्तुओं के विषय में इस प्रकार की सेवा का महत्त्व बहुत कम रह गया है। आजकल तो शायद ही कोई महीना बीतता है जब कि पृथ्वी के किसी न किसी भाग में गेहूँ की फसल न कटती हो; और वह उन स्थानों पर भेजे जाने के लिये तैयार रहता है जहाँ उसकी माँग रहती है। इसलिये किसी क्षेत्र में दुर्भिक्ष अथवा अन्न के अभाव की वहुत कम आशंका रहती है। इसी प्रकार उपभोक्ता वहुत से पदार्थ, किसी न किसी क्षेत्र की तात्कालिक उपज से, जभी चाहें तभी प्राप्त कर सकते हैं; शर्त यह है कि वे उसका मूल्य चुकाने को तैयार रहें। और अधिकतर वहुत सी वस्तुओं की संपूर्ण राशि संसार भर की वार्षिक उपज की तुलना में वहुत कम होती है; फिर भी जव तक नया माल न मिले तव तक के लिये कुछ राशि रखकर और कुछ समय तक उसके आकस्मिक अभाव से रक्षा करके व्यापारी वहुत उपयोगी सेवा करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं का अधिकांश संसार भर में वर्ष के एक ही भाग में उत्पन्न होता है। इसका प्रमुख उदाहरण रुई है। संसार की अधिकांश रुई (कम से कम थोड़े दिनों पहले तक, जवसे अमेरिकी सरकार ने इसका उत्पादन सीमित कर दिया है) संयुक्त राज्य, अमेरिका, में उत्पन्न होती है, और गर्मी के अंत में चुनी जाती है। अतएव यदि कपास ओटनेवालों, सूत कातनेवालों इत्यादि की आवश्यकताओं की सालभर लगातार पूर्ति करनी है तो फसल का अधिकांश किसी न किसी के द्वारा अवश्य "संग्रहीत" (Carried) होना चाहिये। इसीसे एक अक्तूबर से दूसरे अक्तूबर तक रुई के मूल्य में क्रमश: वृद्धि की प्रवृत्ति रहती है। मूल्य में वृद्धि लगभग उतनी होती है जितना संग्रहकर्ता का लाभ और राशि को सुरक्षित रखने का व्यय आदि होता है। परन्तु कभी-कभी अनेक कारणों से (जैसे रुई की माँग में परिवर्तन या दूसरे वर्ष की फसल का अनुमान इत्यादि) ज्यों ज्यों वर्ष वीतता है त्यों त्यों मूल्य में आशा से अधिक ह्रास या वृद्धि हो सकती है।

३. पूर्ण और अपूर्ण वाजार

(Perfect and Imperfect Market)

जव सभी संभाव्य क्रेता तथा विक्रेता जिस भाव पर क्रय-विक्रय होता है उससे प्रतिक्षण परिचित होते रहते हैं और उन्हें यह पता चलता रहता है कि कौन किस भाव पर वेचने या खरीदने को तैयार है, और जव कोई

क्रेता किसी विक्रेता से खरीद सकता या विक्रेता बन कर बेच सकता है, तब उसे पूर्ण बाजार कहते हैं। ऐसी दशा में किसी पदार्थ का मूल्य (स्थानान्तरण-व्यय, आयात-कर इत्यादि काट कर या जोड़ कर) संपूर्ण बाजार में संभवतः एक ही होगा। यदि कोई विक्रेता दूसरों की अपेक्षा कम मूल्य लेने को तैयार है तो उसके पास लोगों की माँग अधिक संख्या में आएगी जिससे या तो उसकी राशि (Stock) बिक जाएगी या वह अपने प्रतिद्वंद्वियों के बराबर मूल्य बढ़ा देगा, या (विशेषकर जब वह संपूर्ण राशि का बहुत बड़ा अंश संग्रह किये हुए है) उसके प्रतिद्वंद्वी विक्रेता विवश हो कर अपना मूल्य उसीके बराबर गिरा देंगे। इसके विपरीत यदि कोई विक्रेता उसी पदार्थ के लिये अपने प्रतिद्वंद्वियों की अपेक्षा अधिक मल्य माँगता है तो उसका माल कोई न लेगा क्योंकि यद्यपि कुछ क्रेता, आवश्यकता पड़ने पर, बाजार भाव से अधिक मूल्य देने को तैयार हो जाते हैं, फिर भी जब वे वही माल दूसरों से सस्ता पा सकते हैं तो उससे नहीं खरीदेंगे।

यहाँ यह मान लिया गया है कि जिस वस्तु का लेन-देन हो रहा है वह सच्चे अर्थ में "पदार्थ" (Commodity) है जिसके विभिन्न भेद एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न (Substitute) हैं अर्थात् एक का उपयोग दूसरे के बदले हो सकता है। हाँ, यह संभव है कि किसी तथाकथित पदार्थ का एक भेद दूसरे की अपेक्षा अधिक दाम पर बिके। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाजार अपूर्ण है; वास्तव में विभिन्न भेद विभिन्न पदार्थ हैं। वे शायद तत्वतः एक ही हों परन्तु यदि किसी व्यापार-चिह्न या विशेष विज्ञापन के कारण कुछ क्रेता एक भेद को अन्य भेदों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं तो वे व्यवहार में भिन्न पदार्थ हैं।

कुछ चीजें—जैसे गेहूं—कोटियों (Grades) में इस प्रकार विभाजित की जा सकती हैं कि एक कोटि के लगभग सभी दाने एक समान हों। तब प्रत्येक कोटि को सच्चे अर्थ में एक पृथक् पदार्थ गिना जा सकता है। कोटि-विभाजन (Gradation) प्रायः विक्रेताओं के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। सावधानीपूर्वक कोटि-विभाजन क्रेता और विक्रेता दोनों के हित के लिये अच्छा होता है क्योंकि इससे बाजार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। विक्रय-संगठन द्वारा दी गई कोटि (अथवा किसी अन्य मानदंड) के आधार पर कोई भी क्रेता जो माल उसने देखा तक नहीं है उसे भी खरीद सकता है और उसे यह विश्वास रहेगा कि जो माल वह चाहता है वही उसे मिल रहा है। कोटि-विभाजन से भविष्य का क्रय-विक्रय (Future dealing) भी संभव होता है चाहे माल क्रेता द्वारा देखा भी न गया हो अथवा अभी उसका अस्तित्व ही न हो। इससे एक के बदले दूसरी वस्तु का क्रय-विक्रय भी सरलता से हो सकता है।

फिर भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका कोटि-विभाजन नहीं हो सकता और न तो उनका ठीक-ठीक परिचय ही दिया जा सकता है जिससे बिना देखे या परीक्षा किये वे खरीदी जा सकें। जैसे ऊन के क्रेता, अथवा उनके प्रतिनिधि, खरीदने के पहले उसके प्रत्येक ढेर का निरीक्षण कर लेना चाहते हैं। इसी प्रकार चाय के क्रेता सौदा पटाने के पहले उसका नमूना चख लेते हैं। ऊन खरीदना और चाय चखना बड़ी कुशलता के कार्य माने जाते हैं। इस प्रकार के माल प्रायः ढेरियों में नीलाम किये जाते हैं। संभव है कि भविष्य में इन वस्तुओं का भी कोटि-विभाजन हो सके। ऊन की ढेरियों का कोटि-विभाजन हो सकता है और चाय भी इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है कि एक ही चिह्न से अंकित उसकी भिन्न-भिन्न पुड़ियाँ एक दूसरे से अभिन्न हों।

जब कुछ क्रेता या विक्रेता या दोनों ही क्रय-विक्रय के भावों से अनभिज्ञ रहते हैं तब बाजार अपूर्ण कहलाता है। जैसे पुरानी पुस्तकों का बाजार अपूर्ण है। अब भी कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ग्राहक किसी पुस्तक-विक्रेता से कोई पुस्तक खरीद कर किसी दूसरे विक्रेता को कुछ लाभ लेकर बेच देता है। साधारणतः फुटकर बिक्री का बाजार अपूर्ण होता है। जैसे संभव है एक ही नगर में कुछ दूकानदार एक ही प्रकार के सन्दूक के लिये प्रायः दूसरे दूकानदारों से अधिक मूल्य लेते रहें।

इधर के कुछ दशकों (Decades) में यातायात के साधनों की उन्नति होने से बाजारों की अपूर्णता कम होने लगी है। पदार्थों (Commodities), प्रतिभूतियों (सेक्युरिटियों), पूँजी और विदेशी विनिमय में लेन-देन करनेवाले अपनी आवश्यकता से अधिक ले या दे नहीं सकते। एक केन्द्र में दिये गये मूल्य का अन्य केन्द्रों में तुरत पता चल जाता है। गेहूँ के किसी व्यापारी ने एक जहाज में गेहूं लदा दिया है और किसी विशेष बंदरगाह में ले जाने का आदेश दे दिया है; परन्तु बेतार के तार से यह समाचार पाकर कि किसी दूसरे बंदरगाह पर गेहूँ का भाव चढ़ गया है वह जहाज के कप्तान को उस दूसरे बंदरगाह में ले जाने के लिये आदेश दे सकता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यवसाय-संस्था का रुपया न्यूयार्क में पड़ा है तो, यह समाचार पाकर कि लंदन में अल्पकालीन ऋण की ब्याज-दर चढ़ गई है, वह तुरत अपना रुपया लंदन भेज सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियाँ संसार में कहीं भी किसी के पास हों तो वह किसी भी बंट-विनिमय (Stock exchange) में जहाँ उनकी दर कुछ समय के लिये चढ़ जाय, बेच सकता है। तार और टेलीफोन तथा बेतार के तार भिन्न-भिन्न केन्द्रों के भावों में भिन्नता को तुरत दूर करने में बहुत सफल हुए हैं।

इसके अतिरिक्त इधर के कुछ वर्षों में सरकारी हस्तक्षेप की वृद्धि होने से उलटी प्रवृत्ति भी काम कर रही है। अधिक आयात-निर्यात-करों द्वारा विभिन्न देशों में मूल्य का अंतर बढ़ता जा रहा है। वस्तुओं के आयात, मजदूरों के आप्रवासन (Immigration) और पूँजी के निर्यात पर मात्रात्मक नियंत्रण (Quantitative restriction) ने बाजारों को एक दूसरे से पृथक् कर दिया है। इसके अतिरिक्त अंकित (Branded) वस्तुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे किसी 'पदार्थ' (Commodity) के विभिन्न भेदों में भिन्नता स्थापित हो जाती है, जिससे वे उपभोक्ताओं द्वारा भिन्न भिन्न पदार्थ माने जाते हैं और उस पदार्थ का बाजार कई खंडों में विभक्त हो जाता है। यदि क्रेता और विक्रेता एक दूसरे के निकट संपर्क में नहीं हैं तो मध्यजनों (Middlemen) के लिये लाभ उठा लेना प्रायः सरल होता है। इस प्रकार मध्यस्थता करके वे बाजार की अपूर्णता कम करने में समर्थ होते हैं। वे सस्ती से सस्ती दर पर माल खरीदकर स्वयं राशि रख सकते हैं और इस प्रकार विभिन्न विक्रेताओं को मिलनेवाले मूल्यों में समानता ला सकते हैं। उधर दूसरी ओर उनकी आपस की प्रतियोगिता से विभिन्न क्रेताओं द्वारा दिये गये मूल्यों में समानता आती है। इस प्रकार के मध्यजन को व्यापार करने के लिये क्रेताओं में अपना विज्ञापन करना आवश्यक है जिससे कोई क्रेता माल खरीदने के पहले दो चार व्यापारियों के भावों की तुलना कर सके। कुछ व्यापारी स्वयं राशि नहीं रखते; वरन् उनके संबंध में केवल जानकारी रखते हैं जिससे वे क्रेताओं और विक्रेताओं को एक दूसरे के संपर्क में रखते और सौदा पट जाने पर कमीशन पाते हैं। भू-संपत्ति के दलाल और निजी-श्रम-विनिमय संस्थाएँ (Private labour exchanges)—जैसे घरेलू नौकरों या अध्यापकों की संस्थाएँ—इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार व्यावसायिक पत्र जानकारी फैला कर लाभ उठाते हैं। उदाहरणार्थ वे प्रत्येक पुस्तक नीलाम करनेवाले के मूल्यों का विवरण प्रति सप्ताह या प्रति मास छाप कर इस लेन-देन को पहले की अपेक्षा अधिक विज्ञप्त कर देते हैं। साधारणतः मध्यजन बहुत उपयोगी कार्य करते हैं। क्योंकि यदि वे लाभदायक समझते हैं तो सभी क्रेता-विक्रेताओं से सीधा संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

एकाधिकार तथा एक सी वस्तुओं के लिये भिन्न-भिन्न मूल्य लेने की संभावना का विवेचन एक दूसरे अध्याय में किया गया है।[1]

---

१. यह ध्यान रखना चाहिये कि अपूर्ण प्रतियोगिता (अथवा एकाधिकार) की अवस्था में उत्पन्न वस्तुओं का बाजार पूर्ण हो सकता है।

४. लेन-देन के भेद (Types of Transactions)

जिन वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है वे आठ समूहों में बाँटी जा सकती हैं :–

(१) उपभोग्य वस्तुएँ, (२) उत्पादक की वस्तुएँ, (Producers' goods) (३) श्रम, (४) भू-संपत्ति (Real estate), (५) द्रव्य के रूप में ऋण (६) कागजी अधिकार (Paper titles), (७) अधिकार (Rights) और (८) अन्य मुद्राएँ (Other Currencies)

(१) उपभोग्य वस्तुएँ

उपभोग्य वस्तु की आकांक्षा उसके व्यवहार के लिए होती है। वह किसी आवश्यकता की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से करती है। इसके अन्तर्गत हम उन सेवाओं को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो डाक्टरों, मकानों, सिनेमा के खेलों तथा यातायात के साधनों द्वारा हमें मिलती हैं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ता की आवश्यकताएँ पूरी करती हैं।

यद्यपि आर्थिक क्रिया का मुख्य उद्देश्य उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन करना है फिर भी उपभोक्ताओं को बेची जानेवाली वस्तुओं का अर्घ संपूर्ण लेन-देन के अर्घ का अल्पांश ही होता है। ग्रेट-ब्रिटेन में इधर कुछ वर्षों में इसका अर्घ ४०० करोड़ पौंड वार्षिक से अधिक शायद ही कभी हुआ हो। इसमें आधे से अधिक फुटकर बेचनेवाली दूकानों तथा होटलों द्वारा बेची गई वस्तुओं का अर्घ है। उधर संपूर्ण लेन-देन का अर्घ ५००० करोड़ पौंड वार्षिक से कम नहीं हुआ है। इसका एक कारण तो यह है कि कंपनियों आदि के हिस्सों तथा अन्य प्रकार के कागजी अधिकारों (Paper titles) का लेन-देन बहुत अधिक होता है। दूसरा कारण यह है कि बहुत सी वस्तुएँ अपने अन्तिम रूप में उपभोक्ताओं के हाथ बेची जाने के पूर्व बराबर हस्तान्तरित होती हैं।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, फुटकर बाजार प्रायः अपूर्ण होते हैं। कुछ लोग इस बात को जानने का कष्ट उठाना नहीं चाहते कि कोई वस्तु कहाँ सबसे सस्ती मिलती है, अथवा जिस दूकानदार से वे खरीदते हैं वह कहने सुनने से मूल्य में कुछ कमी कर सकता है या नहीं। कुछ लोग किसी दूकान से इसलिए खरीदते हैं कि वह सबसे निकट और सुविधाजनक है; अथवा उस दूकान से उन्हें उधार सौदा मिल जाता है या उस दूकानदार का व्यवहार और लेन-देन उन्हें पसंद है, अथवा उन्हें विश्वास रहता है कि उस दूकान पर उन्हें विशुद्ध वस्तु मिलेगी। अंकित (Branded) वस्तुएँ प्रायः निश्चित मूल्य पर बिकती हैं, और जो लोग मोलभाव करने अथवा वस्तुओं के भेदों की तुलना करने में अधिक समय गँवाना नहीं चाहते वे ऐसी ही वस्तुएँ पसंद करते हैं। जो दूकानें अधिकतर सम-

जात (Homogeneous) वस्तुएँ निश्चित मूल्य पर बेचती हैं—जैसे, विभिन्न चिह्नों के सिगरेट और तंबाकू—वे उसी प्रकार अधिक क्षेत्र में वितरित रहती हैं जैसे जनसंख्या। वे उपभोक्ताओं को सुविधा प्रदान करने में लगी रहती हैं। जो दूकानें उन लोगों के लिए सौदा रखती हैं, जो मोलभाव करने तथा विभिन्न भेदों की तुलना करनेवाले होते हैं, वे प्रायः एक ही स्थान पर केन्द्रित रहती हैं, जिससे उनके ग्राहक किसी वस्तु को कई दूकानों से तुलना करके ले सकें, जैसे बड़े-बड़े नगरों में पुरानी पुस्तकों और फल-तरकारियों की दूकानें।

जो क्रेता सावधान रहता है और चीजों का मोलभाव करने में समय लगा सकता है, अथवा भविष्य में चीजें सस्ती होने की आशा से अपनी आवश्यकता को स्थगित कर सकता है, वह उतने ही द्रव्य में असावधान क्रेता की अपेक्षा अधिक माल पा सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अन्तर पूरा का पूरा निस्तुप (Net) लाभ नहीं है। इसके लिए जो अधिक समय, प्रयत्न, असुविधा, और शायद अधिक किराया आदि व्यय हुआ हो उसका भी विचार करना आवश्यक है।

(२) उत्पादक की वस्तुएँ (Producers' Goods)

उत्पादक की वस्तु की आवश्यकता उसका प्रत्यक्ष उपयोग करने के लिए नहीं वरन् उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए होती है। इस प्रकार इनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता की पूर्ति होती है। ऐसी वस्तुओं की माँग इनकी सहायता से उत्पन्न उपभोग्य वस्तुओं की माँग से "व्युत्पन्न" (Derived) होती है। इसके अन्तर्गत हम उन वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित कर सकते हैं जो एक व्यवसाय-संस्था अपना व्यवसाय चलाने के लिए दूसरी से खरीदती है। उदाहरणार्थ, वे पानी, गैस, बिजली आदि की पूर्ति के लिए मूल्य देती हैं अथवा अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए व्यय करती हैं। वे अपने माल का बीमा कराने के लिए अथवा विभिन्न प्रकार की आर्थिक या महाजनी (बंक-संबंधी) सेवाओं के लिए व्यय करती हैं।

बहुत-सी वस्तुएँ—उदाहरणार्थ कच्चा रबर (Crude rubber), जस्ता (Spelter) और असिद्ध लौह (Iron ore) आदि कच्चे माल और इस्पात के छड़, सूत की गुंडी या ऊन की लच्छी आदि अवपके माल (Intermediate products)—प्रायः सर्वदा उत्पादक की वस्तुएँ गिनी जाती हैं। क्योंकि वे शायद ही कभी किसी आवश्यकता की प्रत्यक्ष पूर्ति करती हैं। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका उपयोग उत्पादक और उपभोग्य दोनों प्रकार की वस्तुओं के रूप में हो सकता है, जैसे घर के चूल्हे में जलनेवाला कोयला पहली कोटि में आता है और कारखाने में जलने

वाला दूसरी कोटि में। इसी प्रकार यात्रियों को छुट्टी में घर ले जाते समय रेल की सेवा पहली कोटि में और माल ले जाने या टिकट लेकर यात्रा करनेवाले यात्रियों को ले जाने में उसकी सेवा दूसरी कोटि में आती है। परन्तु इससे हमारा उक्त वर्गीकरण निरर्थक नहीं हो जाता। आर्थिक विश्लेषण का संबध वस्तु के कार्य से, अर्थात् आर्थिक प्रणाली में वे जो कार्य करती हैं उससे, होता है न कि उनके मूल (उत्पत्ति) अथवा वास्तविक गुण से।

उत्पादक की वस्तुओं के बाजार प्रायः पूर्ण होते हैं। किसी फुटकर विक्रेता को यह जानना आवश्यक है कि वह जिन वस्तुओं की राशि रखता है उनके कितने भेद होते हैं और विभिन्न विक्रेताओं के मूल्यों की तुलना करना भी उसके लिए आवश्यक है। अवश्य ही उसके पास उन वस्तुओं के उत्पादकों और थोक विक्रेताओं के प्रतिनिधि और दलाल आदि आएँगे अथवा वह स्वयं थोक-व्यापारियों के पास जाकर माल का नमूना देख सकता है या व्यावसायिक पत्रों को देख कर यह जान सकता है कि किस वस्तु का कहाँ क्या भाव है।

साधारण अर्थ में बाजार का बहुत अच्छा उदाहरण स्मिथफील्ड (लंदन) का बाजार है। बाजार का स्वामी लंदन-कारपोरेशन है जो साप्ताहिक ठेके पर विक्रेताओं को किराए पर दूकानें देता है। विक्रेता अधिकांश में मांस का आयात करनेवाली कंपनियाँ हैं जिन्होंने या तो समुद्रपार के विदेशी किसानों से गाय-भैंस और भेड़-बकरी सीधे मोल ले लिए हैं, अथवा कुछ दस्तूरी लेकर पशुओं को वध करने, सुरक्षित रूप से रखने (Processing), स्थानान्तरण करने और राशि (Stock) बेचने का ठीका लिया है। विक्रेता बेचने में एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हैं, उनमें कोई संघ या मूल्य-निर्धारक-संस्था नहीं है। अधिकांश क्रेता नगर में इधर-उधर फैली हुई कसाइयों की दूकानों, होटलों, जलपान-गृहों (Restaurants) या देश भर के कसाइयों आदि के प्रतिनिधि होते हैं। क्रेता और विक्रेता दोनों ही अपने-अपने कार्य के विशेषज्ञ होते हैं और क्रेता खरीदते समय मांस की परीक्षा तुरत करते हैं। अतएव एक ही प्रकार के माल के लिए उसी दिन दिए गए मूल्य में बहुत कम भिन्नता होने पाती है।

लगभग सभी उत्पादक की वस्तुओं के क्रेता और विक्रेता एक दूसरे के निकट संपर्क में तुरत आ सकते हैं और विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं (Firms) द्वारा उद्धृत मूल्यों की तुलना कर सकते हैं। बहुत से बड़े बड़े नगरों में भिन्न-भिन्न पदार्थों अथवा उनके समूहों के लिए अलग-अलग बाजार होते हैं जहाँ क्रेता और विक्रेता तथा उनके अभिकर्ता (एजेंट) मिल कर लेन-देन कर सकते हैं। जैसे लंदन में धातु-विनिमय (Metal Exchange), रबड़-

विनिमय (Rubber Exchange), कोयला-विनिमय, बाल्टिक-विनिमय, (Baltic Exchange), अन्न-विनिमय (Corn Exchange), ऊन विनिमय, इत्यादि। कुछ लेन-देन तो सेवाओं के रूप में होता है। जैसे लायड की संस्था सब प्रकार के बीमों के लिए है। अपने माल के बीमे का इच्छुक कोई जहाज का मालिक या व्यापारी वहाँ जाकर अथवा अपना दलाल भेजकर यह जाँच सकता है कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय-संस्थाएँ किन-किन दरों पर बीमा करने को तैयार हैं। इसी प्रकार बाल्टिक-विनिमय में माल भेजने के लिए जहाजों का ठीका होता है (इसके अतिरिक्त अन्न और 'सोयाबीन', तेलहन, लकड़ी आदि के सामान तथा अन्य अनेक वस्तुओं का लेन-देन भी वहाँ होता है)। हाँ, तो हम वस्तुओं के विषय में लिख रहे थे। जो ऊन की गाँठें शाम को नीलाम होने को रहती हैं वे क्रेताओं के निरीक्षण के लिए सवेरे बाहर रख दी जाती हैं। लंदन के अन्न-विनिमय में (बाल्टिक में नहीं) दिखलाए गए नमूने के आधार पर खरीद होती है। परन्तु लंदन की अधिकांश विनिमय-संस्थाओं में माल दिखाया नहीं जाता वरन् उनकी श्रेणी और गुण के उद्धरण के आधार पर उन्हें खरीदा जाता है। यदि माल घटिया हो और नमूने के अनुसार न हो तो क्रेता पंच नियुक्त करके न्याय करा सकते हैं।

(२) श्रम-सेवा[1]

जब ये सेवाएँ सीधे उपभोक्ता को अर्पित की जाती हैं, जैसे घरेलू नौकरों की सेवा, जिनके लिए मजदूरी या वेतन प्राप्त होता है, तब ये पहली कोटि में आती हैं। परन्तु अधिकांश मजदूर इसलिए नहीं रखे जाते कि उनकी सेवा का प्रत्यक्ष उपयोग हो वरन् उनका उपयोग उत्पादक कार्य के लिए होता है। अत अधिकतर श्रम-सेवा की माँग उपभोग्य वस्तुओं की माँग से "व्युत्पन्न" होती है। इसका एक अपवाद है सरकार द्वारा अध्यापकों के तथा पुलिस के सिपाहियों की माँग जिनका उत्पादन बेचा नहीं जाता। परन्तु इसका विचार पीछे किया जायगा।

कुछ देशों में सरकार द्वारा, न्यायालय द्वारा, अथवा सरकार द्वारा नियुक्त विशेष समितियों द्वारा, प्रायः प्रत्येक व्यवसाय के लिए, समय-समय पर न्यूनतम वेतन (Minimum Wage) निश्चित किया जाता है। ऑस्ट्रेलिया में अधिकांश मजदूरों की मजदूरी इसी प्रकार निश्चित की जाती है। ग्रेट-ब्रिटेन में कम वेतनवाले भिन्न भिन्न व्यवसायों में न्यूनतम वेतन निश्चित करने के लिए १९०९ तथा १९१८ के विधानों द्वारा लगभग ११ लाख मजदूरों से सम्बन्ध रखनेवाली ४८ व्यवसाय-मंडलियाँ (Trade Boards)

१. आगे के आँकड़े युद्ध के ठीक पूर्व के हैं।

स्थापित हुई हैं। इसके अतिरिक्त कृषि के मजदूरों का वेतन एक प्रधान मंडली (Board) तथा स्थानीय वेतन-समितियों (Wages Committees) द्वारा निर्धारित किया जाता है (इंग्लैंड तथा वेल्स में १९२४ के विधान द्वारा और स्कौटलैंड में १९३७ के विधान द्वारा)।

यद्यपि ब्रिटेन के मजदूर-संघों के सदस्यों की संख्या ५० लाख के ऊपर नहीं है फिर भी अधिकांश व्यवसायों और कोटियों (Grades) में मजदूरी की दर उससे संबंध रखनेवाले मजदूर-संघ और अधियोजक-संघ (Employers' Association) के आपसी समझौते से निश्चित की जाती है। साधारणतः भिन्न-भिन्न जिलों की मजदूरियों में भिन्नता रहने दी जाती है और समझौता मजदूरी के अतिरिक्त अन्य बातों (जैसे काम के घंटे आदि) के लिए भी होता है। समझौते में प्रायः इस बात का उल्लेख रहता है कि यदि दोनों में से एक भी पक्ष उसमें कोई परिवर्तन करना चाहे तो कुछ समय पहले ही सूचना देना आवश्यक है। कुछ समझौतों में (जैसे कोयले के मजदूरों के वेतन-संबंधी समझौतों में) लिखा रहता है कि धंधे में होनेवाले लाभ के अनुसार वेतन में परिवर्तन होता रहेगा।

कुछ धंधों में (जैसे लोहा और इस्पात में जिसमें एक लाख अस्सी हजार मजदूर कार्य करते हैं) वेतन उत्पादन के मूल्य के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। कुछ अन्य धंधों में, जिनमें लगभग १२ लाख मजदूर कार्य करते हैं, वेतन में परिवर्तन, सरकार के श्रम-विभाग द्वारा संपादित निर्वाह-व्यय-सूचकांक (Cost of Living Index Number) के अनुसार होता है। मजदूरों की कुछ महत्त्वपूर्ण श्रेणियों (जैसे घरेलू नौकर, क्लर्क, तथा टाइप करनेवाले) का कोई शक्तिशाली मजदूर-संघ नहीं है और ऐसे व्यवसायों के मजदूर प्रायः अपने आप अपने अधियोजक (Employer) से मजदूरी तय करते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने अधियोजन-विनिमयों (Employment Exchanges) का जाल विछा दिया है जिनका उद्देश्य काम खोजनेवाले मजदूरों और मजदूर-चाहनेवाले अधियोजकों को एक दूसरे के संपर्क में लाना है। बहुत से निजी (Private) अधियोजक-संघ भी हैं—विशेषतः घरेलू नौकरों, अध्यापकों, होटल के नौकरों और अभिनय करनेवालों के। इसके अतिरिक्त बहुत से पदों के लिए समाचारपत्रों में विज्ञापन दिए जाते हैं।

(४) भू-संपत्ति (Real Estate)

भूमि का एक टुकड़ा या मकान दूसरे से—कम से कम स्थिति में—भिन्न होता है। अतः इनका लेन-देन नमूने के आधार पर नहीं हो सकता। क्रेता प्रायः खरीदने के पहले संपत्ति को स्वयं देख लेना चाहते हैं।

इस कारण इसका अधिकांश व्यवसाय विशेषज्ञ दलालों (एजेंटों) के हाथ में होता है जो सौदा पट जाने पर विक्रेता से कुछ कमीशन पाने के लिये क्रेता और विक्रेता को एक दूसरे के संपर्क में लाते हैं। विक्रेता अथवा उनके अभिकर्ता (एजेंट) साधारण समाचारपत्रों तथा विशेष पत्रों में इस प्रकार के सौदों के लिये विज्ञापन भी देते हैं। यद्यपि बेचे जानेवाले माल में समानता नहीं होती फिर भी भू-संपत्ति का बाजार बहुत अपूर्ण नहीं होता, क्योंकि अधिकतर विक्रेता अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त करना चाहते हैं और क्रेता खरीदने के पहले यह जानने के लिये कि क्या-क्या माल किस-किस दर पर मिल सकता है बहुत समय लगाते और कष्ट उठाते हैं।

(५) द्रव्य के रूप में ऋण

ब्याजवाले अध्याय में हम विभिन्न प्रकार के ऋणों का विवेचन करेंगे। व्यवसाय-संस्थाएँ प्रायः बहुत अल्पकाल के लिये बंकों से ऋण प्राप्त कर सकती हैं। कोई बहुत प्रसिद्ध ऋणार्थी—जैसे अंग्रेजी सरकार—साधारण जनता से भी ऋण माँग सकता है। कोई विदेशी सरकार या बहुत बड़ी खान या उद्योग-धंधेवाली संस्था, जो कुछ अधिक काल के लिए लंदन में बहुत बड़ी रकम उधार लेना चाहती है, शायद किसी ऋण-दातृ संस्था (Issue House) को अपना एजेंट बनायेगी। ऋण-दातृ-संस्था—आगे चलकर स्वीकारी-गृह (Accepting House) के रूप में जिसका विवेचन हम करेंगे—उधार माँगनेवाले को यह बताएगी कि किस शर्त पर ऋण लेना चाहिए और अपने विशेष ज्ञान और प्रसिद्ध के लिए कमीशन लेकर (जो हजारों रुपए की बड़ी रकम हो सकती है) ऋण दिलावेगी। कोई अधिष्ठित (Established) व्यवसाय-संस्था, जो अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करना चाहती है, प्रायः समाचारपत्रों में विज्ञापन देकर ऋण प्राप्त कर सकती है, अथवा अपने हिस्सेदारों के पास परिपत्र (Circular) भेजकर पूँजी एकत्र कर सकती है। किसी नई संस्था को, जो सर्वसाधारण में प्रसिद्ध नहीं है, ऋण लेने में अधिक कठिनाई पड़ती है। यह कार्य किसी समवाय-प्रवर्त्तक (Company Promoter) द्वारा हो सकता है जो लंदन के ढंग जानने में कुशल है, और जो प्रायः पेटेंट या व्यवसाय (Business) खरीद कर एक कंपनी बनाता है और विज्ञापन द्वारा या अपने संभाव्य ग्राहकों के पास परिपत्र भेजकर उसके हिस्से कुछ लाभ लेकर सर्व साधारण में फिर बेच देता है। "वंट-विनिमय-परिचय" (Stock Exchange Introductions) द्वारा नई पूँजी एकत्र करने की प्रथा का इधर कुछ वर्षों में लंदन में बहुत प्रचार हो गया है। वंट-विक्रेता दलाल (Stock Brokers)

नए हिस्सों को पूँजी लगाने का अच्छा साधन बताते और अपने ग्राहकों को उन्हें खरीदने का परामर्श देते हैं।

विनियोजन (Investment) चाहनेवाले द्रव्य को मुक्त पूँजी (Free Capital) कहते हैं। मुक्त पूँजी पर व्याज की दर रुपया मारे जाने की आशंका और ऋण देने की अवधि पर निर्भर रहती है। विशेष प्रकार के दीर्घ-कालीन ऋण की प्राप्ति के लिए किसी अच्छी स्थिति के ऋणी को जो व्याज-दर देनी पड़ेगी वह बंट-विनिमय (Stock Exchange) की उसी प्रकार की निश्चित व्याज-दरवाली प्रतिभूतियों (Fixed-interest Securities) के प्रचलित मूल्य, अर्थात् प्रतिशत लाभ, पर निर्भर रहेगी। ऋण-दाताओं (Lenders) को यह स्वतंत्रता रहती है कि चाहे वे प्रस्तुत प्रति-भूतियाँ मोल लें (चाहे उन पर व्याज-दर निश्चित हो या घटने-बढ़नेवाली हो) या नए हिस्से खरीदें।

(६) कागजी अधिकार

ये दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं—एक तो निश्चित आय देनेवाले और दूसरे अनिश्चित आयवाले। हुंडी और कोष-विपत्र (Treasury Bills), जिनका विवेचन आगे चल कर होगा, अल्पकालीन ऋण के प्रतिनिधि हैं और तर्क की दृष्टि से प्रथम कोटि में आते हैं। बंधक (Mortgages) भी इसी प्रकार के होते हैं जिनसे ऋण देनेवालों को भू-सपत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है कि यदि ऋणी ऋण चुकाने में असमर्थ हो तो वे उसे ले सकते हैं। सरकार अथवा उसी के समान अन्य संस्थाओं द्वारा लिए हुए ऋण और कंपनियों द्वारा लिए गए ऋण (Debentures) प्रायः निश्चित व्याज देते हैं अर्थात् ऋणी ऋणदाताओं को किसी विशेष अवधि के अन्तर पर नियमपूर्वक कोई निश्चित व्याज देने का वचन देते हैं। कंपनियों के साधारण हिस्सों पर 'लाभांश' (Dividends) मिलते हैं जो कंपनी के 'लाभ' (Profit) के अनुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। कुछ वर्णसंकर (Hybrid) हिस्से भी होते हैं, जैसे रियायती हिस्से (Preference shares) जिनके स्वामी एक निश्चित आय के अधिकारी होते हैं और कंपनी को अधिक लाभ होने पर कुछ अति-रिक्त लाभांश पाते हैं। ब्रिटेन का बंट और हिस्सों (जिन्हें प्रायः प्रति-भूतियाँ कहते हैं) का मुख्य बाजार लंदन-बंट-विनिमय (London Stock Exchange) है।

(७) अधिकार (Rights)

बहुत तरह के अधिकारों के लिए भी मूल्य दिया जाता है। जैसे एक व्यवसाय-संस्था किसी दूसरी संस्था को किसी विशेष प्रकार की उत्पादन

६. व्यापार की अवस्था में परिवर्तन

व्यापार की मंदी की अपेक्षा तेजी के समय प्रायः कम व्यक्ति और उत्पादन के कम साधन वेकार रहते हैं, उत्पादन अधिक होता है, संपूर्ण द्रव्य-आय (Money income) अधिक होती है और लगभग सभी वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। यदि तेजी की अवधि बढ़ने की तथा व्यापार म उन्नति की संभावना रहती है तो उत्पादक वस्तुओं की माँग में उपभोग्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक वृद्धि की संभावना रहती है। साहसी अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की आशा करते हैं। अतएव यंत्रादि साधनों और कच्चे तथा अधपके मालों के लिये अपनी माँग बढ़ाते और बयाना देते हैं।

यदि व्यापार में मन्दी हो और अधिक दिनों तक जारी रहने अथवा और बुरी दशा होने की आशंका हो तो इसका विपरीत परिणाम होगा। उत्पादक वस्तुओं (Producers' goods) की माँग उपभोग्य वस्तुओं की माँग की अपेक्षा अधिक घटेगी। उपभोक्ता पहले की अपेक्षा निर्धन होने के कारण टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं (जैसे उपस्कर तथा अन्य घरेलू सामान) पर अपना व्यय कम कर देंगे।

७. अन्य मूल्यों में परिवर्तन

किसी वस्तु की माँग को अवस्था में इसलिये भी परिवर्तन हो सकता है कि अन्य वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन हो गया है। यदि दो वस्तुएँ एक दूसरे के वदले व्यवहार में आ सकती हैं तो एक के मूल्य में कमी होने पर दूसरी की माँग कम होने की संभावना रहती है; इसके विपरीत उसके मूल्य में वृद्धि होने पर दूसरी की माँग वढ़ने की संभावना रहती है। जैसे यदि लकड़ी की अधिक मात्रा बाजार में बिक्री के लिये आती है जिससे उसका भाव गिर जाता है तो वहुत से लोग, जो पहले कोयले का व्यवहार करते थे, अव लकडी का व्यवहार करने लगेंगे और कोयले की माँग घट जायगी। इसके विपरीत यदि दो वस्तुओं की माँग संयुक्त होती है, अर्थात् उनका व्यवहार लगभग एक ही अनुपात में एक साथ होता है, तो एक का मूल्य गिरने पर दूसरी की माँग में वृद्धि होने की संभावना रहती है। जैसे यदि मोटरों का मूल्य गिर जाय तो उनकी बिक्री बढ़ जायगी जिसके फलस्वरूप पेट्रोल की माँग भी बढ़ जायगी। ये साधारणीकरण (Generalisations) उत्पादकों द्वारा खरीदी जानेवाली वस्तुओं पर भी लागू होते हैं। जैसे किसी विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी बढ़ जाने से कुछ अधियोजक (Employers) उन मजदूरों के वदले यंत्रों का उपयोग करने लग जायेंगे जिससे इस प्रकार के यंत्रों की माँग बढ़ जायगी।

८. रुचि में परिवर्तन

उपभोक्ताओं की रुचि में अनेक कारणों से परिवर्तन हो सकते हैं। फैशन के कारण होनेवाले उन विचित्र परिवर्तनों का विवेचन हमें नहीं करना है जो एक समय तो ऐसा आदेश देते हैं कि स्त्रियों के बाल छोटे होने चाहिये जिससे बालों में लगनेवाली पिनों की माँग घट जाती है; और दूसरे समय यह सुनाई पड़ता है कि स्त्रियों के कपड़े अधिक लंबे होने चाहिये जिससे उनकी सामग्री और सिलाई आदि की माँग बढ़ जाती है। १९१४ के युद्ध के पूर्व पेरिस में स्त्रियों के हैटों के लिये शुतुरमुर्ग तथा अन्य पक्षियों के सुन्दर परों की बड़ी माँग थी और उसका धंधा बड़ा उन्नत था। परन्तु युद्ध के बाद परों का फैशन बिलकुल बंद हो गया। इंग्लैंड में एक समय था जब फूस वाले हैट गर्मियों में बराबर पहने जाते थे परन्तु अब उनका पता ही नहीं।

इसी प्रकार भोजन के विषय में रुचि-भिन्नता को समझाना कठिन है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि ब्रिटेन में इधर कुछ वर्षों में भेड़, बकरी और शूकर के माँस की तुलना में गाय के माँस की माँग घट गई है। क्या इसका यह कारण है कि बहुत कम परिवार गाय का माँस पसन्द करने लगे हैं? इसका मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि लोगों की रुचि में परिवर्तन हो गया है जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

"रुचि में परिवर्तन" के अन्तर्गत प्रायः सुविधा के लिये लोग बाह्य परिस्थितियों (जैसे ऋतु-परिवर्तन) के कारण माँग में होनेवाले परिवर्तनों को भी सम्मिलित कर लेते हैं, क्योंकि निःसन्देह अधिमान-माप में परिवर्तन के कारण ही वे भी उत्पन्न होते हैं, यद्यपि हम भली-भाँति जानते हैं कि किन कारणों से यह परिवर्तन हुआ है। जैसे अधिक पानी बरसने से छातों की माँग बढ़ जा सकती है और गर्मी अधिक पड़ने से शीतकों (Refrigerators) और बर्फ की माँग बढ़ती है। औषध विज्ञान तथा उससे संबद्ध अन्य विज्ञानों की उन्नति होने से भी माँग में परिवर्तन हो जाता है। जैसे यह पता चलने पर कि सूर्य की किरणों में एक विशेष प्रकार की जीवन-शक्ति होती है लोग धूप-स्नान में अधिक समय व्यतीत करने लगते हैं और कुछ विशेष तेलों और औषधियों पर अधिक व्यय करते हैं। कुछ लोग कुछ विशेष खाद्य पदार्थों पर अधिक व्यय करने लगते हैं क्योंकि उनमें अधिक जीवन-शक्ति (Vitamin) होने का पता चलता है।

विज्ञापन और प्रचार का भी रुचि-परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। लोग दूध या फल या चाय का अधिक व्यवहार करने लगते हैं अथवा केवल स्वदेशी वस्तुएँ खरीदते हैं क्योंकि ऐसा करने के लिये उन्हें बराबर प्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार पेटेंट दवाओं और अंकित-वस्तुओं (Branded articles) की माँग का मुख्य कारण विज्ञापन होता है।

छठा अध्याय

माँग, पूर्ति और मूल्य

(Demand, Supply and Price)

१. पूर्ति में परिवर्तन

अभी हम पूर्ति को प्रभावित करनेवाली वस्तुओं का केवल संक्षिप्त और प्रारंभिक विवरण ही दे सकते हैं।

किसी वस्तु के उत्पादन-व्यय में, उसके उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल, अधपकेमाल (Intermediate products) तथा उत्पादन के भिन्न भिन्न साधनों के मूल्य सम्मिलित रहते हैं। इनमें से कुछ साधनों के मूल्यों में वृद्धि होने से उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा जिससे पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन हो जायगा। पूर्ति-वक्र (Supply curve) बायीं ओर को हट जायगा; अर्थात् किसी निश्चित मूल्य पर कम उत्पादन होगा और बिक्री के लिये बाजार में कम माल आएगा। उदाहरणार्थ सन १९३६ और १९३७ में शहतीर (Timber), इस्पात तथा अन्य चीजों के मूल्यों में वृद्धि होने के कारण मकान, जहाज, मोटरकार आदि पदार्थों की पूर्ति में परिवर्तन हो गया था। हाँ, साधनों के मूल्यों में कमी होने पर इसका उलटा परिणाम होगा।

उत्पादन अथवा बिक्री पर या संपत्ति अथवा उत्पत्ति के साधनों के उपयोग पर कर लगाने का भी वही परिणाम होगा। इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है।

क्रियाकल्प में उन्नति होने से, जिससे वस्तु की कोई निश्चित मात्रा पहले की अपेक्षा कम व्यय पर उत्पन्न हो सके अथवा बेची जा सके, उलटा प्रभाव पड़ेगा।

पूर्ति में परिवर्तन इस प्रकार की चीजों से हो सकता है जैसे ऋतु-परिवर्तन, आग, बाढ़, आँधी, भू-कम्प इत्यादि; यद्यपि इस प्रकार के परिवर्तन प्रायः अल्पकालीन होते हैं। अनुकूल ऋतु के कारण गेहूं की फसल बहुत अच्छी हो सकती है जिससे उसकी पूर्ति बढ़ जाय। लोहे के कारखाने में आग लग जाने या बम गोले के प्रहार से इस्पात की पूर्ति घट सकती है।

माँग के स्थिर रहने पर पूर्ति में परिवर्तन का मूल्य पर जो प्रभाव पड़ता है उसका विवेचन चौथे अध्याय में हो चुका है।

२. माँग और पूर्ति दोनों में परिवर्तन।

बहुत से परिवर्तनों का माँग और पूर्ति दोनों की अवस्था पर प्रभाव पड़ता

है। हम देख चुके हैं कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने पर, जिससे लोगों की आय में वृद्धि होती है, माँग बढ़ जायगी; परन्तु यह स्पष्ट है कि इसका प्रभाव उत्पादन-व्यय पर भी पड़ेगा। मजदूर अपने काम के लिये जो मजदूरी पाता है उसकी दृष्टि से वह उसकी आय है, परन्तु उसके अधियोजक (Employer) की दृष्टि से व्यय है। क्रियाकल्प में उन्नति होने से वस्तु की पूर्ति बढ़ने की संभावना रहती है, और हमने देखा है कि वास्तविक आय में वृद्धि होने से माँग में भी परिवर्तन होता है। यदि किसी विशेष प्रकार के श्रमिकों को अधिक मजदूरी मिलती है तो उनके श्रम से जो कुछ उत्पन्न होता है उसका मूल्य बढ़ जाने की प्रवृत्ति होती है और साथ ही उन श्रमिकों की माँग की शक्ति बढ़ जाती है। सच बात तो यह है कि चाहे किसी प्रकार का परिवर्तन हो उसका प्रभाव समस्त आर्थिक प्रणाली पर पड़ता है। परन्तु ये प्रभाव इतने नगण्य होते हैं कि सरलता से उनकी उपेक्षा की जा सकती है।

फिर प्रायः ऐसा होता है कि कुछ विशेष अवधि के बीच कोई ऐसी घटना होती है कि किसी वस्तु की पूर्ति की अवस्था में, और कुछ अन्य घटनाओं के कारण उसकी माँग की अवस्था में, परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ संभव है कि मोटरकार बनाने के क्रियाकल्प में उन्नति होने के साथ साथ लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होने के कारण संपत्ति के वितरण में परिवर्तन होने से उसकी माँग भी बढ़ जाय।

यदि पूर्ति की वृद्धि के साथ साथ माँग में कमी हो जाय तो वस्तु का मूल्य गिर जायगा और यदि पूर्ति की कमी के साथ साथ माँग में वृद्धि हो जाय तो वस्तु का मूल्य चढ़ जायगा। परन्तु यदि पूर्ति की वृद्धि के साथ साथ माँग में भी वृद्धि हो जाय अथवा पूर्ति की कमी के साथ साथ माँग में भी कमी हो जाय तो हम जानते हैं कि पहली दशा में उत्पत्ति तथा बिक्री दोनों की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होगी, और पिछली दशा में घटने की ओर; परन्तु हम पहले से यह नहीं कह सकते कि मूल्य का क्या होगा।

जब संक्रमण-काल समाप्त हो जाता है, और उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों नई अवस्था के अनुसार अपने को बना लेते हैं तब पूर्ति और माँग के वक्र पहले की अपेक्षा भिन्न होंगे। नवीन साम्य मूल्य (Equilibrium price) जिस बिंदु पर दोनों नये वक्र कटेंगे उसके द्वारा व्यक्त होगा।

अनेक परिवर्तन एक साथ ही हुआ करते हैं; इसीसे अर्थशास्त्री "प्रवृत्ति होती है" (tends) अथवा "और सब बातें ज्यों की त्यों रहने पर" या "और सब बातें समान होने पर" पदों का इतना अधिक प्रयोग करते हैं। कपास की अच्छी फसल की प्रवृत्ति रुई का मूल्य कम कर देने की होती है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि और बातें समान न हों। किन्हीं कारणों से रुई की माँग शायद इतनी बढ़ जाय कि उसका मूल्य घटने के बदले बढ़ जाय। फिर भी अच्छी फसल की प्रवृत्ति मूल्य

को नीचा रखने की होती है। यदि फसल कम हुई होती तो माँग में उतनी ही वृद्धि मूल्य में और भी अधिक वृद्धि कर देती।

३. अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन प्रभाव

किसी परिवर्तन का प्रभाव प्रायः कुछ विलंब से अपना पूरा कार्य करता है। यदि कोई अन्य परिवर्तन न हो तो उसके बाद एक नया साम्य स्थापित हो जायगा परन्तु संक्रमण-काल महीनों अथवा वर्षों तक चल सकता है।

मान लिया कि किसी वस्तु की माँग में अस्थायी वृद्धि हो गई है; तो माँग-वक्र दाहिनी ओर हट जायगा और वहीं बना रहेगा। यदि उस वस्तु की वर्तमान राशि बढ़ायी नहीं जा सकती—जैसे हमारे पिछले उदाहरण में पुस्तक के प्रथम संस्करण की—तो उसका मूल्य चढ़ेगा परन्तु उत्पादन-क्रिया पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ेगा। परन्तु यदि उस वस्तु का उत्पादन जारी है तो उसे अधिक मात्रा में उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होगी। क्योंकि यदि प्रति सप्ताह बिक्री के लिये आनेवाली उसकी मात्रा सदा एक सी रहती है तो उसका मूल्य चढ़ेगा। तब पहले की अपेक्षा उसका उत्पादन अधिक लाभकर होगा। वर्तमान व्यवसाय-संस्थाओं की प्रवृत्ति अपना उत्पादन बढ़ाने की ओर होगी और नई संस्थाओं की प्रवृत्ति उसमें प्रवेश करने की होगी।

ऐसा हो सकता है कि माँग में कुछ वृद्धि होने पर वर्तमान व्यवसाय-संस्थाएँ अपने यंत्रों या सज्जाओं (Equipments) में वृद्धि किए बिना ही उसकी पूर्ति कर दें। शायद पहले वे अपने सामर्थ्य से कम कार्य करती रही हों। इसका यह अर्थ है कि वे अपना उत्पादन थोड़ा बहुत बढ़ा सकती और उसके द्वारा प्रति इकाई अपना उत्पादन-व्यय घटा सकती थीं क्योंकि कुछ व्यय, जैसे व्यवस्थापक (Manager) तथा कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन अथवा भूमि और भवन का किराया आदि, यदि बढ़ेंगे तो बहुत कम बढ़ेंगे और हम यह भी कह सकते हैं कि इसका अर्थ यह होता है कि ये व्यवसाय-संस्थाएँ एकाधिकार रखती हैं क्योंकि वे यह जानती हैं कि यदि माँग स्थिर रहे तो उनके उत्पादन में वृद्धि होने से प्रति वस्तु मूल्य कम हो जायगा। यदि कोई व्यवसाय-संस्था सोचती है कि मूल्य पर प्रभाव डाले बिना वह अधिक उत्पादन बेंच सकती है और अधिक उत्पादन करने से उसका प्रति वस्तु उत्पादन-व्यय घट जायगा तो वह अवश्य ऐसा करेगी। यह बात भी है कि जो संस्थाएँ अबतक अपने सामर्थ्य से कम कार्य कर रही थीं वे माँग में वृद्धि होते देखकर अपना उत्पादन तुरत बढ़ा देंगी। शायद वे मूल्य बढ़ाये बिना सहर्ष ऐसा करने को तैयार हो जायँ। वर्तमान मूल्य के निकट पूर्ति-वक्र शायद पड़ी रेखा हो जाय।

बहुत सी व्यवसाय-संस्थाएँ विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाती हैं। यदि उनमें से एक की माँग बढ़ती है और दूसरे की घटती है तो संभवतः वे

उसी व्यय, उन्हीं यंत्रों, सज्जाओं तथा मजदूरों के द्वारा पहली वस्तु का उत्पादन बढ़ा देंगे और दूसरी का कम कर देंगे। जैसे यदि उपभोक्ता एक प्रकार के कपड़े की अधिक माँग करें और दूसरे प्रकार की कम और यदि दोनों कपड़े एक ही कर्घे पर बुने जाते हों तो उत्पादकों को, मूल्य में परिवर्तन किये विना, एक के बदले दूसरे की पूर्ति करना बहुत सरल होगा।

माँग में परिवर्तन होने का अनुमान प्रायः पहले ही कर लिया जाता है और मूल्य में परिवर्तन होने के पूर्व ही उत्पादक अपने उत्पादन में सामंजस्य करने का उपाय कर लेते हैं।

परन्तु सामंजस्य सर्वदा इतनी शीघ्र और सरलता से नहीं हो सकते। किसी निर्मित वस्तु (Manufactured good) की माँग में बहुत वृद्धि होने के कारण, जिससे उसका उत्पादन अधिक मात्रा में बढ़ाना पड़े, संभव है उत्पादक को अपने कारखाने का "सामर्थ्य" (Capacity) बढ़ाना पड़े। नये यंत्र और सज्जाओं की आवश्यकता पड़ सकती है, अधिक कच्चे माल की आवश्यकता हो सकती है और विशेष कार्यों के लिये उपयुक्त कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसी प्रकार किसी खनिज की माँग में अधिक वृद्धि होने के कारण नई खाने खोदने की, अथवा उसी खान में नई तहें खोदने की, आवश्यकता पड़ सकती है। कृषि में उत्पन्न होनेवाले किसी पदार्थ की माँग में बहुत वृद्धि होने से अन्य कार्यों में व्यवहार होनेवाली भूमि खेती के काम में लाई जा सकती है परन्तु उत्पादन को नई आवश्यकता के अनुरूप करने में कुछ समय व्यतीत हो जायगा और इस बीच उस वस्तु के मूल्य में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है।

एक निराला उदाहरण रबड़ का दिया जा सकता है। जबतक कि रबड़ के पेड़ पाँच या सात वर्ष के नहीं हो जाते तबतक उनमें गोंद (Latex), जो दूध के समान सफेद होता है और जिससे रबड़ बनता है, नहीं निकलता। अतएव रबड़ की माँग में अधिक वृद्धि होने से उसके मूल्य में भी अधिक वृद्धि हो सकती है और सम्भव है कि मूल्य वर्षों तक चढ़ा ही रहे। जबतक कि नई माँग के फलस्वरूप लगाये गये नये पेड़ों में गोंद न निकलने लगे तबतक यह हो सकता है कि जो राशि है उसीसे अधिक रबड़ की उत्पत्ति की जाय अथवा जो वर्तमान पेड़ हैं उन्हीं में अधिक घाव (Tapping) करके उत्पादन बढ़ाया जाय। परन्तु कुछ समय पश्चात् राशि समाप्त हो सकती है और अधिक घाव से गोंद की उत्पत्ति घट जा सकती है। ये सब तात्कालिक उपाय हैं जो माँग की स्थायी वृद्धि की पूर्ति नहीं कर सकते। फिर रबड़ का दाम चढ़ने पर पुराना रबड़ भी सुधार कर (Regenerate) नये के रूप में बेचने में लाभदायक हो सकता है। इस प्रकार संक्रमण काल में

बाजार में आनेवाले रवड़ की मात्रा पहले की अपेक्षा वढ़ जायगी और उसका मूल्य भी पहले की अपेक्षा वहुत अधिक चढ़ जायगा और पूर्ति में परिवर्तन होने के साथ साथ प्रायः प्रति सप्ताह उसमें परिवर्तन हो सकता है। यदि और कोई परिवर्तन न हो तो नया साम्य स्थापित होने में कई वर्ष लग जायँगे और उस समय रवड़ का उत्पादन पहले की अपेक्षा वहुत वढ़ जायगा तथा उसका मूल्य भी पहले से अधिक हो जायगा; परन्तु वह संक्रमण-काल के मूल्य से कम होगा ।

अतएव यह स्पष्ट है कि संक्रमण-काल की अवस्था को प्रदर्शित करने के लिये कोई एक पूर्ति-वक्र पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि ज्यों ज्यों नये यंत्र व्यवहार में आएँगे, नये कारखाने खुलेंगे और नई खाने खोदी जाने लगेंगी त्यों त्यों पूर्ति की अवस्था परिवर्तित होती जायगी। अतएव कोई पूर्ति-वक्र—और साथ ही उसे व्यक्त करनेवाली पूर्ति-सरणि—तभी यह सूचित करनेवाली मानी जा सकती है कि किसी मूल्य पर कितनी पूर्ति हो सकती है जव कि उचित सामंजस्य (Adjustment) स्थापित होने के लिए पर्याप्त समय वीत चुका हो।

४. नीचे की ओर झुकनेवाले पूर्ति-वक्र
(Downward Sloping Supply Curves)

हमने यह मान लिया है कि वर्तमान समय में उत्पन्न होनेवाली किसी वस्तु का पूर्ति-वक्र प्रायः ऊपर की ओर झुकेगा; अर्थात् उत्पादन वढ़ाने के लिये मूल्य वढ़ाने की आवश्यकता होगी। उसकी माँग में वृद्धि होने से उसका उत्पादन वढ़ेगा। परन्तु जव नया साम्य स्थापित होने के वाद पर्याप्त समय वीत चुका है तव क्या उसके मूल्य का पहले की अपेक्षा अधिक होना अनिवार्य ह ?

यह संभव है कि किसी वस्तु माँग में वृद्धि होने के साथ साथ उसके उत्पादन के क्रियाकल्प (Technique) में उन्नति हो जाय जिससे मूल्य गिर जाय; परन्तु इससे यह प्रश्न रह जाता है कि यदि माँग न वढ़ी होती तो उसके मूल्य में ह्रास कम हुआ होता या अधिक। माँग में स्थायी वृद्धि के प्रभावों का पृथक् विचार करने के लिये पहले हम इस पर विचार करेंगे कि यदि क्रियाकल्पात्मक ज्ञान (Technical knowledge) पूर्ववत् वना रहे तो क्या होगा। उस धन्धे को उत्पादन के साधनों की अधिक आवश्यकता होगी। उदाहरणार्थ, उसे अधिक कच्चे माल तथा अधपके माल और अपेक्षित कार्य को पूरा करने के लिये अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होगी। संभव है कि पहले ही वाले मूल्यों पर उत्पादन के साधन अधिक मात्रा में मिल जायँ परन्तु अधिकतर ऐसा होता है कि अधिक पूर्ति के लिये अधिक मूल्य देने की आवश्यकता होती है; अथवा यों कह सकते हैं कि जिस मूल्य पर अधिक योग्य श्रमिक और चीजें मिला करती थीं उस पर कम योग्य

श्रमिक और चीजें मिलेंगी। इस प्रकार व्यय के बढ़ने की प्रवृत्ति होगी। क्या कोई इसका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव है जिसकी प्रवृत्ति व्यय को घटाने की हो?

साधारणतया लोगों की धारणा है कि इस प्रकार का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव बड़ी मात्रा के उत्पादन से होनेवाली बचत में है। ऐसा माना जाता है कि किसी निर्मित वस्तु की माँग में स्थायी वृद्धि उसके मूल्य को अन्त में गिरा देगी; क्योंकि जब संक्रमण–काल समाप्त हो जायगा तो अधिक बड़ी मात्रा में उसका उत्पादन होने लगेगा अतः (ऐसा समझा जाता है कि) अधिक सस्ते मूल्य पर उसका उत्पादन होगा।

यह कभी कभी सत्य होता है; पर यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि कब और क्यों सत्य होता है। केवल इस घटना में कोई जादू नहीं है कि पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन हो रहा है। हम देख चुके हैं कि जिन यंत्रों का भरपूर उपयोग न हो रहा हो उनका यदि पूर्ण उपयोग किया जाय तो औसत व्यय घट जाता है परन्तु यदि उनका वर्तमान "सामर्थ्य" (Capacity) बढ़ा दिया जाय तो व्यय क्यों घटेगा? मान लिया कि वर्तमान व्यवसाय-संस्थाओं और यंत्रों (Plants) की संख्या दुगुनी कर दी गई अथवा मान लीजिये कि कोई सूत कातनेवाली संस्था नये भवन, व्यवस्थापक, मजदूर; तकुए आदि बढ़ाकर अपने व्यवसाय का विस्तार करती है। तो कोई कारण नहीं है कि उसका उत्पादन-व्यय घट जाय। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि अपेक्षाकृत कम जनसंख्यावाले देश, जैसे औस्ट्रेलिया, बहुतसी चीजों को इतना सस्ता नहीं उत्पन्न कर सकते जितना अधिक जनसंख्यावाले देश, जैसे संयुक्तराज्य अथवा ग्रेट ब्रिटेन, क्योंकि उनका आन्तरिक बाजार (Home market) सकुचित है; अतएव उन्हें छोटी मात्रा में उत्पादन करना पड़ता है। कुछ वस्तुओं के विषय में तो यह सच है लेकिन अधिकांश के लिये नहीं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि छोटे देशों में बहुत से कारखाने उस वस्तु को उत्पन्न करते है। परन्तु उसका प्रतिनिधि कारखाना उतना ही बड़ा हो सकता है जितना किसी बड़े देश का प्रतिनिधि कारखाना। यदि नहीं, तो प्रायः कर्मचारियों को अपेक्षाकृत कम और बड़े कारखानों में रखकर ऐसा हो सकता है। तो फिर यदि जनसंख्या दुगुनी या दस-गुनी होती तो उत्पादन-व्यय कैसे घटाया जा सकता? यदि बड़ी मात्रा में उत्पन्न करने का अर्थ केवल यही है कि दसगुना उत्पादन के लिये सौ के बदले हज़ार कारखाने कर दिये जायँ, तो यह समझना कठिन है कि व्यय में बचत किस प्रकार होगी।

वास्तविकता तो यह है कि व्यय अधिकतर तभी घटता है जब कि भिन्न भिन्न और सस्ती विधियों से अधिक मात्रा में उत्पादन होता है। तब तुरत यह प्रश्न उठता है कि ये विधियाँ, जिन्हें हम मान लेते हैं कि वे पहले से ज्ञात थीं, पहले व्यवहार में क्यों नहीं लाई गईं?

इसका उत्तर यही है कि उनके प्रयोग के लिये बहुत बड़े और अधिक मूल्य वाले यन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। और उनकी स्थापना (Establishment) तभी लाभदायक सिद्ध हो सकती है जब माँग इतनी अधिक हो कि उनका पूरा उपयोग किया जा सके। एक सरल उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि पुरानी विधियों से एक हजार प्रतियाँ प्रति सप्ताह उत्पन्न की जा सकती है और किसी यंत्र विशेष की सहायता से दो हजार पाँच सौ रुपया प्रति सप्ताह व्यय करके पाँच हजार प्रतियाँ प्रति सप्ताह उत्पन्न की जा सकती है। अब यदि मांग की अवस्था ऐसी हो कि १००० प्रतियां तो १) से अधिक प्रति वस्तु की दर से बिक सकती हैं परन्तु ५०० प्रतियां १० आने से भी कम प्रति वस्तु की दर से बिकेंगी तो अधिक मूल्यवान यंत्र की स्थापना लाभदायक न होगी। क्योंकि संभव है उसका उत्पादन-सामर्थ्य (Productive capacity) ५००० प्रतियां प्रति सप्ताह से अधिक हो और उसका व्यय उसके उपयोग के अनुसार बहुत अधिक परिवर्तित न हो। अब अगर माँग बढ़ जाती है, जिससे १० आने प्रति से अधिक पर ५०० प्रतियां प्रति सप्ताह बिकने लगें, तो उस यंत्र की स्थापना लाभदायक हो सकती है।

उपर्युक्त उदाहरणमें सम्पूर्ण बाजार की माँग ध्यान में रखी गई है। मान लिया कि बाजार आस्ट्रेलिया देश है, अथवा, यदि स्थानान्तरण व्यय (Cost of transport) बहुत अधिक हो तो, केवल सिडनी का जिला है। यदि इस बाजार में पहले १० आने प्रति से अधिक की दर से ५००० प्रतियाँ प्रति सप्ताह बिक सकतीं तो कोई व्यवसाय-संस्था माँग में वृद्धि होने की प्रतीक्षा किये बिना उपर्युक्त यंत्र उपयोग में लाकर और सस्ता माल बेचकर अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर सकती थी। जिन वस्तुओं के उत्पन्न करने में कोई देश इसलिये असमर्थ है कि उसका आन्तरिक बाजार संकुचित है और वह देश उस वस्तु के ग्राहक विदेशी बाजारों से दूर है, वे वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनके उत्पादन में बहुत बड़े और बहुमूल्य यंत्रों की आवश्यकता होती है, जिनको स्थापित करना तबतक लाभदायक नहीं होता जबतक उस देश में माँग की अवस्था ऐसी न हो जाय कि उन यंत्रों का पूरा उपयोग किया जा सके। इसके उदाहरण हैं मोटरकार, बड़े बड़े जहाज, और कुछ विशेष प्रकार के यंत्र।

कोई धंधा अपनी उत्पादन-विधि में परिवर्तन किये बिना भी अपना विस्तार कर सकता है। परन्तु इसके द्वारा कुछ विशेष पदार्थों की माँग बढ़ जाने के कारण यह सम्भव है कि वे पदार्थ पहले से भिन्न और सस्ती विधियों से उत्पन्न करके उसे कम मूल्य पर मिलने लगें। जैसे सूती वस्त्र के धन्धे का विस्तार होने से उस धन्धे में काम आनेवाले यंत्रों का मूल्य घट जाय।

परन्तु इस प्रकार के अनुकूल प्रभावों के उदाहरण अधिक नहीं मिलते।

अतएव हम सारांश यह निकालते हैं कि, यदि क्रियाकल्पात्मक ज्ञान स्थिर रहे, तो किसी वस्तु अथवा सेवा की माँग में वृद्धि होने से उसके मूल्य में तभी कमी होगी जब उसमें पहले व्यवहृत न होनेवाले यंत्रों आदि का व्यवहार करना लाभदायक सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त उसका मूल्य तभी गिरेगा जब कि उस धंधे द्वारा प्रयोग किए जानेवाले उत्पत्ति के साधनों की माँग में वृद्धि होने के कारण व्यय में वृद्धि होने की प्रवृत्ति, इस प्रकार की बचत के द्वारा, रुक जायगी। यह कुछ ही धंधों में होगा।[1] अधिकतर पूर्ति-वक्र रेखा ऊपर की ओर चढ़ती है। परन्तु इस प्रकार के कुछ उदाहरणों में हम कह सकते हैं कि—यदि उन पर दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र-रेखा का सिद्धान्त लागू करना हमारे लिए उचित है तो—कुछ दूर तक पूर्ति-वक्र-रेखा नीचे की ओर झुकती है; परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्ति-वक्र-रेखा का उपयोग इस प्रकार की समस्याओं का विचार करने के लिये बहुत उपयुक्त साधन नहीं है।

५. संयुक्त पूर्ति

दो या तीन भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रायः एक साथ उत्पन्न होती हैं। जैसे ऊन और मांस भेड़ के संयुक्त उत्पादन हैं और मांस तथा चमड़ा गाय-बैल के संयुक्त उत्पादन हैं। किसी उत्पादन-विधि के कम महत्त्वपूर्ण पदार्थ उपोत्पाद (By-products) कहलाते हैं। उदाहरणार्थ नरम कोयले (Coke) की भट्ठी का मुख्य उत्पादन धात्विक नरम कोयला (Metallurgical Coke) है और उसके साथ उत्पन्न होनेवाली "गैस" उसका उपोत्पाद कहलाती है। इसके विपरीत गैस के कारखाने का मुख्य उत्पादन गैस है और उसके साथ साथ उत्पन्न होनेवाला नरम कोयला उपोत्पाद है। बहुत से रासायनिक उत्पादनों में अनेक उपोत्पाद निकलते हैं, यद्यपि उन उपोत्पादों को फिर से उपयोग में लाकर बिक्री अथवा व्यवहार के योग्य बनाने की प्रायः आवश्यकता पड़ती है। तब सब उपोत्पाद

---

१. यह स्मरण रखना चाहिये कि हम क्रियाकल्पात्मक ज्ञान को स्थायी मान ले रहे हैं। ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यों त्यों क्रियाकल्पात्मक ज्ञान में उन्नति होती जाती है और बहुत से धंधों में उत्पादन-व्यय घट जाता है। लेकिन यह दूसरी बात है। किसी विशेष धंधे को, उसका यथेष्ट विस्तार होने पर, शायद अपने उपादानों (Materials) अथवा श्रम के लिये कुछ अधिक मूल्य देना पड़े परन्तु उनमें से अधिकांश ऐसी उत्पादन विधियों का उपयोग करके, जो पहले से ज्ञात थीं परन्तु इस समय माँग बहुत कम होने के कारण लाभदायक नहीं हैं, इसका प्रतिकार करने में समर्थ नहीं होंगे।

मिलकर मुख्य पदार्थ से अधिक मूल्यवान हो सकते हैं। उदाहरणार्थ शिकागो (अमेरिका) के कसाईखानों (Stockyards) के उपोत्पादों का मूल्य वहाँ के मांस से अधिक होता है।

इस संयुक्त पूर्ति का व्यापार (Phenomenon) हमारे तर्क में कोई विशेष परिवर्तन कराने का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि जिन अनुपातों में भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें परिवर्तन करना प्रायः संभव होता है। यद्यपि इसमें कभी कभी समस्त प्रसाधकों (Apparatus) को, जिसका व्यवहार किया गया है, तथा पाले हुये पशुओं इत्यादि को बदलने की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण कुछ समय लग सकता है। यह मान कर, कि साहसी जितना संभव होगा लाभ उठायेगा, हम यह पहले से कह सकते हैं कि यदि उसे मूल्य में परिवर्तन का सामना करना पड़ा तो वह क्या करेगा। जिन अनुपातों में विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होते है उनमें परिवर्तन करने से यदि वह अपने व्यय की अपेक्षा आय बढ़ा सकता है अथवा आय की अपेक्षा व्यय को घटा सकता है तो अवश्य ऐसा करेगा। उदाहरणार्थ शीतकोष्ठ (Cold Storage) के आविष्कार के पूर्व न्यूजीलैंड में भेड़ें विशेषकर ऊन के लिये पाली जाती थीं। जब उनका मांस निर्यात करना संभव हो गया तो न्यूजीलैंड के मांस का मूल्य ऊनकी अपेक्षा अधिक चढ़ गया और मेरीनो (मूल भेड़ की जाति) के स्थान पर, कम ऊन (और वह भी निम्न कोटि का) तथा अधिक मांस देनेवाली वर्णसंकर भेड़ें अधिकतर पाली जाने लगीं।

परन्तु यदि अनुपातों में परिवर्तन न भी हो सके तो इससे क्या? श्री हेंडरसन अपनी उत्तेजक पुस्तक "माँग और पूर्ति" (Demand and Supply) में कहते हैं कि जिस अनुपात में कपास से रुई और बिनौले निकलते हैं उसमें परिवर्तन करना संभव नहीं हो सका है। प्रति पौंड रुई के साथ लगभग २ पौंड बिनौले उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि कपास उत्पन्न करनेवाले को १ पौंड रुई धन २ पौंड बिनौला एक इकाई मानना चाहिये। परन्तु रुई की माँग बिनौलों की माँग से सर्वथा भिन्न होती है। प्रत्येक का अपना पृथक् व्यवहार और अपनी पृथक् माँग-सरणि होती है। जैसे, यदि रुई की अधिक माँग के कारण अधिक कपास उत्पन्न करने की आवश्यकता पड़ी तो दुगुने अधिक बिनौले भी उत्पन्न होंगे और यदि बिनौलों की माँग न रही तो उनका मूल्य गिर जायगा। परन्तु कपास उगानेवाला यह विचार करते समय कि वह अपना उत्पादन बढ़ावे कि घटावे, जिस मूल्य को ध्यान में रखता है वह १ पौंड रुई तथा २ पौंड बिनौले का सम्मिलित मूल्य है। परन्तु ऐसा प्रायः कम होता है कि अनुपात में परिवर्तन न हो सके।

६. माँग और पूर्ति के नियम

मूल्य में परिवर्तन अपने आप नहीं हो जाता। यह उन परिस्थितियों में परिवर्तन का परिणाम है जिनके कारण पूर्ति-सरणि या माँग-सरणि या दोनों मे परिवर्तन हो जाता है। यदि परिवर्तन का प्रभाव केवल माँग पर पड़ता है तो उसका स्वभाविक परिणाम होगा माँग की वृद्धि जिससे मूल्य में वृद्धि होगी और पूर्ति के विस्तार को उत्तेजना मिलेगी अथवा इसकी विपरीत अवस्था में माँग में ह्रास होने से मूल्य में ह्रास होगा जिससे पूर्ति में भी संकोच होगा। इसके विपरीत यदि परिवर्तन का प्रभाव केवल पूर्ति पर पड़ता है तो उसका स्वभाविक परिणाम होगा पूर्ति में वृद्धि जिससे मूल्य घटेगा और माँग के विस्तार को उत्तेजना मिलेगी अथवा इसकी विपरीत अवस्था में पूर्ति में ह्रास होगा जिससे मूल्य चढ़ेगा और माँग में संकोच होने की प्रवृत्ति होगी।

एक ओर वृद्धि और ह्रास में तथा दूसरी ओर विस्तार और संकोच में जो अन्तर है वह स्पष्ट रूप से विचार करने में सहायक होता है। कभी कभी लोग ऐसा समझते हैं कि मूल्य में स्थायी परिवर्तन कभी हो ही नहीं सकता। जैसे, वे कहते हैं कि "किसी आविष्कार से व्यय में ह्रास और पूर्ति में वृद्धि तथा मूल्य में कुछ समय के लिये कमी हो सकती है। परन्तु मूल्य गिरने से माँग में वृद्धि होगी और मूल्य फिर अपने पूर्व स्तर पर आ जायगा।" परन्तु यह बिलकुल गलत है। माँग-वक्र ज्यों का त्यों रहता है। माँग में "वृद्धि" नहीं होती वरन् विस्तार होता है अर्थात् मूल्य गिरने से लोग अधिक खरीदते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा पूर्ति-वक्र भी है जो मूल वक्र से नीचे है। अतएव नया साम्य मूल्य पुराने मूल्य की अपेक्षा कम होगा।

नीचे हम माँग और पूर्ति के चार नियम दे रहे हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि ये नियम, अर्थशास्त्र के अन्य नियमों के समान, प्रवृत्तियों के विषय में केवल साधारणीकरण हैं। हम बता चुके हैं कि अपनी ऊंचाई के कुछ अंश तक कुछ माँग-वक्र ऊपर की ओर और कुछ पूर्ति-वक्र नीचे की ओर झुक सकते हैं और बाद में हम देखेंगे कि यह संभव है कि कुछ ऊँचे मूल्य पर कम श्रम अथवा कम बचत की पूर्ति हो सके। नियम (३) के प्रायः अपवाद होते हैं। बहुत से उत्पादक जब किसी विशेष वस्तु की माँग बढ़ जाती है तो उसके मूल्य में वृद्धि किये बिना उसका उत्पादन बढ़ा सकते हैं, और बढ़ाते ही हैं।

(१) मूल्य की प्रवृत्ति, जो मात्रा क्रेता खरीदना चाहते हैं और जो विक्रेता बेचने को तैयार होते हैं, उन दोनों को सम करने की होती है।

(२) ऊँचे मूल्य पर, किसी वस्तु की जो माँग होगी उसकी अपेक्षा नीचे मूल्य पर, प्रायः अधिक मात्रा में माँग होगी; और नीचे मूल्य की अपेक्षा ऊँचे मूल्य पर अधिक मात्रा बाजार में बिकने को आएगी।

(३) माँग में वृद्धि होने पर मूल्य की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर और पूर्ति की विस्तार की ओर होती है; माँग में ह्रास होने पर मूल्य की प्रवृत्ति ह्रास की ओर और पूर्ति की संकोच की ओर होती है।

(४) पर्ति में वृद्धि होने पर मूल्य की प्रवृत्ति ह्रास की ओर और माँगकी विस्तार की ओर होती है; पूर्ति में ह्रास होने पर मूल्य की प्रवृत्ति वृद्धि की ओर और माँग की संकोच की ओर होती है।

प्रथम खंड का परिशिष्ट

तटस्थता वक्र (Indifference Curves)

१. तटस्थता वक्रों की प्रकृति (Nature of Indifference Curves)

यदि केवल दो ही ऐसी वस्तुएँ हों जिनमें से एक का चुनाव उपभोक्ता को करना हो तो उसका अधिमान–माप (Scale of Preference) एक द्विविस्तारी (Two dimensional) रेखाचित्र पर तटस्थता वक्रों की अवलि (Series) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

मान लिया जाय कि कुछ सैनिक किसी दुर्गम स्थान पर रखे गए हैं और उनमें से प्रत्येक को १० पैकेट चाय और ५० सिगरेट प्रति सप्ताह दिया जाता है। प्रत्येक सैनिक किसी दूसरे सैनिक से सिगरेट के बदले चाय अथवा चाय के बदले सिगरेट लेने को स्वतंत्र है। परन्तु केवल इन्हीं दोनों वस्तुओं का विनिमय उनके बीच हो सकता है। यदि विभिन्न सैनिकों की रुचि एक सी नहीं है और उनमें से कुछ को सिगरेट की अपेक्षा चाय अधिक पसंद है तो उन सैनिकों के बीच एक बाजार स्थापित हो जायगा जिसमें चाय और सिगरेट का विनिमय होने लगेगा।

मान लिया कि हम क नामक सैनिक की रुचि का विचार कर रहे हैं। संभव है कि उसे चाय और सिगरेट दोनों पसंद हों। वह सिगरेट अथवा चाय की अथवा दोनों की अधिकाधिक मात्रा ग्रहण करना पसंद करता हो। फिर भी अपने साथियों से सिगरेट के बदले चाय अथवा चाय के बदले सिगरेट लेने में वह अपने अधिमान–माप के अनुसार ही आचरण करेगा। उसका अधिमान-माप ठीक ठीक मात्रात्मक रूप (Quantitative terms) में व्यक्त किया जा सकता तथा एक रेखाचित्र पर दिखाया जा सकता है।

अन्य सैनिकों की भाँति उसे भी प्रति सप्ताह १० पैकेट चाय तथा ५० सिगरेट मिलते हैं। मान लिया कि हम उससे पूछते हैं कि तुम्हें अपनी एक पैकेट चाय के बदले प्रति सप्ताह कितने अतिरिक्त सिगरेटों की आवश्यकता होगी। वह सोच विचार के पश्चात् निर्णय करता है कि ५ अतिरिक्त सिगरेटों के बदले—परन्तु ३ के बदले नहीं—वह एक पैकेट चाय दे सकता है, और चार सिगरेटों के बदले एक पैकेट चाय देने में उसका विचार अनिश्चित सा रहता है। इसका अर्थ यह है कि उसके लिए १० पैकेट चाय और ५० सिगरेट बराबर हैं ९ पैकेट चाय और ५४ सिगरेटों के। इन दोनों संयोगों (Combinations) में से प्रत्येक के लिए वह तटस्थ है। उसे एक की अपेक्षा दूसरा अधिक पसंद नहीं है। इसी प्रकार चाय और

सिगरेटों के अनेक ऐसे संयोग होंगे जिन्हें वह इन्हीं दोनों के समान समझेगा। उदाहरणार्थं २ पैकेट चाय का त्याग करने के लिए शायद उसे १० से अधिक सिगरेटों की आवश्यकता पड़े। इस प्रकार हम एक दूसरा संयोग प्राप्त करते हैं--८ पैकेट चाय और ६० सिगरेट--जो उस सैनिक को पहले दोनो संयोगों के समान जान पड़ता है। इन दोनो संयोगों को हम एक सरणि द्वारा व्यक्त कर सकते हैं:--

१३	पैकेट	चाय	और	४४	सिगरेट
१२	,,	,,		४५	,,
११	,,	,,		४७	,,
१०	,,	,,		५०	,,
९	,,	,,		५४	,,
८	,,	,,		६०	,,
७	,,	,,		७०	,,

इस प्रकार की सरणि चाय और सिगरेटों के बीच उसके अधिमान-माप का एक अंश व्यक्त करती है। हम उसके अधिमान के कारणों की जाँच नहीं करते वरन् उन्हें निर्दिष्ट (Data) के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

इस सरणि के प्रत्येक संयोग को एक रेखाचित्र पर विन्दु के रूप में व्यक्त कर सकते हैं जिसमें सिगरेट क्षैतिज धुरी (Horizontal Axis) क ख पर और चाय के पैकेट शीर्षधुरी (Vertical Axis) क ग पर व्यक्त किये गए हैं। यदि हम इन विन्दुओं को (निरन्तरता मानते हुए) मिला दें तो उस वक्र का एक अंश प्राप्त करते हैं जिसे तटस्थता वक्र (Indifference Curve) कहते हैं। यह चित्र १३ में दिखाया गया है।

तटस्थता वक्र दाहिनी ओर नीचे को मुड़ता है। इसका कारण यह है कि यदि एक वस्तु में वृद्धि होने के साथ साथ दूसरी में कमी न हो तो उस व्यक्ति को पहले की अपेक्षा अधिक रुचिकर संयोग प्राप्त होगा। तटस्थता वक्र मूल की ओर उन्नतोदर (Convex to the Origin) होता है। इससे यह व्यक्त होता है कि वह सैनिक सिगरेट के बदले जितने ही अधिक चाय के पैकेटों का त्याग करता है उतनी ही अधिक सिगरेटों की अतिरिक्त संख्या, चाय के प्रत्येक अतिरिक्त पैकेट का उससे त्याग कराने के लिए, आवश्यक होगी; और इसी प्रकार इसका विलोम (Converse) भी। अधिमान प्राय: इसी नियम का अनुसरण करता है जिसे ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) कहते हैं। जब किसी व्यक्ति की एक वस्तु की पूर्ति में वृद्धि होती है और दूसरी की पूर्ति ज्यों की त्यों रहती है, अथवा--जैसे उपर्युक्त उदाहरण में--घटती है, तब उसके लिये पहली की सीमान्त उपयोगिता दूसरी की अपेक्षा कम हो जाती है।

अब तक हमने क सैनिक के केवल एक तटस्थता वक्र पर विचार किया है जिसमें चाय के दस पैकेट और ५० सिगरेटों का संयोग था। यदि वह सैनिक अपनी रुचि के संबंध में पूछे गए बहुत से प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दे सके तो उसके अभिमान के माप के विषय में हम बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त

चाय के पैकेट
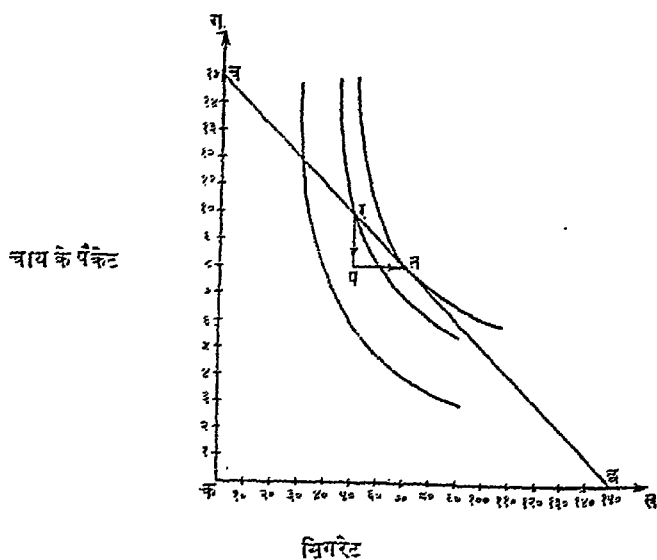
सिगरेट

चित्र १३

कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, हम ११ पैकेट चाय तथा ५५ सिगरेटों के संयोग से आरंभ करते हैं। यह निश्चित है कि यह संयोग उसे १० पैकेट चाय और ५० सिगरेटों की अपेक्षा अधिक रुचिकर होगा। मान लिया कि उसके पास पहला संयोग है। तब सोच विचार करने पर वह बता सकता है कि चाय के ११ पैकेटों में से एक का त्याग करने के लिये उसे कितने अतिरिक्त सिगरेटों की तथा दो का त्याग करने के लिए कितनों की आवश्यकता होगी, इत्यादि। इस प्रकार हम दूसरा तटस्थता वक्र प्राप्त कर सकते हैं। यह नवीन वक्र हमारे चित्रमें क बिन्दु से पहले वक्र की अपेक्षा सुदूर पड़ेगा। इस नवीन वक्र पर प्रत्येक बिन्दु सिगरेटों और चाय के पैकेटों का वह संयोग व्यक्त करेगा जिसे स्वयं वह सैनिक ११ पैकेट चाय तथा ५० सिगरेटों के संयोग से (जो इस नवीन वक्र पर एक बिन्दु द्वारा व्यक्त होता है) न तो अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है और न कम। परन्तु हम जानते हैं कि वह १०

पैंकेट चाय तथा ५० सिगरेटों की अपेक्षा ११ पैंकेट चाय और ५५ सिगरेटों का संयोग अधिक पसंद करता है। अतएव नए वक्र पर पड़नेवाले किसी संयोग को वह पुराने वक्र पर पड़नेवाले संयोग से अधिक पसंद करता है।

इस प्रकार हम बहुत से तटस्थता वक्र प्राप्त कर सकते हैं; और **उनसे बने हुए "तटस्थता मानचित्र" (Indifference map) पर उस सैनिक का चाय और सिगरेटों में अधिमान-माप व्यक्त हो सकता है।** अतएव तटस्थता वक्र एक प्रकार से उस सैनिक की रुचि के चित्र (फोटो) हैं। अथवा उनकी तुलना समतल रेखाओं (Contour lines) से की जा सकती है। प्रत्येक वक्र मानो अपने बाएं या नीचेवाले वक्र से अधिक ऊंचाई का द्योतक है। प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य उस उच्चतम स्थान पर पहुंचने का होगा जहाँ अपनी स्थायी आय तथा बाजार में दोनों वस्तुओं की विनिमय दर द्वारा बद्ध सीमा के अन्तर्गत वह पहुंच सकता है। अर्थात् सभी अवगम्य स्थानों में से वह उस स्थान पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा जहाँ पहुंचना उसे सबसे अच्छा लगता है।

उदाहरण के लिए मान लिया कि बाजार में विनिमय की दर है १ पैंकेट चाय के बदले १० सिगरेट, तो सैनिक क को २ पैंकेट चाय के बदले सिगरेट लेना लाभदायक होगा। इससे उसे ८ पैंकेट चाय और ७० सिगरेट मिलेंगे। परन्तु कल्पना (Hypothesis) द्वारा उसे ८ पैंकेट चाय तथा ६० सिगरेट लेना उतना ही पसंद है जितना १० पैंकेट चाय और ५० सिगरेट, जिससे उसने आरंभ किया था। अतएव ८ पैंकेट चाय और ७० सिगरेट उसके लिए अच्छी स्थिति का द्योतक है। अब वह एक दूसरे तटस्थता वक्र पर है जो पहलेवाले की अपेक्षा उसे अधिक पसंद है।

उसके तटस्थता वक्र का मानचित्र हमें यह जानने में सहायक होता है कि किसी विनिमय दर पर वह क्या करेगा। मान लिया कि बाजार में एक पैंकेट चाय के बदले १० सिगरेट की विनिमय दर स्थापित है। तब ११ पैंकेट चाय और ५२ सिगरेट पानेवाला सैनिक यदि अपने सभी सिगरेटों को चाय के विनिमय में दे देता है तो उसे चाय के १५ पैंकेट मिलेंगे; और यदि अपनी सब चाय सिगरेटों के बदले दे देता है तो उसे कुल १५० सिगरेट मिलेंगे। यह चित्र १३ में च छ रेखा द्वारा व्यक्त किया गया है जो शीर्ष धुरी पर के १५ पैंकेट चाय के द्योतक विन्दु च को क्षैतिज धुरी पर के १५० सिगरेटों के द्योतक विन्दु छ से मिलाती है। १० पैंकेट चाय तथा ५० सिगरेटों का आरम्भिक समभक्त (Ration) र विन्दु द्वारा व्यक्त किया गया है जो निःसन्देह सरल रेखा पर पड़ेगा।

इस दी हुई विनिमय दर पर कोई सैनिक च छ रेखा पर अपने इच्छानुसार हट बढ़ सकता है। क्योंकि वह र विन्दु पर आरंभ करता है और उसके बाद जो भी विनिमय करता है उससे उसे च छ पर किसी न किसी विन्दु पर हटना

पड़ता है। तब वह क्या करेगा? हम जानते हैं कि यदि वह एक तटस्थता वक्र से दूसरे पर जा सकता है जो क से सुदूर स्थित है तो वह ऐसा अवश्य करेगा क्योंकि वह पहले वक्र पर के किसी संयोग की अपेक्षा दूसरे वक्र पर का कोई संयोग अधिक पसंद करेगा। अतएव वह **च छ** पर उस विन्दु तक जायगा जिस पर उसके तटस्थता वक्रों में से किसी एक को **च छ** रेखा स्पर्श करती है। चित्र १३ में **क** सैनिक **र** विन्दु से **त** विन्दु तक हटेगा। **त** विन्दु उस स्थिति का द्योतक है जिसे वह अन्य सभी उपलभ्य स्थितियों से अधिक पसंद करता है। यह उसके तटस्थता मानचित्र द्वारा व्यक्त है, क्योंकि **त** एक ऐसे तटस्थता वक्र पर है जो किसी अन्य वक्र की अपेक्षा, जिस पर वह हट सकता है, **क** से सुदूरवर्ती है। वह **र** से **त** तक तभी हट सकता है जब चाय की **र प** मात्रा सिगरेट की **प त** मात्रा के विनिमय में देवे। **प त** को **र प** द्वारा व्यक्त होनेवाले चाय के पैकेटों की मात्रा के दसगुने सिगरेटों का द्योतक होना चाहिए, क्योंकि त्रिभुज **च क छ** और **र प त** अनुरूप (Similar) हैं।

अब हम एक दूसरे सैनिक **ख** की अभिरुचि का, जिसकी **क** की अपेक्षा चाय के लिए सिगरेट से अधिक तीव्र रुचि है, संक्षेप में विचार करेंगे। उसके तटस्थता वक्र का उपयोगी अंश, जिसमें १० पैकेट चाय और ५० सिगरेट का संयोग है, इस प्रकार हो सकता है:—

१३	पैकेट	चाय और	१५	सिगरेट
१२	,,	,,	२३	,,
११	,,	,,	३३	,,
१०	,,	,,	५०	,,
९	,,	,,	७०	,,
८	,,	,,	१००	,,
७	,,	,,	१५०	,,

यह स्पष्ट है कि १० सिगरेटों के बदले १ पैकेट चाय की विनिमय दर पर यह सैनिक चाय के बदले २० सिगरेट देकर लाभ उठाएगा। इससे उसे १२ पैकेट चाय और ३० सिगरेट प्राप्त होंगे। परन्तु अनुमान (Hypothesis) द्वारा वह १० पैकेट चाय और ५० सिगरेटों को उतना ही पसंद करता है जितना १२ पैकेट चाय तथा २३ सिगरेटों को। अतएव १२ पैकेट चाय और ३० सिगरेटोंवाली स्थिति उसे अधिक पसंद होगी। अब वह दूसरे तटस्थता वक्र पर है जिसे पहले की अपेक्षा अधिक पसंद करता है। **ख** सैनिक का अधिमान-माप चित्र १४ में दिखाया गया है। वह **य ल** चाय के बदले **र ल** सिगरेट देकर **र** विन्दु से **य** विन्दु पर हटेगा।

ख सैनिक

सिगरेट

चित्र १४

यह ध्यान देने की बात है कि दोनों ही सैनिक एक दूसरे से विनिमय करके लाभ उठाएँगे। विनिमय "अनुत्पादक" (Barren) है क्योंकि प्राप्त मूल्य दिए हुए मूल्य के बराबर होता है—यह तर्क सर्वथा असत्य है। अपनी मनोवांछित स्थिति में पहुँच कर दोनों ही पक्ष लाभ उठाते हैं क्योंकि उनकी रुचि—उनके अविमान-माप—भिन्न भिन्न हैं। और यह स्पष्ट है कि यदि एक के पास दूसरे से भिन्न वस्तुओं का संकलन है तो रुचि भिन्न होते हुए भी दो व्यक्ति विनिमय द्वारा लाभ उठा सकते हैं।

२. केवल दो वस्तुओं द्वारा विनिमय।

यदि चार सैनिकों द्वारा एक पूर्ण स्पर्द्धी (Perfect Competitive) बाजार का निर्माण होता है, अर्थात् उन चारों के बीच जितने लेन-देन जिन जिन भावों पर होते हैं उनका पूरा पता उनमें से प्रत्येक को लगता रहता है, तो चाय और सिगरेटों में केवल एक ही विनिमय दर होगी। इसे हम यह दिखा कर सिद्ध कर सकते है कि दो दरों का होना असंभव है। मान लिया कि क सैनिक ख को एक पैकेट चाय दे कर उससे १५ सिगरेट लेता है और ग सैनिक घ से १ पैकेट चाय के वदले ५ सिगरेट लेता है। तो यह स्पष्ट है कि कोई बीच की दर, जैसे एक पैकेट चाय के वदले १०

सिगरेट, निश्चित करके विनिमय करने में ख और ग सैनिकों को अधिक लाभ होगा। इस प्रकार ख अपने सिगरेटों के बदले ५० प्रतिशत अधिक चाय प्राप्त करेगा और ग सैनिक उतने ही सिगरेटों के बदले पहले की अपेक्षा केवल आधी चाय देगा। चूंकि बाजार पूर्ण है और प्रत्येक सैनिक जानता है कि कहाँ क्या हो रहा है इस लिये दो भिन्न दरों का होना असंभव है।

साम्य दर का पता लगाने में कुछ समय लग सकता है परन्तु यदि प्रत्येक सैनिक की रुचि ज्यों की त्यों रहती है तो सप्ताह पर सप्ताह वही परि-स्थिति बनी रहेगी और कुछ ही समय में विनिमय की एक दर निश्चित हो जायगी जो स्थायी होगी। वही "साम्य" दर होगी क्योंकि उसी दर पर प्रत्येक सैनिक, जो चाय के बदले सिगरेट लेना चाहता है, अपने इच्छा-नुसार जितने चाहे ले सकता है; और जो सिगरेट के बदले चाय लेना चाहता है वह भी अपने इच्छानुसार जितनी चाहे ले सकता है।

व्यवहार में साम्य दर सफलता-विफलता के अनुभव (By trial and error) से प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यदि हम प्रत्येक सैनिक के अधिमान-माप और प्रति सप्ताह उसे मिलनेवाली चाय और सिगरेट की मात्रासे परिचित हों तो सरलता से जान सकते हैं कि वह क्या होगी। क्योंकि हमें यह पता लग जायगा कि किसी विशेष मूल्य पर प्रत्येक सैनिक क्या करना चाहेगा और हम यह भी जान जायेंगे कि केवल एक ही मूल्य पर (विनिमय में सिगरेट चाहनेवाले सैनिकों द्वारा) प्रस्तुत चाय की मात्रा (विनिमय में सिगरेट देनेवाले सैनिकों द्वारा) माँगी हुई चाय की मात्रा के बराबर होगी।

उदाहरणार्थ, यदि एक पैकेट चाय का मूल्य २० सिगरेट के बराबर हो तो कुछ सैनिक चाय छोड़कर उसके बदले सिगरेट लेना चाहेंगे। इस प्रकार चाय की जो मात्रा वे सैनिक छोड़ना चाहेंगे उसे हम जोड़ सकते हैं। यह योगफल उस मूल्य पर विनिमय के लिए प्रस्तुत की जानेवाली चाय की संपूर्ण "पूर्ति" (Total supply) होगी। (दूसरे दृष्टिकोणसे इस पर विचार करने पर, चाय के पैकेटों की इस संख्या को २० से गुणा करने पर सिगरेटों की वह संख्या प्राप्त होगी जिसकी इस "मूल्य" पर माँग होगी) । इसके विपरीत कुछ सैनिक चाय के बदले सिगरेट का त्याग करना चाहेंगे। इस मूल्य पर चाय की जो पूर्ण मात्रा सब सैनिक मिल कर प्राप्त करना चाहेंगे वह इस मूल्य पर चाय की माँग (अथवा सिगरेटों की पूर्ति) होगी। जिस मूल्य पर चाय की पूर्ति की मात्रा वही होगी जो उसकी माँग की मात्रा है (इसका अर्थ यह है कि सिगरेटों की माँग भी वही होगी जो उनकी पूर्ति है), वह साम्य मूल्य होगा।

मान लिया कि एक पैकेट चाय के बदले १० सिगरेट साम्य मूल्य है। तो इसके अतिरिक्त दूसरा मूल्य थोड़े समय के लिए भी नहीं रह सकता। मान लिया

कि कुछ समय के लिए बाजार-मूल्य ९ सिगरेट प्रति पैकेट चाय हो जाय तो चाय के बदले इतने सिगरेट प्रस्तुत किए जायँगे जितने खरीदे नहीं जा सकते। चाय के बदले सिगरेट चाहनेवाले कुछ सैनिकों को निराश होना पड़ेगा। इन सैनिकों में से कुछ अपने समभक्त १० पैकेट चाय से संतुष्ट न रह कर प्रत्येक पैकेट के लिए १० या ११ या १२ सिगरेट तक अथवा इससे भी अधिक देने को तैयार होंगे। अतएव वे अधिक "मूल्य" देने को प्रस्तुत होंगे। वे चाय के अतिरिक्त पैकेट प्राप्त करने के लिए प्रति पैकेट ९ सिगरेट से अधिक देंगे। इससे बाजार "मूल्य" उस सीमा तक चढ़ता जायगा जबतक कि वह उस स्तर पर पहुँच कर स्थिर न हो जाय जिस पर प्रत्येक व्यक्ति जितना विनिमय करना चाहे कर सके अर्थात् जहाँ पूर्ति और माँग बराबर हों।

३. निर्दिष्टों (Data) में परिवर्तन

यदि चाय और सिगरेटों के बीच साम्य दर एक बार स्थापित हो चुकी तो जबतक निर्दिष्टों में कोई परिवर्तन नहीं होता तबतक वह दर अनिश्चित काल तक बनी रहेगी। अब हम यह विचार करेंगे कि निर्दिष्टों में परिवर्तन किस प्रकार होते हैं और प्रत्यक परिवर्तन विनिमय दर को किस प्रकार घटाता-बढ़ाता है।

(१) चाय और सिगरेटों के अनुपात में परिवर्तन किए बिना भी समभक्त (Ration) घटाया या बढ़ाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक सैनिक को २० पैकेट चाय और १०० सिगरेट या ५ पैकेट चाय और २५ सिगरेट अथवा ११ पैकेट चाय और ५५ सिगरेट दिए जा सकते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार के परिवर्तन से विनिमय की दर पर कोई प्रभाव न पड़ेगा परन्तु इसकी संभावना बहुत कम है। क्योंकि यद्यपि प्रत्येक सैनिक का अधिमान पूर्ववत् है और उसके समभक्त की मात्रा परिवर्तित हो गई है फिर भी इसकी कम संभावना है कि चाय की अतिरिक्त मात्रा प्राप्त करने के लिए वह ठीक ठीक उतने ही सिगरेट देने को प्रस्तुत होगा जितना पहले देता था अथवा इसका विलोम। मान लिया कि समभक्त की मात्रा दुगुनी कर दी गई है। उदाहरणार्थ यह संभव है कि अब प्रत्येक सैनिक चाय का एक अतिरिक्त पैकेट प्राप्त करने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक सिगरेट देने को प्रस्तुत हो। जो सैनिक पहले १ पैकेट चाय प्राप्त करने के लिए (जिससे उसके पैकेटों की संख्या बढ़कर ११ हो जाती) १२ सिगरेट से अधिक देने को प्रस्तुत नहीं होता (जिससे उसके सिगरेटों की संख्या घट कर ३८ हो जाती) वही अब १ पैकेट चाय प्राप्त करने के लिए (जिससे उसके पैकेटों की संख्या बढ़कर २१ हो जाय) १५ सिगरेट देने को प्रस्तुत होगा (जिससे उसके सिगरेटों की संख्या घट कर ८५ हो जायगी), जो सैनिक पहले १ अतिरिक्त पैकेट पाने के लिए ३ सिगरेट से अधिक देने को [illegible] र न होता

वही अब ५ सिगरेट देने को प्रस्तुत होगा; इसी प्रकार और भी। ऐसी दशाओं में, पहले ही की भाँति, चाय और सिगरेट का विनिमय अब भी होता रहेगा; क्योंकि विभिन्न सैनिकों का अधिमान-माप भिन्न भिन्न रहेगा, परन्तु नए साम्य में प्रत्येक पैकेट चाय का सिगरेटों में मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक होगा।

(२) साप्ताहिक समभक्त में चाय और सिगरेटों का अनुपात परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि समभक्त मात्रा १० पैकेट चाय और ६० सिगरेट हो जाती है। इससे चाय के विनिमय में सिगरेट का मूल्य गिर जायगा; क्योंकि अब अतिरिक्त चाय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक सैनिक पहले से अधिक सिगरेट देने को प्रस्तुत होगा, अथवा दूसरे प्रकार से इसे यों कह सकते हैं कि चाय की किसी निश्चित मात्रा का त्याग करने के लिए उसे पहले की अपेक्षा अधिक सिगरेटों की आवश्यकता होगी। अतएव अब पुरानी दर पर, सिगरेटों से विनिमय करने के लिए प्रस्तुत चाय की पूर्ति माँग के बराबर नहीं होगी, और सिगरेट के बदले चाय चाहनेवाले सैनिकों में स्पर्द्धा के कारण उसका मूल्य बढ़ जायगा। परन्तु यदि समभक्तमें सम्मिलित चाय और सिगरेट दोनों की मात्रा बढ़ा या घटा दी जाती है और साथ ही दोनों का अनुपात परिवर्तित कर दिया जाता है, तो हम पहले से निश्चित रूप से नहीं बता सकते कि विनिमय की दर पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अनुपात में परिवर्तन के कारण जिस वस्तु का अनुपात गिर गया है उसके मूल्य में वृद्धि होने की संभावना होगी। समभक्त की मात्रा में परिवर्तन इस प्रवृत्ति को और भी उत्तेजना दे सकता है, परन्तु इसके विपरीत उसमें ह्रास भी हो सकता है और संभवतः वृद्धि की अपेक्षा अधिक।

(३) सैनिकों में प्रति सप्ताह वितरित होनेवाली चाय और सिगरेटों की संपूर्ण मात्रा में परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक को दूसरों के बराबर समभक्त देने के बदले किसी को कम और किसी को अधिक दिया जा सकता है। इससे जो सैनिक अब अधिक समभक्त पाने लगे हैं उनकी रुचि का महत्त्व पहले की अपेक्षा बढ़ जायगा। उदाहरणार्थ यदि उनमें से अधिकांश की रुचि कम समभक्त पानेवालों की तुलना में चाय की अपेक्षा सिगरेट के लिए अधिक है, तो चाय के विनिमय में सिगरेटों का मूल्य बढ़ जाने की संभावना है।

(४) सैनिकों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है। जैसे सेना की एक टुकड़ी के बदले दूसरी टुकड़ी वहाँ रखी जा सकती है। इससे नए ढंग के "तटस्थता मानचित्र" बनेंगे। और यदि इससे विनिमय की दर में परिवर्तन न हो तो यह निरा संयोग ही कहा जायगा।

(५) संभव है कि चाय या सिगरेट के पक्ष में सभी की रुचि में समान रूप से परिवर्तन हो जाय। उदाहरणार्थ, संभव है कि चाय के विरुद्ध आन्दोलन

होने से प्रायः सभी सैनिक प्रभावित हो जायँ जिससे सिगरेटों के विनिमय में चाय का मूल्य घट जाय। निर्दिष्टों में चाहे कोई भी परिवर्तन, अथवा परिवर्तनों का संयोग हो, परन्तु यदि हम प्रत्येक सैनिक को मिलनेवाले समभक्त की मात्रा और उसके अधिमान-माप से परिचित हैं तो हम सर्वदा विनिमय की नवीन साम्य दर का पता लगा सकते हैं। संभव है कि स्वयं सैनिकों को इसका पता लगाने में कुछ विलंब हो। यदि निर्दिष्टों में प्रायः परिवर्तन होता रहे तो साम्य शायद कभी न स्थापित हो। फिर भी किसी समय बाजार में विनिमय की दर की प्रवृत्ति उस दर की ओर होगी जो प्रचलित अवस्था में साम्य स्थापित करेगी।

४. व्यय-वक्र और माँग-वक्र

(Expenditure Curves and Demand Curves)

किसी व्यक्ति का दो वस्तुओं के बीच अधिमान-माप व्यक्त करनेवाले तटस्थता वक्रों के समूह तबतक सार्थक रहेंगे जबतक उसकी रुचि में परिवर्तन न होगा। उसकी आय परिवर्तित हो सकती है अथवा दोनों वस्तुओं की विनिमय-दर में परिवर्तन हो सकता है, परन्तु तटस्थता वक्रों में कोई परिवर्तन न होगा।

यदि हमारे पास किसी व्यक्ति के तटस्थता वक्रों का रेखाचित्र हो तो यह सरलता से दिखाया जा सकता है कि उसकी आय में परिवर्तन होने से उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। इसके लिए यह मान लेना सुविधाजनक होगा कि उसकी संपूर्ण आय केवल एक ही पदार्थ (Commodity) में होती है और फिर उसकी कुछ इकाइयों को वह दूसरे की इकाइयों से विनिमय करता है। चित्र में अ पदार्थ की इकाइयाँ शीर्ष धुरी क ग पर व्यक्त की गई हैं और आ की इकाइयाँ क्षैतिज धुरी क ख पर व्यक्त की गई हैं। हमारा काल्पनिक व्यक्ति समय समय पर अ की क अ इकाइयाँ आय के रूप में पाता है। अ और आ में प्रचलित विनिमय दर अ आ रेखा के झुकाव द्वारा व्यक्त की गई है। अ और आ का वह संयोग, जिसे वह सब संयोगों से अधिक पसंद करता है, य बिन्दु द्वारा व्यक्त किया गया है। अतएव वह अ के अ स का आ के स य से विनिमय करेगा और अ का क स तथा आ का क ह (स य) उपभोग करेगा। यदि उसकी आय क इ तक बढ जाती है तो सब उपलभ्य संयोगों में से जिसे वह अधिक पसंद करता है वह र बिन्दु द्वारा व्यक्त किया गया है, इत्यादि। (अनुमान द्वारा अ और आ के बीच विनिमय दर ज्यों की त्यों रहती है जिससे इ ई अ आ के समानन्तर है) यदि य र ल व को मिला दें तो हम उसके व्यय-वक्र का एक अंश प्राप्त करते हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि यदि (तटस्थता वक्रों द्वारा व्यक्त) उसका अधिमान-माप और (अ आ रेखा के ढाल द्वारा व्यक्त) अ और आ के बीच प्रचलित

विनिमय-दर अपरिवर्तित रहे तो वह किसी निश्चित आय को दो वस्तुओं अ और आ पर किस प्रकार व्यय करेगा।
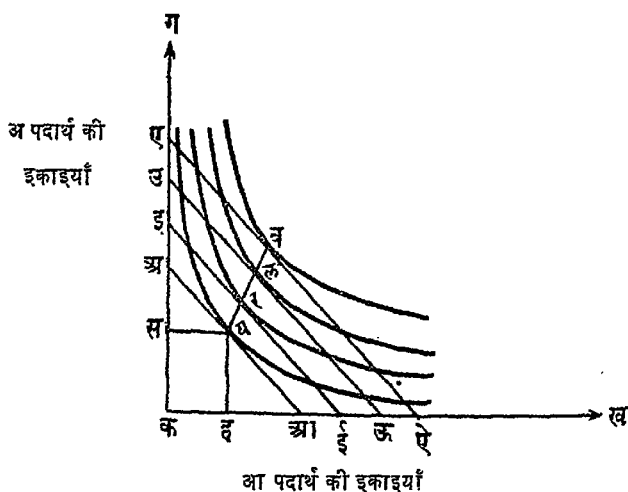
चित्र १५

इसी प्रकार हम यह दिखा सकते हैं कि वह किसी निश्चित आय क अ को कई भिन्न-भिन्न मूल्यों पर अ और आ में किस प्रकार विभक्त करेगा। अ की तुलना में आ के मूल्य में वृद्धि अ आ के अधिक ढाल द्वारा व्यक्त की गई है। चूँकि अ के मान में उसकी आय क अ पर स्थिर है इसलिए आ के मूल्य में वृद्धि होने से उसकी अवस्था पहले की अपेक्षा बुरी हो जायगी। चित्र १६ में जब विनिमय दर अ आ है तो सभी उपलभ्य संयोगों में से उसे सबसे अधिक पसंद संयोग य द्वारा व्यक्त है; जब विनिमय दर अ इ है तब र द्वारा व्यक्त है, इत्यादि। य र ल व को मिला देने पर हम उसके "माँग वक्र" का एक अंश प्राप्त करते हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि भिन्न भिन्न मूल्यों पर, अ और आ के बीच वह अपनी स्थिर आय क अ किस प्रकार वितरित करेगा।

तटस्थता वक्रों का उपयोग दो विकल्पों के बीच (परन्तु वे केवल दो ही हों) किसी व्यक्ति का अभिमान-माप व्यक्त करने के लिए हो सकता है। इस प्रकार वे आय और अवकाश के बीच उसका अभिमान-माप व्यक्त कर सकते हैं जिससे यह प्रकट हो सकता है कि वह दिनरात के चौबीस घंटों को, किसी निश्चित दर प्रति घंटे पर कार्य करने और अवकाश के बीच, किस प्रकार बाँटेगा। इसके अतिरिक्त उनका उपयोग उसके वर्तमान और भावी उपयोग के बीच, द्रव सम्पत्ति (Liquid Assets) और आय-उत्पादक संपत्ति

(Income-yielding Assets) के बीच, तथा इसी प्रकारके अन्य कार्योंमें उसका
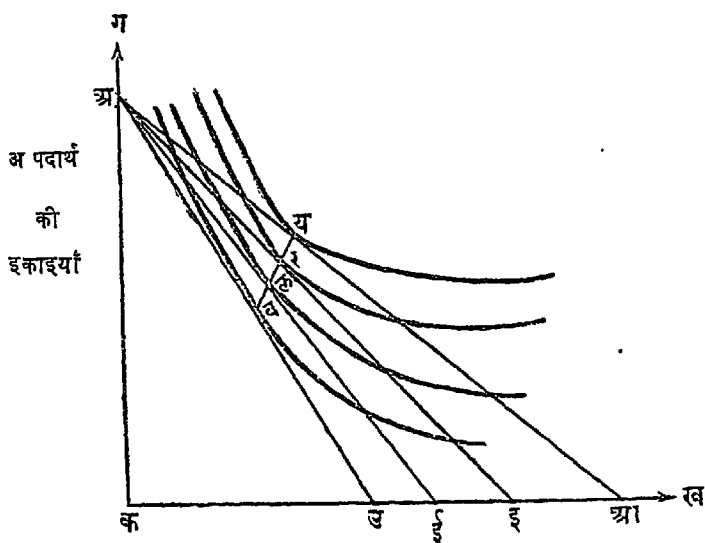
चित्र १६
आ पदार्थ की इकाइयाँ

अधिमान-माप व्यक्त करने के लिए भी हो सकता है, क्योंकि कोई भी अधिमान-माप निश्चित राशि को भिन्न भिन्न प्रकार के उपयोगों में वितरित करने से संबंध रखता है। जब उस वस्तु के केवल दो ही उपयोग हों तो अधिमान-माप अनेक तटस्थता वक्रों द्वारा द्विविस्तारी (Two dimensional) रेखाचित्र पर व्यक्त किया जा सकता है। परन्तु अधिकतर दो से अधिक उपयोग होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी उपभोक्ता को प्रायः दो से अधिक वस्तुएँ उपयोग के लिए उपलब्ध होती हैं। ऐसी दशाओं में अधिमान-माप रेखाचित्र द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि जितने "विकल्प" हैं उतने ही विस्तारों (Dimensions) की आवश्यकता होगी। फिर भी तटस्थता वक्रों की सहायता से ऐसी स्थितियों का अध्ययन, जिनमें केवल दो ही विकल्प हों, उनके लिए बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होगा जो चुनाव का सिद्धान्त (Theory of Choice) और उसके तात्पर्य को समझना चाहते हैं। यह लाभदायक तो है परन्तु बहुत आवश्यक नहीं है और कठिन होने के कारण हमने इसे एक परिशिष्ट में स्थान दिया है[1]।

१. विस्तृत विवरण के लिए दे० Hicks, J. R., and Allen, R.G.D. "A Reconsideration of the Theory of Value" in Economica, N. S. Vol. I.

द्वितीय खंड

उत्पादन

सातवाँ अध्याय

उत्पादन की मात्रा

(The Volume of Production)

१. उत्पादन की प्रकृति और महत्त्व

(The Nature and Significance of Production)

अब तक हमने बहुत कुछ यह मान लिया था कि विभिन्न उपभोग्य वस्तुओं की कुछ मात्रा प्रति सप्ताह बिक्री के लिए प्रस्तुत होती रहती है। अब हमें उन शक्तियों पर विचार करना है जिनके द्वारा इस मात्रा का निश्चय होता है। निःसन्देह यह बहुत बड़ा प्रश्न है, और प्रस्तुत ग्रंथ का अधिकांश इसी प्रश्न के किसी न किसी अंश से सम्बन्ध रक्खेगा। इस अध्याय में वर्ण्य विषय का केवल आरम्भिक पर्यवलोकन (Preliminary survey) दिया जाता है।

प्रकृति की देन को छोड़कर सभी वस्तुएँ उत्पादन के द्वारा अस्तित्व में लाई जाती हैं। हम उत्पादन का अध्ययन आरम्भ करने जा रहे हैं, परन्तु यह अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि प्रतिजन (Per head) उत्पादन की मात्रा का—उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की कोटि (Quality) और मात्रा का—सामाजिक हित की दृष्टि से क्या महत्त्व है।

बहुत से सदय व्यक्ति अर्थशास्त्र का अध्ययन इस आशा से करते हैं कि इससे दरिद्रता के कारणों का पता लगेगा और साथ ही उसे दूर करने के उपाय भी मालूम होंगे। महान् अर्थशास्त्री मार्शल के कथनानुसार इस विज्ञान में लोगों की रुचि का यही प्रधान कारण है। बहुतों के मतानुसार लोगों की दशा का सुधार करना अर्थात् साधारण निर्वाह-स्तर (General standard of living) को ऊँचा उठाना आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। परन्तु किसी व्यक्ति का निर्वाह-स्तर वे वस्तुएँ हैं जिनका वह उपभोग करता है। कोई परिवार निर्धन है इस कथन का अर्थ यह है कि उसके पास खाद्य-पदार्थ, कपड़े, वास-स्थान और अन्य उपभोग्य वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं; निर्धनता वास्तव में सापेक्ष शब्द है। आज एक अंग्रेज मजदूर का परिवार जो अनधियोजन वृत्ति (Unemployment relief) पाता है, इतनी उच्च कोटि के भोजन, वस्त्र और वास-स्थान का उपभोग करता है जो आजकल पूर्वीय देशों में, अथवा सौ वर्ष पूर्व ग्रेट-ब्रिटेन में ही, बहुत कम लोगों को सुलभ हैं। फ़िर भी यह ऐसा स्तर है जो, आधुनिक मानदण्ड से नापने पर, अत्यन्त शोचनीय

और अपर्याप्त है। हाल की जाँच से पता चला है कि ग्रेट ब्रिटेन में लगभग आधे परिवारों को भोजन की वह न्यूतम मात्रा नहीं प्राप्त होती, जो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक समझी जाती है। बहुत से बच्चों के शरीर का यथेष्ट विकास इसलिए नहीं हो पाता कि उनके माता-पिता उन्हें पर्याप्त भोजन नहीं दे सकते। और यदि हम पूछें कि अधिक भोजन, अच्छे वास-स्थान और साधारणतः अधिक मात्रा में उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति क्यों नहीं सुलभ होती? तो इसका उत्तर यही होगा कि उत्पादन की मात्रा पर्याप्त नहीं है। स्वर्ग से अमृत की वर्षा नहीं होती। उपभोग्य वस्तुएं उत्पन्न करनी ही पड़ती हैं॥ आधुनिक सभ्य देशों में उपलभ्य वस्तुओं और सेवाओं का समान वितरण करके---निर्धनों के लाभ के लिए धनवानों पर कर लगाकर--दरिद्रता को हटाने का कुछ प्रयत्न किया जा रहा है (निःसन्देह इससे बहुत अधिक प्रयत्न किया जा सकता है)। परन्तु इस प्रकार के पुनर्वितरण से समाज-सुधारकों को कोई विशेष आशा नहीं दिखाई पड़ती। धनवान व्यक्ति अपेक्षाकृत इतने कम हैं कि सम्पत्ति का पूर्णतया समान वितरण होने पर भी, जिससे उत्पादन की मात्रा पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े, साधारण जनता का निर्वाह-स्तर ऊँचा उठने की बहुत कम संभावना है। इस नग्न सत्य की हम उपेक्षा नहीं कर सकते कि उपभोग उत्पादन की मात्रा पर निर्भर है। अल्पकाल में, चालू उत्पादन की कमी संचित राशियों (Stocks) से पूरी की जा सकती है, और श्रम तथा अन्य उपादानों का भवन, यन्त्रादि तथा अन्य प्रकार की उत्पादक वस्तुओं (Capital goods) को उत्पन्न करने में उपयोग न करके उनसे उपभोग्य वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। परन्तु इन उपायों द्वारा निर्वाह-स्तर केवल कुछ समय के लिए बढ़ाया जा सकता है। उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन जारी रखने के लिए कार्यशील पूँजी (Working capital)—जैसे कच्चे माल तथा अन्य सामग्रियों--का और स्थिर पूँजी (Fixed capital) - जैसे यन्त्रादि--का निर्वाह आवश्यक है। किसी निश्चित जनसंख्या के लिए उत्पादन की मात्रा पर ही निर्वाह-स्तर निर्भर रहता है।

यह सच है कि एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के दान अथवा ऋण से सहायता पा सकते हैं। इस प्रकार वे विदेशों से ऐसा माल प्राप्त कर सकते हैं, जिसके लिए उन्हें तत्काल कुछ देना न पड़े। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय दान का क्षेत्र प्रायः बहुत ही संकुचित होता है, और ऋण का लौटाना आवश्यक होता है, यदि वह न लौटाया जाय तो भविष्य में विदेशों से ऋण प्राप्त करना उस देश के लिए कठिन होता है। अधिकतर जो उपभोग्य वस्तुएँ कोई देश बाहर से मँगाता है, उसका मूल्य अपने यहाँ के उत्पन्न माल में चुकाता है। जितना ही अधिक वह उत्पन्न करेगा उतना ही अधिक प्रति सप्ताह उसे अपने देश में उपभोग्य के लिए, अथवा आयात माल के विनिमय में देने के

लिए, उपलब्ध होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन हम पाँचवें खण्ड के लिए स्थगित रखेंगे। तबतक हम अधिकतर यह मान कर चलेंगे कि हमारा विचाराधीन देश "संकीर्ण" (Closed) है और किसी अन्य देश से उसका आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। इससे विषय का स्पष्टीकरण सरल हो जायगा, और आवश्यक प्रतिबन्धों (Qualifications) का उल्लेख पीछे किया जायगा। परन्तु हमारा व्यापक निष्कर्ष बहुत बड़ी मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करनेवाले देशों पर भी सर्वथा लागू होगा। किसी देश के निर्वाह-स्तर की मुख्य कसौटी प्रति सप्ताह प्रति मास या प्रति वर्ष उसमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा कोटि—संक्षेप में उसके उत्पादन की मात्रा—है। उदाहरणार्थ संयुक्तराज्य (अमेरिका) में चीन की अपेक्षा निर्वाह-स्तर इतना ऊँचा होने का मुख्य कारण यह है कि वहाँ प्रतिजन उत्पादन की मात्रा बहुत अधिक है।

हम आशा करते हैं कि समाज के हित के लिए उत्पादन की मात्रा कितनी महत्त्वपूर्ण है इसका दिग्दर्शन हो चुका। परन्तु बहुत से लोगों की यह धारणा है कि संसार की उत्पादन-शक्ति इतनी अधिक है कि यदि क्रियाकल्पज्ञों (Technicians) द्वारा उत्पादन की उत्तम व्यवस्था हो अथवा महाजनी (Banking) और साख (Credit) प्रणाली में परिवर्तन कर दिया जाय तो सबके लिए आवश्यकता से अधिक उत्पन्न करना बहुत सरल हो जायगा। इस धारणा की समीक्षा करना बहुत आवश्यक है। पहले इस तर्क पर अंकों की सहायता से विचार करना अच्छा होगा। मान लिया जाय कि संसार का उत्पादन इतना बढ़ जाता है कि प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे को उतनी सामग्री मिलने लगती है जितनी वर्तमान काल में १० पौंड प्रति सप्ताह व्यय करके प्राप्त की जा सकती है। इसे हम विलासिता नहीं कह सकते। फिर भी इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ग्रेट ब्रिटेन का उत्पादन, चाहे उसका सम्पूर्ण जनता में वितरण हो तो भी, तिगुना करना होगा, और बहुत से देशों में तो तिगुने से भी बहुत अधिक बढ़ाना होगा। जो लोग इस प्रकार की धारणा बनाये हुए हैं, उन्हें इस कार्य की विशालता का पूरा अनुमान है इसमें सन्देह है। वास्तव में यह धारण ऐसी निरर्थक है कि यह समझना कठिन है कि किन प्रमाणों के आधार पर यह बनी है।

यह सत्य है कि कभी कभी जानबूझकर माल नष्ट कर दिया जाता है, आधुनिक काल में सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है १९३१-३४ में ब्राजील में २० लाख टन कहवा का नष्ट किया जाना। परन्तु युद्धकाल को छोड़कर संसार के सम्पूर्ण उत्पादन का बहुत-सूक्ष्म अंश नष्ट किया जाता है। यह भी सत्य है कि कुछ जन-शक्ति और उत्पादन के उपादान (Materials) बेकार रहते हैं अथवा उनका पूरा उपयोग नहीं होता। निःसन्देह यह एक गम्भीर समस्या है जिसका

महत्त्व हम घटाना नहीं चाहते। अत्यन्त मंदी के समय किसी औद्योगिक देश में बेकारी (अनधियोजन) का प्रतिशत २० या ३० तक चला जाता है। परन्तु संपूर्ण संसार का विचार करते हुए और अच्छे तथा बुरे सभी वर्षों को ध्यान में रखते हुए निरंतर पूर्ण अधियोजन (Employment) से संसार के संपूर्ण उत्पादन में केवल ५ या १० प्रतिशत की वृद्धि हो सकती है।* इससे बड़ा लाभ होगा, इसमें संदेह नहीं, फिर भी इससे उपर्युक्त उत्पादन का लक्ष्य बहुत दूर रह जायगा।

बहुत संभव है कि इस तर्क में विश्वास करनेवाले, इधर कुछ वर्षों में कुछ धन्धों (जैसे मोटरकार का धन्धा) के तीव्र विकास से बहुत प्रभावित हुए हों और सोचते हों कि जो एक धंधे में हो सकता है वही सब में संभव है। क्या ही अच्छा होता कि यह सत्य होता! तब तो सचमुच ही आर्थिक समस्या लुप्त हो जाती। परन्तु दुर्भाग्यवश एक धंधे का उत्पादन बढ़ाने के लिए दूसरे धंधों से श्रम तथा अन्य उत्पादनों को आकर्षित करना पड़ता है। यदि हम अधिक मोटरें या अधिक अस्त्र-शस्त्र चाहते हैं, तो अन्य वस्तुओं में कमी करनी पड़ेगी। इसमें संदेह नहीं कि बहुत से कारखाने नवीनतम साधनों से सुसज्जित नहीं हैं परन्तु किसी धंधे को आधुनिक बनाने (Modernisation) में अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है जिसका अर्थ है अन्य धंधों के लिए कम पूँजी। इसमें सन्देह नहीं कि उत्पादन-विधियों में उन्नति हो सकती है और क्रियाकल्पों (Technique) में उत्तरोत्तर प्रगति से और भी उन्नति होगी, परन्तु अनुभव बतलाता है कि कृषि तथा उत्पादन के अन्य क्षेत्रों को साथ साथ ध्यान में रखते हुए और केवल दो चार धंधों का ही—जिनमें "सर्व-साधारण के लिए उत्पादन" (Mass-production) की विधियों का प्रयोग संभव हो सका है—विचार न करके प्रति-

*यह अनुमान कुछ पाठकों को कम जान पड़ता होगा। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि अनधियोजन (Unemployment) विशेषतः औद्योगिक व्यापार (Phenomenon) है, कृषिसंबंधी नहीं। बड़ी मन्दी के समय संसार भर की अनधियुक्त संख्या लगभग ३ करोड़ थी, जहाँ कार्य करनेवालों की संख्या एक अरब के लगभग थी। किसी औद्योगिक देश के लिए भी १० प्र. श. का अनुमान बहुत अधिक है। १९३० के पूर्व २० प्र. श. अनधियोजन अज्ञात सा था। १९१४ के महायुद्ध के पूर्व १० प्र. श. विरले ही कहीं था और औसत ५ प्र. श. के आस-पास था। इसके अतिरिक्त यंत्रों तथा अन्य उत्पादनों का अनधियोजन श्रम के अनधियोजन की अपेक्षा कम होता है और बेकार मजदूर तथा अन्य साधन प्रायः अधियुक्त रहनेवालों की अपेक्षा कम कुशल होते हैं।

जन प्रतिवर्ष ४ या ५ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि की आशा नहीं की जा सकती है। और वर्तमान काल में जैसा क्रियाकल्पात्मक ज्ञान (Technical Knowledge) अब तक है, लाभ की इच्छा और दिवालियापन के भय से प्रेरित होकर, उत्पादक अपने सामर्थ्य पर उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। जबतक जादू की छड़ी घुमाकर अकस्मात् उत्पादन के उपादान उपस्थित न कर दिये जायं और मनुष्यों में अकस्मात् अधिक कुशाग्रता, कौशल और शक्ति न ला दी जाय तबतक यह संभव नहीं है कि जिस मात्रा में उत्पादन बढ़ाने की कल्पना की जाती है वह कभी सत्य हो सके। आर्थिक समस्या—अर्थात् उत्पादन के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने की समस्या, क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओं की तुलना में वस्तुओं की कमी है—हम लोगों के या हमारे बच्चों के या बच्चों के बच्चों के जीवन-काल में भी लुप्त होनेवाली नहीं है।

दूसरी भ्रामक धारणा यह है कि बहुत सा श्रम—जैसे करणिकों (क्लर्कों), नौकरों, अभिनेताओं आदि के कार्य—"अनुत्पादक" है क्योंकि उनका सम्बन्ध वस्तु के प्रत्यक्ष उत्पादन से नहीं होता। परन्तु उत्पादन है क्या? मनुष्य तत्व की उत्पत्ति नहीं कर सकता। वह शून्य में से कोई वस्तु नहीं उत्पन्न कर सकता। कृषक मिट्टी में बीजों को इस प्रकार रखता है कि वे पृथ्वी और वायु से खाद्य प्राप्त करते और बढ़कर पौधे होते हैं। मोची चर्म के एक टुकड़े को एक जोड़ा जूते में परिवर्तित करता है। ग्वाला गोशाला से घर-घर दूध देता है। दूकानदार माल की राशि (Stock) रखता है, जिसमें से उपभोक्ता जब और जैसा चाहें चुन सकते हैं। उत्पादन का अर्थ है तत्व के रूप में परिवर्तन अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल का वहन अथवा माल की राशि का कुछ काल तक संग्रह रखना।

व्यक्ति के दृष्टिकोण से यदि उसका कार्य कुछ भी आय प्रदान करता है तो वह उत्पादक है। कोई विशेष प्रकार का श्रम समाज की दृष्टि से उत्पादक है या नहीं यह वास्तव में सामाजिक चिन्तकों (Philosophers) के लिए विचारणीय है। उत्पादन का अंतिम उद्देश्य उपभोग्य वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।* यह मान लेने पर सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ, जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति में पूर्ण रूप से सहायक होती हैं, उत्पादक हैं। उदाहरणार्थ, खान में गड़े हुए कोयले को घर में जलाने के योग्य बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ

* अपनी क्रिया से स्वयं उत्पादकों को कुछ सन्तोष मिल सकता है। हम मजदूरी और अनधियोजन (Unemployment) के प्रसंग में इसका उल्लेख करेंगे। सम्प्रति (For the present) विवेचन को निरर्थक किए बिना हम इसे एक ओर छोड़ देते हैं।

अपेक्षित हैं। कोयला खोदनेवाले खनकों की (Miners), उसके स्थानान्तरण में लगे हुए लोगों की, कोयले के इच्छुक उपभोक्ताओं में उसके वितरण का प्रबंध करनेवाले व्यवसायियों की और कोयले को जला कर आग तैयार करनेवाले घरेलू नौकरों की—सभी की क्रियाएँ "उत्पादक" हैं। कभी कभी यह कहा जाता है कि किसी किसी क्षेत्र में आवश्यकता से अधिक मध्यजन (Middlemen) हैं; परन्तु यदि उत्पादक सीधे उपभोक्ताओं के हाथ माल वेचना चाहते हैं तो उनके लिए रास्ता खुला है। यदि उन्हें मध्यजन के हाथ बेचने में अधिक लाभ होता है तो यह मानना पड़ेगा कि वे उत्पादन की शृंखला में उपयोगी कड़ियाँ हैं। निःसन्देह, यह कहा जा सकता है कि जो क्रियाएँ अन्त में निरर्थक सिद्ध होती हैं—जैसे किसी ऐसी नहर के बनाने के संबंध में आरंभिक कार्य जो कभी खोदी ही न जाय—वे "अनुत्पादक" हैं; परन्तु ऐसा निष्कर्ष घटना के पश्चात् ही निकाला जा सकता है। कुछ लोग यह भी तर्क कर सकते हैं कि मादक द्रव्यों का व्यवसाय कुशलता को घटानेवाला है अतएव वह अनुत्पादक है; परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वह उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। फिर भी इसे और इससे संबंध रखनेवाले प्रश्नों को हम सामाजिक चिन्तकों आदि के विवेचन के लिए छोड़ देते हैं।

२. उत्पादन की मात्रा की माप

किसी समाज के उत्पादन की मात्रा समय की प्रति इकाई (unit) में वस्तुओं और सेवाओं का उसका उत्पादन है। माप के लिए चुनी गई समय की इकाई प्रायः वर्ष होती है। यह एक सुविधाजनक इकाई है, क्योंकि बहुत सी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। किसी देश में बहुत सी महत्त्वपूर्ण फसलें वर्ष में एक वार काटी जाती हैं जिससे उस देश में फसल कटने के महीनों में अन्य महीनों की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता है, और यदि संयोगवश उसके निर्यात में अधिकांश वे ही पदार्थ होंगे तो फसल कटनेवाले महीने के बाद अन्य महीनों की अपेक्षा अधिक निर्यात होगा; यद्यपि इस अन्तर की मात्रा उत्पादक देश में नहीं वरन् आयात करनेवाले देश में राशि के संचय की मात्रा पर निर्भर होगी।

केवल उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन ही निर्वाह-स्तर पर प्रभाव डालता है[1], परन्तु जैसा हमने देखा है भवन और यन्त्रादि से लेकर कच्चे या अधपके माल तक सभी प्रकार की वस्तुएँ उपयोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक होती हैं। उदाहरणार्थ बीज के लिए भूमि तैयार करने का अथवा कोई

---

१. हम एक संकुचित समाज का विचार कर रहे हैं। कोई उदार समाज उत्पादक वस्तुएँ निर्यात करके उनके विनिमय में चालू उपभोग्य वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। जैसे ग्रेट ब्रिटेन अन्य वस्तुओं के साथ साथ कोयले और यंत्र का निर्यात करके अधिकतर खाद्य पदार्थों का आयात करता है।

सड़क बनाने का कार्य उसी प्रकार उत्पादन है जिस प्रकार लगभग तैयार उपभोग्य वस्तुओं को सँवारने (Finishing) का कार्य। इस व्यापक अर्थ में उत्पादन वर्ष भर नियमित रूप से चलता रहता है; जिस गति से पक्का माल उत्पादन की अन्तिम क्रिया के उपरान्त बाहर निकलता है केवल वही भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न होती है। अतएव उत्पादन की मात्रा में सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का सम्मिलित करना आवश्यक है।

स्पष्ट बात यह है कि दुहरी गणना से बचना आवश्यक है। पक्के माल के बाहर आने के पूर्व वस्तुओं में भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तन होना पड़ता है। जैसे गेहूँ आटे के रूप में परिवर्तित होता है। और आटा रोटी में परिवर्तित होता है। यदि सब गेहूँ, सब आटा और सब रोटियाँ सम्मिलित की जाँय तो आटा दो बार और गेहूँ तीन बार गिना जायगा। अतएव अधिकतर उत्पादन की मात्रा का अनुमान लगाने में किसी अधिष्ठान (Establishment) की उत्पत्ति निस्तुष (Net) रूपमें गिनी जाती है; उत्पत्ति के अर्घ (Value) में से व्यवहृत वस्तुओं का (उदाहरणार्थ कृषिशाला में पशुओं द्वारा उपयुक्त चारा और कारखाने में प्रयुक्त गर्मी, प्रकाश और शक्ति) अर्घ घटा दिया जाता है जिससे अधिष्ठान द्वारा वस्तुओं में युक्त (Added) निस्तुष अर्घ निकल आये।

फिर घिसावट (Depreciation) एक दूसरी समस्या खड़ी करती है। किसी देश की सम्पूर्ण उत्पति का कुछ अंश संस्कार (मरम्मत), नवीकरण (Renewal) और अनुस्थापन (Replacement) का होता है। यदि ये न सुधारे जायँ तो देश की पूँजी-- उसकी भौतिक सम्पत्ति--वर्ष के आरम्भ की अपेक्षा अंत में कम हो जाय और इससे भविष्य में उत्पादन की मात्रा घटने की संभावना रहती है। अतएव प्राय: घिसावट घटाकर उत्पादन की विशुद्ध मात्रा की माप की जाती है। जैसे यह कहा जाय कि उत्पत्ति का दस प्रतिशत पूँजी को अविकल (Intact) रखने के लिए आवश्यक है। परन्तु ठीक-ठीक यह बतलाना बहुत कठिन है कि वर्ष भर में किसी देश की सम्पूर्ण पूँजी में कितनी वास्तविक वृद्धि या ह्रास हुआ है अथवा उत्पादन की मात्रा का ठीक ठीक कितना प्रतिशत पूँजी को अविकल रखने के लिए आवश्यक है।

लाखों प्रकार की विविधि वस्तुएँ और सेवाएँ उत्पन्न की जाती हैं। यह कैसे संम्भव है कि सबको एक साथ जोड़कर ऐसे आँकड़े उपस्थित किए जायँ जिसका उपयोग एक वर्ष के उत्पादन की मात्रा का दूसरे वर्ष की मात्रा से तुलना करने में हो सके? इसका एक मात्र उपाय है दुहरी गणना बचाते हुए द्रव्य के रूप में उनका अर्घ जोड़ना। परन्तु एक वर्ष के मूल्यों में दूसरे वर्ष के मूल्यों से अन्तर होगा। उत्पत्ति की मात्रा कम होने पर भी यदि किसी वर्ष मूल्य ऊँचा है तो उसका अर्घ अधिक होगा। मूल्य में परिवर्तन के

प्रभाव पृथक् करने के लिए, जिससे मात्रा की तुलना हो सके, बहुत से उपाय काम में लाये जा सकते हैं। जैसे किसी वर्ष की उत्पत्ति का अर्घापण (Valuation) किसी दूसरे वर्ष में (जिसे 'आधार वर्ष' मान लेते हैं) प्रचलित मूल्य द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि १९३० आधार वर्ष चुना जाय और उस वर्ष एक मन गेहूँ का मूल्य ५ रु० हो तो पीछे के वर्षों में उत्पन्न प्रत्येक मन गेहूँ का अर्घ इस कार्य के लिए ५ रु० होगा, उसका वास्तविक मूल्य चाहे कुछ भी हो; और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं और सेवाओं का भी अर्घापण होगा। मान लिया कि १९३० में उत्पादन का वास्तविक अर्घ ४० अरब रुपया और १९३७ में ५० अरब रुपया है परन्तु यदि १९३७ में उत्पादित सभी वस्तुओं का अर्घापण १९३० के मूल्य से किया जाय तो १९३७ के उत्पादन का मूल्य केवल ४४ अरब रुपया होगा। तब यह कहा जायगा कि १९३७ में उत्पादन की मात्रा १९३० से केवल १० प्रतिशत अधिक थी, यद्यपि उसका वास्तविक अर्घ २५ प्रतिशत अधिक था।

परन्तु इस प्रकार के किसी भी उपाय से पूरी कठिनाई दूर नहीं होती। वास्तव में यह समस्या असाध्य है। सचमुच हम यह नापने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक वर्ष की उत्पत्ति दूसरे वर्ष की उत्पत्ति की अपेक्षा कहाँ तक अधिक पूर्णता से आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों देश की जनसंख्या और उसके निवासियों की रचना (Composition), लोगों की रुचि, सम्पत्ति के वितरण और उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं के भेदों में परिवर्तन होता जाता है। संभव है ठीक ठीक वही उत्पत्ति १९३० में १९३५ की अपेक्षा अधिक तुष्टि प्रदान कर सकती हो क्योंकि हो सकता है कि १९३५ में लोग पहले की अपेक्षा ऐसी वस्तुओं के अधिक इच्छुक हों जो १९३० में अपेक्षाकृत कम उत्पन्न होती थीं और ऐसी वस्तुओं के लिए कम इच्छुक हों जो १९३० में अपेक्षाकृत अधिक उत्पन्न होती थीं और जिन लोगों की माँग पहले प्रकार की वस्तुओं के लिए अधिक तीव्र है उनकी आय दूसरे प्रकार के लोगों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई हो। किसी भी कलन-विधि (Method of calculation) में इस प्रकार के परिवर्तनों का विचार करना कठिन है परन्तु यदि ऐसे परिवर्तन अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण हों तो भी ज्यों ज्यों समय बीतता है उत्पत्ति की रचना में परिवर्तन होता जायगा। इसके लिए हम एक चरम सीमा का उदाहरण लेते हैं। मान लिया कि १९३० में उत्पादित गाय के दूध और भैंस के दूध का अर्घ एक ही है। १९३५ में गायों में बीमारी फैल जाने के कारण गाय के दूध का उत्पादन १९३० के उत्पादन का आधा और भैंस का डेढ़ा हो जाता है। तो क्या यह कहना उचित होगा कि गाय और भैंस दोनों के

दूध की आवश्यकताएँ १९३५ में ठीक उसी प्रकार पूरी हो सकेंगी जिस प्रकार १९३० में होती थीं ? फिर भी उनका संयुत मूल्य १९३० के मूल्य में आँकने पर दोनों वर्षों में समान है। इसी प्रकार ज्यों ज्यों समय बीतता है नयी नयी वस्तुएँ और उनके नये नये भेद व्यवहार में आते जाते हैं। आरंभ के किसी सिनेमा चित्र को देखने से पता चल सकता है कि हमारे वस्त्रों, उपस्करों (Furniture), मोटरों इत्यादि में कितना परिवर्तन हो गया है। दो वर्षों में उत्पत्ति की रचना में जितनी ही अधिक भिन्नता होती है, उनकी तुलना करना उतना ही अधिक कठिन होता है। इसका यह अर्थ है कि जो वर्ष एक दूसरे से बहुत दूर हैं उनकी तुलना परस्पर निकटवर्ती वर्षों की तुलना में कम महत्त्व-पूर्ण है। यद्यपि निकटवर्ती वर्षों की तुलना भी केवल निकटतम ठीक हो सकती है। यद्यपि ठीक-ठीक नापना संभव नहीं है फिर भी कोई समझदार व्यक्ति इसमें सन्देह नहीं कर सकता कि आज ग्रेट ब्रिटेन में प्रतिजन उत्पत्ति की मात्रा १०० वर्ष पहले से, अथवा जितनी भारतवर्ष में आजकल है उससे, बहुत अधिक है और इसे नापने की कठिनाई से इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता। अतएव अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि निश्चित जनसंख्यावाले किसी विशेष देश में उत्पादन की मात्रा किस पर निर्भर रहती है।

३. उत्पादन पर प्रभाव डालनेवाली शक्तियाँ
(Influences Affecting Production)

किसी देश के उत्पादन की मात्रा का निर्णय करनेवाली शक्तियों में उसके सामाजिक संगठन और संस्थाओं का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। तीसरे खण्ड में हम इसका सामान्य परिचय देंगे कि पूंजीवाद में—जो कि सभी आधुनिक प्रजातंत्र देशों में प्रचलित प्रणाली है—उत्पादन की व्यवस्था किस प्रकार होती है। परन्तु उत्पादन को प्रभावित करनेवाली कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं जो किसी प्रकार के सामाजिक संगठन में काम करती हैं। प्रस्तुत खण्ड में इन्हीं शक्तियों का विवेचन किया जायगा।

वे तीन मुख्य भागों में विभाजित की जा सकती हैं। सबसे पहले कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। उत्पादन की मात्रा में भूकम्प, बाढ़ या आंधी-बवंडर द्वारा कमी हो सकती है। अनुकुल ऋतुओं में फसल अच्छी होती है; और प्रतिकूल ऋतुओं के कारण उत्पादन घट जाता है।

दूसरे, किसी देश के क्रियाकल्प-ज्ञान का उसके उत्पादन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। विगत काल में अधिक प्रगति उन अन्वेषणों और आविष्कारों

के कारण हुई है, जिन्होंने प्रकृति के ऊपर मनुष्य का नियंत्रण बढ़ा दिया है। समाज चाहे जिस प्रकार संगठित हो परन्तु जो मनुष्य एक दाना अन्न के स्थान पर दो दाना उत्पन्न करने के उपाय ढूँढ़ निकालता है वह समाज का हितैषी है। हाँ, यह बात मान ली गई है कि उस समाज केलोग दाने के इच्छुक हैं और उत्पादन की नयी विधियों के विरोधी नहीं हैं (जैसे एक काल्पनिक देश के लोग यंत्रों के विरोधी थे)।

तीसरे, उत्पादन के उपलभ्य साधनों (Means) अथवा उत्पादन के अंगो (Factors of production) और उनके व्यवहृत होने के ढङ्ग पर उत्पादन की मात्रा निर्भर रहती है। मनुष्य की आवश्यकताओं की तुलना में उपभोग्य वस्तुएँ इसलिए कम हैं कि उनको उत्पन्न करने के साधन कम हैं। उदाहरणार्थ हम सभी लोग जितना दूध चाहें नहीं पा सकते। दूध की इसलिए कमी है कि गायें कम हैं, और गायें इसलिए कम हैं कि उनके लिए चारा उत्पन्न करने को भूमि और श्रम पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। हम दूध की मात्रा दूनी या तिगुनी कर सकते हैं, परन्तु इसके लिए हमें अन्य वस्तुओं का उत्पादन घटाना पड़ेगा, अन्य वस्तुओं के उत्पादन से भूमि और श्रम को हटाकर गोरस के धंधे की ओर लाना पड़ेगा। किसी निश्चित क्रियाकल्प-ज्ञान द्वारा उत्पादन के उपलभ्य साधनों की सहायता से उत्पन्न की जानेवाली उपभोग्य वस्तुओं की मात्रा परिमित है।

फिर भी यह बतला देना आवश्यक है कि श्रम की पूर्ति में वृद्धि (प्रति व्यक्ति द्वारा अधिक कार्य किए जाने के कारण नहीं, वरन् जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण) साधारण निर्वाह-स्तर को बढ़ाने में समर्थ नहीं हो सकती। उससे सम्पूर्ण उत्पादन में अवश्य वृद्धि हो जायगी पर साथ ही उन व्यक्तियों की संख्या भी बढ़ जायगी जिनके बीच वह उत्पादन बाँटा जायगा और संभव है जनसंख्या की प्रतिशत वृद्धि उत्पत्ति की प्रतिशत वृद्धि से अधिक हो।

४. उत्पादन के साधन
(Factors of Production)

आगे के पृष्ठों में उत्पादन के साधनों के विषय में हमें बहुत कुछ कहना है; अतएव इस स्थल पर इस सिद्धान्त (concept) की कुछ कठिनाइयों और संशयों (Ambiguities) का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक जान पड़ता है। जो कुछ भी उत्पादन में सहायक होता है वह उत्पादन का साधन है। कोयले की खान के स्वामी के विचार से कोयला एक उत्पादित पदार्थ है परन्तु यह उत्पादक की वस्तु (Producers' good) के रूप में व्यवहृत

होता है, (जैसे किसी कारखाने की भट्ठी में), इसलिये यह उत्पादन का साधन है, एक व्यवसाय-संस्था (Firm) का पक्का माल दूसरी संस्था या कारखाने में कच्चे माल के रूप में व्यवहृत होता है; अतएव वह उत्पादन का साधन है। संक्षेप में कोई भी पदार्थ, जो उत्पादन-विधि की किसी अवस्था में प्रयुक्त होता है, उत्पादन का साधन है।

परन्तु उत्पादन के कुछ साधन मनुष्य द्वारा अधिकृत नहीं किए जा सकते—उनका क्रय-विक्रय नहीं हो सकता—अतः आर्थिक विवेचनों में उनका विचार नहीं किया जाता। सूर्य का प्रकाश एक प्रसिद्ध उदाहरण है। यदि भूमि के एक टुकड़े को जलवायु-संबंधी प्राकृतिक सुविधाएँ दूसरे से अधिक सुलभ हैं तो वह दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्पन्न करेगा और, मूल्य-प्रणाली के अनुसार कृषि-योग्य भूमि के रूप में, उसका मूल्य दूसरे की अपेक्षा अधिक होगा। सूर्य के प्रकाश का अन्तर भूमि के उत्पादन पर प्रभाव डालता है। परन्तु साधारणतः केवल भूमि ही उत्पादन का साधन मानी जाती है, सूर्य का प्रकाश नहीं। वास्तव में किसी साधन द्वारा होनेवाली सेवा ही उत्पादन में योग देती है, स्वयं साधन नहीं। लोग इसे बाल की खाल निकालना कह सकते हैं परन्तु इस अन्तर पर ध्यान न देने से बहुत भ्रम होने की आशंका है। कोई अधियोजक (Employer) श्रम-सेवा (Labour services) चाहता है, अर्थात् श्रमिक द्वारा किया गया कार्य चाहता है, व्यक्ति नहीं। दास-प्रथा में मनुष्यों का क्रय-विक्रय होता है, परन्तु उनका जो मूल्य दिया जाता है वह उनके द्वारा भविष्य में संपन्न होनेवाले संपूर्ण कार्य की मात्रा का मूल्य होता है। वास्तव में मनुष्य की सेवा—अर्थात् उसका कार्य—उत्पादन में सहायक होती है, वह स्वयं नहीं। कुछ निश्चित व्यक्ति प्रतिवर्ष कम या अधिक कार्य कर सकते हैं। अतएव "श्रम की पूर्ति" पद संशय (Ambiguity) उत्पन्न करता है। इसका अर्थ श्रमियों की संख्या, या श्रमियों द्वारा की गई सेवा के घंटे, अथवा किए गए कार्य की ठीक ठीक मात्रा, हो सकता है। इसी प्रकार किसी कारखाने में यंत्रों से प्रतिदिन केवल आठ घंटे अथवा दो या तीन पालियों (Two or three shifts) में सोलह या चौबीस घंटे काम लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनों की कुछ निश्चित सेवा उत्पादन में कम या अधिक योग दे सकती है। एक ही भूमि एक वर्ष दूसरे वर्ष की अपेक्षा केवल इसी लिए अधिक उत्पन्न कर सकती है कि उस वर्ष जलवायु अच्छा था। कोई व्यक्ति रेडियो पर भाषण करने में उतना ही प्रयत्न करता है चाहे सुननेवाले हजार हों, या लाख; कोई व्यवसायी अपने व्यवसाय के संबंध में निर्णय करने में उतना ही प्रयत्न करता है चाहे उसका संबंध एक पौंड से हो या १०० पौंड से। उत्पादक वस्तुएँ (Capital Goods)—जैसे सड़कें या पुल भी इसी प्रकार कम या अधिक उपयोग में लाई जा सकती हैं।

अवश्य ही हमें ये बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ; परन्तु साथ ही यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि स्वयं उत्पादन के साधनों और उनके द्वारा उत्पादित पदार्थों के अन्तर को भी समझ लें। उत्पादन के वास्तविक साधन मनुष्य, भूमि और सब प्रकार की उत्पादक वस्तुएँ हैं।

उत्पादन के सभी साधनों को भूमि, श्रम और पूँजी नामक तीन मुख्य समूहों में विभाजित करने की प्रथा चली आ रही है। इस वर्गीकरण में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसका अर्थ यह है कि सभी प्रकार के कार्यकर्ता—चाहे वह उद्योग-धन्धों का व्यवस्थापक हो, कोई प्रसिद्ध डाक्टर हो, अथवा मिट्टी खोदने वाला मजदूर हो—श्रमिक वर्ग के अन्दर रखे जायेंगे। इसका यह अर्थ है कि भूमि का पूँजी से अन्तर सरलता से व्यक्त किया जा सकता है, यद्यपि रेल या जहाज़ की कम्पनी को यह अन्तर स्पष्ट करने में कठिनाई हो सकती है। इस वर्गीकरण में उत्पादन के सर्वथा भिन्न साधन-जैसे दूकान से लेकर मोटर और स्निग्धक तेल (Lubricating oil) तक-पूँजी के अन्तर्गत गिने जाते हैं।

भूमि और पूँजी का अन्तर प्रायः इस बात में माना जाता है कि भूमि प्रकृति की देन है और पूँजी मनुष्य द्वारा उत्पन्न की जाती है। भूमि और श्रम ही उत्पादन के मुख्य साधन कहे जाते हैं और पूँजी, उत्पादन का उत्पादित साधन कही जाती है। परन्तु भूमि और श्रम की उत्पादन-शक्ति (और स्वयं उत्पादक वस्तुओं की भी) पूँजी के विनियोजन (Investment) से बढ़ाई जा सकती है। भूमि को साफ़ करके, पानी सुखाकर, खाद डालकर, इत्यादि अनेक उपायों द्वारा उन्नत कर सकते हैं। पुराने देशों में अधिकांश भूमि मनुष्य द्वारा बनाई हुई है और मौलिक भूमि तथा उसमें की गयी उन्नति में अन्तर बताना असंभव तथा अनावश्यक है। इसी प्रकार श्रमियों को प्रशिक्षित (Train) करने में पूँजी लगाकर उन्हें अधिक कुशल बनाया जा सकता है। परन्तु खनिजों का भण्डार केवल रिक्त किया जा सकता है, उसमें वृद्धि नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ लोरेन (Lorraine) की लोहे की खानों में से यदि वर्तमान गति से खनिज निकाला जाता रहेगा तो लगभग ७० वर्षों में वे पूर्णतया रिक्त हो जायेंगी।

यह भूमि, श्रम और पूँजी तीन भागों में विभाजन कुछ कार्यों के लिए असन्तोषजनक है। उदाहरणार्थ, यदि सब भूमि एकत्र की जाय और एकड़ को इकाई मान लिया जाय तो हमारे सामने यह बड़ी भारी समस्या आ जाती है कि एक एकड़ दूसरे से उत्पादन शक्ति में बहुत भिन्न हो सकता है, क्योंकि एकड़ तो केवल क्षेत्रफल का माप है; अतएव हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि यदि गेहूँ के उत्पादन के लिए एक अतिरिक्त एकड़ भूमि का उपयोग किया जाय तो परिणाम क्या होगा; क्योंकि यह अतिरिक्त एकड़ भूमि पहले

के व्यवहृत एकड़ों से भिन्न हो सकती है। इसी प्रकार एक श्रमी दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकता है और सज्जा (Equipment), उपादानों (Materials) तथा अन्य वस्तुओं के अनेक भेद होते हैं।

सबसे अच्छा उपाय जान पड़ता है भूमि, श्रम तथा पूँजी को उपवर्गों में विभक्त करना, जिसमें एक प्रकार की सभी भूमि, एक प्रकार के सभी श्रमी और वस्तुएँ पृथक् पृथक् वर्गों में हों और प्रत्येक उपवर्ग उत्पादन का एक पृथक् साधन माना जाय। इस प्रकार किसी विशेष साधन की प्रत्येक इकाई उसी साधन की किसी दूसरी इकाई का ठीक ठीक स्थानापन्न होगी। इससे अनेक साधन हो जायँगे, परन्तु वर्गीकरण का केवल यही एक ढंग है जिससे आर्थिक विश्लेषण संभव हो सकता है।

परन्तु एक बात समझा देना आवश्यक है। यह स्मरण रखना होगा कि उत्पादन के अधिकांश साधन पूर्णतया विशिष्ट (Specific) नहीं होते, परन्तु इसके विपरीत उनके कई वैकल्पिक उपयोग होते हैं। मान लीजिए कि रामलाल कोयले की खान में काम करना छोड़कर एक कुशल राजगीर बन जाता है। तो क्या हम कह सकते है कि उत्पादन के साधनों की पूर्ति ज्यों की त्यों है क्योंकि रामलाल अब भी रामलाल ही है? अथवा क्या हम यह कह सकते हैं कि एक साधन अर्थात कोयले के खनकों की पूर्ति कम हो गयी है और दूसरे साधन अर्थात राजगीरों की पूर्ति बढ़ गयी है? हम तो दूसरे मत को ही मानेंगे। फिर भी ध्यान रखना चाहिए कि एक प्रकार के साधन (जैसे गेहूं-उत्पादक भूमि) को दूसरे प्रकार के साधन में (जैसे चरागाह के लिए भूमि) परिवर्तन करने के लिए कुछ पूँजी का (श्रमियों को प्रशिक्षित करने, भूमि को घेरने आदि के लिए) विनियोजन (Investment) आवश्यक है।

५—भावी योजना (The Plan to be Followed)

उत्पादन को प्रभावित करनेवाली शक्तियों के अध्ययन को हम दो भागों में विभक्त करेंगे। कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो साधारण और क्रियाकल्पात्मक ढङ्ग की हैं, क्योंकि सामाजिक संगठन की चाहे जो भी प्रणाली हो वह अपना कार्य अवश्य करती है, उनका विवेचन इस खण्ड में होगा। हम यह दिखायेंगे कि श्रम-विभाजन अथवा विशेषीकरण (Specialisation) और अधिक "पूँजीवादीय" (Capitalistic) विधियों द्वारा किस प्रकार उत्पादन बढ़ाया जाता है, और उपयोग होनेवाले साधनों के अनुपात में परिवर्तन, किसी विशेष उत्पाद (Product) और उत्पादन के उस क्षेत्र में रखे जानवाले किसी "सीमान्त उत्पाद" (Marginal poduct) की मात्रा को किस प्रकार प्रभावित करता है। किसी सर्वशक्तिशाली अधिनायक को उलझन में डालनेवाली आर्थिक समस्याओं का संक्षिप्त चित्रण और उन्हें वह किस प्रकार सुलझाएगा इसका विवेचन

आठवाँ अध्याय

श्रम-विभाजन

(Division of Labour)

आदम स्मिथ अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "राष्ट्रों की संपत्ति" (An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations) का आरंभ श्रम-विभाजन के विवेचन से करते हैं। वे कहते हैं—

श्रम की उत्पादक शक्ति में सबसे बड़ी उन्नति, और उस चातुर्य, कौशल तथा विवेक का अधिकांश, जिसके द्वारा उसका संचालन या प्रयोग होता है, श्रम-विभाजन का ही परिणाम है। (वे आलपीन बनाने के धन्धे से एक उदाहरण देते हैं) जो श्रमिक अपने व्यवसाय में (जो श्रम-विभाजन के कारण एक शिक्षित व्यवसाय हो गया है) शिक्षित नहीं था अथवा उसमें प्रयुक्त यंत्रों के (जिसका आविष्कार संभवतः उसी श्रम-विभाजन के द्वारा सरल हुआ है) व्यवहार से अनभिज्ञ था वह अधिक से अधिक श्रम करके शायद कठिनाई से प्रतिदिन १ आलपीन तैयार कर सकता था। परन्तु जिस ढग से आज यह धंधा होता है। उसकी सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली केवल एक विचित्र धंधा ही नहीं वरन् अनेक शाखाओं में विभक्त है, जो स्वयं ही पृथक् पृथक् विचित्र धंधे हैं। एक आदमी तार खींचता है, दूसरा उसे सीधा करता है, तीसरा काटता है, चौथा नुकीला बनाता है, पाँचवाँ उसका सिर लगाने के लिए एक सिरा घिसता है, सिर बनाने के लिए दो या तीन पृथक् क्रियाएं हैं; सिर लगाना भी एक विचित्र प्रक्रिया है। आलपीनों को चमकाना एक दूसरी प्रक्रिया है, उन्हें कागज में खोंसना स्वयं एक धंधा है। इस प्रकार आलपीन बनाने का महत्त्वपूर्ण व्यवसाय १८ भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं में विभक्त है, जो कुछ कारखानों में पृथक् पृथक् व्यक्तियों द्वारा की जाती हैं, यद्यपि कुछ अन्य कारखानों में एक ही व्यक्ति दो या तीन प्रक्रियाएँ करता है। मैंने इस प्रकार का एक छोटा कारखाना देखा है जहाँ केवल दस व्यक्ति अधियुक्त थे; अतएव उसमें एक ही व्यक्ति दो या तीन भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ करता था। यद्यपि वे बहुत निर्धन थे, इससे उनके पास पर्याप्त यन्त्र नहीं थे, फिर भी जब वे परिश्रम से कार्य करते थे तो सब मिलकर प्रतिदिन १२ पौंड (छः सेर) पिन तैयार कर लेते थे। एक पौंड में मध्यम आकार की ४००० से ऊपर आलपीनें होती हैं। अतएव वे दस व्यक्ति मिलकर प्रतिदिन ४८००० से ऊपर आलपीनें बना लेते थे और प्रत्येक व्यक्ति लगभग ४ हजार ८ सौ

पिनें प्रतिदिन बना लेता था। परन्तु यदि वे सब पृथक् पृथक् कार्य करते तो कोई भी अकेले २० आलपीन प्रतिदिन नहीं बना सकता था; शायद एक भी न बना पाता; अर्थात् विभिन्न प्रक्रियाओं में कार्य के समुचित विभाजन तथा परस्पर के सहयोग के फलस्वरूप जितना वे अब बना सकते हैं उसका २४० वाँ भाग तो नहीं ही बना सकते थे, संभवतः ४८०० वाँ भाग भी बनाना कठिन होता।"

श्रम विभाजन के अन्तर्गत एक व्यक्ति अकेला ही कोई वस्तु "बना" सकता है, जैसे एक जोड़ा जूता या एक कुर्सी; और उस वस्तु की इकाइयों के विनिमय में अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले सकता है। सम्भवतः वह अपना कच्चा माल या हथियार स्वयं नहीं बनायेगा। एक व्यक्ति का अकेले किसी वस्तु को "बनाना" आधुनिक समाज का एक अपवाद है।

किसी कारखाने में, रेल में, जहाज पर, अथवा किसी अन्य उत्पादन-स्थान में, श्रमी प्रायः समूहों में विभक्त रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक समूह पृथक् पृथक् कार्य करता है, जैसा कि आलपीन बनाने के उपर्युक्त उदाहरण में दिखाया गया है। एक ही कारखाने में पचासों या सैकड़ों विभिन्न "व्यवसाय" (Occupation) पाए जाते हैं; और किसी वस्तु के उत्पादन में कच्चे माल को पक्के माल में परिवर्तित करने के लिये अनेक भिन्न भिन्न धंधों का सहयोग आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ रुई का रूमाल के रूप में (उपभोक्ताओं के हाथों या जेबों में जाने के लिए) परिवर्तन करने के लिए कपास उत्पन्न करने, कपास ओटने, सूत कातने, कपड़ा बुनने, धोने और सँवारने (Finishing), थोक और फुटकर बेचने के आवश्यक धंधों के अतिरिक्त स्थानान्तरण (Transportation), भवन निर्माण, वस्त्र-उत्पादन के यन्त्र (Textile machinery), भण्डार में सुरक्षित रखने (Warehousing), विज्ञापन देने इत्यादि अनेक धंधों का सहयोग आवश्यक होता है। इसका यह अर्थ है कि इसमें लगे हुए श्रमी अनेक भिन्न भिन्न व्यवसायों के विशेषज्ञ हैं, और उनमें से प्रत्येक किसी न किसी प्रकार का विशेष कार्य करता है।

यों तो आदिम समाजों में भी कुछ न कुछ श्रम-विभाजन रहता है, परन्तु आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में उसकी सीमा और भी विस्तृत हो जाती है। वर्तमान आर्थिक संसार श्रम-विभाजन पर निर्भर है, इसके बिना प्रत्येक परिवार को अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करनी पड़तीं। अतएव वर्तमान जनसंख्या का केवल अल्पांश ही अस्तित्व में होता और उसका भी निर्वाह-स्तर (Standard of living) बहुत ही निम्न होता।

परन्तु हमें सावधान रहना चाहिए कि कई पीढ़ियों में उत्पादन में जो प्रतिजन वृद्धि हुई है उसका सारा श्रेय श्रम-विभाजन के विकास को ही न दे दें। उसका कुछ अंश क्रियाकल्प-ज्ञान में निरंतर उन्नति के कारण

भी हुआ है (यद्यपि इसमें भी श्रम-विभाजन के कारण बहुत सहायता मिली है—क्यों कि श्रम-विभाजन में व्यक्तियों को अनुसंधान के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषता प्राप्त करने का अवसर मिलता है)। फिर उस वृद्धि के कुछ अंश का श्रेय पूँजी की वृद्धि को भी है। यहां भी श्रम-विभाजन ही सहायक हुआ है, क्योंकि उसके द्वारा अधिक उत्पादन होने के कारण ही पूँजी मे वृद्धि हुई है। बहुत से विषयों में उत्पादन को अधिक विधियों (Processes) में विभक्त करके नये नये व्यवसायों को जन्म देने के लिए विशेष यंत्रों और सज्जा आदि के रूप में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार श्रम-विभाजन और क्रियाकल्प-ज्ञान की प्रगति तथा पूँजी की वृद्धि सब मिल कर उत्पादन बढ़ाने में समर्थ होते हैं।

श्रम-विभाजन को विशेषीकरण (Specialisation) भी कह सकते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों को विशेष रूप से विशेष प्रकार के उपयोगों के उपयुक्त बनाना—हमारे अर्थ में अनेक "उत्पादन के साधनों" का जन्म देना—पड़ता है। इसमें श्रम के विशेषीकरण के साथ साथ भूमि और पूँजी का विशेषीकरण भी सम्मिलित है।

हम पहले श्रम के विशेषीकरण पर विचार करेंगे। मान लीजिए कि दो आदमी ठीक एक ही प्रकार के काठ के खिलौने बनाकर सड़कों पर बेचते हैं। मान लीजिए कि पहला आदमी २ घंटे में २० खिलौने बनाता है परन्तु बेचने में उसे ६ घंटे लगते हैं; उधर दूसरा आदमी उन्हें ६ घंटे में बनाता है परन्तु केवल दो ही घंटे में बेच लेता है। यदि दोनों व्यक्ति एकत्र कार्य करें तो पहला बनाने का विशेषज्ञ होने के कारण ८ घंटे में ८० खिलौने बना सकता है और दूसरा बेचने का विशेषज्ञ होने के कारण उन ८० खिलौने को आठ घंटे में बेच सकता है। श्रम-विभाजन से उनका संयुक्त उत्पादन दूना हो जाता है।

यदि एक व्यक्ति दूसरे से सभी काम अच्छा कर सके तो विशेषीकरण में एक और भी लाभ है, परन्तु उसकी श्रेष्ठता अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा एक क्षेत्र में अधिक होती है। मान लिया कि क एक सप्ताह में १० जूते या १० थैले बना सकता है परन्तु वास्तव में हर एक के पाँच पाँच बनाता है और ख ८ जूते या ४ थैले बना सकता है। परन्तु वास्तव में ४ जूते और २ थैले बनाता है। क के थैले बनाने और ख के जूते बनाने में विशेषता प्राप्त करने और परस्पर सहयोग के कारण उनका संयुक्त साप्ताहिक उत्पादन ९ जूते और ७ थैले से ८ जूते और १० थैले हो जाता है, अर्थात् यदि जूते और थैले समान मूल्यवाले मान लिये जायँ तो १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की वृद्धि होती है। यद्यपि यह उदाहरण बहुत सरल

किया हुआ है फिर भी इससे जो सिद्धान्त व्यक्त होता है उसका बड़ा महत्त्व है; १५ वें अध्याय में "तुलनात्मक लागत" (Comparative cost) शीर्षक के नीचे हम इसका कुछ विस्तार से विवेचन करेंगे। परन्तु यह सभी साधनों पर (यदि वे विशेषता प्राप्त कर सकते हों तो) और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लागू हो सकता है।

विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न कार्यों के लिए विशेष रुचि या तो जन्मजात (Innate) होती है या उपार्जित (Acquired)। श्रम विभाजन जन्मजात रुचि की भिन्नता को सार्थक बनाने में समर्थ होता है। किसी विशेष कार्य को सीख कर और व्यवहार में लाकर उसमें रुचि प्राप्त करने में भी यह सहायक होता है। इस प्रकार हम व्यवसायों की विस्तृत श्रेणी (Range) प्राप्त करते हैं। निःसन्देह इस विशेषीकरण का अर्थ है उत्पादित पदार्थों का विनिमय; यदि सभी व्यक्ति अपनी सभी उपभोग्य वस्तुओं को उत्पन्न करते तो यह असंभव होता।

उसी प्रकार भूमि के विभिन्न क्षेत्र विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए विशेष उपयुक्त होते हैं। कुछ क्षेत्र अपनी मिट्टी और जलवायु अथवा खनिज संपत्ति के कारण कुछ विशेष पदार्थों के उत्पादन के लिए स्वाभाविक रूपसे उपयुक्त हो सकते हैं। अन्य क्षेत्र, सिंचाई आदि के द्वारा, उपयुक्त बनाए जा सकते हैं। बहुत से विशेष क्षेत्रों को स्वाभाविक और उपार्जित दोनों सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। हम फिर एक सरल उदाहरण द्वारा यह दिखाएँगे कि विशेषीकरण से किस प्रकार उत्पादन की वृद्धि हो सकती है। मान लीजिए दो क्षेत्र हैं, एक गेहूँ के लिए विशेष उपयुक्त है और दूसरा चाय के लिए। यदि दोनों स्वावलंबी हैं तो मान लिया जाय कि पहला १००० इकाई गेहूँ और २०० इकाई चाय उत्पन्न करता है और दूसरा १००० इकाई चाय तथा २०० इकाई गेहूँ उत्पन्न करता है। यदि पहला केवल गेहूँ उत्पन्न करे तो मान लिया कि वह २००० इकाई उत्पन्न कर सकता है और दूसरा केवल चाय उत्पन्न करे तो मान लिया कि वह २००० इकाई चाय उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों पर केवल १२०० इकाई गेहूं और १२०० इकाई चाय उत्पन्न करने के बदले विशेषीकरण के द्वारा—उत्पादन के उन्हीं साधनों से—प्रत्येक पदार्थ की २००० इकाइयाँ उन दोनों क्षेत्रों पर उत्पन्न की जा सकती हैं। तब पहले क्षेत्रपर उत्पन्न किए हुए गेहूँ का कुछ अंश दूसरे क्षेत्र पर उत्पन्न की हुई चाय के कुछ अंश से विनिमय किया जा सकता है।

सज्जा के विशेषीकरण से आज जो तात्पर्य हम समझते हैं वह भी श्रम-विभाजन द्वारा ही संभव है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सब कार्य स्वयं ही करता तो उसे सभी आवश्यक हथियारों से युक्त होना पड़ता।

विशेषीकरण से हथियारों की बचत होती है, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र के विशेषज्ञ को केवल अपने विशेष हथियारों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु इसका कार्य और भी अधिक है। इससे जटिल तथा विस्तृत यंत्रों का उपयोग भी संभव होता है, जो किसी एक व्यक्ति को, यदि वह उसे बना भी सकता तो, अकेले अपने लिए उपयोग में लाभदायक न होता। श्रम-विभाजन महामात्रोत्पादन (Large Scale Production) को संभव करता है।

इस प्रकार विशेषीकरण से मनुष्य को वे पदार्थ प्राप्त होते हैं जो अन्यथा नहीं मिल सकते थे। इसके बिना यदि कोई व्यक्ति संगीत न जानता तो (जबतक कि उसका पड़ोसी गानेवाला न होता) वह गाना नहीं सुन सकता था। ऐसे स्थान पर रहनेवाला व्यक्ति, जहां उष्ण कटिबंध के उत्पाद (Tropical Products) नहीं उत्पन्न हो सकते, उनसे वंचित रह जाता। बिना कोयला, तेल या पानीवाले क्षेत्रों के लोग शक्ति के इन साधनों का उपयोग नहीं कर सकते थे। और जो व्यक्ति कुछ विशेष कार्य कर भी सकते वे अधिक सफल न होते। यदि कोई शहनाई बजाने वाला प्रतिदिन कुछ घंटे शहनाई बजाकर अपनी जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है, तो वह अपने व्यवसाय (Vocation) से आनन्द प्राप्त करेगा परन्तु यदि उसे अपनी शहनाई के पें पें से कुछ प्राप्ति न हो तो वह बुरी मौत मरे। एक बार एक अफ्रीकी जाति के निवास-क्षेत्र में केवल केले उत्पन्न होते थे और केले में शक्तिदायक पदार्थ इतना कम होता है कि उन बेचारों को दिन भर केले निगलते रहना पड़ता था।

विशेषीकरण के द्वारा मनुष्य किसी पदार्थ को उत्पन्न करके दूसरों से विनिमय कर सकता है और इस प्रकार कम परिश्रम से उस वस्तु की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकता है जिसे वह उतने ही परिश्रम से कम मात्रा में उत्पन्न कर सकता था, जैसे गेहूं और चाय के उपर्युक्त उदाहरण में। यह जान लेना आवश्यक है कि श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार के अनुसार परिमित होता है। जिस डाक्टर का कार्यक्षेत्र एक छोटे गाँव में ही परिमित है वह चिकित्सा के किसी एक क्षेत्र में विशेषज्ञ होकर लाभ नहीं उठा सकता। उसे तो शायद अपने व्यवसाय के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का कार्य करके अपनी आय की कमी को पूरा करना पड़ेगा। इसी प्रकार किसी द्वीप पर यद्यपि केले की खेती बहुत अच्छी हो सकती है फिर भी यदि वहाँ से केले का निर्यात नहीं हो सकता तो उसकी भूमि का अधिकांश वहाँ के निवासियों की आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ उत्पन्न करने में व्यवहृत होगा।

परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण विशेषीकृत (Special-

ised) और विस्तृत सज्जा का उपयोग है। छोटे-छोटे पचासों कारखानों में विभक्त श्रम और पूँजी के द्वारा जितने जूते उत्पन्न किए जा सकते हैं, उससे बहुत अधिक जूते विस्तृत यंत्रोंवाला जूते का एक बड़ा कारखाना उतनी ही पूँजी और श्रम द्वारा उत्पन्न कर सकता है। परन्तु यदि उसकी बिक्री का क्षेत्र संकुचित है तो वे यंत्र बहुत समय तक व्यर्थ पड़े रहेंगे और उस छोटे क्षेत्र के निवासी जूते बनानेवाले अत्यन्त सरल यंत्रों से उससे बहुत कम पूँजी लगाकर, तथा शेष पूँजी को अन्य कार्यों के लिए व्यय करके, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक सन्तोषप्रद ढंग से कर सकते हैं।

कुछ पदार्थ एक स्थान पर दूसरे से अधिक सस्ते उत्पन्न किए जा सकते हैं, परन्तु स्थानान्तरण-व्यय के कारण यह सुविधा नगण्य हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि जो आविष्कार स्थानान्तरण-व्यय घटा देते हैं वे बाजार के क्षेत्र का विस्तार करके श्रम-विभाजन का क्षेत्र विस्तृत करते हैं।

श्रम-विभाजन में यह आवश्यक नहीं है कि जो साधन जिस वस्तु के उत्पादन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है वह उसी के लिए उपयोग में लाया जाय। बहुत से साधन एक ही प्रकार के उपयोग के लिए नहीं बने हैं। वे बहुत से कार्यों के लिए व्यवहृत किए जा सकते हैं। जैसे कोई आदमी अपने समाज में सबसे अच्छा राजगीर और दशांश अच्छा शिल्पी हो सकता ह परन्तु यदि राजगीरों की अपेक्षा शिल्पियों की पूर्ति माँग से कम है तो यदि वह राजगीरका कार्य न करके शिल्पी का कार्य करे तो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की अधिक पूर्ति हो सकती है। इसी प्रकार संसार की गेहूँ उत्पन्न करनेवाली सर्वोत्तम भूमि का कुछ अंश अंगूर उत्पन्न करने योग्य हो सकता है। यदि गेहूँ के क्षेत्रों की अपेक्षा अंगूरों के उद्यानों की कमी है तो गेहूं के कुछ क्षेत्रों में अंगूर उत्पन्न करके उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ अधिक उत्तमता से पूरी की जा सकती हैं।

इस विवेचन में माँग और उपभोक्ताओं के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि हमारा साधारणीकरण किसी ऐसे समाज तक परिमित है जिसमें उत्पादन की व्यवस्था का आधार लाभ है। उदाहरणार्थ पूर्ण अधिनायक प्रणाली (Dictatorship) में अधिनायक ही उपभोक्ता होगा; क्योंकि उस समाज की सारी माँग उसी की इच्छा पर निर्भर रहेगी। कोई समाज चाहे जिस प्रकार संगठित हो उत्पादन के साधनों की किसी निश्चित मात्रा द्वारा, उन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ, जो अपन चुनावों को प्रभावशाली बना सकते हैं, श्रम-विभाजन का पूरा लाभ उठाकर, अपेक्षाकृत उत्तम ढंग से पूरी हो सकती हैं।

सम्पूर्ण मात्रा निश्चित है। अतएव जब कृषि में अधिक व्यक्ति अधियुक्त होते हैं तो प्रतिजन उत्पादित मात्रा की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है।* उदाहरणार्थ, यदि भूमि पर पहले से दूने व्यक्ति अधियुक्त होते तो उत्पादन की संपूर्ण मात्रा दूने से कम होती। उनका कहना था कि यह प्रवृत्ति ज्ञान की वृद्धि से कुछ काल तक रोकी जा सकती है, परन्तु यह सर्वदा विद्यमान रहती है। अतएव निर्वाह-स्तर ऊँचा करने के लिए उन्होंने प्रजनन की गति (Birth rate) घटाने का प्रबल समर्थन किया।

ज्ञात इतिहास से पता चलता है कि वास्तव में भूमि की प्रतिजन उत्पत्ति की मात्रा में ह्रास नहीं वरन् वृद्धि होती रही है, और यह ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति विगत लगभग सौ वर्षों में और भी अधिक बढ़ गई है। इसके कारण हैं विभिन्न प्रकार के आविष्कार और अनुसंधान—जैसे, फसलों के आवर्तन (Rotation of Crops) के सिद्धान्त का अनुसंधान, कृषि सम्बन्धी यंत्रों का आविष्कार, भूमि को खाद देने की उन्नत विधियाँ और नये नये प्रकार की फसलों का अनुसंधान, जो अधिक मात्रा में उत्पन्न होती अथवा अनेक रोगों या प्रतिकूल जलवायु के विरुद्ध टिक सकती हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि बहुत से देशों में निर्वाह-स्तर, जहाँ तक भोजन का सम्बन्ध है, बहुत ऊँचा उठा है फिर भी कृषि में लगे हुए व्यक्तियों का अनुपात बहुत घट गया है। जब भूमि से एक व्यक्ति के श्रम द्वारा केवल एक ही परिवार का भोजन उत्पन्न होता था तब जनसंख्या का अधिकांश देहातों में रहकर कृषि का धंधा करता था। परन्तु अब एक व्यक्ति के श्रम द्वारा भूमि से (वर्तमान उच्च निर्वाह-स्तर के अनुसार भी) तीन परिवारों के लिए पर्याप्त भोजन उत्पन्न हो सकता है। इसलिए दो तिहाई जनसंख्या कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए नगरों में रह सकती है।

इस प्रकार ह्रासमान उत्पत्ति की प्रवृत्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रगति

---

* उनका कहना था कि दो कारणों से ऐसा होगा। पहला कारण तो यह है कि उत्तम भूमि पर ज्यों ज्यों गहन खेती (Intensive cultivation) होगी त्यों त्यों उसका प्रतिजन उत्पादन घटेगा। दूसरे, घटिया भूमि पर कृषि होने लगेगी। परन्तु उनकी असमजात (Non-homogeneous) एकड़ों में भूमि की माप का इस तर्क पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि घटिया भूमि खेती के व्यवहार में तभी लाई जाती है जब उत्तम भूमि से प्रतिजन उपज इतनी घट जाती है कि घटिया भूमि पर खेती करना लाभदायक सिद्ध होता है। कुछ समय पश्चात् अतिरिक्त श्रम से घटिया भूमि पर उतना ही उत्पन्न होने लगता है जितना उत्तम भूमि पर। अतएव यह समस्या इसलिए उठती है कि पहले से कृषि के व्यवहार में आनेवाली "उत्तम भूमि" के निश्चित क्षेत्र पर श्रम की उत्पत्ति घट जाती है।

की शक्ति अधिक प्रबल सिद्ध हुई है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रवृत्ति सर्वदा विद्यमान रहती है। ह्रासमान उत्पत्ति नियम यह बतलाता है कि किसी निश्चित समय यदि साधनों का अनुपात परिवर्तित कर दिया जाय तो उत्पादन में परिवर्तन हो जायगा। इससे ज्ञान की प्रगति की बात ही उड़ जाती है। यह उन विकल्पों का दिग्दर्शन कराता है जो किसी निश्चित समय पर उपस्थित होते हैं। और जैसा कि हम देखेंगे यह केवल कृषि में नहीं वरन् उत्पादन के सभी क्षेत्रों में लागू होता है।

मान लिया जाय कि उत्पादन के किसी क्षेत्र में सभी साधनों को दूना कर देने से उत्पाद ठीक दूना हो जायगा, सभी साधनों को १० प्रतिशत बढ़ा देने से सम्पूर्ण उत्पाद १० प्रतिशत बढ़ जायगा, इत्यादि। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। उत्पाद की मात्रा में वृद्धि होने से विशेष यन्त्रों का व्यवहार अथवा श्रमिकों में श्रम-विभाजन का अधिक उपयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। हम इस प्रश्न का विचार पीछे करेंगे। संप्रति हम इस प्रश्न को एक ओर छोड़ देते हैं, क्योंकि हमारी प्रस्तुत समस्या विभिन्न साधनों के अनुपात में परिवर्तन से सम्बन्ध रखती है।

सरलता के लिए हम केवल भूमि और श्रम दो ही साधनों का—जिनमें प्रत्येक समान कोटि के हैं और जो, मान लिया कि, गेहूँ के उत्पादन में लगाए गये हैं—विचार करेंगे। अगर चाहें तो हम यह मान ले सकते हैं कि प्रत्येक श्रमी कुछ आवश्यक हथियारों से सज्जित है। प्रति वर्गमील के अधियुक्त मनुष्यों की संख्या में परिवर्तन होने से प्रति वर्गमील गेहूँ के उत्पादन में किस प्रकार अंतर पड़ेगा इसका एक काल्पनिक गणितीय उदाहरण हम नीचे देते हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रति वर्गमील मनुष्यों की संख्या तीन प्रकार से दूनी की जा सकती है, या तो भूमि ज्यों की त्यों रहने देकर मनुष्यों की संख्या दूनी कर दी जाय, या मनुष्यों की संख्या ज्यों की त्यों रहने देकर भूमि का क्षेत्र दूना कर दिया जाय या मनुष्यों की संख्या में कुछ वृद्धि करके भूमि की मात्रा में उचित कमी कर दी जाय।

पृष्ठ १३३ पर दी गई तालिका तीन अवस्थाएँ प्रदर्शित करती है। पहली अवस्था में आठ से कम मनुष्य प्रति वर्ग मील के सभी संयोग हैं। सात मनुष्य प्रति वर्गमील से प्रतिजन अधिकतम उत्पाद होता है। प्रति वर्गमील मनुष्यों की संख्या जब एक से बढ़ाकर सात कर दी जाती है तब प्रतिजन औसत उत्पाद बढ़ जाता है। इसका कारण यह है कि एक वर्गमील इतना बड़ा क्षेत्र है कि सात मनुष्यों से कम उसे सँभाल नहीं सकते; पूरे क्षेत्र पर कार्य करने के प्रयत्न में वे अपनी कुछ शक्ति व्यर्थ खो देते हैं। (यदि किसी पाठक को इन अंकों पर आपत्ति हो तो वह एक वर्गमील के बदले सौ या हजार वर्गमील मान सकता है। परन्तु इसमें

सन्देह नहीं कि कोई न कोई क्षेत्र अवश्य ऐसा बड़ा होगा जिसे छः व्यक्ति नहीं सँभाल सकेंगे।) अतएव गेहूँ के उत्पादन में मनुष्यों की संख्या चाहे कितनी भी कम क्यों न हो और उपलभ्य भूमि की मात्रा चाहे कितनी ही बड़ी हो (यदि वे इस तथ्य का अनुभव करते हैं तो) सात मनुष्य एक वर्ग मील से अधिक भमि पर कार्य करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि एक नये उपनिवेश (Colony) में गेहूँ उत्पन्न करने के लिए ७० मनुष्य लगाये गए और उनके पास प्रायः असीम भूमि पड़ी हुई है। तो गेहूँ की अधिकतम मात्रा जो वे उत्पन्न कर सकेंगे १२००० इकाई होगी, और यह मात्रा वे शेष भूमि को छोड़कर केवल १० मील पर कार्य करके उत्पन्न कर सकेंगे। यदि मान लीजिए कि वे एक साथ ७० वर्गमील पर कार्य करने का प्रयत्न करें तो वे केवल ७००० इकाई उत्पन्न कर सकेंगे। अतएव यदि वे मनुष्य जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं तो यह पहली अवस्था व्यवहार में नहीं पाई जायगी।

प्रति वर्गमील भूमि पर (गेहूँ की इकाई में) श्रम का उत्पाद

मनुष्यों की संख्या (प्रति वर्गमील)	संपूर्ण उत्पाद (प्रति वर्गमील)	औसत उत्पाद	सीमान्त उत्पाद
१	१००	१००	१००
२	२५०	१२५	१५०
३	४५०	१५०	२००
४	६४६	१६१.५	१९६
५	८३७	१६७.४	१९१
६	१०२२	१७०.३	१८५
७	१२००	१७१.४	१७८
८	१३७०	१७१.२	१७०
९	१५३१	१७०.१	१६१
१०	१६८२	१६८.२	१५१
११	१८२२	१६५.६	१४०
१२	१९५०	१६२.५	१२८
१३	२०६५	१५८.८	११५
१४	२१६६	१५४.७	१०१
१५	२२५२	१५०.१	८६
१६	२३२२	१४५.१	७०
१७	२३७५	१३९.७	५३
१८	२४१०	१३३.८	३५
१९	२४२६	१२७.६	१६
२०	२४२२	१२१.१	−४
२१	२३९७	११४.१	−२५

दूसरी अवस्था में ८ से १९ व्यक्ति प्रति वर्गमील के सभी संयोग सम्मिलित हैं। इस सीमा तक प्रति वर्गमील उत्पाद बढ़ता जाता है, यद्यपि प्रतिजन उत्पाद घटता जाता है।

तीसरी अवस्था में प्रति वर्गमील १९ से अधिक व्यक्तियों के सभी संयोग हैं। यदि किसी भूखण्ड पर १९ से अधिक व्यक्ति अवियुक्त हों तो मनुष्यों की संख्या घटाकर १९ करने से उस क्षेत्र का सम्पूर्ण उत्पाद बढ़ाया जा सकता है। किसी निश्चित भूखण्ड का अधिकतम उत्पाद प्रति वर्ग मील २४२६ इकाई गेहूँ है। और इसकी प्राप्ति के लिए अधिक नहीं केवल १९ मनुष्यों की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि यदि १९ से अधिक मनुष्य रहते हैं (यहाँ भी यदि पाठकों को ये संख्याएँ पसन्द न हों तो वे १९०० या १९००० रख सकते हैं,) तो वे एक दूसरे के लिए बाधक होते हैं। कहावत है "बहुरे जोगी मठ उजाड़"[1] या "सात गिहथिनी माठा पातर।"[2] अतएव तीसरी अवस्था व्यवहार में कभी नहीं पाई जा सकती क्योंकि इसमें श्रम का बहुत बड़ा अनुपात है। केवल दूसरी ही अवस्था व्यवहार में पाई जा सकती है।

तालिका से स्पष्ट है कि दूसरी अवस्था में श्रम का भूमि से अनुपात ज्यों ज्यों बढ़ता है त्यों त्यों प्रतिजन औसत उत्पाद घटता है। और ज्यों ज्यों भूमि का श्रम से अनुपात बढ़ता है त्यों त्यों प्रति वर्गमील उत्पाद घटता है। तालिका में यह देखने के लिए हमें नीचे से ऊपर पढ़ना चाहिये। ज्यों ज्यों प्रति वर्गमील मनुष्यों की संख्या घटकर १९ से ७ होती है (अर्थात् ज्यों ज्यों भूमि का श्रम से अनुपात बढ़ता है) त्यों त्यों प्रति वर्गमील उत्पाद घटता है। [कुछ पाठक उत्पादन के एक साधन को स्थिर मानने के पक्ष में होंगे अतएव हम इस विशेष स्थिति को मनुष्यों की निश्चित संख्या १८ मान कर स्पष्ट करेंगे। यदि वे एक वर्गमील पर काम करें तो तालिका से प्रगट होता है कि सम्पूर्ण उत्पाद २४१० इकाई होगा। यदि वे $१\frac{१}{२}$ वर्गमील पर कार्य करें तो उनका सम्पर्ण उत्पाद कितना होगा? तब वे प्रति वर्गमील में १२ होंगे, अतएव उनका सम्पूर्ण उत्पाद १९५० इकाइयों का १५० प्र० श० ($\frac{३}{२}$) अर्थात् २९२५ इकाई होगा। यदि वे दो वर्ग मीलों पर कार्य करें तो प्रति वर्गमील ९ व्यक्ति पड़ेंगे; अतएव उनका सम्पूर्ण उत्पाद १५३१ का दूना ३०६२ होगा। अतः

१८ मनुष्य उत्पन्न करते हैं,

१	वर्गमील पर	२४१०	इकाई	= २४१०	इकाई प्रति वर्गमील
$१\frac{१}{२}$	,, ,,	२९२५	,,	= १९५०	,, ,, ,,
२	,, ,,	३०६२	,,	= १५३१	,, ,, ,,

१. अधिक साधू मठ ही उजाड़ कर देते हैं।

२. सात गृहिणियाँ मिलकर बनाने लगें तो मट्ठा पतला हो जाता है।

ज्यों ज्यों १८ व्यक्तियों पर भूमि की मात्रा बढ़ती है, त्यों त्यों प्रति वर्गमील उत्पाद घटता है। संभवतः अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि यह तालिका से प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।]

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि [उन अविभक्तों (Indivisibles) को छोड़कर जिनका स्पष्टीकरण और विवेचन पीछे होगा] व्यवहार में प्रत्येक साधन दूसरे साधनों से इस अनुपात में संयुक्त होगा कि यदि केवल उसी की वृद्धि की जाय तो सम्पूर्ण उत्पाद घट जाय। अर्थात् हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने की आशा करनी चाहिए कि प्रत्येक साधन की औसत प्राप्ति (Return) क्रमशः घटती जायगी। भूमि अथवा कृषि में ही कोई विचित्रता नहीं है यह नियम प्रत्येक साधन और प्रत्येक धंधे पर लागू होता है। और वास्तव में हम अपने सामान्य ज्ञान से ठीक इसी निष्कर्ष पर पहुँचने की आशा रखते हैं। यदि मान लिया जाय कि केवल एक ही साधन में १० प्र० श० की वृद्धि

प्रति वर्गमील मनुष्य
चित्र १७

की जाय और अन्य साधनों की मात्रा ज्यों की त्यों रहे तो हम सम्पूर्ण उत्पाद में १० प्र० श० से कम वृद्धि की आशा करेंगे। यदि ऐसी बात न होती तो संसार का सम्पूर्ण खाद्य केवल एक छोटे भूखण्ड से उत्पन्न किया जा सकता, क्योंकि उस पर लगाये हुए मनुष्यों और अन्य साधनों की संख्या दूनी करके उस क्षेत्र का उत्पाद असीम मात्रा तक दूना किया जा सकता।

अब हम किसी साधन के सीमान्त उत्पाद पर आते हैं। यह साधन की एक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि से सम्पूर्ण उत्पाद में होनेवाली वृद्धि है। उपर्युक्त तालिका का अंतिम स्तम्भ श्रम का प्रति वर्गमील सीमांत उत्पाद व्यक्त करता है। मान लिया जाय कि प्रति वर्गमील मनुष्यों की संख्या बढ़ाकर ७ से ८ कर दी गई तो (प्रति वर्गमील) श्रम का सीमान्त उत्पाद १७८ इकाइयों से घटकर १७० हो जाता है। यह १७० की संख्या १२०० (प्रति वर्गमील ७ मनुष्य रहने पर उत्पाद) को १३७० (प्रति वर्गमील ८ मनुष्य रहने पर उत्पाद) में से घटाने पर प्राप्त होती है। यह कहना भ्रामक होगा कि अतिरिक्त १७० इकाइयाँ "आठवें मनुष्य के कारण" हैं, क्योंकि, परिभाषानुसार, आठवाँ मनुष्य अन्य मनुष्यों से अधिक या कम कुशल नहीं है। यह १७० इकाई प्रति वर्गमील ८ मनुष्य लगे रहने पर, श्रम का प्रति वर्गमील सीमान्त उत्पाद है। श्रम का सीमान्त उत्पाद चित्र १७ में दिखाया गया है। बायें से दाहिने पढ़ने पर पहला आयत या स्तम्भ १ मनुष्य का उत्पाद (अर्थात् १०० इकाइयाँ) व्यक्त करता है, दूसरा आयत दो मनुष्यों के रहने पर बढ़ी हुई मात्रा (अर्थात् १५० इकाइयाँ) व्यक्त करता है इत्यादि। जब य मनुष्य होंगे तो सम्पूर्ण उत्पाद य आयतों का योग होगा, और सीमान्त उत्पाद यवाँ आयत होगा। यदि सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो तो वह क ख
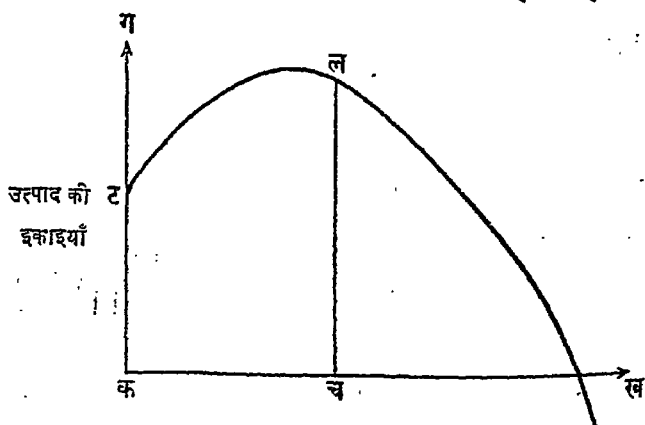
चित्र १८

के नीचे एक आयत द्वारा व्यक्त किया गया है और सम्पूर्ण उत्पाद क ख के आयतों का योग ऋण क ख के नीचे के आयत होगा। यह रेखाचित्र प्रायः केवल सरल वक्र के द्वारा चित्र १८ के समान दिखाया जाता है।

क च मनुष्यों का सम्पूर्ण उत्पाद क च ल ट क्षेत्र है और सीमान्त उत्पाद ल च है।

यह ध्यान देने की बात है कि जब हम प्रति वर्गमील मनुष्यों की संख्या बढ़ती हुई मान लेते हैं तब हमारी तालिका में श्रम का सीमान्त उत्पाद पहले श्रम के औसत की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ़ता है। (प्रति वर्गमील) दो व्यक्तियों का सीमान्त उत्पाद १५० इकाई है और तीन का २०० इकाई, जहाँ औसत उत्पाद १२५ और १५० इकाइयाँ हैं। श्रम का सीमान्त उत्पाद (यदि प्रति वर्गमील इससे अधिक व्यक्ति लगाये जाते हैं तो) घटने लगता है जब कि औसत उत्पाद बढ़ने लगता है; और जबतक अधिकतम नहीं पहुँच जाता (जब प्रति वर्गमील ७ मनुष्य लगाये जाते हैं) तबतक बढ़ता रहता है; इस सीमा पर सीमान्त उत्पाद और औसत उत्पाद बराबर होते हैं। (हमारी तालिका में वे ठीक ठीक बराबर नहीं हैं—१७८ और १७१.४ हैं—क्योंकि हमने प्रति वर्गमील मनुष्यों का भिन्न (Fraction) नहीं दिखाया है। वास्तविक अधिकतम औसत उत्पाद १७१.४ से कुछ अधिक होगा। और उस सीमा पर तभी पहुँचेगा, जब प्रति वर्गमील अधियुक्त व्यक्तियों की संख्या सात धन एक आठवाँ व्यक्ति होगा जो अपने अधिकांश समय
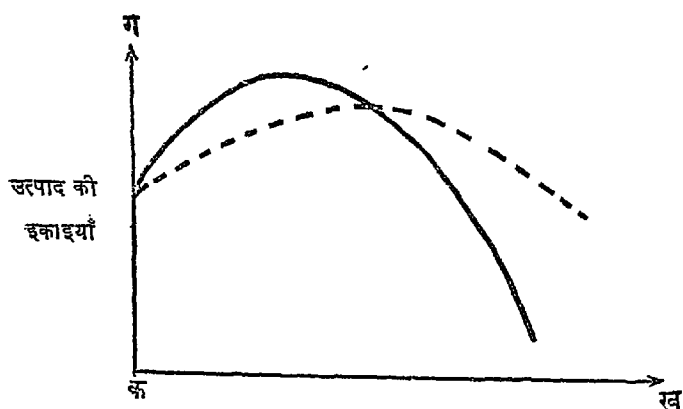
चित्र १९

प्रति स्थिर साधन की इकाई पीछे परिवर्तनशील साधनों की इकाइयाँ

प्रतिवर्गमील मनुष्य। (उदाहरणार्थ)

——=परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन

········= ,, ,, ,, औसत ,,

में कार्य कर रहा है परन्तु पूरे समय नहीं, और इस सीमा पर—लगभग ७.८ व्यक्ति प्रति वर्गमील— औसत और सीमान्त उत्पाद बराबर होंगे)। इस सीमा से परे, सीमान्त और औसत दोनों ही उत्पाद क्रमशः घटते जाते हैं, परन्तु दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक तीव्र गति से घटता है और जब २० व्यक्ति प्रति वर्गमील लगा दिये जाते हैं तो ऋणात्मक (Negative) हो जाता है।

यदि औसत उत्पाद पहले बढ़ता है फिर घट जाता है तो औसत सीमान्त उत्पाद का यह सम्बन्ध सर्वदा सत्य होना चाहिए।[1] वे ऊपर के रेखाचित्र में दिखाये गये हैं।

अब हम ह्रासमान उत्पत्ति नियम (Law of Diminishing Returns) की परिभाषा दे सकते हैं। उत्पादन के साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात ज्यों ज्यों बढ़ाया जाता है, एक सीमा

---

१. इसकी "व्याख्या करना" कठिन है। जबतक सीमान्त उत्पाद औसत उत्पाद से अधिक है, तबतक पिछला बढ़ता ही रहेगा और जबतक सीमान्त उत्पाद औसत उत्पाद से कम रहेगा, पिछला घटता ही रहेगा। जब दोनों ही समान होंगे तो औसत उत्पाद न घटेगा न बढ़ेगा, अर्थात् वह अधिकतम सीमा पर होगा। कुछ पाठक क्रिकेट की गणनाओं के (Scores) उदाहरण की सहायता से अपने को संतुष्ट कर सकते हैं। अथवा इन मनुष्यों को एक पंक्ति में रखे जाने की कल्पना कर सकते हैं। यदि पहला मनुष्य ५ फीट लम्बा है, दूसरा ५ फीट २ इंच, तीसरा ५ फीट ६ इंच और चौथा ६ फीट तो "सीमान्त लम्बाई" की इन वृद्धियों से "औसत लम्बाई" बढ़ जायगी, परन्तु वह सीमान्त लम्बाई के नीचे ही रहेगी। अतएव इन चारों मनुष्यों की "औसत लम्बाई" केवल ५ फीट ५ इंच होगी। अब मान लीजिए कि बादवाले मनुष्य क्रमशः छोटे हैं, जैसे पाँचवाँ मनुष्य ५ फीट ११¾ इंच है, छठा ५ फीट ११½ इंच, इत्यादि। यह स्पष्ट है कि कुछ समय तक पंक्ति में औसत लम्बाई बढ़ती जायगी। जब औसत लम्बाई अधिकतम सीमा पर पहुँचती है तब वह न तो घटती है न बढ़ती है; कुछ क्षण के लिए उसे व्यक्त करनेवाला वक्र न तो गिरता है न चढ़ता है, अतः पड़ी रेखा के रूप में बना रहता है। अंतिम योग से पहले का औसत न तो घटता है न बढ़ता है। अतएव वह समान ही रहेगा। इस प्रकार यदि हमारे मनुष्यों की औसत लम्बाई पहले बढ़ती है फिर घटती है, और यदि उस सीमा पर, जब कि उसकी वृद्धि रुक जाती है, दूसरा व्यक्ति उसे घटाने नहीं लगता तो उसकी लम्बाई पंक्ति के मनुष्यों की औसत लम्बाई के बराबर होनी ही चाहिए।

के अनन्तर, त्यों त्यों उस साधन का सीमान्त और औसत उत्पाद घटता जायगा। यहाँ मान लिया गया है कि क्रियाकल्प-ज्ञान की अवस्था निश्चित है और कोई "मात्रा का मितव्यय" (Economies of scale) नहीं है।

३. उद्योग-धन्धों में साधनों का निर्धारण

(The Allocation of Factors among Industries)

किसी विशेष समय किसी देश या समाज के पास उत्पादन के विभिन्न साधनों की निश्चित मात्राएँ होती हैं।[1] उत्पादन के इन साधनों को विभिन्न धंधों के लिए निर्धारित करने का निश्चय कैसे होता है अब इस प्रश्न का प्रारम्भिक उत्तर देना आवश्यक है। निःसन्देह यही निर्धारण यह निश्चित करता है कि किस प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन किया जाय।

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उत्पादन के बहुत से भागों में विभिन्न साधनों का सहयोग आवश्यक होता है और उत्पादन के अनेक साधन किसी भी धंधे में अपनी सेवा अर्पित करने में समर्थ होते ह।

हमारी तालिका के काल्पनिक आँकड़ों से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचने को लालायित होंगे कि गेहूँ के उत्पादन में श्रम का भूमि से "सर्वोत्तम" अनुपात प्रति वर्गमील ७ मनुष्य होगा। क्योंकि यही अनुपात प्रति व्यक्ति औसत उत्पाद को अधिकतम करता है। परन्तु यह तभी सत्य होगा जब गेहूँवाली भूमि इतनी अधिक मात्रा में हो कि किसी अन्य वस्तु का उत्पादन घटाये बिना वह समाज इच्छानुसार जितनी भूमि चाहे उपयोग में ला सकता है। और इसकी संभावना नहीं है। गेहूँवाली अधिकांश भूमि अन्य पदार्थों के उत्पादन में समर्थ होती है–जैसे, जई, जौ, भेड़, अंगूर इत्यादि––और अधिकतर गेहूँ के उत्पादन में प्रति कार्यकर्ता औसत उत्पादन को अधिकतम करने के उद्देश्य से पर्याप्त भूमि को गेहूँ उत्पन्न करने के लिए निर्धारित करने का अर्थ होगा, वैकल्पिक पदार्थों के उत्पादन में कमी करना। उस समाज के विभिन्न धंधों में अपनी भूमि को, चाहे जैसे हो, इस प्रकार बाँटना होगा कि एक धंधे में अधिक भूमि और दूसरे के लिए कम न हो। ऐसा तभी होता है जब समाज भूमि का उपयोग करनेवाले प्रत्येक धंधे की भूमि के सीमान्त उत्पाद (भूमि की एक अतिरिक्त इकाई के योग से संम्पूर्ण उत्पाद में होने वाली वृद्धि) को समान महत्त्व प्रदान करे। इसका अर्थ यह है कि हमारी तालिका में दिये हुए आँकड़ों के आधार पर गेहूँ के उत्पादन में प्रति ७ व्यक्ति के साथ एक

---

१. संप्रति हम इस बात पर विचार नहीं करते कि कुछ निश्चित व्यक्ति अधिक कार्य कर सकते हैं या कम।

वर्गमील से कम भूमि का उपयोग होगा। क्योंकि यदि प्रति ७ व्यक्ति के साथ एक वर्गमील का उपयोग हो तो गेहूँ के उत्पादन में भूमि का सीमान्त उत्पाद शून्य होगा—(मनुष्यों की संख्या निश्चित रहने पर) भूमि की अंतिम वृद्धि से गेहूं के सम्पूर्ण उत्पाद में नहीं के बराबर वृद्धि होगी और भूमि की अधिक वृद्धि उत्पाद को घटा देगी। श्रमिकों का दल प्रति वर्गमील ७ से कम होने पर जितनी भूमि पर वह कुशलता से काम कर सकता है उससे अधिक पर कार्य करने का प्रयत्न करेगा, और कुछ को अप्रयुक्त छोड़कर अधिक उत्पादन करने में समर्थ होगा।[1] परन्तु [जबतक कि भूमि इतनी अधिक नहीं है कि प्रतियोगिता और मूल्यांकन-प्रणाली (Pricing system) में उसका मूल्य शून्य हो जाय] अन्य धंधों में इस भूमि की सीमान्त उत्पत्ति धन (Positive) होगी और संभव है पर्याप्त हो। अतएव प्रति व्यक्ति गेहूँ की उत्पत्ति अधिकतम करने के उद्देश्य से गेहूँ के उत्पादन के लिए अधिक भूमि नहीं छोड़ी जा सकती। भूमि सीमित है, उसका मितव्यय होना आवश्यक है।

यदि हम श्रम का विचार करें तो यही बात संभवतः अधिक स्पष्टता से दिखायी जा सकती है। मान लिया कि भूमि परिमित है, तो यह समझा जा सकता है कि गेहूँ के उत्पादन में श्रम का भूमि से "सर्वोत्तम" अनुपात प्रति वर्ग मील १९ और २० मनुष्यों के बीच होगा, क्योंकि यही अनुपात प्रति वर्गमील गेहूँ का उत्पादन अधिकतम कर देता है। परन्तु इस अनुपात का यह अर्थ होगा कि गेहूं के उत्पादन में श्रम की सीमान्त उत्पत्ति शून्य है। (भूमि की मात्रा निश्चित होने पर) मनुष्यों की अंतिम वृद्धि से गेहूँ के संपूर्ण उत्पाद में कोई वृद्धि नहीं होगी, वरन् मनुष्यों की अधिक वृद्धि से उसका ह्रास हो जायगा। यदि गेहूँ के उत्पादन में १९ से २० मनुष्य प्रति वर्गमील लगाए जायँ तो इनमें से कुछ मनुष्यों का दूसरे धंधों में अन्तरण (Transfer) करने से उन धंधों का उत्पादन निःसंदेह बढ़ जायगा। साम्य स्थिति (Equilibrium Situation) वही है जिसमें समाज प्रत्येक धंधे में [समजात (Homogeneous)] श्रम की सीमान्त उत्पत्ति को समान अर्घ प्रदान करता है। एक सरल उदाहरण द्वारा हम इसे स्पष्ट करते हैं। मान लीजिए कि गेहूँ के उत्पादन के लिए १०० वर्गमील भूमि निर्धारित की गई है और उसके लिए १००० व्यक्ति अधियुक्त किए गये हैं। इनमें से १०० मनुष्यों का दूसरे धंधों में अंतरण

---

१. उदाहरणार्थ, हमारी तालिका यह व्यक्त करती है कि यदि ८००० आदमी २००० वर्गमील भूमि पर कार्य करने का प्रयत्न करें तो उनका सम्पूर्ण उत्पाद केवल १२९२००० इकाई होगा (क्योंकि वे प्रति वर्गमील पर ४ होंगे)। यदि वे आधी भूमि को अप्रयुक्त छोड़ दें तो उनका सम्पूर्ण उत्पाद १३७०००० इकाई होगा (क्योंकि वे प्रति वर्गमील पर ८ होंगे)।

करने से गेहूँ के उत्पादन में १५१ इकाइयों की कमी हो जायगी। क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसे ये १०० मनुष्य किसी दूसरे धंधे में उत्पन्न कर सकते हैं और जिसको समाज इतना महत्त्व देता है कि उसकी प्राप्ति के लिए वह गेहूँ का उत्पादन १,६८,२०० इकाइयों से घटाकर १,५३,१०० इकाइयाँ करने को तैयार है? यदि है, तो इन मनुष्यों को अंतरित करने की प्रवृत्ति होगी। यदि नहीं, तो प्रश्न उठता है कि क्या गेहूँ के उत्पादन में पर्याप्त मनुष्य अधियुक्त हैं? १०० अतिरिक्त मनुष्यों के अधियोजन से गेहूँ का सम्पूर्ण उत्पादन १,६८,२०० इकाइयाँ हो जायगा। परन्तु इससे उन धंधों का उत्पादन घट जायगा, जिसमें से मनुष्य अंतरित किए गये हैं। क्या कोई ऐसा पदार्थ है जो १०० व्यक्ति अन्य धंधों में उत्पन्न कर रहे हैं और जिसे गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए समाज छोड़ने को तैयार होगा? यदि है तो समाज की प्रवृत्ति इन मनुष्यों को गेहूँ के उत्पादन में अंतरित करने की ओर होगी। इस प्रकार हम पूछ सकते हैं कि क्या समाज गेहूँ के उत्पादन के लिए १०० वर्गमील अंतरित करने को अथवा इसके विलोम (Conversely) के लिए प्रस्तुत है? जब इन सभी प्रश्नों का उत्तर मिलता है "नहीं" तब इस अर्थ में साम्य स्थापित हो गया है कि किसी साधन को [जबतक कि निर्दिष्टों (Data) में कोई परिवर्तन नहीं होता] एक दूसरे क्षेत्र में जाने की प्रेरणा नहीं होगी। किसी साधन के सीमान्त उत्पाद का अर्घ प्रत्येक क्षेत्र में जिसमें वह अधियुक्त है समान होगा।

सरलता के लिए हमने इस प्रकार विचार किया है मानो उत्पादन के केवल दो ही साधन—भूमि और श्रम—हों और उनमें से दोनों समान कोटि के हों तथा प्रत्येक का अनेक वैकल्पिक उपयोगों में व्यवहार हो सकता हो। परन्तु वास्तव में अनेक भिन्न साधन होते हैं—जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के भूमि-खण्ड, श्रम और उत्पादक वस्तुओं के रूप में पूँजी—और कुछ साधन केवल एक ही या दो प्रकार के उपयोगों में लाए जा सकते हैं। फिर भी इस विभाग के निष्कर्ष सत्य हैं और वे वास्तविक संसार पर लागू होते हैं। जब हम पूँजीवाद के अंतर्गत मूल्य प्रणाली की कार्यविधि का अध्ययन करेंगे तब फिर इनका विचार करेंगे।

४. अप्रयुक्त साधन (Unused Factors)

"समाज को अपने सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए" यह तर्क सुनने में अच्छा लगता है; परन्तु यदि इसका तात्पर्य समझ लें तो बहुत कम व्यक्ति इससे सहमत होंगे। केवल एक साधन से बहुत कम आर्थिक कार्य पूरे हो सकते हैं, और प्रायः प्रत्येक समाज के पास अनेक कार के साधन—विभिन्न कोटि की भूमि, श्रम आदि—होते हैं, इसलिए

उत्पादन के साधनों को पूर्णतः अप्रयुक्त छोड़कर लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक पूर्णता से कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि किसी समाज के पास कोयले के दो निचाय (Deposits) हैं, एक में मोटी तहों की श्रेणियाँ (Seams) भूमि के निकट ही हैं और दूसरे में पतली तहवाली श्रेणियाँ बहुत गहराई पर और कठिनाई से खोदने योग्य हैं। यदि वह केवल अच्छे निचाय पर ही समस्त शक्ति और साधन केन्द्रित करता है तो प्रतिवर्ष १० लाख टन उत्पन्न करने के लिए १००० व्यक्ति पर्याप्त होंगे; यदि वह अपनी समस्त शक्ति और साधन घटिया निचाय पर लगाता है तो १० लाख टन प्रतिवर्ष उत्पन्न करने के लिए ५००० व्यक्ति लगेंगे, और यदि वह प्रत्येक से ५ लाख टन प्राप्त करता है तो ३००० (५००+२५००) व्यक्ति लगाने पड़ेंगे। यदि उस समाज को लगभग १० लाख टन कोयले की आवश्यकता होती है तो यह स्पष्ट है कि घटिया निचाय का खोदना शक्ति का अपव्यय करना होगा। अच्छे निचाय पर केन्द्रित करके कम मनुष्यों द्वारा कोयले की एक निश्चित राशि उत्पन्न की जा सकती है। जब अच्छे निचाय का इतना शोषण हो जाय कि उस पर से दूसरे निचाय पर श्रम के अन्तरण से अधिक कोयला प्राप्त होने लगे तभी घटिया निचाय का शोषण लाभदायक सिद्ध होगा। परन्तु इन सबके लिए यह मान लिया गया है कि उत्पादन के उपलभ्य साधनों से समाज अपनी उपभोग्य वस्तुओं-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति यथासम्भव सम्यक् रूप से करने का इच्छुक है। यदि वह कोयला खोदने में अधिक मनुष्यों का अधियोजन कोयला खोदने के उद्देश्य से ही करता है तो यह तर्क लागू नहीं होता।

इसी सिद्धांत के कुछ अन्य प्रयोगों का उल्लेख करना उचित होगा। अपेक्षाकृत कम उपजाऊ या बुरी स्थितिवाली भूमि पर खेती करने का प्रयत्न छोड़कर वह समाज अपने लक्ष्य की पूर्ति सम्यक् रूप से कर सकता है। केवल उत्कृष्ट भूमि पर केन्द्रित होकर अधिक उत्पाद प्राप्त किया जा सकता है।

यह सिद्धान्त भौतिक सज्जाओं (Material equipment) पर भी लागू होता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक नये ढंग के यंत्र का आविष्कार हुआ है, जो उस यंत्र की अपेक्षा, जो वर्तमान काल म किसी कार्य के लिये व्यवहृत होता है, अधिक कुशलता से उस कार्य को कर सकता है। तब समाज उस नये आविष्कार को तुरत व्यवहार में लाकर और—यदि उनमें से बहुत से नये हों तब भी—पुराने

ढङ्ग के यंत्रों को हटाकर, अपने लक्ष्य की पूर्ति अधिक सम्यक् रूप से कर सकता है। ऐसा होना न होना दो बातों पर निर्भर है।

(१) मान लीजिए कि एक नए ढङ्ग का यंत्र (यदि उसका आविष्कार हुआ है) और एक पुराने ढंग का यंत्र (जो पहले ही उत्पन्न हो चुका था) है। दोनों दस वर्ष तक टिकने वाले हैं। क्या समाज इन दस वर्षों में, पहले से विद्यमान कम कुशल यंत्रों के उपयोग द्वारा, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक सम्यक् रूप से कर सकता है ? अथवा एक नये ढङ्ग के यन्त्र के उत्पादन और उसके प्रयोग के लिये सहयोगी साधनों (जैसे श्रम) का अधियोजन करके कर सकता है ? यदि पिछले उपाय ठीक हैं तो नये यंत्र की उत्पत्ति और पुराने को हटाने से समाज को लाभ होगा।

(२) परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। समाज के पास संचय (Savings) की मात्रा परिमित है। उसमें कुछ संचय नए ढङ्ग के यन्त्र के उत्पादन में लग जायगा। संभव है कि विद्यमान यंत्रों से कार्य करते हुए उसके परिमित संचय का किसी दूसरे प्रकार से उपयोग करने से समाज का अधिक लाभ हो सके। परन्तु यह संभव न हो तो पुराने यन्त्रों का हटाना ही सर्वोत्तम उपाय होगा।

जो लोग आविष्कारों के कारण "पूँजी के क्षय" पर शोक प्रगट करते हैं, उदाहरणार्थ जो लोग रेलों की पूँजी का अर्घ (Value) बनाए रखने के लिए सड़क द्वारा स्थानान्तरण (Transport) की प्रतियोगिता पर नियंत्रण चाहते हैं, वे इस तथ्य को भलीभांति नहीं समझते।

अनधियोजन (Unemployment) निवारण के लिए सार्वजनिक कार्य से हम इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अंतिम उदाहरण देते हैं। कभी कभी ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार का कोई भी संकट-निवारक-कार्य (Relief work) उत्पादन को बढ़ाने में सफल होगा, क्योंकि अनधियुक्त व्यक्ति (Unemployed) कुछ नहीं के बदले कुछ तो उत्पन्न करेंगे। परन्तु यह सत्य नहीं भी हो सकता है। कुछ उत्पन्न करने के लिए—मान लिया सड़कें—अनधियुक्तों का अन्य साधनों से—जैसे इंजीनियर, निरीक्षक, सज्जा और कच्चा माल (Materials)—संयोग आवश्यक है। संभव है कि इस पुनःसंघटन (Reshuffling) के फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं के विभिन्न संकलन (Assortment) समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति उतने अच्छे ढङ्ग से न कर सकें जितने अच्छे ढङ्ग से संकट-निवारक कार्य की अनुपस्थिति में उत्पादित वस्तुएँ कर सकतीं। परन्तु फिर हम बतला देना चाहते हैं कि यहीं निष्कर्ष अंतिम नहीं है। संभव है समाज इतना त्याग करके भी अनधियुक्त व्यक्तियों की नतिकता (Morale) और कार्य करने का अभ्यास बनाए रखना

उचित समझता है। इसके अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्री यह तर्क करते हैं कि कुछ दशाओं में इस प्रकार के संकट-निवारक कार्य आर्थिक-क्रिया के पुनर्जागरण (Revival) में सहायक हो सकते हैं। इन्हीं कारणों से कभी कभी हम लोग कष्ट—निवारक कार्य की योजनाओं को व्यवहार में देखते हैं (उदाहरणार्थ, अमेरिका में "नवीन योजना" (New Deal) के अन्तर्गत कुछ योजनायें]; यद्यपि अनधियुक्तों से कुछ काम न लेकर उन्हें प्रति सप्ताह कुछ रकम दे देना सरकार के लिए कुछ सस्ता पड़ेगा।

५. महामात्रोत्पादन की मितव्ययता

(The Economies of Large-scale Production)

अब तक हमने यह मान लिया था कि किसी धंधे में लगे हुए सभी साधनों को दूना कर देने से उस धंधे का उत्पादन ठीक दूना हो जायगा; प्रत्येक साधन को १० प्र० श० बढ़ा देने से सम्पूर्ण उत्पादन में १० प्र० श० की वृद्धि हो जायगी, इत्यादि। परन्तु यह सत्य होना आवश्यक नहीं है। किसी धंधे के विस्तार से मात्रा का मितव्यय (Economies of Scale) संभव हो सकता है।

इसका कारण यह है कि उत्पादन की कोई भिन्न विधि व्यवहार में लाई जा सकती है। हम क्रियाकल्प-ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं मान रहे हैं। परन्तु यदि किसी धंधे की मात्रा बढ़ा दी जाय तो विशेषीकरण (Specialisation) का लाभ प्राप्त करना संभव हो सकता है। लोग विशेष विशेष कार्यों में विशेषता प्राप्त कर सकते हैं और ऐसे यंत्रों का उपयोग हो सकता है जिनका उपयोग पहले लाभदायक न होता। उदाहरणार्थ मुद्रण-कला को ले लीजिए। जब अधियुक्त व्यक्ति और पूँजी की मात्रा कम हो तो हस्त-मुद्रणयंत्र का प्रयोग हो सकता है। यद्यपि उससे सम्बद्ध व्यक्ति भलीभाँति जानते हैं कि लिनोटाइप यंत्र कैसे बनाया और व्यवहार में लाया जा सकता है। अधियुक्त मनुष्यों और पूँजी ो १० से गुणा कर दीजिए और एक या अनेक लिनोटाइप यंत्रोंका प्रयोग हो सकेगा और कुछ मनुष्य अक्षर बैठाने (Compositors) में, कुछ प्रूफ-संशोधन इत्यादि में विशेषता प्राप्त कर सकते हैं। मुद्रण-धंधे का सम्पूर्ण उत्पाद दसगुने से अधिक बढ़ सकता है और प्रत्येक साधन का सीमान्त उत्पाद पहले की अपेक्षा अधिक हो सकता है।

सावधान रहनवाले पाठक "साधन" (Factors) शब्द की द्व्यर्थकता (Ambiguity) पर ध्यान देंगे। या तो हम कह सकते हैं कि "पूँजी" साधन की मात्रा दसगुनी बढ़ी है अथवा एक प्रकार की उत्पादक वस्तु (Capital

good), हस्त-मुद्रण यंत्र, के स्थान पर दूसरी उत्पादक वस्तु, लिनोटाइप यंत्र, आ गई है। परन्तु तथ्य के विषय में कोई झगड़ा नहीं है और इस सम्बन्ध में कथन का पहला ढङ्ग ही अधिक प्रचलित होने के कारण हम उसी का अनुसरण करेंगे।

हम कह सकते हैं कि, यद्यपि किसी धंधे का सम्पूर्ण उत्पाद पर्याप्त मात्रा में हो और उसमें महामात्रोत्पादन (Large-scale production) विधि से अधिक कुशलता आ सकती हो, फिर भी उसमें अल्पमात्रोत्पादन (Small-scale production) का व्यवहार हो सकता है। इसका कारण यह है कि संभवतः उत्पाद का स्थानान्तरण (Transport) अधिक व्ययसाध्य हो और उपभोक्ता अनेक केन्द्रों में दूर तक बिखरे हुए हों जिससे महामात्रोत्पादक यंत्र द्वारा उत्पादन के लाभ से अधिक व्यय उस पदार्थ के वितरण में लग जाय। उस धंधे का विस्तार होने पर उसमें से प्रत्येक केन्द्र में महामात्रा-विधियों (Large-scale methods) का प्रयोग लाभदायक हो सकता है।

किसी धंधे में लगे हुए साधनों को हमने उसी प्रतिशत में बढ़ता हुआ मान लिया है। यदि कुछ साधन दूसरों की अपेक्षा अधिक बढ़ें, जिससे विभिन्न साधनों का अनुपात परिवर्तित हो जाय, तो वही स्थूल परिणाम होगा। उदाहरणार्थ, किसी धंधे में अधियुक्त पूँजी में बहुत अधिक वृद्धि होने से संभव है कि ऐसी विधियों का व्यवहार होने लगे जो पहले ज्ञात तो थीं परन्तु उनका उपयोग लाभप्रद न था क्योंकि उपलब्ध पूँजी का अनुपात कम था। जैसे संभव है कि बाल्टियों में पानी ले जाने की अपेक्षा जल-कल (Waterworks) का निर्माण करना और नल लगाना अधिक लाभप्रद हो।

किसी उद्योग की मात्रा में बहुत बड़ी वृद्धि का परिणाम उत्पादन-विधियों (Process) और व्यवसायों (Occupations) का पृथक्करण हो सकता है। उदाहरणार्थ जहाँ एक ही व्यक्ति कालीन बनाता था, वहाँ उसके बदले कुछ संस्थाएँ (Firms) सूत कातने का काम करें, कुछ बुनें, कुछ रँगें इत्यादि और विभिन्न प्रकार के विशेषीकृत (Specialised) यंत्रों के उपयोग से उनके नये व्यवसाय उत्पन्न हो जायँ।

कुछ विगत पीढ़ियों में आर्थिक-क्रिया के प्रायः प्रत्येक भाग के क्रियाकल्प (Technique) में बहुत महत्त्वपूर्ण और क्रमिक उन्नति हुई है; इसके साथ ही जनसंख्या में वृद्धि, और उससे भी अधिक पूँजी में वृद्धि, हुई है। प्रत्येक उद्योग में लगभग प्रत्येक साधन की उत्पत्ति (Returns) समय में बढ़ गई है। परन्तु विश्लेषण के लिए संप्रति हम क्रियाकल्प-ज्ञान की उन्नति को छोड़ देते हैं, फिर मात्रा का मितव्यय (Economies of Scale) कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि सभी विधियाँ, यन्त्र आदि ज्ञात

हैं, तो धंधे का उत्पादन अपेक्षाकृत कम होने पर उसका उपयोग क्यों नहीं होता ?

कारण यह है कि कुछ साधन अविभाज्य (Indivisible) होते हैं, और जबतक उनके विभाजनों की माँग पूरी नहीं होती कि उनका पर्याप्त अवियोजन होता रहे, तबतक उनका उपयोग लाभदायक नहीं होता। इस प्रकार किसी पदार्थ अथवा सेवा की माँग में पर्याप्त वृद्धि होने से संभव है ऐसे अविभाज्य साधनों का व्यवहार होने लगे जो पहले उपयोग में लाने योग्य नहीं थे।

अविभाज्य के इस सिद्धान्त (Concept) की थोड़ी व्याख्या करना आवश्यक है।

अपेक्षित कार्य की पूर्ति के लिए बहुत सी वस्तुओं का कुछ न्यूनतम आकार होना आवश्यक है। प्रत्येक नगर में भूगर्भगामी रेलें क्यों नहीं हैं? नन्हीं नन्हीं गाड़ियों, उत्थापकों (Lifts) आदि से लिलिपुट निवासी बौनों का काम चल सकता है, पर हम लोगों का नहीं। मनुष्य का आकार एक न्यूनतम की अपेक्षा करता है; और केवल बड़े नगरों में ही संभाव्य यात्रियों की संख्या इतनी बड़ी होती है कि भूगर्भगामी रेलों की आवश्यकता पड़ती है। एक छोटा सा यंत्र बच्चों को खेलने के लिए मोटर बनाने का काम दे सकता है, परन्तु साधारण आकार की मोटरें बनाने के लिए कम से कम इतनी माँग होनी चाहिए जिससे कोई बड़ा कारखाना स्थापित किया जा सके। इसी प्रकार लिनोटाइप यन्त्र, धातु पिघलानेवाली भट्ठी (Blast Furnace) और बहुत सी अन्य उत्पादक वस्तुओं के लिए भी एक न्यूनतम आकार होना चाहिए। यदि ऐसी चीजों के उत्पादन की परिमित माँग के कारण उन्हें अधिक काल तक व्यर्थ रहना पड़े तो उनकी स्थापना लाभप्रद न होगी।

कुछ साधन एक सीमा तक जितने ही बड़े होते हैं। उतने ही अधिक कुशल होते हैं। उदाहरणार्थ, किसी जलयान का विचार कीजिए। जलयान की वहन-क्षमता (Carrying Capacity) स्थूलत: उसके विस्तार के घनफल के साथ उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार १ × १ × १ के आकार की पेटी का आठगुना २ × २ × २ की आकारवाली पेटी में समाता है। परन्तु एक सीमा तक, किसी जलयान का जल में प्रतिरोध (Resistance) लगभग उसके विस्तार के वर्ग के बराबर बढ़ता है। अतएव सीमा के भीतर बड़े जलयानों को प्रति इकाई वहन स्थान के लिए कम सज्जा की आवश्यकता होती है। और यही सामान्य सिद्धान्त वाष्प-इंजनों, विद्युत्-शक्ति-यन्त्रों, जल-कलों, आटा-कलों और अन्य प्रकार के यन्त्रों और सज्जाओं पर लागू होता है।

मनुष्य भी अविभाज्य है। एक चौकीदार किसी भवन की बहुत अच्छी

तरह रखवाली कर सकता है, परन्तु उसके आधे आकार के दो भवनों की, जो दोनों नगर के दो छोर पर हैं, रखवाली नहीं कर सकता। एक डाक्टर उन दस डाक्टरों का दशांश नहीं है जिन्होंने औषध के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशेषताएँ प्राप्त की हैं।

इस प्रकार किसी अविभाज्य साधन का उपयोग विशेषीकरण या श्रम विभाजन का एक पक्ष होने से बाजार के विस्तार के कारण परिमित है। बाजार के विस्तार में वृद्धि, चाहे वह जनसंख्या में वृद्धि के कारण हो या पदार्थ या सेवा विशेष के लिए अधिक अधिमान के कारण हो, मात्रा के मितव्यय (Economies of scale) का लाभ उठाने में सहायक होती है। यद्यपि इस प्रकार के मितव्यय के लिए भिन्न-भिन्न धंधों में भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं, और इन मितव्ययों में उत्पादन के अविभाज्य साधनों का उपयोग अनिवार्य है।

६. अचल और वर्द्धमान उत्पत्ति
(Constant and Increasing Returns)

हम देख चुके हैं कि मात्रा का मितव्यय क्यों सम्भव है। परन्तु यदि किसी उद्योग की उत्पादन मात्रा (Scale of production) दी हुई है तो उस उद्योग म एक साधन की मात्रा में अल्प वृद्धि उसका सीमान्त उत्पाद कैसे बढ़ा सकती है? अथवा किसी एक साधन में १० प्र० श० की वृद्धि उस उद्योग के सम्पूर्ण उत्पाद में १० प्र० श० या अधिक की वृद्धि कैसे कर सकती है जिससे उस साधन की औसत उत्पत्ति अचल या वर्द्धमान हो?

इसका उत्तर भी अविभाज्यता (Indivisibility) के सिद्धान्त में ही मिलेगा। उत्पाद में ही अविभाज्यता विद्यमान हो सकती है। मान लीजिए कि कोई भारी पदार्थ, जैसे इस्पात का छड़ या बड़ा पियानो, हटाने का कार्य है। उसे दो-चार मनुष्य शायद ही हटा सकें। संभव है १० व्यक्ति अपनी संयुक्त शक्ति से पाँच मनुष्यों का तिगुना या चौगुना काम कर सकें अतएव इस कोटि में मनुष्यों को दुगुना करने से—५ से १० करने से—उत्पाद दूने से अधिक हो जाय। इस कोटि में श्रम की वर्द्धमान उत्पत्ति होगी।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण अविभाज्यताएँ विशेषीकृत (Specialised) साधनों की हैं। क्षमतापूर्वक उपयोग होने के लिए पर्याप्त माँग न होने पर भी किसी अविभाज्य साधन का अधियोजन लाभप्रद हो सकता है। उदाहरणार्थ, यह जानकर भी कि २००० टनवाले किसी जलयान में माल रखने की पूरी जगह भर नहीं सकती किसी विशेष मार्ग पर उसका व्यवहार लाभप्रद हो सकता है। चरम माँग (Peak demand) की पूर्ति करने योग्य विद्युत्-उत्पादन के लिए एक यंत्र की (Plant) स्थापना लाभप्रद हो सकती है

यद्यपि संभव है उसकी माँग अधिकतर अपर्याप्त हो। किसी बीड़ी की दूकान में ग्राहकों की भीड़ होने के कारण अधिक सहायकों का अधियोजन लाभदायक हो सकता है, यद्यपि यह संभव है कि भीड़ न रहने पर उन्हें बेकार रहना पड़े।

इन परिस्थितियों में अन्य साधनों से अचल उत्पादन या कभी-कभी वर्द्धमान उत्पादन भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी जलयान के नाविक १० प्रतिशत बढ़ा दिए जायँ तो संभव है जलयान पहले से १० प्र० श० या १० प्र० श० से अधिक यात्री और माल ले जा सके क्योंकि पहले वह अपनी क्षमता से कम कार्य करता था। जलयान पर कार्य करनेवाले श्रमिकों का औसत या सीमान्त उत्पाद अचल रहेगा या बढ़ेगा। इसी प्रकार रेडियो के ग्राहक-यन्त्रों (Receiving sets) की संख्या में वृद्धि होने से केन्द्रों के ध्वनिक्षेप-कार्यक्रम अपरिवर्तित रहने पर भी श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हो सकती है। केवल यंत्र बढ़ेंगे और उनका अचल उत्पादन होगा अर्थात् यन्त्रों की संख्या में १० प्र० श० वृद्धि होने से "श्रवण" (Listening) की मात्रा १० प्र० श० बढ़ेगी क्योंकि अविभाज्य-कार्यक्रम का अधिक सम्यक् उपयोग होगा।

स्पष्ट है कि इस अध्याय में विवेचित व्यापार (Phenomena) किसी भी समाज में उपस्थित रहते हैं, उसका संगठन चाहे जैसा हो। हम पीछे देखेंगे कि मूल्य प्रणाली में वे व्यय पर क्या प्रभाव डालते हैं ?

—:०:—

दसवाँ अध्याय

पूँजी

१. पूँजी की परिभाषा

प्रायः ऐसा कहा जाता है—और ठीक ही कहा जाता है—कि स्पष्ट विचार के लिए शब्दों को ठीक ठीक परिभाषा होनी आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक शब्द की केवल एक ही परिभाषा हो सकती है और अन्य सभी परिभाषाएँ अशुद्ध होंगी। प्रायः अनेक संभाव्य परिभाषाओं में से स्पष्ट और निश्चित अर्थ देनेवाली कोई एक परिभाषा काम दे सकती है। उनमें से किसी एक का चुनाव व्यक्ति की रुचि पर निर्भर है। यही बात 'पूँजी' शब्द के लिए भी है। अर्थशास्त्रियों ने इसकी अनेक परिभाषाएँ दी हैं, परन्तु उनमें से कोई एक परिभाषा आर्थिक प्रणाली की क्रिया-विधि समझाने में समान रूप से सहायक हो सकती है; और अर्थशास्त्र का मुख्य कार्य भी यही है।

इसे प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि पूँजी किसी निश्चित समय पर विद्यमान राशि (Stock) या निधि (Fund) है। इसके विपरीत आय समयानुसार एक प्रकार का प्रवाह (Flow) है—अर्थात् इतना प्रति सप्ताह या प्रति वर्ष। निजी संपत्ति (Private Property) पर निर्भर रहने वाले समाज में किसी व्यक्ति की पूँजी में कागजी अधिकार भी (Paper-titles), जैसे बंट और हिस्से (Stocks and shares) आदि, सम्मिलित किए जा सकते हैं, जिससे उसे एक निश्चित द्रव्य के रूप में आय अथवा किसी कंपनी के लाभ का एक अंश पाने का अधिकार मिलता है। परन्तु किसी [संकुचित (Closed)] समाज की दृष्टि से पूँजी के अन्तर्गत भौतिक संपत्ति (Material assets) अथवा वस्तुएँ (Goods) सम्मिलित की जाती हैं। कुछ लेखक "मानवीय पूँजी" (Human capital) का उल्लेख करते हैं, परन्तु दास-प्रथा की अनुपस्थिति में मनुष्यों को प्रायः इससे पृथक् रखते हैं।

वस्तुओं की उस राशि में, जो तत्काल किसी समाज की पूँजी गिनी जाती है, उत्पादन के उत्पादित साधन—जैसे कारखाने और यंत्र (Machinery) और रेल तथा कच्चे और अधपके माल (Intermediate products) जो पक्के माल के रूप में परिवर्तित होने जा रहे हैं—सम्मिलित किए जा सकते हैं। इसे प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि उत्पादकों (Producers) और व्यवसायियों (जिनमें दूकानदार आदि भी सम्मिलित हैं) द्वारा संचित उपभोग्य वस्तुएँ भी पूँजी के अन्तर्गत सम्मिलित होनी चाहिएँ, क्योंकि

उत्पादन की क्रिया तब तक पूरी नहीं होती जब तक कोई उत्पादित वस्तु अंतिम उपभोक्ता के हाथ में नहीं पहुँच जाती। परन्तु इसके अन्तर्गत भूमि को, या उपभोक्ता के हाथ में उपभोग्य वस्तुओं को, अथवा दोनों को, सम्मिलित करना चाहिए या नहीं इसमें मतभद है।

भूमि को सम्मिलित न करनेवालों का तर्क यह है कि इसके अन्तर्गत प्रकृति की देन सम्मिलित है जिसकी पूर्ति में मनुष्य द्वारा वृद्धि नहीं की जा सकती। यदि भूमि की परिभाषा इस प्रकार की जाती है तो यह तर्क उचित है। यह सच है कि इस बात पर विचार करते समय कि मनुष्य उत्पादन में अपने वातावरण द्वारा किस सीमा तक सहायता पाता है मूल्य का नहीं वरन् कार्य का महत्त्व है; नहर उतनी ही उपयोगी हो सकती है जितनी नदी। परन्तु पूँजी, जिसमें मनुष्य द्वारा वृद्धि की जा सकती है, और प्रकृति की देन, जिसमें वृद्धि नहीं हो सकती, दोनों का अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है। परन्तु कठिनाई यह है कि अधिकांश भूमि—प्रचलित अर्थ में—मनुष्यकृत है। कोई समाज अपनी भूमि को उन्नत करके अथवा अन्य वस्तुओं की राशि को बढ़ाकर धन बचा सकता और उसे विनियुक्त (Invest) कर सकता है। व्यवहार में प्रकृति की मूल देन और मनुष्यकृत उन्नति में अन्तर बतलाना असंभव सा है। यदि ऐसा हो सकता तो हम मनुष्यकृत उन्नति को पूँजी में गिन लेते परन्तु प्रकृति की मूल देन को नहीं। संभवत: सबसे अच्छा उपाय यह स्वीकार कर लेना है कि तर्क की दृष्टि से भूमि को पूँजी में गिन लिया जाय, परन्तु यह पूँजी का ऐसा महत्त्वपूर्ण भेद है कि इसे पृथक् गिनने की प्रचलित परिपाटी का ही अनुसरण करना सुविधाजन होगा।

उपभोक्ता के हाथ में गई हुई उपभोग्य वस्तुओं को पूँजी में न गिनने का तर्क संभवत: यह है कि, जहाँ तक उनका संबंध है, उत्पादन की क्रिया पूर्ण हो चुकी है। परन्तु यह सत्य नहीं है। अंतिम विश्लेषण में उपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता उपभोक्ताओं द्वारा होनेवाली सेवा का प्रवाह जारी रखने के लिए होती है। उदाहरणार्थ, जब कोयला जलाया जाता है तब उससे उष्णता मिलती है, भवन शरण देता है और भोजन से शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार वह भवन जिसमें उसका स्वामी रहता है वर्षों तक शरण देकर उसकी सेवा करता है; और यही बात, अल्प-अवधि में पर्याप्त रूप से टिकाऊ अन्य उपभोग्य वस्तुओं—जैसे उपस्कर (Furniture), रेडियो, मोटर आदि—पर भी लागू होती है। भोजन, वस्त्र आदि की राशि भी ठीक उसी प्रकार रखी जाती है जिस प्रकार कारखानों या दूकानों में पदार्थों की राशि, जिससे बारबार फुटकर चीजें न खरीदनी पड़ें और आकस्मिक आवश्यकता के समय वे काम दे सकें। उन अर्थशास्त्रियों की परिपाटी का अनुसरण करना अनावश्यक जान पड़ता है जो यह कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपनी मोटर को

व्यवहार व्यवसाय के कार्यों में करता है तब उसे पूँजी गिनना चाहिए, परन्तु जब आनंद के लिए उसका व्यवहार करता हो तब नहीं। यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता के हाथ में गई हुई वस्तुओं का आर्थिक लेनदेन फिर नहीं होता। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ, कोई उपभोक्ता अपने घर में एक कमरा किराए पर देने का निश्चय कर सकता है अथवा अपनी निजी नाव को भाड़े पर चला सकता है। अतएव मैं उन अर्थशास्त्रियों से सहमत हूँ जो उपभोक्ता के हाथ में गई हुई वस्तुओं को भी पूँजी में गिनते हैं। कभी कभी उन्हें "उपभोक्ता की पूँजी" (Consumers' capital) कहते हैं।

अतः हम पूँजी की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि यह किसी विशेष क्षण पर विद्यमान सब प्रकार की वस्तुओं (Goods) की राशि है जिसमें भूमि भी सम्मिलित है। परन्तु अधिकांश कार्यों के लिए हम भूमि को पृथक गिनेंगे।

२. पूँजी का संचयन (Accumulation of capital)

ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य आदि पूँजीवादी देशों और रूस के समान "अपूँजीवादी" देशों में अन्तर स्पष्ट करने से इस समय हमारा कोई तात्पर्य नहीं है। यह अन्तर पूँजी के स्वामित्व और नियंत्रण पर निर्भर है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में कुछ न कुछ पूँजी अवश्य रहेगी, उसका स्वामी या नियंत्रण करनेवाला चाहे कोई हो। हमारा प्रधान उद्देश्य यह दिखाना है कि पूँजी में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है और किस प्रकार यह वृद्धि भविष्य में उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ाकर उस देश को अधिक पूर्णता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य बना सकती है।

यदि हम उपभोक्ता की पूँजी का विचार करें तो यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई देश अधिक भवन और उपस्कर तथा पर्याप्त रूप से टिकाऊ अन्य वस्तुएँ उत्पन्न करता है तो कुछ समय के पश्चात् उसके पास इन वस्तुओं की एक बड़ी राशि एकत्र हो जायगी और जबतक वे घिस नहीं जातीं तबतक आवश्यकता की पूर्ति में प्रत्यक्ष योग देती रहेंगी। किसी क्षण भवनों की राशि जितनी ही अधिक होगी भविष्य में उतनी ही अधिक "शरण" (Shelter) का उत्पादन होगा [अर्थात् शरण प्राप्त होगी]।

यही बात उत्पादकों की पूँजी के ऊपर भी लागू होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि ऐसी वस्तुएँ प्रत्यक्ष नहीं वरन् अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता की पूर्ति में योग देती हैं। एक सरल उदाहरण यह है कि नाव का उपयोग करने से अधिक मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं। नाव का योगदान अप्रत्यक्ष है, उपभोक्ता मछली चाहता है नाव नहीं; परन्तु

नाव के द्वारा मछली विषयक उसकी आवश्यकता की पूर्ति अधिक पूर्णता से होती है।

यह तथ्य मान लेने पर, कि नाव के उपयोग से मछली मारने के व्यवसाय में लगे हुए लोगों की उत्पादन-शक्ति बढ़ जाती है, प्रश्न यह उठता है कि कोई समाज—जो मछलियों का इच्छुक है और इस तथ्य से परिचित है कि यदि उसके पास नावें रहें तो उसे अधिक मछलियाँ मिल सकती हैं—किस प्रकार नावें प्राप्त कर सकता है। हम नाव का उपयोग केवल दृष्टान्त के लिए करते हैं, हमारा उत्तर किसी भी अन्य प्रकार की पूँजी पर (जिसमें उपभोक्ता की पूँजी और भूमि की उन्नति सम्मिलित है) समान रूप से लागू होता है।

कोई समाज केवल अधिक समय तक कार्य करके, और अतिरिक्त समय का उपयोग नाव बनाने में करके, नावें प्राप्त कर सकता है। परंतु इससे उसे अपने विश्राम का त्याग करना पड़ेगा। यदि उस विश्राम के कुछ अंश का वह कुछ काल के लिए त्याग न करना चाहे तो उसके लिए तीन मार्ग खुले हैं।

पहला मार्ग तो यह होगा कि जो भोजन, वस्त्र तथा अन्य उपभोग्य वस्तुएँ वह उत्पन्न करता है उनमें से कुछ की राशि बचा कर रखे। मान लिया जाय कि ग्यारह महीनों में उसने इतनी राशि एकत्र कर ली है कि अगामी एक महीने की पूर्ति के लिए वह पर्याप्त है तो उस महीने में उस समाज के सभी लोग उपभोग्य वस्तुएँ उत्पन्न करने के बदले नाव बनाने में लग जायँगे।

दूसरा मार्ग यह होगा कि सब लोग प्रत्येक कार्य-दिवस का एक भाग नाव बनाने में लगावें। उदाहरणार्थ, यदि वे प्रति दिन १२ घंटे कार्य करें और उन बारह घंटों में से एक घंटा नाव बनाने के लिए दें तो वर्ष के अन्त में उनके पास उतनी ही नावें हो जाएँगी जितनी पहली योजना में बनतीं।

तीसरा मार्ग यह होगा कि वे अपनी संख्या के कुछ अंश को (जैसे बारहवें भाग को) केवल नाव बनाने में लगा दें और शेष व्यक्ति प्रतिदिन उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति में लगा दिए जायँ। यही योजना वास्तव में व्यवहार में आती है। इसका लाभ यह है कि कुछ व्यक्ति नाव बनाने की क्रिया में विशेषता प्राप्त कर लेते हैं और भोजन की बड़ी राशि संचित रखने की आवश्यकता नहीं रहती।

इनमें से किसी एक उपाय द्वारा कुछ समय के लिए समाज का उत्पादन पहले की अपेक्षा कम होगा और उपभोग्य वस्तुओं का उपभोग भी घट जायगा। श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधन, जिनका उपयोग उपभोग्य

वस्तुओं के प्रत्यक्ष उत्पादन में हुआ होता अब नाव के उत्पादन में होने लगेगा। इस श्रम का अन्तिम उद्देश्य मछलियों के उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना है। जबतक पर्याप्त समय नहीं बीत जाता तबतक इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। पहले तो नाव बनाने में कुछ समय लगता है। दूसरे नाव के जीवन की भी कुछ अवधि होती है। अतएव नाव बनाने में अधियुक्त श्रम का फल है नाव के जीवन-काल में उसके उपभोग द्वारा प्राप्य मछली की पूर्ति में वृद्धि। इस प्रकार श्रम की आरंभिक क्रिया (Input) और उसके अन्तिम उत्पादन (Output) में पर्याप्त समय लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस कार्य में पूँजी के भाग लेने का महत्त्व इसी लिए है कि उत्पादन में समय लगता है। उत्पादन के यंत्रादि तथा कच्चे माल की उत्पत्ति आदि के संबंध में प्रारंभिक उपक्रम किए बिना यदि उपभोग्य वस्तुएँ क्षणभर में उत्पन्न कर ली जातीं और यदि कोई उपभोग्य वस्तु भवन के समान टिकाऊ न होती तो उत्पादन की ऐसी विधियों के उपयोग द्वारा, जिनमें अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, उत्पादन की मात्रा बढ़ाने की कोई संभावना न रहती।

अन्ततोगत्वा सभी प्रकार की पूँजी को हम भूमि और श्रम का परिणाम, कह सकते हैं। भूमि को हम इसलिए सम्मिलित करते हैं कि कम से कम कच्चा माल—नाव के संबंध में लकड़ी—उत्पन्न करने के लिए प्रायः भूमि की आवश्यकता पड़ती है। हथियार, जो स्वयं पूँजी हैं उत्पादक की वस्तुओं (Producers' goods) के उत्पादन म उपयोग में लाए जा सकते हैं; पर हथियार भी तो भूमि और श्रम के ही फल हैं। परन्तु पूँजी की—वस्तुओं की विद्यमान राशि के अर्थ में—मात्रा बढ़ाने के लिए उसकी आवश्यकता होती है जिसे "प्रतीक्षा" (Waiting) कहते है। इसमें कुछ काल के लिए उपभोग का त्याग अपेक्षित होता है। कुछ लोग जितना उपभोग कर सकते हैं उससे कम इसलिए करते हैं जिससे पूँजी का उत्पादन हो सके।

इस अर्थ में "प्रतीक्षा" के लिए प्रेरणा यह है कि उत्पादन की "पूँजी-वादीय" (Capitalistic) या जटिल (Roundabout) विधियों के (अर्थात् ऐसी विधयों के जिनमें अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है) अधिक प्रयोग द्वारा उत्पादन बढ़ाया जा सकता है; निःसंदेह सभी जटिल विधियाँ प्रत्यक्ष विधियों की अपेक्षा अधिक उत्पादक नहीं होतीं; परन्तु लोग उन्हीं को चुनते हैं जो सचमुच होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारे काल्पनिक समाज की नाव को बनने में एक वर्ष लगे और वह पाँच वर्ष चले तो उन्हीं उत्पादन के साधनों के उपयोग से नाव की सहायता बिना उतनी मछलियाँ नहीं पक जा सकती थीं जितनी उन छः वर्षों में नाव बनाकर उसके उपयोग द्वारा पकड़ी जा सकती हैं।

३. पूँजी को अविकल (Intact) रखना।

मान लीजिए कि हमारे काल्पनिक समाज की नावों का जीवन-काल पाँच वर्ष का है और उसके बाद वे व्यर्थ हो जाती हैं। यदि उस समाज ने नावें बनाकर उनके स्थान पर दूसरी नावें रखने का प्रबंध नहीं किया तो पाँच वर्ष के पश्चात् वे फिर नावों के बिना जहाँ के तहाँ रह जायँगे, और यदि वे समझते हैं कि (नावों के द्वारा) प्राप्त होने वाली 'अतिरिक्त मछलियाँ उस "प्रतीक्षा" के बराबर हैं तो उन्हें प्रगति का चक्र फिर से आरंभ करना पड़ेगा। परन्तु यदि वे मछलियों के उत्पादन का क्रम जारी रखना चाहते हैं तो इन पाँच वर्षों में ज्यों ही पुरानी नावें व्यर्थ हो जाती हैं त्यों ही उनके स्थान पर नई नावें रखने का प्रबंध करेंगे। इन पाँच वर्षों में अपने सभी उपलब्ध श्रम तथा अन्य साधनों का उपयोग उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में करने के बदले कुछ का उपयोग वे नाव बनाने के लिए करेंगे जिससे ज्यों ही पुरानी नावें नष्ट होती जायँ त्यों ही उनके स्थान पर नई आती जायँ और उनके पास सर्वदा अच्छी नावों की वही संख्या बनी रहे। इसी को "पूंजी को अविकल रखना" कहते हैं। परन्तु यदि यह कल्पना (Concept) ऐसी अवधि में लागू की जाती है जिसमें रुचि, क्रियाकल्प या बाह्य अवस्थाओं में परिवर्तन हो जाता है, तो कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। मान लीजिए कि हमारे कल्पित समाज के सभी सदस्यों के अधिमान माप (Scale of preferences) मछली के स्थान पर मांस के पक्ष में परिवर्तित हो गए हैं, तब उन्हें अपनी पूँजी अविकल रखने के लिए कुछ उपादानों को नाव बनाने की क्रिया से हटाकर मांस उत्पन्न करनेवाले साधनों की वृद्धि में लगाना पड़ेगा। फिर मान लीजिए कि ज्ञान अथवा बाह्य अवस्थाओं —जैसे मछली मारने के नए क्षेत्रों की खोज अथवा मछलियों का आप्रवासन (Immigration)—में उन्नति होने के कारण प्रतिजन अधिक मछली पकड़ी जा सकती है। तो अब पहले की अपेक्षा कम नावों से भी, जिनसे पहले के बराबर ही मछलियाँ पकड़ी जा सकें, पूँजी अविकल रखी जा सकती है। साधारणतः यदि सहयोगी उपादानों को स्थिर मान कर किसी अवधि में उस पूँजी के द्वारा उत्पन्न होनेवाली उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन को उपभोक्ता किसी दूसरी अवधि में उत्पादन के बराबर तुष्टि (Satisfaction) देनेवाला समझते हैं, तो पूँजी अविकल रखी जा सकती है।

४. पूँजी का उपभोग

मान लीजिये कि हमारे समाज ने निश्चित किया—क्योंकि संभवतः उन्होंने सोचा कि प्रलय निकट है—कि भविष्य की चिन्ता करना छोड़ दिया जाय। तो जीर्णोद्धार या सुधार करने और विद्यमान पूँजी के स्थान पर नई

पूँजी रखने के लिए श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधनों का उपयोग न करके उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन की प्रत्यक्ष विधियों में उनका उपयोग करके वे अपना निर्वाह-स्तर ऊँचा उठा सकते हैं। घिसे हुए यंत्र (Plant) और सज्जा आदि के स्थान पर नए नहीं रखे जायेंगे, भवनों का जीर्णोद्धार नहीं होगा, संचित वस्तुओं की राशि घट जायगी और पूँजी के क्रमिक ह्रास से उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन घट जायगा। समाज उत्पादन की प्राचीन विधियों की ओर अधिकाधिक लौटने को बाध्य होगा और यदि उसके द्वारा अपनी पूँजी का उपभोग चलता रहा तो अन्त में उसका निर्वाह-स्तर बहुत ही नीचा हो जायगा। परन्तु अल्प अवधि में, अपनी पूँजी बनाए रखने अथवा बढ़ाने के बदले अपने अधिकांश उपादानों को उपभोग्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष उत्पादन में लगाकर जबतक विद्यमान पूँजी रहे तबतक उसकी सहायता से वह अपनी उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन, और उसके साथ ही अपना निर्वाह-स्तर भी, बढ़ा सकता है।

इस विधि को पूँजी का उपभोग कहते हैं। युद्ध काल में कोई देश उत्पादन के साधनों को भवन-निर्माण अथवा उनके जीर्णोद्धार आदि में न लगाकर युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अधिक आवश्यक कार्यों में लगाकर अपनी पूँजी के कुछ अंश का उपभोग करने को बाध्य हो सकता है।

५. उपसंहार

इन काल्पनिक सरल उदाहरणों के अध्ययन से जो निष्कर्ष हमने निकाला है वह आधुनिक वास्तविक संसार पर भी लागू होता है। आधुनिक समाज में अधिकांश उपभोग्य वस्तुएँ घोर पूँजीवादीय विधियों से उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ सूती माल, अंशतः कपास उत्पन्न करने में लगे हुए श्रम का, अंशतः तकुए बनानेवाले लोहे को साफ करने के लिए खान से कोयला खोदने में लगे हुए श्रम का तथा इसी प्रकार के अन्य श्रमों का अंतिम परिणाम है। किसी क्षण विद्यमान वस्तुओं का अधिकांश उपभोग्य वस्तुओं के रूप में नहीं वरन् उत्पादक-वस्तुओं के रूप में रहता है। जो उत्पादन की क्रिया किसी समय चारों ओर चलती रहती है उसका अधिकांश महीनों या सालों तक पूर्णता को नहीं प्राप्त होता।

नाववाले उदाहरण को वास्तविक रूप देने के लिए केवल कुछ बातें और कह देना पर्याप्त होगा। सबसे पहले, उपभोग्य वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं। किसी समाज को यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि कुछ उपभोग्य वस्तुओं की अपेक्षा अन्य वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा किस सीमा तक बढ़ानी है। उदाहरणार्थ मछली के उत्पादन में अधिक पूँजीवादीय विधियों का उपयोग करने से यह आवश्यक नहीं है कि अधिक मछली उत्पन्न हो

क्योंकि पहले मछली के उत्पादन में जो साधन लगे हुए थे वे अन्य कार्यों के लिए मुक्त किए जा सकते हैं। पूँजीवादीय ढंग से अधियुक्त साधन कम होने पर भी पहले के ही बराबर मछलियाँ उत्पन्न कर सकते हैं।

दूसरे, क्रियाकल्प ज्ञान की अवस्था के कारण किसी वस्तु के उत्पादन की अनेक विधियों में पर्याप्त चुनाव के लिए अवसर रहता है। एक विधि दूसरी से अधिक पूँजीवादीय और अधिक उत्पादक होती है, तीसरी और भी अधिक पूँजीवादीय एवं अधिक उत्पादक होती है, इत्यादि। उदाहरणार्थ, नावें अधिक टिकाऊ बनाई जा सकती हैं या कम अथवा उनमें चालक यंत्र लगाया जा सकता है। समाज को किसी न किसी प्रकार यह निर्णय करना आवश्यक होता है कि भविष्य में और अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करना कहाँ तक उचित है।

तीसरे, उत्पादक वस्तुएँ (Capital goods) पूर्ण क्रियाकल्पात्मक अवस्था में प्रायः नहीं रहतीं और न तो अकस्मात् नष्ट हो जाती हैं। पूँजी को अविकल रखने की क्रिया का एक अंश जीर्णोद्धार-कार्य है।

चौथे, सभी प्रकार के उत्पादक साहस के कार्यों (Enterprises) में ऐसी वस्तुओं की राशि रखने की आवश्यकता पड़ती है जिसमें उनके अपने अंतिम उत्पाद, कच्चे माल, ईंधन (Fuel), अधपके माल इत्यादि की राशि सम्मिलित रहती है। ये राशियाँ उत्पादन की प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। उनका रखना आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक है, उदाहरणार्थ, किसी उत्पादक के पास आकस्मिक आदेशों (Orders) की भरमार हो सकती है। इसीसे वह अपने उत्पादित पदार्थ की राशि एकत्र रखता है। जितने कच्चे माल की प्रतिदिन आवश्यकता पड़ती है उतना संभव है उसे न मिल सके, इसीसे उनकी राशि रखता है। ये राशियाँ उसकी पूँजी के अंश हैं।

अन्त में, हमें स्मरण रखना चाहिए कि भविष्य की व्यवस्था करने के लिए पूँजी की राशि बढ़ाने के अतिरिक्त अन्य उपाय भी हैं। मनुष्यों को प्रशिक्षित करके तथा उनका शरीर और स्वास्थ्य उन्नत करके उनकी उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिए उत्पादन के अन्य साधनों का उपयोग किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आविष्कारों द्वारा क्रियाकल्पात्मक ज्ञान की प्रगति में वृद्धि करने के लिए भी उत्पादन के साधनों का उपयोग हो सकता है। ये दोनों विधियाँ पूँजी की वृद्धि के विकल्प हैं, इनमें भी प्रतीक्षा की आवश्यकता होती है।

ग्यारहवाँ अध्याय

अधिनायक के अधीन उत्पादन

(Production under a Dictator)

१. प्रस्तावना

चाहे कितना ही संगठित समाज हो उसे यह निश्चय करना ही पड़ता है कि क्या उत्पन्न किया जाय। वह अपनी सभी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। उसे यह निश्चय करना आवश्यक है कि किस सीमा तक कुछ आवश्यकताओं को अपूर्ण छोड़कर वह अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इसका अर्थ यह है कि उसे यह निश्चय करना आवश्यक है कि वह उत्पादन के साधनों की अपनी परिसीमित राशि को विभिन्न उद्योगों में किस प्रकार वितरित करे।

यह विचारना लाभदायक होगा कि किसी अधिनायक द्वारा यह समस्या किस प्रकार हल होगी। हम मान लेते हैं कि उसकी सारी प्रजा प्रसन्नता से उसका आज्ञा-पालन करती है; जो कुछ कार्य वह उनके लिए निर्धारित करता है अपनी योग्यता के अनुसार उसे वे भलीभाँति करते हैं। अतएव अपना अधिकार बनाए रखने के लिए उसे उत्पादन के साधनों को पृथक् रखना आवश्यक नहीं है; और हम यह भी मान लेते हैं कि वह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निरीक्षण करने में समर्थ है और अध्याय १ में उल्लिखित सभी महान् कठिनाइयों को किसी प्रकार पार करने और विभिन्न विकल्पों की तुलना करने में समर्थ है। जो मार्ग उसे जनता के हित की दृष्टि से सर्वोत्तम जान पड़ता है प्राय: वह उसी को ग्रहण करेगा, परन्तु किसी भी दशा में अंतिम निर्णय वह स्वयं ही करता है। चाहे किसी भी अभिप्राय से उसकी रचना हो परन्तु अंतिम निर्णय उसी के अभिमान माप द्वारा होगा।

२. एक दुर्लभ साधन (One Scarce Factor)

मान लीजिए कि केवल एक ही उत्पादन का साधन, समजात श्रम, दुर्लभ है। उत्पादन के अन्य सभी साधन इतने अधिक मात्रा में हैं कि उनके मितव्यय की कोई आवश्यकता नहीं है, हम उन सबको "भूमि" कहेंगे। तब प्रत्येक उद्योग में, श्रम की जो भी मात्रा अधियुक्त होगी, वह भूमि की उस मात्रा में संयुक्त होगी जिससे उसका उत्पाद अधिकतम हो। किसी उद्योग में मनुष्यों की संख्या निश्चित होने पर प्रतिजन औसत उत्पाद यथासंभव अधिक होगा। नि:संदेह इसका यह तात्पर्य नहीं है कि श्रम और भूमि का अनुपात सभी उद्योगों में एक ही होगा। प्रति व्यक्ति भूमि की वह मात्रा, जिससे प्रतिजन उत्पत्ति अधिकतम हो, प्रत्येक उद्योग में भिन्न होगी। यदि अध्याय ९ के पृष्ठ १३३ पर दिया हुआ हमारा

गणितीय उदाहरण गेहूँ के उत्पादन की स्थिति व्यक्त करता है तो अनुपात प्रति सात व्यक्ति पर १ वर्गमील भूमि होगा क्योंकि भूमि का अनुपात उससे कम या अधिक होने पर प्रतिजन उत्पाद कम होगा।

परन्तु हमारे अधिनायक को यह निर्णय करना होगा कि विभिन्न उद्योगों में वह अपने श्रम-बल को किस प्रकार वितरित करे। वह उसे इस प्रकार वितरित करेगा कि एक व्यक्ति को एक उद्योग से किसी दूसरे उद्योग में अन्तरित करने से जो अतिरिक्त उत्पाद होगा उसको वह पहले उद्योग के उत्पाद की मात्रा से, जिसका उसे त्याग करना पड़ता है, अधिक महत्त्व नहीं देगा। अर्थात् उसके श्रम का साम्य वितरण इस प्रकार का होगा कि उसके अर्घापणके अनुसार प्रत्येक उद्योग में श्रम का सीमान्त उत्पाद समान होगा।

३. दो दुर्लभ साधन

इसके बाद मान लीजिए कि दो साधन दुर्लभ हैं, समजात श्रम और समजात भूमि। ये दोनों ही दुर्लभ हैं इसलिए वह उनका ऐसा संयोग करेगा कि सभी भूमि और सभी श्रम अधिभुक्त रहें (यह मानकर कि प्रत्येक उद्योग में उनका अनुपात परिवर्तित हो सकता है)। किसी उद्योग में श्रमिकों को इतनी पर्याप्त भूमि नहीं मिलेगी कि उसकी सहायता से वे प्रतिजन औसत उत्पाद अधिकतम कर सकें। क्योंकि यदि इतनी भूमि मिले तो उस उद्योग में अतिरिक्त भूमि के कारण संपूर्ण उत्पाद घट जायगा। भूमि का सीमान्त उत्पाद उस उद्योग में शून्य होगा। परन्तु भूमि दुष्प्राप्य है, अतएव यदि अन्य उद्योगों को अतिरिक्त भूमि प्राप्त होगी तो उनका उत्पादन पर्याप्त बढ़ जायगा। अतः प्रतिजन औसत उत्पादन को अधिकतम करने के लिए किसी एक को पर्याप्त भूमि नहीं दी जा सकेगी। इसका अर्थ यह है कि सभी उद्योगों में प्रतिजन औसत उत्पाद को अधिकतम करनेवाले अनुपात की अपेक्षा श्रम का भूमि से अनुपात अधिक होगा जिससे सभी उद्योगों में भूमि की सीमान्त उपयोगिता ह्रासमान (Diminishing) होगी। यदि हम श्रम और भूमि शब्दों को स्थानान्तरित कर दें तब भी ठीक यही बात लागू होगी। प्रति एकड़ उत्पाद को अधिकतम करने के लिए पर्याप्त श्रम प्राप्य नहीं है, अतएव सभी उद्योगों में भूमि का सीमान्त उत्पाद ह्रासमान होगा।

अधिनायक के अर्घापण के अनुसार उद्योगों में श्रम और भूमि का साम्य वितरण ऐसा होगा कि किसी उद्योग में श्रम का सीमान्त उत्पाद अन्य सभी उद्योगों में श्रम के सीमान्त उत्पाद के बराबर होगा; और किसी उद्योग में भूमि का सीमान्त उत्पाद, अन्य सभी उद्योगों में भूमि के सीमान्त उत्पाद के बराबर होगा, क्योंकि इन अवस्थाओं में इसके बाद श्रम या भूमि का विभिन्न उद्योगों में अन्तरण करने से अधिनायक को कोई लाभ नहीं होगा।

यह बतला देना आवश्यक है कि अधिनायक के अधिमान पर ही उसका निर्णय निर्भर करेगा। एक सरल उदाहरण ले लीजिये कि उसके पास १००० मनुष्य हैं जो २०००० मन गेहूं उत्पन्न करते हैं; और दूसरे १००० हैं जो २०००० मन जौ उत्पन्न करते हैं। यह संभव है कि गेहूं के धंधे से जौ के धंधे में १०० मनुष्यों के अन्तरण से गेहूँ का उत्पादन केवल १००० मन अर्थात् ५ प्रतिशत कम हो, और जौ का उत्पादन २००० मन अर्थात् १० प्रतिशत बढ़ जाय। परंतु अधिनायक यह जान कर भी, संभव है, अन्तरण न करे। संभव है उसे १९००० मन गेहूं और २२००० मन जौ की अपेक्षा २०००० मन गेहूँ और २०००० मन जौ ही पसन्द हो। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण उत्पाद या मनों या टनों की संख्या बढ़ाना नहीं है, और न तो, जब एक पदार्थ में प्रतिशत वृद्धि उसके कारण दूसरे पदार्थ के त्याग किए हुए प्रतिशत से अधिक होती है तब, साधनों का अन्तरण करना ही है। उसका उद्देश्य अनेक प्रकार की वस्तुओं में से केवल उस प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त करना है जिन्हें वह पसन्द करता है।

४. अनेक दुर्लभ साधन

वास्तव में बहुत से साधन दुर्लभ होते हैं--अनेक प्रकार के श्रम और भूमि और उत्पादन के उत्पादित साधन--फिर भी उपर्युक्त विश्लेषण लागू होता है। कोई अधिनायक सभी विरल साधनों की सभी इकाइयाँ अधियुक्त करेगा और उनको इस प्रकार वितरित करेगा कि सभी साधनों का सीमान्त उत्पाद उसके अधिमान के अनुसार, सभी उद्योगों में, जिनमें वे अधियुक्त हैं, एक ही हों।

अधिनायक अविभाज्यताओं का भी विचार करेगा। उदाहरणार्थ सम्भव है उसे पता हो कि मोटर के धंधे में अधियुक्त साधनों को दूना करने से वहन प्रणाली (Conveyor system) के उपयोग और मनुष्यों में श्रम-विभाजन की वृद्धि होने के कारण उसका उत्पादन चौगुना हो जाय। फिर भी संभव है कि वह मोटर के धंधे को ज्यों का त्यों रहने दे और साधनों के अन्तरण द्वारा होनेवाली मोटरों की तिगुनी संख्या के बदले उनके द्वारा उत्पादित वर्तमान उत्पाद को ही पसंद करे।

इसी प्रकार सम्भव है कि वह जानता हो कि कुछ वस्तुओं का उत्पादन--उदाहरणार्थ मकानों या वस्त्रों का--प्रमाणीकरण (Standardisation) के द्वारा अधिक साधनों को अधियुक्त किए बिना, बहुत बढ़ाया जा सकता है। क्योंकि यदि केवल दो चार प्रकार की ही वस्तुएं उत्पन्न की जायें तो उत्पादन के कुछ अविभाज्य साधनों का उपयोग, अथवा विद्यमान अविभाज्य साधनों का अधिक पूर्णता से व्यवहार, हो सकता है फिर भी संभव है वह प्रमाणी-

कृत (Standardised) वस्तुओं के अधिक उत्पादन की अपेक्षा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का वर्तमान उत्पादन ही पसंद करे।

५. विशिष्ट साधन (Specific Factors)

अब मान लिया जाय कि यदि कुछ साधन विशिष्ट हैं (उदाहरणार्थ कुछ भूमि केवल वन के लिए उपयुक्त है) तो इसका उस समस्या पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसकी चार संभावनाएँ हैं :—

(१) यदि इस प्रकार की वन-भूमि इतनी अधिक है कि पूरे का उपयोग करने के लिए अन्य साधन पर्याप्त मात्रा में मुक्त नहीं किए जा सकते तो यह नैसर्गिक संपति (Free good) रहेगी। इस धंधे में प्रतिजन औसत उत्पाद को अधिकतम करने के लिए इस भूमि की पर्याप्त मात्रा का श्रम के साथ संयोग किया जायगा और तब इसका सीमान्त उत्पाद शून्य होगा।

(२) यदि दूसरी, अविशिष्ट, भूमि वन के लिए समान रूप से उपयुक्त है और वन के लिए अधिनायक की आपेक्षिक इच्छा इतनी तीव्र है कि उस विशिष्ट वन-भूमि के अतिरिक्त वह दूसरी भूमि को भी, इस कार्य के लिए, व्यवहार में लाता है तो वन-भूमि की सीमान्त उत्पादकता दूसरी भूमि के समान ही होगी, इन दशाओं में इसकी विशिष्टता का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(३) अधिनायक सम्पूर्ण विशिष्ट वन-भूमि का—परन्तु किसी अन्य भूमि का नहीं—उपयोग वनोत्पत्ति के लिए कर सकता है। यदि वन-भूमि किसी अन्य कार्य के लिए उपयुक्त होती तो इसका कुछ अंश अन्य धंधों में अंतरित कर देता, इन दशाओं में वन-भूमि की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक होते हुए भी अन्य भूमि की सीमान्त उत्पादकता की अपेक्षा कम होगी। क्योंकि वह अविशिष्ट होने पर जिस अनुपात में व्यवहृत होती उसकी अपेक्षा (श्रम की तुलना में) अधिक अनुपात में व्यवहृत होगी।

(४) संभव है कि कोई अन्य भूमि वनोत्पादन नहीं कर सकती और यदि कर सकती तो, विशिष्ट वन-भूमि के अतिरिक्त, उसका कुछ अंश अधिनायक इस कार्य के लिए व्यवहार में लाता, तब वन-भूमि श्रम के साथ उस अनुपात में संयुक्त नहीं होगी जिसमें दूसरी भूमि के वनोत्पादन के योग्य होने पर होती जिससे दूसरी भूमि की अपेक्षा इसकी सीमान्त उत्पादकता अधिक होगी। परन्तु अधिनायक द्वारा अर्पित श्रम की सीमान्त उत्पादकता वन-भूमि पर वही होगी जो दूसरी भूमि पर। यदि कुछ श्रमिकों को एक प्रकार की भूमि से दूसरे प्रकार की भूमि पर अन्तरित करके वह अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकता,

जिन्हें त्यागे जानेवाले उत्पादों से अधिक पसंद करता है, तो वह अवश्य ऐसा करता।

६. संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)

हमने मान लिया था कि प्रत्येक धंधा केवल एक ही उत्पाद उत्पन्न करता है। परन्तु वास्तव में अधिकांश धंधे अनेक प्रकार के उत्पाद उत्पन्न करते हैं। फिर भी इससे पूर्वोक्त निष्कर्ष में कोई तात्विक अन्तर नहीं पड़ता।

यह संभव है कि किसी धंधे में दो या अधिक उत्पादों का एक निश्चित अनुपात में उत्पादन अनिवार्य हो जाय। जैसे कपास उत्पन्न करने में एक सेर रुई के साथ साथ लगभग दो सेर बिनौला भी अनिवार्यतः उत्पन्न हो जाय। परन्तु इसका केवल यही अर्थ है कि अधिनायक रुई की अतिरिक्त मात्रा और उसके दूने परिमाण में बिनौले उत्पन्न करने में उत्पादन के साधनों को लगाने के पहले उनके द्वारा किसी अन्य वस्तु की अमुक अमुक मात्रा उत्पन्न करने की सम्भावना से तुलना कर ले।

जिस अनुपात में दो या अधिक वस्तुएँ संयुक्त उत्पन्न की जाती हैं उसे बदल देना अधिकतर संभव है। जैसे भेड़ की उत्पत्ति या तो अधिक ऊन देने के लिए की जा सकती है या अधिक मांस के लिए और कोयले का चुनाव या तो अधिक वायु (गैस) उत्पन्न करने के लिए या अधिक नरम कोयला (Coke) बनाने के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार हमारा अधिनायक निश्चित साधनों द्वारा उपलब्ध वस्तुओं के विभिन्न भेदों की संभावना का पर्यवलोकन करके, जिस प्रकार की वस्तुएँ वह अधिक पसंद करता है उनका उत्पादन करने की योजना बना सकता है।

७. भविष्य के लिए व्यवस्था (Provision for Future)

अपने उत्पादन के साधनों को विभिन्न उद्योगों में वितरित करते समय हमारे अधिनायक को यह निश्चय करना पड़ेगा कि निकट भविष्य में उपभोग्य वस्तुओं के संभाव्य उत्पादन का, सुदूर भविष्य में होनेवाले अधिक उत्पादन के लिए, किस प्रकार और किस सीमा तक वह त्याग करेगा। अब हम सामान्य रूप से विचार करेंगे कि किन किन मुख्य उपायों द्वारा वह समाज की उत्पादन-क्रिया को अधिक "पूँजीवादीय" (Capitalistic) अथवा "जटिल" (Roundabout) बना सकता है।

(१) निःसंदेह क्रियाकल्प-ज्ञान की किसी निश्चित अवस्था में उत्पादन के साधनों का प्रयोग पूँजी की राशि बढ़ाने में करके, भावी उत्पादन को बढ़ाने के

लिए पर्याप्त क्षेत्र रहेगा—उदाहरणार्थ ऐसी वस्तुएँ बनाकर जैसे यंत्र और भवन, जिनका उपयोग विभिन्न धंधों में हो सके। इसप्रकार संभव है कि अधिनायक को यह पता हो अथवा उसके क्रियाकल्प-प्रवर (Technical experts) उसे सूचित कर दें कि अधिक खाद के उपयोग से कृषि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का उत्पादन पर्याप्त परिमाण में बढ़ाया जा सकता है। वृहत् और अद्यावधि (Uptodate) भट्ठियों के निर्माण द्वारा कच्चे लोहे के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है; रेल चलाने के लिए विद्युत का उपयोग करके उनके द्वारा अन्तरित होनेवाले यात्रियों की संख्या बढ़ाई जा सकती है; और इसी प्रकार से उत्पादन के लगभग सभी विभागों में वे उसकी जानकारी बढ़ा सकते ह ।

(२) संभव है वह जानता हो कि उत्पादन के कुछ साधनों को विभिन्न प्रकार के अनुसंधानों के लिए रख छोड़ने से ज्ञान की वृद्धि होगी जिसका उत्पादन में प्रयोग होने पर उत्पादित पदार्थों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि होगी।

(३) संभव है कि वह जानता हो कि श्रमियों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने में उत्पादन के साधनों का विभिन्न प्रकार से उपयोग करके भावी उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। हमने मान लिया है कि प्रत्येक श्रमी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता ह। परन्तु उसकी योग्यता शिक्षण-प्रशिक्षण (Instruction and training) द्वारा बढ़ाई जा सकती है। क्रियाकल्प-ज्ञान की निश्चित अवस्था मान लेने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक श्रमी अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमता के अनुसार अपना कार्य करने के लिए यथेष्ट आवश्यक ज्ञान से युक्त है। उदाहरणार्थ यदि प्रयोगात्मक कृषिक्षेत्रों (Farms) में किए गए अनुसंधानों के परिणामों का उपयोग करने के विषय में कृषकों को सावधानी से शिक्षा दी जाय तो उनकी कुशलता में वृद्धि हो सकती है।

इस सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत उन बच्चों की शिक्षा और प्रशिक्षण भी आता है जो भविष्य में श्रमी होनेवाले हैं । उत्पादन के साधनों को, श्रमियों को रोग और दुर्घटना से बचाने के लिए पृथक् करके, वर्तमान और भावी श्रमियों की शारीरिक क्षमता की रक्षा और उन्नति करना और श्रमियों का स्वास्थ्य और शारीरिक कुशलता बनाए रखना भी इसी के अन्तर्गत है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें "कुशलता के लिए आवश्यक वस्तुओं" (Necessaries for Efficiency) की (जैसे भोजन) यथेष्ट पूर्ति होती रहे। प्रत्येक श्रमी को जीवन-रक्षा के लिए उपभोग्य वस्तुओं की एक न्यूनतम मात्रा आवश्यक है; यह न्यूनतम से

अधिक मात्रा श्रमी की शारीरिक क्षमता को वढ़ाकर अप्रत्यक्ष रूप से भावी उत्पादन में सहायक हो सकती है।

(४) संभव है कि अधिनायक यह जानता हो कि वह कुछ साधनों को दूसरे साधनों में परिवर्तित कर सकता है। उदाहरणार्थ, कुछ वन-भूमि को काटकर साफ करने में द्रव्य व्यय करके उसे फसल उत्पन्न करने योग्य बनाया जा सकता है। इसी प्रकार कुछ कोयला खोदनेवाले श्रमियों की शिक्षा पर कुछ व्यय करके उन्हें राजगीरों की शिक्षा दी जा सकती है।

यह ध्यान देने की बात है कि उत्पादन में "अधिक कुशलता" (Greater efficiency) प्राप्त करने के लिए हमारे अधिनायक को वर्तमान उपभोग्य वस्तुओं में से कुछ का त्याग करना आवश्यक होगा। उसे अपने उत्पादन के साधनों को अधिक "जटिल" (Roundabout) ढंग से उपयोग में लाना होगा। कुछ को उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से हटाकर ऐसे कार्यों में लगाना होगा जैसे अतिरिक्त यंत्रों का उत्पादन, अनुसंधानों की प्रोन्नति (Promotion), विद्यमान ज्ञान का प्रसार और रोग-निवारक औषधियों का वितरण। परन्तु यह निश्चित है कि वह इन उपायों द्वारा भावी उत्पादन बढ़ाने की सभी संभावनाओं का उपयोग नहीं करेगा। संभवतः उसके लिए यह संभव होगा कि वह अपने सभी उपलब्ध उत्पादन के साधनों का उपयोग ऐसे ढंग से करे—जैसे नई रेलें, सड़कें, शक्ति-उत्पादक यंत्रों और भवनों के निर्माण में—जिससे भविष्य में अधिक उत्पादन हो सके; परन्तु प्रतिबंध यह है कि श्रमी उसे उत्पन्न करने को प्रस्तुत हों। पर जैसा हम देख चुके हैं, कि उसके श्रम-बल को जीवित रखने के लिए उपभोग्य वस्तुओं की कुछ मात्रा का उत्पादन आवश्यक होगा; और अधिक उत्पादन, कुछ सीमा तक, श्रमियों की उत्पादन कुशलता बढ़ाकर, अच्छा परिणाम उत्पन्न करेगा। इसके अतिरिक्त संभव है कि हमारा अधिनायक अपने श्रमियों को केवल ऐसे यंत्र न मान ले जिन्हें न्यूनाधिक उपभोग्य वस्तुएँ उसी प्रकार देनी हैं जिस प्रकार इंजन में न्यूनाधिक ईंधन दिया जाता है। संभव है कि यद्यपि भविष्य के लिए वर्तमान का त्याग करने से उसकी प्रजा अच्छे निर्वाह-स्तर का उपभोग कर सके जिसमें उसे "कुशलता के लिए आवश्यक वस्तुएँ" प्राप्त हो सकें फिर भी वह कुछ ही सीमा तक ऐसा करे।

अतएव हमारा अधिनायक उन सभी उपायों पर विचार करेगा जिनके द्वारा केवल भविष्य में फल देनेवाले कार्यों को करने के लिए, उत्पादन के साधनों को पृथक् करके, उपभोग्य वस्तुओं का भावी उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। "विनियोजन" (Investment) के विभिन्न रूपों के संभाव्य भावी उत्पादनों का विचार करते हुए, वह निश्चय करेगा कि किस सीमा तक

और किन उपायों द्वारा वह उत्पादन को अधिक "पूँजीवादीय" बना सकता है। जिन क्रियाकल्प-प्रवरों की योजनाएँ अस्वीकृत हो चुकी हैं वे निःसंदेह शिकायत करेंगे कि उनके धंधे "अकुशल" (Inefficient) हैं और उन्हें अधिक अद्यावधि (Uptodate) सज्जाओं की आवश्यकता है। परन्तु "कुशलता" बहुत अस्पष्ट और संदिग्ध शब्द है। सभी आवश्यकताएँ पूर्ण रूप से तृप्त नहीं की जा सकतीं और न तो विनियोजन के सभी संभाव्य अवसरों का सदुपयोग किया जा सकता है; क्योंकि उत्पादन के साधनों की मात्रा सीमित है। आर्थिक समस्या संभाव्य विकल्पों में से एक का चुनाव है। हमारे इस काल्पनिक उदाहरण में अधिनायक द्वारा चुनाव होता है। यदि उसके क्रियाकल्प-प्रवरों ने उपलभ्य संभावनाओं की जानकारी उसे दे दी है तो उन्होंने अपना कार्य कर दिया। उसके निर्णयों पर लागू करने में ऐसे शब्द जैसे "कुशल" कुछ अर्थ नहीं रखते क्योंकि केवल वही अपना अधिमान-माप जानता है।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि आधुनिक पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में ये समस्याएँ कैसे सुलझाई जाती हैं!

तीसरा खण्ड

पूँजीवाद में मूल्य-प्रणाली की कार्य-विधि

बारहवाँ अध्याय

माँग की नियन्त्रण-शक्ति

(The Controlling Power of Demand)

१. पूँजीवाद की मुख्य विशेषताएँ

(The Distinguishing Features of Capitalism)

हम यह देख चुके हैं कि क्या उत्पन्न किया जाय---अर्थात् उत्पादन के साधनों का किस प्रकार उपयोग हो---इस प्रश्न को कोई अधिनायक किस प्रकार सुलझाएगा। अब हमें इस पर विचार करना है कि किसी आधुनिक पूँजीवादी देश में यह समस्या किस प्रकार हल की जा सकती है। इसीसे सम्बन्ध रखनेवाले इस प्रश्न पर भी हम विचार करेंगे कि विभिन्न साधनों के आपेक्षिक पारिश्रमिक किन शक्तियों पर निर्भर रहते हैं? पूर्ण अधिनायकतन्त्र में यह प्रश्न विरले ही उठता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति वही पाता है जो अधिनायक उसे देना चाहता है।

ब्रिटेन, संयुक्त राज्य, फ्रान्स और सच पूछिए तो सभी प्रजातन्त्र देशों की आर्थिक प्रणाली पूँजीवादी है। इस प्रणाली की कार्यविधि, विशेषतः राज्य द्वारा होनेवाले नियन्त्रण के सम्बन्ध में, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है, परन्तु आगे जिन साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख होगा वे सभी देशों के सम्बन्ध में ठीक हैं।

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली आर्थिक अधिनायकतन्त्र के ठीक विपरीत है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण उत्पादन की केन्द्रीय योजना नहीं बनती। राज्य कुछ उद्योगों का (जैसे डाक विभाग) स्वयं संचालन करता है, सम्पत्ति के उपयोग पर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाता है, श्रमिकों के कार्य करने की अवस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाता है, और कुछ वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय को रोकता अथवा उस पर नियंत्रण लगाता है। राज्य द्वारा लगाये गये नियंत्रणों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति अपने इच्छानुसार कार्य करने के लिये बहुत कुछ स्वतन्त्र रहता है। देश की आर्थिक क्रिया प्रत्यक्षतः पारस्परिक सम्पर्क न रखनेवाले अनेक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नियमों पर निर्भर रहती ह, क्योंकि उत्पादन के साधन का प्रत्येक स्वत्वाधिकारी (जिनमें श्रमी भी सम्मिलित हैं और जो, दास-प्रथा के हट जाने से, अपने श्रम के स्वामी स्वयं हैं) अपने इच्छानुसार उसका उपयोग करने और उसके द्वारा होनेवाली आय को अपनी रुचि के अनुसार व्यय करने के लिये स्वतन्त्र है।

इस स्वतंत्रता को हम यह कहकर व्यक्त कर सकते हैं कि पूँजीवाद की तीन मुख्य विशेषतायें हैं–(१) निजी संपत्ति (Private Property) (२) उद्यम की स्वतंत्रता (Freedom of Enterprise) और (३) उपभोक्ताओं द्वारा चुनाव की स्वतंत्रता (Freedom of Choice by Consumers)।

निजी सम्पत्ति की संस्था का अर्थ यह है कि किसी प्रकार की संपत्ति का स्वामी, यदि वह राज्य के नियमों के अनुसार कार्य करता है, तो अपने इच्छानुसार अपनी संपत्ति का उपयोग कर सकता अथवा किसी दूसरे को किराए पर दे सकता है। जैसे यदि किसी व्यक्ति के पास कुछ भूमि है तो चाहे वह उस पर निजी उद्यान बनावे अथवा भवन बनावे या उस पर गेहूं उपजावे या किसी को लगान पर दे दे या यों ही बेकार छोड़ दे। निःसंदेह उसका चुनाव संभावना की सीमा से परिसीमित है। सम्भव है उसकी भूमि का क्षेत्रफल गौल्फ (एक प्रकार का अंग्रेजी खेल) खेलने के पूरे क्षेत्र के लिये अपर्याप्त हो अथवा उस पर केले उत्पन्न करने के लिये आवश्यक मात्रा में धूप न आती हों। परन्तु जो संभव है उसकी सीमा के भीतर वह अपनी भूमि का जिस प्रकार चाहे उपयोग करने के लिये और उससे प्राप्त होनेवाले पदार्थ को अपने पास रखने अथवा विनिमय करने के लिये सब प्रकार से स्वतन्त्र है। भूमि उसकी निजी संपत्ति है।

उद्यम की स्वतन्त्रता की संस्था का अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति राज्य के नियमों के अनुसार चलता है तो वह जिस प्रकार की आर्थिक क्रिया करना चाहे कर सकता है। वह जिस प्रकार का व्यवसाय चाहे आरम्भ कर सकता है। यदि वह पहले से कोई व्यवसाय कर रहा है तो जबतक के लिये वह चाहे उसे बन्द रख सकता है। अथवा वह जिस व्यवसाय में चाहे लग सकता है और जिस अधियोजक (Employer) के यहाँ चाहे कार्य कर सकता है अथवा एक को छोड़कर दूसरे के यहां कार्य कर सकता है, अथवा यदि उसकी इच्छा है तो बेकार रह सकता है। निःसंदेह उसके चुनाव का क्षेत्र सीमित है। सम्भव है उसके पास (फेरी आदि को छोड़ कर) अपना व्यवसाय आरम्भ करने के लिये पर्याप्त पूँजी न हो, सम्भव है किसी व्यवसाय में अधियोजन प्राप्त करने के लिये उसमें आवश्यक क्षमता न हो और अन्य धन्धों में अधियुक्त होने के लिये उसम प्रशिक्षण (Training) का अभाव हो। परन्तु उसके लिये खुले हुए क्षेत्रों में उसे चुनाव की स्वतन्त्रता है।

उपभोक्ताओं द्वारा चुनाव की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि यदि लोग राज्य के नियमों का पालन करते रहें तो अपने द्रव्य को जिस प्रकार चाहें व्यय कर सकते हैं। कोई व्यक्ति जो वस्तु चाहे खरीद सकता है। यदि चाहे तो वह कुछ द्रव्य गाड़कर रख सकता है। यदि उसकी इच्छा हो तो कुछ द्रव्य बचाकर जिस व्यवसाय में चाहे विनियुक्त कर सकता

है। परन्तु यहाँ भी उसका क्षेत्र संभावना द्वारा परिसीमित है। बहुत से लोग अपने श्रम के पारिश्रमिक के रूप में और अपनी संपत्ति के उपयोग के विनिमय में इतना कम द्रव्य पाते हैं कि न तो वे भली प्रकार जीवन-निर्वाह कर सकते हैं और न पर्याप्त द्रव्य बचा सकते हैं। परन्तु इन सीमाओं, और राज्य द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों, के भीतर वे इच्छानुसार जो चाहें करने को स्वतन्त्र हैं।

अब हमें अपने प्रश्न का उत्तर देना चाहिये। वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो यह निर्णय करती हैं कि उत्पादन के उपलब्ध साधनों का किस प्रकार उपयोग हो?

२. उपभोक्ता की राजसत्ता

(The Sovereigntyof the Consumer)

इसका उत्तर यह है कि पूँजीवादी प्रणाली में उपभोक्ता राजा है। सब प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का अंतिम उद्देश्य उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन है। उत्पादन के किसी साधन का स्वामी उसका उपयोग--कुछ छोटे-मोटे प्रतिबन्धों को छोड़कर, जिनका उल्लेख अभी किया जायगा--जिस कार्य से उसे सबसे अधिक आय होने की आशा जान पड़ती है उसमें करेगा। परन्तु द्रव्य के रूप में आय—अर्थात् उत्पादन के साधनों का अर्जन (Earnings)—अन्त में उस द्रव्य से ही प्राप्त होती है जो इन साधनों की सहायता से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के लिये उपभोक्ताओं द्वारा दिया जाता है। अतएव जिस ढंग से उपभोक्ता अपना द्रव्य व्यय करते हैं उससे व्यक्त होनेवाला उनका अधिमान ही यह निर्णय करता है कि क्या उत्पन्न किया जाय।

यदि सभी वस्तुएँ आदेश (Order) देकर उत्पन्न कराई जातीं तो यह बहुत स्पष्ट होता। तब आर्थिक क्रिया किस दिशा में जायगी इसका निर्णय उपभोक्ताओं द्वारा दिये गये आदेशों से होता। फुटकर विक्रेता इन आदेशों को थोक व्यापारियों के पास पहुँचाते, थोक व्यापारी उत्पादकों के पास, उत्पादक अधपकेमाल (Intermediate products) उत्पन्न करनेवालों के पास पहुँचाते, इत्यादि। परन्तु वास्तव में अधिकांश वस्तुएँ उपभोक्ताओं की माँग के अनुमान (Anticipation) के अनुसार उत्पन्न की जाती हैं। साहसी अपने उत्पादों को बेचने के पहले उत्पादन के अनेक साधनों का भुगतान अपने पास से करते हैं। परन्तु इससे उपर्युक्त कथन की मौलिक सत्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। साहसी उपभोक्ताओं की माँग का अनुमान करके ही कोई कार्य करते हैं। यदि उनके अनुमान ठीक होते हैं तो उन्हें द्रव्य के रूप में अपेक्षाकृत अधिक आय होती है; परन्तु यदि वे ठीक न हुये तो साहसी अपनी योजनाओं को परिवर्तित करके उन्हें उपभोक्ताओं की रुचि के अनुकूल बनाते हैं। उत्पादन का नियंत्रण माँग द्वारा--अथवा यों कहें कि

अधिकतर अनुमानित माँग द्वारा—होता है। अधिनायकतन्त्र में, क्रियाकल्प-ज्ञान की सीमा के भीतर, अधिनायक के अर्घापण पर ही यह निर्भर रहता है कि उत्पादन के साधनों का उपयोग किस प्रकार हो। पूँजीवाद में, जिस प्रकार उपभोक्ता अपने द्रव्य को व्यय करते हैं उससे व्यक्त, उनका अर्घापण ही नियन्त्रण करनेवाली शक्ति है।

निःसंदेह उपभोक्ता कहाँ तक इसका निर्णय कर सकते हैं कि क्या उत्पन्न किया जाय इसकी भी सीमाएँ हैं। सबसे पहले उपलभ्य साधनों की मात्रा और क्रियाकल्प-ज्ञान की अवस्था निश्चित रहने पर, व्यवहारतः क्या संभव है इसके द्वारा वह परिसीमित है। यों तो विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकती हैं परन्तु सर्वदा एक ऐसी सीमा होती है जिसके परे यदि उपभोक्ता एक वस्तु की अधिक मात्रा चाहते हैं तो दूसरी वस्तुओं की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। यह परिसीमा (Limitation), व्यक्तिगत किसी उपभोक्ता को, बाजार में प्रचलित मूल्य के द्वारा ज्ञात होती है। द्रव्य की जो मात्रा उसे बचानी या व्यय करनी है परिसीमित है। अतएव दिए हुये मूल्य पर कुछ सीमित क्षेत्र ही उसके लिये खुला है। उसे यह निश्चय करना पड़ेगा कि क्या ले और क्या छोड़े। और सभी उपभोक्ताओं के निश्चयों का समुच्चय ही भविष्य में उत्पादन-क्रिया की दिशा का नियन्त्रण करता है। दूसरे, राज्य द्वारा लगाये प्रतिबन्ध भी हैं। कुछ वस्तुओं का विक्रय (जैसे कुछ विषैली औषधियाँ) वर्जित हो सकता है, अन्य वस्तुओं (जैसे मदिरा आदि) का विक्रय नियन्त्रित हो सकता है, कुछ अन्य के उत्पादन (जैसे तंबाकू) पर कर लगाया जा सकता है जिससे उनका मूल्य चढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त सम्भव है कि राज्य उपभोक्ताओं से कुछ द्रव्य लेकर उसका उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिये करे। फिर भी हम यह मान ले सकते हैं कि किसी प्रजातन्त्र देश में राज्य बहुत कुछ अपने नागरिकों की इच्छा के अनुकूल ही कार्य करता है, अतएव उपभोक्ताओं की राजसत्ता की परिसीमाएँ केवल देखन में जान पड़ती हैं, वास्तविक नहीं हैं। तीसरे, सब प्रकार के एकाधिकार हैं जिसका विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। यह सच है कि यदि किसी एकाधिकृत (Monopolised) वस्तु की माँग में वृद्धि होती है तो उपभोक्ताओं की माँग के अनुसार उस वस्तु का उत्पादन बढ़ा कर उनकी इच्छा की पूर्ति करना एकाधिकारी के लिये अधिकतर लाभदायक होगा। फिर भी किसी समय उपभोक्ता वस्तुओं का वह संकलन (Assortment) नहीं पाते जिसे वे सबसे अधिक पसन्द करते हैं। एकाधिकारी अपने क्षेत्र में उत्पादन के अधिक साधनों को रोकने के लिये अपने एकाधिकार का प्रयोग करते हैं, यद्यपि वे साधन उस क्षेत्र में उसके बाहर की अपेक्षा अधिक उत्पादन कर सकते हैं— अर्थात् यद्यपि एकाधिकृत पदार्थ

ised) और विस्तृत सज्जा का उपयोग है। छोटे-छोटे पचासों कारखानों में विभक्त श्रम और पूँजी के द्वारा जितने जूते उत्पन्न किए जा सकते हैं, उससे बहुत अधिक जूते विस्तृत यंत्रोंवाला जूते का एक बड़ा कारखाना उतनी ही पूँजी और श्रम द्वारा उत्पन्न कर सकता है। परन्तु यदि उसकी बिक्री का क्षेत्र संकुचित है तो वे यंत्र बहुत समय तक व्यर्थ पड़े रहेंगे और उस छोटे क्षेत्र के निवासी जूते बनानेवाले अत्यन्त सरल यंत्रों से उससे बहुत कम पूँजी लगाकर, तथा शेष पूँजी को अन्य कार्यों के लिए व्यय करके, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक सन्तोषप्रद ढंग से कर सकते हैं।

कुछ पदार्थ एक स्थान पर दूसरे से अधिक सस्ते उत्पन्न किए जा सकते हैं, परन्तु स्थानान्तरण-व्यय के कारण यह सुविधा नगण्य हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि जो आविष्कार स्थानान्तरण-व्यय घटा देते हैं वे बाजार के क्षेत्र का विस्तार करके श्रम-विभाजन का क्षेत्र विस्तृत करते हैं।

श्रम-विभाजन में यह आवश्यक नहीं है कि जो साधन जिस वस्तु के उत्पादन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है वह उसी के लिए उपयोग में लाया जाय। बहुत से साधन एक ही प्रकार के उपयोग के लिए नहीं बने हैं। वे बहुत से कार्यों के लिए व्यवहृत किए जा सकते हैं। जैसे कोई आदमी अपने समाज में सबसे अच्छा राजगीर और दशांश अच्छा शिल्पी हो सकता है परन्तु यदि राजगीरों की अपेक्षा शिल्पियों की पूर्ति माँग से कम है तो यदि वह राजगीरका कार्य न करके शिल्पी का कार्य करे तो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की अधिक पूर्ति हो सकती है। इसी प्रकार संसार की गेहूँ उत्पन्न करनेवाली सर्वोत्तम भूमि का कुछ अंश अंगूर उत्पन्न करने योग्य हो सकता है। यदि गेहूँ के क्षेत्रों की अपेक्षा अंगूरों के उद्यानों की कमी है तो गेहूं के कुछ क्षेत्रों में अंगूर उत्पन्न करके उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ अधिक उत्तमता से पूरी की जा सकती हैं।

इस विवेचन में माँग और उपभोक्ताओं के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि हमारा साधारणीकरण किसी ऐसे समाज तक परिमित है जिसमें उत्पादन की व्यवस्था का आधार लाभ है। उदाहरणार्थ पूर्ण अधिनायक प्रणाली (Dictatorship) में अधिनायक ही उपभोक्ता होगा; क्योंकि उस समाज की सारी माँग उसी की इच्छा पर निर्भर रहेगी। कोई समाज चाहे जिस प्रकार संगठित हो उत्पादन के साधनों की किसी निश्चित मात्रा द्वारा, उन व्यक्तियों की आवश्यकताएँ, जो अपने चुनावों को प्रभावशाली बना सकते हैं, श्रम-विभाजन का पूरा लाभ उठाकर, अपेक्षाकृत उत्तम ढंग से पूरी हो सकती हैं।

सकेंगे या सफलता प्राप्त कर सकेंगे, इसमें सन्देह है। इसके अतिरिक्त यह स्मरण रखना चाहिये कि २००० रु० प्रति वर्ष आयवाले व्यक्ति द्वारा बाजार पर जो प्रभाव पड़ता है वह २०० पौंड प्रति वर्षवाले की अपेक्षा दस गुना है। उत्पादन उपभोक्ताओं की "आवश्यकताओं" द्वारा प्रभावित नहीं होता है बल्कि उनकी "प्रभावक माँग" (Effective Demand) द्वारा--वास्तव में व्यय होनेवाली अथवा जिसके व्यय होने की आशा है उसके द्वारा--प्रभावित होता है। अतएव प्रायः ऐसा कहा जाता है कि आय की असमानता कम करना आवश्यक है। परन्तु यह सब भिन्न-भिन्न मतों की बातें हैं। हमारा प्रस्तुत कर्तव्य यह दिखाना है कि पूँजीवाद कैसे चलता है, उसके गुण-दोषों का विवेचन करना नहीं।

३. दृष्टान्त (Illustrations)

अब हम इसके कुछ दृष्टान्त देंगे कि किसी समाज की उत्पादन क्रिया उपभोक्ताओं के इच्छानुसार किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है। पाठकों को सावधान कर दिया जाता है कि इन दृष्टान्तों में आधुनिक पूँजीवादी देशों में आर्थिक प्रणाली की कार्यविधि के कुछ दोषों पर ध्यान नहीं दिया गया है। विशेषतः एकाधिकारी की इन दृष्टान्तों में उपेक्षा की गयी है तथा यह मान लिया गया है कि द्रव्य रचना (Monetary Mechanism) बड़ी सुविधापूर्वक कार्य करता है। परन्तु हमें क्रम-क्रम से आगे बढ़ना चाहिए। अब हम पूँजीवाद का विस्तृत और कुछ-कुछ आदर्शवादी चित्र उपस्थित करते हैं। पीछे हम कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे कि एकाधिकार की उपस्थिति और विनियोजन में परिवर्त्तनों से, जो मंदी की ओर ले जाते हैं, यह चित्र किस प्रकार परिसीमित हो जाता है।

उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्त्तन से हम आरंभ करते हैं। मान लीजिये कि जौ की अपेक्षा गेहूँ (अथवा गेहूँ से बनी वस्तुओं) के लिए उनकी इच्छा पहले से अधिक है। यदि बाजार में बिक्री के लिये आनेवाली जौ और गेहूँ की मात्रा पहले जैसी ही है तो गेहूँ का भाव चढ़ जायगा और जौ का गिर जायगा। इससे पहले की अपेक्षा गेहूँ अधिक और जौ कम उत्पन्न किया जाने लगेगा। मान लीजिये कि पहले के साम्य (Equilibrium) में गेहूँ का मूल्य वही था जो जौ का था। तब जो भूमि जौ की अपेक्षा गेहूँ अधिक उत्पन्न कर सकती थी वह सब गेहूँ उत्पन्न कर रही थी और इसका विलोम (Conversely)। मान लीजिये कि कुछ उपभोक्ताओं का अधिमान जौ की अपेक्षा गेहूँ के पक्ष में अधिक हो जाने के कारण एक नया साम्य स्थापित हो गया है जिसमें गेहूँ का मूल्य जौ की अपेक्षा १० प्र० श० अधिक हो गया है। तब सभी भूमि (और उसके सहयोगी

साधन), जो या तो जौ की कुछ मात्रा या उसका ९/१० गुना गेहूँ उत्पन्न कर सकती है, अब केवल गेहूँ उत्पन्न करने के काम में लायी जायगी। उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्त्तन हो जाने के कारण, मूल्य-रचना (Price-mechanism) गेहूँ की अपेक्षा अधिक—परन्तु १० से कम प्रतिशत अधिक—जौ उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामियों को जौ से गेहूँ के उत्पादन के लिए भूमि को परिवर्तित करने को प्रेरित करेगी।

यह एक सरल उदाहरण है, क्योंकि हमने मान लिया है कि दी हुई भूमि (और श्रम तथा सज्जा) या तो गेहूँ उत्पन्न कर सकती है या जौ। व्यवहार में माँग में परिवर्त्तन होने पर सारी उत्पादन-रचना में प्रतिक्रिया होती है। कुछ भूमि छोड़ दी जा सकती है, कुछ सज्जा संभव है पुरानी हो जाय, कुछ श्रमी देश के दूसरे भाग में चले जायँ; सारांश यह है कि विभिन्न उद्योगों में साधनों का पर्याप्त "पुनर्गठन" (Reshuffling) हो सकता है। परन्तु साधन दूसरे क्षेत्र में तभी जाएँगे जब उनके स्वामी नये क्षेत्र में उनसे अधिक अर्जन की आशा रखते हैं। अर्थात् उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि उपभोक्ता नए क्षेत्र में उनके उत्पादन को, उनके पहले क्षेत्र के उत्पादन की अपेक्षा, अधिक महत्त्व देंगे।

अब हम मान लेते हैं कि क्रियाकल्प-ज्ञान में वृद्धि (जिसमें प्रतीक्षा की आवश्यकता न हो) होने से कुछ निश्चित साधनों द्वारा किसी वस्तु को पहले से अधिक मात्रा में उत्पन्न करना सम्भव हो जाता है। उपभोक्ता यह चाहेंगे कि नई विधि का व्यवहार हो। तब वे बिना किसी वस्तु का त्याग किये उस वस्तु की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकेंगे अथवा इसके विकल्पस्वरूप उस धंधे से उस वस्तु के उत्पादन को कम किये बिना, कुछ साधन दूसरे धन्धों में दूसरी वस्तुओं के उत्पादन के लिये भेजे जा सकते हैं। मूल्य-रचना की उत्तेजना के फल स्वरूप, नई विधि अवश्य ग्रहण की जायगी, क्योंकि जो उत्पादक उसका व्यवहार करेंगे उनकी आय बढ़ जायगी। फिर, उसका लाभ उपभोक्ताओं को भी होगा क्योंकि, प्रतिस्पर्द्धा में उस वस्तु का उत्पादन बढ़ेगा, अतएव उसका मूल्य गिरेगा।

अब हम उपभोक्ताओं की बढ़ी हुई संचय (Saving) की इच्छा—भविष्य में उपयोग के लिये अधिक प्राप्त करने के लिए वर्तमान उपयोग को त्यागने की इच्छा—पर विचार करेंगे। संचय करने से वे उपभोग्य वस्तुओं पर कम व्यय करेंगे। अपनी भावी आय बढ़ाने के लिये वे अपने संचय को विनियुक्त करते हैं। उपभोग्य वस्तुओं की माँग में कमी होने के कारण उत्पादन के कुछ साधन उस धंधे से, जिसमें वे वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं, बाहर जाने को प्रेरित होते हैं। साथ ही विनियोजन में वृद्धि होने से, कच्चामाल, निर्माणात्मक वस्तुएँ (Constructional goods), यन्त्र, इत्यादि उत्पन्न करने

वाले धन्धों में साधनों की माँग बढ़ जाती है। अतएव उत्पादन का ढाँचा उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुसार अधिक "पूँजीवादीय" हो जाता है।[1]

अन्त में इस पर विचार कर लेना चाहिये कि मुक्त पूँजी—अर्थात् विनियोजन का इच्छुक द्रव्य—किस दिशा में जायगी इसका निर्णय कौन करता है? उत्पादन की विधि को अधिक पूँजीवादीय बनाकर किसी भी वस्तु का उत्पादन बढ़ाने के अनेक उपाय होते हैं। फिर भी विनियोजक अपने द्रव्य से अधिक से अधिक आय प्राप्त करन का लक्ष्य रखेंगे। अतएव वे केवल भौतिक उत्पादनों में वृद्धिकी क्रियाकलात्मक संभावनाओं (Technical possibilities) का ही नहीं वरन् जिसकी पूर्ति में वे वृद्धि कर सकते हैं उन विभिन्न भौतिक उत्पादनों के संभाव्य भावी मूल्यों का भी ध्यान रखेंगे। अर्थात् भावी माँग—उपभोक्ताओं के अर्घापण (Valuations) — का अनुमान (Anticipation) उनका पथप्रदर्शक होगा।

हम समझते हैं कि अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि कोई एक उपभोक्ता वर्तमान मूल्यों में परिवर्त्तन नहीं करा सकता फिर भी उपभोक्ताओं के कार्यों का योगफल ही उत्पादन की प्रक्रिया जिस दिशा में जायगी उसका नियन्त्रण करता है। यह सत्य है कि उपभोक्ताओं के अधिमानों तथा क्रियाकल्प-ज्ञान की अवस्था में होनेवाले परिवर्त्तनों के अनुसार तुरत परिवर्त्तन करने के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का हमने विचार नहीं किया है। इन बातों का विवेचन हम चौदहवें अध्याय में करेंगे। हमारा वर्तमान लक्ष्य इस तथ्य की प्रतिष्ठा करना था कि पूँजीवाद में उपभोक्ता ही अंतिम निर्णायक होता है।

४. उपभोक्ताओं की आय का साधन

हम देख चुके हैं कि पूँजीवाद में उपभोक्ता ही सर्वोपरि है। परन्तु ये उपभोक्ता हैं कौन? और उत्पादन-क्रिया की दिशा का, मूल्य-रचना द्वारा, नियंत्रण करने के लिये द्रव्य के रूप में आय वे कहाँ से प्राप्त करते हैं? उपभोक्ता और कोई नहीं केवल उत्पादनों के साधनों के स्वामी हैं और उनकी आय निजी अथवा सामूहिक दान को छोड़कर, जैसे माता-पिता द्वारा बच्चों को व्यय के लिये मिलनेवाला द्रव्य या राज्य से प्राप्त होनेवाली जीवन वृत्ति (पेंशन) केवल उन साधनों का अर्जन है जो उनके पास हैं, जैसे उनके श्रम का पारिश्रमिक अथवा उनकी संपत्ति के उपयोग के बदले मिलने वाला द्रव्य।

---

१ चूँकि संचय करने और विनियोजन करने के निर्णय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किए जाते हैं, अतः अनवियोजन या मुद्रास्फीति हो सकती ह। द० अध्याय १८, २० और ३१ म व्यापार-चक्र का विवेचन।

इससे आदान-प्रदान की अवधियों का अध्ययन जटिल हो जाता है। उदाहरणार्थ मान लीजिये कि कृषि के उत्पादों के लिये माँग बढ़ गई है। अब कृषि के योग्य भूमि से अधिक आय होने लगेगी और ऐसी भूमि के स्वामी उपभोक्ता के रूप में, उत्पादन की क्रिया पर पहले की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालने में समर्थ होंगे। अतएव यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि प्रत्येक उपभोक्ता की आय निश्चित तथा स्थिर है। प्राय: प्रत्येक प्रकार के आर्थिक परिवर्तन से उत्पादन के विभिन्न साधनों के आपेक्षिक अर्जन में—अतएव विभिन्न उपभोक्ताओं की आपेक्षिक आय में—परिवर्तन की संभावना रहती है।

फिर भी उपभोक्ता की राजसत्ता का हमारा सिद्धान्त पक्का रहता है। और यह भी सत्य है कि जबतक उपभोक्ता एक क्षेत्र में कुछ साधनों द्वारा होनेवाली सेवाओं को दूसरे क्षेत्र में होनेवाली सेवाओं से अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं तबतक ऐसे साधनों की प्रवृत्ति दूसरे क्षेत्र से पहले में जाने की ओर होगी।

ज्यों ज्यों १८ व्यक्तियों पर भूमि की मात्रा बढ़ती है, त्यों त्यों प्रति वर्गमील उत्पाद घटता है। संभवतः अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि यह तालिका से प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।]

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि [उन अविभक्तों (Indivisibles) को छोड़कर जिनका स्पष्टीकरण और विवेचन पीछे होगा] व्यवहार में प्रत्येक साधन दूसरे साधनों से इस अनुपात में संयुक्त होगा कि यदि केवल उसी की वृद्धि की जाय तो सम्पूर्ण उत्पाद घट जाय। अर्थात् हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने की आशा करनी चाहिए कि प्रत्येक साधन की औसत प्राप्ति (Return) क्रमशः घटती जायगी। भूमि अथवा कृषि में ही कोई विचित्रता नहीं है यह नियम प्रत्येक साधन और प्रत्येक धंधे पर लागू होता है। और वास्तव में हम अपने सामान्य ज्ञान से ठीक इसी निष्कर्ष पर पहुँचने की आशा रखते हैं। यदि मान लिया जाय कि केवल एक ही साधन में १० प्र० श० की वृद्धि

प्रति वर्गमील मनुष्य
चित्र १७

की जाय और अन्य साधनों की मात्रा ज्यों की त्यों रहे तो हम सम्पूर्ण उत्पाद में १० प्र० श० से कम वृद्धि की आशा करेंगे। यदि ऐसी बात न होती तो संसार का सम्पूर्ण खाद्य केवल एक छोटे भूखण्ड से उत्पन्न किया जा सकता, क्योंकि उस पर लगाये हुए मनुष्यों और अन्य साधनों की संख्या दूनी करके उस क्षेत्र का उत्पाद असीम मात्रा तक दूना किया जा सकता।

अपने हाथ में रखनेवाले किसी सूत्रधारी - कंपनी (Holding company) के द्वारा होता है परन्तु शेष अध्याय में इस जटिलता का विचार छोड़ दिया गया है।

यह स्मरण होगा कि केन्द्रीय योजना (Central planning) के विपरीत पूँजीवाद के अन्तर्गत जानकारी एकत्र करने और निर्णय करने का कार्य अधिकतर विकेन्द्रित रहता है। यह कार्य अधिकतर साहसियों द्वारा पूर्ण होता है। प्रत्येक साहसी अपने हित के लिये अपने ढंग से कार्य करता है। यदि साहसी के रूप में वह अपना जीवन आरम्भ करने जा रहा है तो वह उस धंधे में प्रवेश करता है जो, उसकी दृष्टि में, भविष्य में सबसे अधिक लाभ-दायक जान पड़ता है। यदि वह एक नया कारखाना बनाना चाहता है तो जो स्थान उसे सबसे अधिक उपयुक्त जँचता है उसी को चुनता है। वह वे ही वस्तुएँ उत्पन्न करता है जो उसके विचार से सबसे अधिक लाभ देनेवाली होंगी और उत्पादन की उन्हीं विधियों का प्रयोग करता है जिन्हें वह अधिक से अधिक लाभदायक समझता है। ज्यों ज्यों समय बीतता है कुछ धन्धों का विस्तार होता है और कुछ का संकोच (अथवा यदि सभी का विस्तार होता है तो कुछ का कम और कुछ का अधिक होता है); धन्धे की स्थिति (Location) बदलती है, क्रियाकल्प-सम्बन्धी कुछ अनुसन्धान कम और कुछ अधिक व्यवहार में लाये जाते हैं, न्यूनाधिक मात्रा में श्रम की बचत करनेवाले उपायों का उपयोग किया जाता है, इत्यादि। यह सभी परिवर्तन साहसियों के भिन्न भिन्न निर्णयों के फलस्वरूप होते हैं। क्या उत्पन्न करें, कैसे उत्पन्न करें और कहाँ उत्पन्न करें---इन समस्याओं को कोई समाज किस प्रकार सुलझाता है यह उसके साहसियों द्वारा अनुसरण की जानेवाली नीतियों पर निर्भर रहता है।

उद्योग का अधिक जोखिम (Risk) साहसी ही अपने ऊपर झेलता है। वस्तुओं के उत्पादन और उनकी बिक्री में समय लगता है अतएव जिन साधनों को वह भाड़े पर लेता है उन्हें एक निश्चित् द्रव्य देने का वह बीड़ा उठाता है--- अपने श्रमियों को निश्चित् दर पर मजदूरी देने का, जिससे भूमि ली है उन जमीन्दारों को एक निश्चित लगान देने का, जिनसे द्रव्य उधार लिया है उन्हें समयानुसार ब्याज के रूप में एक निश्चित धन देने का, इत्यादि---यद्यपि उसे यह निश्चय नहीं रहता कि अपने उत्पादित पदार्थों से उसे कितना द्रव्य मिलेगा। अतएव विक्रय-मूल्य में वृद्धि होने से जो अप्रत्याशित लाभ या ह्रास होने से अप्रत्याशित हानि होगी वह मुख्यतः साहसी की ही होगी; कालान्तर में जितने परिवर्तन 'लाभ' (Profit) में होते हैं उतने अन्य किसी प्रकार की आय में नहीं।

आर्थिक अवस्थाएँ लगातार बदलती रहती हैं। कुछ वस्तुओं की माँग बढ़ती है और कुछ की घटती है। कुछ साधन दूसरों की अपेक्षा अधिक दुर्लभ, अतएव

महँगे हो जाते हैं। क्रियाकल्प-ज्ञान में परिवर्तन बराबर होते रहते हैं। कोई साहसी किस सीमा तक सफल है यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या क्या परिवर्तन हुए, क्या हो रहे हैं, क्या होंगे और उसकी संस्था पर कहाँ तक उनका प्रभाव पड़ रहा है या पड़ेगा—इन्हें वह ठीक ठीक जानने में कितना सफल हुआ है। उसका स्थिति-ज्ञान (Judgment of the situation) और भावी प्रगतियों का अनुमान ही उसे अपनी आय बढ़ाने के सर्वश्रेष्ठ उपाय का अवलम्बन करने की ओर अग्रसर करेगा; परन्तु पूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत जो नीति स्वयं उसके लिये सबसे अधिक हितकर होती है, वही उपभोक्ताओं की रुचि के अनुकूल भी होती है। उपभोक्ता जो चाहते हैं वही उन्हें देना उसके लिये सबसे अधिक लाभदायक होता है। यदि उत्पादन के साधनों का उपयोग करके वह उनका सीमान्त उत्पादन बढ़ा सकता है तो अन्यत्र से उन्हें खींच लेना उसके लिये लाभदायक होता है। विभिन्न साधनों के मूल्य उपभोक्ताओं द्वारा वर्तमान उपयोग में उनके सीमान्त उत्पादों का अर्घापण (Valuation) व्यक्त करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि अन्यत्र अधियुक्त (Employed) साधनों का अधियोजन उसे लाभदायक सिद्ध होता है (और आवश्यक होने पर उन्हें आकर्षित करने के लिये वह कुछ दे दे) तो इसका निष्कर्ष यह है कि ये साधन जो कुछ अभी उत्पन्न कर रहे हैं उनकी अपेक्षा उसके हाथ में जाकर जो उत्पन्न करने लगेंगे उसे उपभोक्ता अधिक पसंद करते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ यथासम्भव सस्ता उत्पन्न करना उसके लिये लाभदायक होगा और इसका यह अर्थ है कि वह उन साधनों का उपयोग करेगा (प्रतिबन्ध यह है कि उसके हाथ में पड़कर ये कम से कम उतनी सेवा अवश्य प्रदान करें जितनी अन्यत्र करते थे) जो अन्य कार्यों में न लगा कर मुक्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार मूल्य-रचना (Price mechanism) साहसियों की लाभ की अभिलाषा और उपभोक्ताओं की उत्पादन के उपलभ्य साधनों से अपनी इच्छाओं की अधिक से अधिक पूर्ति करने की अभिलाषा में समता स्थापित करने का प्रयत्न करती है।

वास्तव में यह हितों की एकरूपता किसी प्रकार पूर्ण नहीं कही जा सकती। इसमें अपूर्ण स्पर्धा या एकाधिकार द्वारा बाधा पड़ती है। अध्याय १५ में हम इसका विस्तृत विवेचन करेंगे। यह बाधा इस प्रकार पड़ती है कि कुछ प्रकार की क्रियाओं द्वारा कुछ दूसरे ऐसे लोगों पर व्यय का भार पड़ता है, या लाभ मिलता है जो व्यय-भार या लाभ इन क्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों के ऊपर नहीं पड़ता। अतएव उनके निर्णयों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ वर्ष भर में लन्दन के ऊपर पड़नेवाली पचहत्तर हजार टन कालिख बहुत से लोगों के ऊपर ऐसे व्यय का भार डालती है—धुलाई-व्यय बढ़ा कर तथा अन्य असुविधायें उत्पन्न करके—जो वास्तव में उनपर पड़ना चाहिये जो धुवाँ उत्पन्न करने

वाले हैं। यह बाधा इस प्रकार भी पड़ती है कि संचालक अपने लाभ की दृष्टि से कार्य करते हैं और हिस्सेवालों के हित का ध्यान नहीं रखते; अथवा कभी कभी सरकार सारे समाज के हितों का ध्यान न रखकर किसी विशेष समूह के हित की दृष्टि से कार्य करती है; अथवा व्यवसाय-संस्थायें झूठे विज्ञापनों द्वारा उपभोक्ताओं को, या अपनी दृढ़ आर्थिक स्थिति और उज्ज्वल भविष्य व्यक्त करनेवाले भ्रामक लेखा (Accounts) द्वारा विनियोजकों (Investers) को, ठगती हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह एकरूपता लोगों में सम्पत्ति और आय के वर्तमान वितरण के आधार पर है। और यदि साहसियों और उपभोक्ताओं की एकरूपता पूर्ण भी हो तो कितने सम्यक् रूप से इन हितों की पूर्ति होती है यह साहसियों की योग्यता और विवेक पर निर्भर रहता है। हम यह नहीं कहते कि अपने वर्तमान रूप में पूँजीवाद पूर्णता के निकट पहुँचता है फिर भी सामाजिक संगठन की कोई प्रणाली व्यवहार में दोष से मुक्त नहीं होगी। चाहे समाज की कोई व्यवस्था हो लोग भूल करेंगे ही, और कुछ लोग बेईमान, अन्यायी या अनुदार होंगे। हमारा कार्य इस तर्क में पड़ना नहीं है कि कोन सी प्रणाली पूँजीवाद की अपेक्षा उत्तम होगी अथवा किस प्रकार और किस सीमा तक पूँजीवाद की कार्य-प्रणाली में उन्नति की जा सकती है। हम तो यह दिखाना चाहते हैं कि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें लोग समझने में असमर्थ होते हैं; जैसे यह कि मूल्य-प्रणाली सचमुच में एक प्रणाली है और यदि उसे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर दिया जाय तो यह आर्थिक क्रिया को उस दिशा में ले जाने में समर्थ होती है जो उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुकूल होती है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर हम साहसी के सम्मुख आनेवाली समस्याओं और जिस प्रकार वह उन्हें सुलझाता है उन ढंगों पर विचार करेंगे।

२. साहसात्मक संगठनों के रूप

(Forms of Entrepreneurial Organisations)

किसी प्रकार के साधन का स्वामी साहसी के रूप में कार्य कर सकता है। जैसे कोई भूस्वामी द्रव्य उधार लेकर मजदूर विनियुक्त कर ले, यंत्र, पशुओं के लिये चारा, खाद, बीज इत्यादि खरीद ले और अपनी भूमि पर उनका उपयोग करे अथवा श्रमियों का कोई समूह अपना एक संघ बना ले और द्रव्य उधार लेकर कोई कारखाना चलावे। परन्तु अपने पास कम सम्पत्ति या भौतिक साधन होने पर उधार प्राप्त करना प्रायः कठिन होता है। अतएव प्रायः पूँजीवाले ही साहसी का कार्य करते हैं। सम्भव है कि वे साधारण नीति-सम्बन्धी मोटी मोटी बातों को छोड़कर सारी बातें एक वैतनिक प्रबन्धक के ऊपर छोड़ दें परन्तु तब भी अन्तिम दायित्व उन्हीं के ऊपर रहेगा

क्योंकि यदि हानि होगी तो उन्हीं को सहनी पड़ेगी और प्रबन्धक को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे को नियुक्त करने का अधिकार उन्हीं को रहता है। इस स्थल पर साहसवाले संगठनों के मुख्य मुख्य रूपों का संक्षिप्त विवरण उपयोगी होगा।

व्यक्तिगत स्वत्वाधिकारत्व (Individual Proprietorship) अल्प-मात्रावाले उद्योग के दिनों में सबसे प्रसिद्ध रूप था और आज भी संख्या में अधिक (किन्तु महत्त्व में नहीं) व्यवसाय-संस्थाएँ 'एक व्यक्तीय संस्थाएँ' (One man concerns) हैं जिन पर एक साहसी का नियंत्रण होता है। कृषि में, जो बहुत से देशों में आर्थिक क्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, तथा फुटकर व्यापार में इस प्रकार के संगठन की अब भी प्रधानता है।

साझेदारी (Partnership) साथ साथ व्यवसाय करनेवाले व्यक्तियों का सम्बन्ध है। प्रत्येक साझेदार की शक्ति, अधिकार और कर्तव्य की परिभाषा साझेदारी के समझौते (Partnership agreement) में दी हुई रहती है। यदि उसमें किसी बात का उल्लेख नहीं रहता तो उस पर सन् १८९० का साझेदारी का विधान (Partnership Act of 1890) लागू होता है। प्रायः सभी साझेदार पूँजी में सहायक होते हैं, यद्यपि कभी कभी कोई साझेदार केवल अपनी योग्यता प्रदान करता है,परन्तु सभी दशाओं में प्रत्येक साझेदार संस्था के ऋण में अपने स्वत्व के अनुसार देनदार होता है। इस गंभीर दायित्व के कारण साझेदारी के विधान द्वारा यह आवश्यक है कि कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में—जैसे व्यवसाय का ढंग बदलने, अथवा किसी नये साझेदार को सम्मिलित करने के विषय में—सब साझीदारों की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाय; परन्तु दैनिक कार्यों में साझेदारों का बहुमत सबको मान्य होता है। साहस-सम्बन्धी संगठनों का यह रूप वकीलों (Solicitors), लेखापालों (Accountants), भू-सम्पत्ति के दलालों (Estate agents), डाक्टरों इत्यादि के व्यवसाय के लिये बहुत उपयुक्त होता है और उनमें बहुत प्रचलित है।

सन् १९०७ के परिमित साझेदारी विधान (Limited Partnership Act) के अनुसार साझेदारी में परिवर्तन सम्भव है। इसके अनुसार एक या अधिक "साधारण साझीदारों" के साथ, जो संस्था के सब ऋणों और देनों के लिये उत्तरदायी हों, परिमित साझेदारी हो सकती है। इसी प्रकार उसमें यह भी दिया हुआ है कि एक या अधिक **परिमित साझेदारों** (Limited Partners) के साथ भी परिमित साझेदारी हो सकती है, जो कि निश्चित धन प्रदान करते हैं और केवल उतने ही के लिये उत्तरदायी होते हैं, परन्तु प्रतिबन्ध यह है कि वे व्यवसाय के साधारण प्रबंध में भाग नहीं ले सकते। फिर भी इस विधान का लाभ नहीं उठाया गया क्योंकि कम्पनी

विधान (Companies Act) के अनुसार **'निजी परिमित कम्पनी'** (Private Limited Company) के रूप में निबन्धित कराने (Registering) में अधिक सुविधायें हैं।

निजी कम्पनी एक बहुत महत्त्वपूर्ण साहसात्मक संगठन है, इससे सदस्यों को परिमित दायित्व के लाभ प्राप्त होते हैं और केवल दो ही व्यक्तियों से इसकी स्थापना हो सकती है। इसके लाभ सार्वजनिक कम्पनियों से अधिक होते हैं; उदाहरणार्थ, उसे संयुक्त पूँजी कम्पनी (Joint-stock Company) के निबन्धक (Registrar) के पास अपना वार्षिक स्थिति-विवरण (Balance-sheet) नहीं जमा करना पड़ता और व्यवसाय आरंभ करने पर कोई रुकावट नहीं रहती। फिर भी निजी कम्पनी को अपने कार्य-संचालन-नियम (Articles of Association) के द्वारा (१) अपने हिस्सों को हस्तान्तरित करने के अधिकार पर नियंत्रण रखना चाहिये (२) अपने सदस्यों की संख्या (कुछ अपवादों को छोड़कर) ५० तक सीमित रखनी चाहिये (३) जनता को हिस्सा या ऋण-पत्र (Debentures) खरीदने से वर्जित करना चाहिये।

निश्चय ही यह एक ऐसा संगठन है। जो मध्यम आकार के व्यापारिक या औद्योगिक संगठन के लिये (जिसमें जनता से धन लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती) बहुत उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त यह प्रयोगात्मक व्यवसाय के लिये— जिसकी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति केवल थोड़े से लोग, चुकता पूँजी के द्वारा, कर सकते हैं--बहुत ही उपयोगी विधि है। इनमें से बहुतसी कम्पनियाँ, कुछ सीमा तक सफलता प्राप्त कर लेने पर, विघटित कर दी जाती हैं, अर्थात् वे **सार्वजनिक कम्पनियों** में परिणत कर दी जाती हैं जिनके विस्तार के लिये द्रव्य प्रदान करने को जनता आमंत्रित की जाती है। परिमित दायित्व की प्रणाली का प्रवेश ग्रेट ब्रिटेन में १८५५ में हुआ और संचय करनेवालों को यह अवसर मिला कि कम्पनी के ऋण के लिये अपने विनियोजन की अंकित राशि (Nominal Amount) से अधिक के लिये उत्तरदायी न होकर उसके हिस्सेदार बन सकें। स्पष्ट ही यह उन औद्योगिक और स्थानान्तरकरण व्यवसायों (Transport businesses) को अर्थदान (Financing) करने का बड़ा महत्त्वपूर्ण ढंग है, जिनमें तुरत भारी विनियोजन की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि उनमें महामात्रोत्पादन की पर्याप्त मितव्ययता (Economies of Large Scale Production) होती है। यदि ऐसी कम्पनियाँ जनता से धन की माँग करती हैं तो वे निजी कम्पनियों के वैध (Legal) नियमों का पालन नहीं कर पातीं, अतएव सार्वजनिक कम्पनी के रूप में उनका निबन्धित (Registered) होना आवश्यक है। प्रसंगवश यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि

किसी सार्वजनिक कम्पनी के लिये सदस्यों की न्यूनतम संख्या सात है, परन्तु अधिकतम की सीमा नहीं है। जैसे किसी कम्पनी की अंकित (Nominal) और निष्कासित (Issued) पूँजी १० लाख पौंड हो, जो एक पौण्ड के १० लाख हिस्सों में बँटी हो। ये हिस्से लगभग १ हजार सदस्यों के हाथ में हो सकते हैं जो संयुक्त साहसी (Joint Entrepreneur) होंगे। हिस्सेवाले कम्पनी के लाभ को निश्चित अवधि पर लाभांश (Dividend) के रूप में अपने हिस्सों के अनुपात में बाँट लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवसाय के प्रबन्ध में सभी सदस्यों का समान रूप से भाग लेना व्यवहार में असम्भव होगा, इसी से यह कार्य एक संचालक-मंडली (Board of Directors) को सौंप दिया जाता है। यह मंडली नियमतः सभी हिस्सेदारों के प्रति उत्तरदायी रहती है, परन्तु वास्तव में यदि संचालक और उनके मित्र कम्पनी के अधिकांश हिस्सों के स्वामी होते हैं तो कम्पनी की नीति का वास्तविक संचालन वे ही करते हैं। प्रबन्ध में छोटे हिस्सेदारों का हाथ नहीं के बराबर होता है।

सस्ते से सस्ते ढंग से पूँजी प्राप्त करने के लिये बाजार में प्रचलित बहुत से ढंग हैं जिनके द्वारा भावी हिस्सेदारों को उनकी इच्छा के अनुसार शर्त रखने की स्वतंत्रता दी जाती है। उदाहरणार्थ संचयी अधिमान्य अंशों (Cumulative Preference Shares) के स्वामियों को लाभांश की एक निश्चित दर दी जाती है; और यदि किसी वर्ष उतना लाभांश देने के लिये पर्याप्त लाभ नहीं होता है तो भविष्य में किसी वर्ष उसकी कमी पूरी की जाती है। और भी कई प्रकार के हिस्से होते हैं और प्रत्येक में जोखिम की मात्रा भिन्न भिन्न होती है।

कोई कंपनी ऋणपत्र (Debentures) निष्कासित करके उधार ले सकती है; उन पर ब्याज की दर निश्चित रहती है और उनकी प्राप्ति प्रायः कम्पनी की सम्पत्ति को प्रतिभूति (Security) मान कर की जाती है, अर्थात् यदि उनका ब्याज न मिले तो वे कम्पनी की उस सम्पत्ति पर अधिकार कर ले सकते हैं। ऋणपत्रधारी (Debenture holders) साहसी नहीं होते, वरन् केवल ऋण-दाता होते हैं क्योंकि चाहे लाभ हो या न हो वे ब्याज अवश्य लेंगे।

दो या अधिक कम्पनियों का पृथक् वैध अस्तित्व अथवा उनके नाम के साथ लगी हुई ख्याति (Goodwill) को नष्ट किये बिना उन पर केन्द्रीय नियंत्रण रखने का एक अच्छा ढंग सूत्रधारी कंपनी (Holding company) है। बहुत से बड़े बड़े अधिष्ठानों के (Establishments) समूह—जैसे इंगलैण्ड में विकर्स तथा इम्पीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज और संयुक्त राज्य में जेनरल मोटर्स —पूर्णतः अथवा अधिकतर किसी सूत्रधारी कंपनी द्वारा नियंत्रित होते हैं। अतएव इस संस्था का कुछ विवेचन उचित जान पड़ता है।

'सूत्रधारी कंपनी' पद का प्रयोग पहले उस कम्पनी के लिये होता था जिसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य दो या अधिक कम्पनियों के अधिकांश हिस्सों को खरीद कर उन पर नियंत्रण प्राप्त करना था। परन्तु इधर कुछ वर्षों से इसके अन्तर्गत उन कम्पनियों को भी सम्मिलित कर लेते हैं जो अन्य कम्पनियों पर नियंत्रण रखने के अतिरिक्त स्वयं भी व्यवसाय करती हैं। नियंत्रित संस्थायें 'सहायक' (Subsidiaries) कहलाती हैं। दूसरी ओर दी हुई तालिका एक प्रसिद्ध अंग्रेजी सूत्रधारी कंपनी विकर्स लिमिटेड के सहायकों का दिग्दर्शन कराती है।

मान लीजिये कि एक सामान्य विक्रय-नीति का अनुसरण करने के लिये या क्रियाकल्प-प्रवरों (Technical experts) के एक दल की सेवाएँ प्राप्त करने के लिये या उनके पेटेंटों को एकत्र करने के लिये अथवा इसी प्रकार के अन्य उद्देश्यों के लिये संयुक्त होकर कुछ व्यवसाय-संस्थायें कुछ बचत कर सकती हैं। उनके लिये एक मार्ग तो यह होगा कि वे अपने पृथक् अस्तित्व को मिटाकर मिलित (Amalgamate) हो जायँ। परन्तु मिलन की व्यवस्था प्रायः कठिन और व्ययसाध्य होती है। दूसरा उपाय होगा कंपनी-संघ (Cartel) बनाना; परन्तु, जैसा कि हम पन्द्रहवें अध्याय में बतावेंगे, कम्पनी-संघ का जीवन प्रायः अल्पकालीन होता है। प्रत्येक संस्था अपना पृथक् अस्तित्व रखती है और अपने हित की ओर ही अधिक ध्यान देती है; अतएव अधिकतर मूल्य अथवा उत्पादन के सम्बन्ध में केवल अल्पकालीन समझौते ही सम्भव होते हैं। सूत्रधारी कंपनी मिलन की अपेक्षा अधिक शिथिल संगठन है। इसके द्वारा की जानेवाली बचत कम्पनी-संघ द्वारा संभव नहीं है और यह उसकी अपेक्षा अधिक स्थायी और संगठित आधार पर स्थित होती है; और इसकी व्यवस्था सरल और सस्ती होती है क्योंकि इसमें हिस्सों के हस्तान्तरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना पड़ता।

इस उपाय द्वारा कुछ थोड़े से व्यक्तियों के लिये, जितनी पूँजी के वे स्वामी हैं उससे बहुत अधिक पर, नियंत्रण रखना संभव है। हम एक काल्पनिक उदाहरण देते हैं। मान लीजिये कि इस प्रकार के एक समूह के पास हिस्सों के रूप में १० लाख पौंड से कुछ ही अधिक की पूँजी है जिसके द्वारा उसे क नामक कम्पनी पर, जिसकी पूँजी २० लाख पौण्ड है, नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। अब क कम्पनी—अर्थात् सूत्रधारी कंपनी—४० लाख पौण्ड की पूँजीवाली ख कम्पनी के अधिकांश हिस्से, आधे हिस्सों के रूप में और आधे ऋणपत्र के रूप में (निःसन्देह ऋणपत्रधारियों का कोई नियंत्रण नहीं होता), खरीद लेती है। ख कम्पनी ग कम्पनी के अधिकांश हिस्से, जिसकी पूँजी ८० लाख पौण्ड की है, आधे हिस्सों के रूप में आधे ऋणपत्र के रूप में, खरीद लेती है; ग कम्पनी घ कम्पनी के अधिकांश हिस्से, जिसकी पूँजी १६० लाख पौण्ड की है, खरीद लेती है,

इत्यादि। जब ऐसा होता है तब सहायक कम्पनी के अल्पसंख्यक हिस्सेवालों के, जो नियंत्रक समूह के सदस्य नहीं होते, हित संकट में पड़ जाते हैं। सहायक कम्पनियों को प्रायः बहुत पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाती है। परन्तु कंपनियों का सम्पूर्ण समूह वास्तव में एक ही संस्था होती है जिसकी नीति का संचालन नियंत्रक समूह (Controlling group) करता है। यदि इस समूह के हितों का अल्पसंख्यक हिस्सेदारों के हितों से संघर्ष होता ह तो अल्प-संख्यकों को हानि उठानी पड़ती है।

दूसरी बात यह है कि सूत्रधारी कंपनी की स्थापना द्वारा साधारण जनता से कोई जानकारी छिपाई जा सकती है। उनके पुंजीभूत (Consolidated) स्थितिपत्र (Balance sheet) का प्रकाशन विधि द्वारा (Legally) अनिवार्य नहीं है[1] और न तो उसे प्रस्तुत करने की विधि ही अबतक पूर्ण हुई है। जिस सहायक (Subsidiary) कम्पनी के सभी हिस्से सूत्रधारी कम्पनी के हाथ में रहते हैं वह अपना वार्षिक स्थितिपत्र केवल उस सूत्रधारी कम्पनी को ही दिखा सकती है; केवल सार्वजनिक कम्पनियों को संयुक्त पूंजी कम्पनियों के निबंधक (Registrar) के पास अपने स्थितिपत्र की एक प्रति जमा करनी पड़ती है।

सहकारी समितियाँ (Co-operative societies)-उपभोक्ता सहकारी समितियाँ उपभोक्ताओं की समुदाय होती हैं जो फुटकर व्यापार करती और अपने व्यापार के लाभ को सदस्यों में बाँट देती हैं। इस प्रकार की अनेक समितियाँ कभी कभी संयुक्त होकर एक थोक व्यवसाय समिति (Wholesale society) बना लेती हैं जो फुटकर समितियों की पूर्ति करतीं और कभी कभी स्वयं उत्पादन में लग जाती हैं। इस प्रकार सहकारी थोक व्यवसाय समिति कई प्रकार के उत्पादन करती है, जैसे गेहूँ उपजाना, कपड़े बनाना, जलपान रखना, बंक चलाना, इत्यादि। उत्पादक-सहकारी समितियाँ उत्पादकों के समुदाय होती हैं जो अपने सदस्यों के उत्पादों को बेचती और व्यापार का लाभ आपस में बाँट लेती हैं। उनका ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा अन्य देशों में, जैसे डेनमार्क में, अधिक महत्त्व है। ग्रेट ब्रिटेन में अनेक वस्तुओं की बिक्री पर—जैसे दूध और शूकरमांस (Bacon)—उत्पादकों की प्रतिनिधि-मंडलियों (Representative Boards) द्वारा राज्य का नियंत्रण रहता है।

राजकीय-उद्यम (State enterprise)—केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें कभी कभी उत्पादन कार्य में भाग लेती हैं और जनता से

---

१. १९४६ के "कंपनीज बिल" में, जिसके अनुसार बहुत से सुधार होने वाले हैं (विशेषतः ऐसे सुधार जिनके अनुसार कंपनियों को अपने विषय में अधिक जानकारी देना आवश्यक होगा), इसे अनिवार्य करने का प्रस्ताव है।

विकर्स लिमिटेड

कम्पनियों का समूह

विकर्स लिमिटेड

- रौबर्ट बौडी लिमिटेड
- कुक, ट्रफ्टन ऐंड सिम्स लि०
- दि लोकी रबर ऐंड वाटर-प्रूफिंग कं० लि०
- दि आइल औफ वौल्ने एस्टेट्स कं० लि०
- स्टील इनवेस्ट-मेन्ट्स लि०
- विकर्स आर्मस्ट्रौंग लि०
    - इंग्लिश स्टील कौ-पौरेशन लि० (कैमेल लेयर्ड ऐंड कं० लि० के साथ)
        - दि डार्लिग्टन फोर्ज लि०
        - इन्डस्ट्रियल स्टील्स लि०
        - टेलर ब्रदर्स ऐंड कं० लि०
        - फर्थ-विकर्स स्टेनलेस स्टील्स लि० [टौमस फर्थ ऐंड जौन ब्राउन लि० के साथ संयुक्त]
    - पामर्स हेबर्न कं० लि०
    - दि टेम्स ऐम्यू-निशन वर्क्स लि०
    - दि वैरिएबल स्पीड गेयर लि०
    - दि ह्वाइटहेड टौरपेडो कं० लि०
- विकर्स (ऐविएशन) लि०
    - दि सुपर मैरीन ऐविएशन वर्क्स (विकर्स लि०)
- विकर्स ट्रेन लाइटिंग कं० लि०
- मेट्रोपौलिटन-कैमेल [कैमेल लेयर्ड ऐंड कं० लि० के साथ संयुक्त] कैरेज ऐंड वैगन कं० लि०
    - दि मिडलैंड रेलवे-कैरेज ऐंड वैगन कं० लि०
    - दि पेटेंट शैफ्ट ऐंड ऐक्सिलट्री कं० लि०
    - दि विलिंग्सवर्थ आयर्न कं० लि०
    - मेट्रोपौलिटन-कैमेल-वेमन मोटर बौडीज़ लि० (वेमंस मोटर बौडीज़ (१९२५) लि० के साथ संयुक्त)।

ऋण लेकर अथवा कर के द्वारा पूँजी प्राप्त करती हैं, जैसे अंग्रेजी सर-कार डाक-विभाग पर स्वत्वाधिकार रखती और उसका संचालन करती है; इसी प्रकार अनेक स्थानीय संस्थाएँ ट्रामगाड़ियाँ चलाती तथा जल, गैस, विजली इत्यादि देती हैं।

यह सूची इतने से समाप्त नहीं होती; परन्तु इसमें साहसी संगठनों के मुख्य मुख्य भेद आ गये हैं। अर्थशास्त्र में व्यवहृत अन्य अनेक शब्दों के समान ही व्यवसाय-संस्था (Firm) की ठीक ठीक परिभाषा देना कठिन है। क्योंकि वास्तविक संसार के व्यापार (Phenomena), जिनका संक्षिप्त वर्णन परिभाषाओं द्वारा करने का प्रयत्न किया जाता है, निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं। संभव है कोई वड़ा व्यवसाय अपने प्रबंधकों अथवा विभागों को वहुत स्वतंत्रता प्रदान कर दे और कोई व्यवसाय-संस्था अपनी नीति का वहुत कुछ नियंत्रण किसी सूत्रधारी कंपनी के हाथ में दे दे। हम सूत्रधारी कंपनी या उत्पादक सहकारी समिति को एक व्यवसाय-संस्था नहीं वरन् संस्थाओं का समुदाय मानेंगे। व्यवसाय-संस्थाओं के विषय में हमारे कुछ कथन उन राजकीय उद्यमों पर लागू नहीं होंगे जो अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करते। संस्थाओं के उस समूह को, जो अपने पृथक् नाम बनाये रखती हैं परन्तु जिनका नियंत्रण किसी सूत्रधारी कम्पनी द्वारा होता है, हम एक व्यवसाय-संस्था मानेंगे।

नीचे जो तर्क उपस्थित किया गया है वह दोनों दशाओं में समान रूप से लागू होगा। चाहे व्यवसाय-संस्था की साधारण नीति का निर्णय एक व्यक्ति द्वारा होता हो अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा परन्तु विवेचन को सरल बनाने के लिए हम मान लेंगे कि उसका नियंत्रण एक व्यक्ति अर्थात् साहसी द्वारा होता है।

३. लागत और लाभ (Costs and Profits)

साधारण बोलचाल में किसी व्यवसाय-संस्था की लागत का अर्थ कभी कभी केवल वह द्रव्य होता है जो श्रम, सज्जा (Equipment), सामग्री (Materials) तथा अन्य साधनों को प्राप्त करने के लिए संस्था द्वारा दिया जाता है। किसी विशेष समय में उस संस्था की संपूर्ण प्राप्ति में से ये लागत घटा देने पर जो बच जाता है उसी को एक प्रकार से आय मानते हैं। यह उन साधनों द्वारा अर्जित है जो संस्था में अधियुक्त (Employed) हैं और जिन पर साहसी का स्वत्वाधिकार है। दूसरे शब्दों में, यह वह प्राप्ति है जो अपनी संस्था की सेवा में लगनेवाले अपने प्रयत्न और सम्पत्ति के बदले वह पाता है। साधारणतः इसे 'लाभ' (Profit) कहते हैं।

लागत और लाभ के बीच साधारण बोलचालवाला यह अन्तर बहुत कुछ मनमाना है जैसा कि एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। दो समान व्यवसायों की कल्पना कीजिये। एक का स्वामी एक ऐसा व्यक्ति है जो अपना सारा समय उसके प्रबन्ध में लगाता है और स्वयं अपनी पूँजी भी लगाता है। दूसरे का स्वामी एक ऐसा व्यक्ति है जो एक प्रबन्धक अधियुक्त करता है, स्वयं बहुत कम समय देता और अधिकांश पूँजी ऋण द्वारा प्राप्त करता है। पहले व्यक्ति का लाभ दूसरे की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और उसकी लागत भी उसके अनुरूप ही कम होती है। इस अन्तर का कारण यह है कि तर्क की दृष्टि से पहले व्यक्ति को अपने श्रम (जिसकी नाप इस प्रकार होगी कि अन्यत्र अधियुक्त होकर—जैसे कहीं पर वैतनिक व्यवस्थापक का कार्य करके—वह कितना अर्जन कर सकता है) और अपनी पूँजी की सेवा (जिसकी नाप इस प्रकार होगी कि वह अन्यत्र उधार देकर उससे कितना ब्याज प्राप्त कर सकता है) को अपनी लागत में सम्मिलित करना चाहिये।

पहले अर्थ में लागत को, अर्थात् द्रव्य की उस राशि को, जो साहसी को उत्पादन के साधनों अथवा उनकी सेवाओं के विनिमय में अथवा द्रव्य के उस ऋण के बदले, जिससे वह उन साधनों को खरीदता अथवा भाड़े पर लेता है, दूसरों को देना पड़ता है, चुकता व्यय (Paid out costs) कह सकते हैं। उस लागत को, जो उपर्युक्त त्रुटि (Discrepancy) का कारण है, और साहसी द्वारा अपने साधन दूसरों को उधार देने और दूसरे कार्यों में लगाये जाने पर जो अर्जन हो सकता है उसकी नाप करनेवाला है, उसे "अन्य लागत" (Other costs) कह सकते हैं। अधिकतर कोई व्यक्ति अपने आप व्यवसाय आरंभ करके साहसी बनने का जोखिम तबतक नहीं उठायेगा जबतक कि उसे यह आशा न होगी कि (यदि प्रत्येक वर्ष नहीं तो कुछ वर्षों में) उसकी व्यवसाय-संस्था की पूर्ण प्राप्ति कम से कम उतनी हो जाय जितनी चुकता और अन्य लागतें लगी हैं।

समस्त चुकता और अन्य लागतों से सम्पूर्ण प्राप्ति जितनी अधिक होती है उसे संकुचित और बहुत कुछ पारिभाषिक अर्थ में 'लाभ' (Profit) कह सकते हैं। इस अर्थ में लाभ को 'विशुद्ध साहसीपन' (Pure entrepreneureship) का शुल्क मान सकते हैं। यह अनिश्चितता और उसके कारण व्यवसाय में उपस्थित होनेवाले जोखिम से उत्पन्न होता है। साहसी ही इसमें से अधिकांश जोखिम उठाता है और उसका लाभ भावी परिवर्तनों का अनुमान करने, उनका उसके व्यवसाय पर क्या प्रभाव

पड़ेगा—इसका निर्णय करने, और तदनुसार कार्य करने की सफलता के अनुसार बदलता रहता है। संक्षेप के लिए इस अर्थ में लाभ को हम 'विशुद्ध लाभ' (Pure Profit) कहेंगे।

'विशुद्ध लाभ' बहुधा ऋणात्मक (Negative) होता है। बहुतसे लोग अपनी व्यावसायिक योग्यता अधिक आँक कर व्यवसाय-संस्था स्थापित करते हैं जो कुछ समय बाद दिवाला बोल देती है अथवा यदि बचती भी है तो साहसी को उससे उतनी भी प्राप्ति नहीं होती जितनी कि वह अन्यत्र अपनी पूँजी को निश्चित व्याज पर उधार देकर प्राप्त कर सकता। व्यापार की मंदी के समय बहुत सी व्यवसाय-संस्थायें अपनी 'अन्य' लागत प्राप्त करने में भी असमर्थ होती हैं। व्यापार चक्र(Trade Cycle)के चढ़ाव उतार का कुछ धंधों पर अन्य धंधों की अपेक्षा अधिक हानिकर प्रभाव पड़ता है। जो संस्था तम्बाकू के समान पदार्थ उत्पन्न करती है, जिसकी माँग कालान्तर में कम परिवर्तित होती है, वह प्रति वर्ष कुछ न कुछ शुद्ध लाभ अवश्य ही प्राप्त कर सकती है, यद्यपि वह अपेक्षाकृत कम होगा; क्योंकि उसमें अपेक्षाकृत कम जोखिम रहता है। इसके विपरीत जो संस्थायें इस्पात और यंत्र आदि पदार्थ उत्पन्न करती हैं, जिसकी माँग कालान्तर में बहुत परिवर्तित होती रहती है, उन्हें, इस आशा से कि तेजी के समय अधिक मात्रा में शुद्ध लाभ इस हानि की पूर्ति से भी अधिक होगा, मंदी के दिनों में (ऋणात्मक विशुद्ध लाभ के अर्थ में) घाटा सहने के लिये तैयार रहना चाहिये।

यदि सब व्यवसाय-संस्थाओं और सम्पूर्ण तेजी और मंदी के वर्षों का एक साथ विचार करें तो सम्पूर्ण विशुद्ध लाभ अवश्य ही धनात्मक (Positive) होता है। दूसरे शब्दों में साहसी मात्र अपने व्यवसाय में उससे अधिक आय प्राप्त करते हैं जो वे दूसरों के यहाँ कार्य करके पाते; और अपनी पूँजी दूसरों को निश्चित व्याज पर उधार देकर जो प्राप्त कर सकते थे उससे अधिक उसे अपने व्यवसाय में लगाकर अर्जित करते हैं। जिन व्यक्तियों में साहसीपन के लिये सच्ची प्रतिभा होती है वे विरले होते हैं, और यदि उन्हें पर्याप्त पूँजी प्राप्त हो सके तो वे उससे बहुत अधिक अर्जित कर सकते हैं जो वे दूसरों के यहाँ कार्य करके पा सकते। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य व्यवसायों में कार्य करने वाले प्रतिभावान लोगों (जैसे चित्रपट के अभिनेता) के विषय में भी यही बात लागू होती है। संभवतः अधिकांश लोग विशुद्ध लाभ को आशा से अधिक मान लेते हैं। वे उन व्यवसाय-संस्थाओं का जो डूब जाती हैं अथवा उन कम्पनियों का जो वर्षों तक लाभांश (Dividend) नहीं देतीं अथवा विवश होकर अपनी पूँजी व्यय करती हैं विचार नहीं करते। वे इस बात पर पूरा ध्यान नहीं देते कि ऐसे प्रबन्धकों तथा अन्य अभियुक्तों (Employers) की संख्या कम नहीं है जो, यदि वे समझें कि साहसी के रूप में अधिक उपार्जन कर सकते हैं

तो, अपना पृथक् व्यवसाय आरम्भ करने के लिये पर्याप्त पूंजी एकत्र कर सकते हैं।

"मुक्त पूंजी" (Free Capital) के स्वामी या तो साहसी के रूप में (जैसे साधारण हिस्सों में पूंजी लगाकर) कार्य कर सकते हैं अथवा अपना द्रव्य निश्चित ब्याज दर पर उधार दे सकते हैं। यद्यपि सब बातों पर विचार करने पर कालान्तर में पहली विधि से अधिक प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें जोखिम अधिक रहता है, फिर भी विनियोजकों की परस्पर स्पर्द्धा के कारण दोनों का अन्तर अधिक नहीं होने पाता। इन्हीं कारणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि सब व्यवसाय-संस्थाओं का एक साथ विचार करने पर विशुद्ध लाभ का धनात्मक (Positive) होना प्रायः निश्चित सा है—परन्तु जितना अधिकतर लोग समझते हैं उससे बहुत कम।

हम देख चुके हैं कि सम्पूर्ण लागत को चुकता व्यय लागत (Paid-out cost) और अन्य लागत (Other costs) में बाँट सकते हैं। उसे हम अचल लागत (Fixed costs)—जो संस्था के उत्पादन की मात्रा के अनुसार घटती बढ़ती नहीं—और चल लागत (Variable)—जो परिवर्तनशील होती हैं[1]—इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। साहसी जितना परिश्रम अपनी संस्था के लिये करता है और उसकी जो अपनी सम्पत्ति उसमें लगी हुई है उसके अतिरिक्त सभी 'अन्य' लागतें इस अर्थ में अचल लागत हैं। वे संस्था के उत्पादन के अनुसार घटती बढ़तीं नहीं, चाहे वह अधिक हो या कम वे सर्वदा समान रहती हैं। परन्तु इस अर्थ में, कम से कम व्यापक सीमा के भीतर, कुछ चुकता लागत भी अचल होती है। जैसे किसी व्यवसाय-संस्था से बंक को, अथवा कम्पनी से उसके ऋणपत्रधारियों (Debenture-holders) को, मिलने वाला ब्याज अथवा जमीन्दार को उसके किसान से मिलनेवाला लगान संस्था के उत्पादन की मात्रा के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। इस प्रकार के मदों में व्यय—जैसे कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन, आग या चोरी से रक्षा के लिये बीमा, विज्ञापन आदि—प्रायः इसी कोटि में आता है।

---

१. यह समझ लेना चाहिये कि दोनों का अन्तर कभी कभी स्पष्ट नहीं होता। मान लीजिये कि कोई जहाजी-कम्पनी एक अतिरिक्त जहाज चलाना चाहती है। तो उसके कारण होनेवाला सम्पूर्ण अतिरिक्त व्यय चल लागत होगी। क्योंकि यदि जहाज न चलाया गया होता तो वह लागत न लगती परन्तु एक बार जहां जहाज चलने लगा यह लागत अतिरिक्त यात्रियों के लिये 'अचल' लागत होगी; अतिरिक्त यात्रियों को ढोने की चल लागत बहुत अल्प हो सकती है जैसे अतिरिक्त भोजन और एक या दो अतिरिक्त रसोईदार।

चुकता तथा अन्य लागत और चल तथा अचल लागत दोनों का अन्तर जानना लाभदायक होगा परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वे केवल स्थूल अन्तर हैं जिनका प्रयोग केवल अल्प काल के लिये हो सकता है। यदि साधनों के मूल्य (Factor prices) परिवर्तित नहीं होते तो प्राय: मूल यंत्र (Plant) को बढ़ाकर अथवा अचल पूँजी (Fixed capital), श्रम, सामग्री (Materials) इत्यादि में वृद्धि करके उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन में अधिक परिवर्तन होने के कारण कार्यालय के कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ाई या घटाई जा सकती है और चालू व्यय को अन्य मदों में भी, जो साधारण तथा 'अचल' मानी जा सकती हैं, परिवर्तित किया जा सकता है। फिर उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि के कारण 'अचल पूँजी' के कुछ भागों को अनुस्थापित करने—जैसे लारियों के लिये नये टायर खरीदने, भट्ठियों के लिये नये अस्तर लेने इत्यादि के लिये—और उन्हें सुधार कर अच्छी दशा में रखने के लिये होनेवाले द्रव्य की मात्रा भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त ज्यों ज्यों समय बीतता है "अचल पूँजी" घिसती जाती है और तबतक बदली नहीं जायगी जबतक उसे बदलने में लगनेवाले द्रव्य से प्राप्त होनेवाली आय आशा के अनुकूल न होगी। बहुत लम्बी अवधि में सभी व्यय चल होते हैं।

४.—साहसी के निर्णय

किसी साहसी को निम्नलिखित प्रश्नों का निर्णय कर लेना आवश्यक है:

१. वह किस धंधे में प्रवेश करे? जब वह निश्चय कर लेता है कि किसी अन्य की सेवा करने की अपेक्षा अपना स्वतंत्र व्यवसाय चलाकर वह अधिक उपार्जन कर सकता है तब यह प्रश्न सबसे पहले उसके सम्मुख आता है। साधारण हिस्सेवाले साहसी कहे जा सकते हैं इस दृष्टि से उन्हें भी यह निर्णय करना आवश्यक है कि निश्चित ब्याज दर पर उधार देने के बदले वे जोखिम उठाकर अपनी पूँजी किस धंधे में लगावें। परन्तु एक बार निर्णय कर लेने पर भी यह प्रश्न लुप्त नहीं हो जाता क्योंकि संभव है कि कोई साहसी अपना क्रियाक्षेत्र बदलना चाहे अथवा अपनी पूँजी को दूसरे धंधे में लगाना चाहे।

२. वह कौन पदार्थ या सेवा उत्पन्न करे? तर्क की दृष्टि से यह प्रश्न पहले के अन्तर्गत ही आ जाता है। क्योंकि दोनों का सम्बन्ध उसके उत्पादन के ढंग से है। परन्तु इनको पृथक् मानना ही सुविधाजनक है। क्योंकि कोई संस्था एक ही बृहत् समूह में बहुत सी भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करती है। पहला प्रश्न समूह से सम्बन्ध रखता है, जैसे मिट्टी के बर्तन या यंत्र का धंधा। दूसरा प्रश्न उस समूह में विशेष वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है।

३. उसके उत्पादन यंत्र या यंत्रों (Plants) का आकार कैसा होगा? इस शब्द से तात्पर्य उस इकाई (Unit) से है जो एक कारखाना या कृषि क्षेत्र (Farm) या दूकान के रूप में होती है। बहुत सी दशाओं में ठीक ठीक यह कहना कठिन होता है कि इकाई क्या है परन्तु कुछ दशाओं में उसमें संदेह नहीं रहता। परिभाषा की कठिनाई होने पर भी हम इसे पृथक् प्रश्न इस लिये गिनते हैं कि इस बात पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करें कि एक व्यवसाय-संस्था के पास अनेक उत्पादक यंत्र हो सकते हैं।

४. उसकी संस्था का विस्तार कितना हो? यह प्रश्न उसके उत्पादन के परिमाण से सम्बन्ध रखता है। इस अध्याय में अधिकतर पूर्ण स्पर्द्धा (Perfect competition) व्यापक मान ली गई है। अपूर्ण स्पर्द्धा अर्थात् एकाधिकार (Monopoly) का विवेचन पन्द्रहवें अध्याय में होगा। परन्तु यहां पर इतना कह देना आवश्यक है कि यदि कोई संस्था एकाधिकार की स्थिति में है तो किसी वस्तु का उत्पादन कितने परिमाण में हो इस प्रश्न का अर्थ यह है कि वह क्या मूल्य निर्धारित करे।

५. उत्पादन को कौन सी विधियाँ वह अपनावे? दूसरे शब्दों में श्रम तथा अन्य साधनों का संयोग वह किस अनुपात में करे? इसका विवेचन हम "साधनों में प्रतिस्थापन" (Substitution between factors) शीर्षक के नीचे करेंगे।

उसे यह भी निश्चय करना चाहिये कि उसका उत्पादक यंत्र (Plant) कहाँ स्थित होगा? परन्तु इतना विवेचन हम अध्याय २५ के लिय स्थगित रखते हैं। फिर भी इस समय हम इतना कह सकते हैं कि अन्य विषयों के समान इसमें भी वह उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुकूल ही चलेगा। उदाहरणार्थ, संभव है कि एक स्थान पर दूसरे स्थानों की अपेक्षा उत्पादन के विभिन्न साधनों तथा सामग्रियों को एकत्र करने में कम स्थानान्तरण की आवश्यकता पड़े। अन्य बातें समान रहने पर वह स्थानान्तरण की सुविधावाले स्थान को ही अपने कारखाने के लिये चुनेगा क्योंकि इससे उसका स्थानान्तरण व्यय कम होगा। और उसका ऐसा करना उपभोक्ताओं के लिये भी लाभदायक है क्योंकि उत्पादन के साधन अनावश्यक स्थानान्तरण लगने के बदले अन्य उपयोगी कार्यों में लगाये जा सकते हैं।

इन भिन्न भिन्न निर्णयों के लिये साहसी का पथ-प्रदर्शक क्या होगा? निःसन्देह वह अपनी रुचि और भावना का भी ध्यान रखेगा। उदाहरणार्थ संभव है कि वह किसी दूसरे की सेवा द्वारा अधिक धनोपर्जन करने की अपेक्षा अपना स्वामी स्वयं होना पसन्द करे; अथवा उसका यह विश्वास हो कि मादक द्रव्य हानिकर होते हैं अतएव मद्य उत्पादन के व्यवसाय में अधिक आय होते हुए भी वह उसे छोड़ कर अपनी रुचि के अनुसार कोई दूसरा

धंधा अपनावे। आय और विश्राम के सम्बन्ध में उसका अपना अधिमान-माप (Scale of preference) होगा और कुछ विश्राम पाने के उद्देश्य से सम्भव है वह अपने विश्राम काल में अधिक परिश्रम करके अधिक आय प्राप्त करने की अपेक्षा कम आय से ही सन्तोष कर ले। यदि वह संचय करता है तो उस बचत को संभव है अपने ही व्यवसाय में लगाना चाहे, चाहे उस पूँजी को और कहीं लगाने से अधिक आय प्राप्त हो सके। इन बातों का विचार हम अभी छोड़ देते हैं, क्योंकि इनका हमारे तर्क पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, और यह मान लेते हैं कि आर्थिक क्रिया के विभिन्न क्षेत्रों में उसे किसी विशेष क्षेत्र के लिये विशेष अधिमान नहीं है और अपनी संस्था में जितना कार्य वह करता है, तथा अपनी संस्था में अन्य साधनों की जो मात्रा उसने लगा रखी है, उसे न तो बढ़ाएगा न घटाएगा।

इन मान्यताओं (Assumptions) में से वह उस मार्ग का अनुसरण करेगा जिससे उसे व्यापक अर्थ में अधिकतम लाभ अर्थात् 'अन्य' लागत घन विशुद्ध लाभ प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में अपनी संस्था के जिन साधनों पर उसका निजी स्वामित्व है अर्थात् जो परिश्रम वह संस्था के लिये करता है और जो पूँजी उसमें उसने स्वयं विनियुक्त (Invest) की है उसमें वह यथासम्भव अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा ; इस सरल नियम की सहायता से हम पहले से यह कह सकते हैं कि जब अनेक प्रकार के मूल्य उसके सामने आएँगे तो कोई साहसी किस प्रकार का व्यवहार करेगा, प्रतिबंध यह है कि वह जानता हो, और हम भी जानते हों कि संस्था में अधियुक्त (Employed) साधनों के संयोग (Combination) उसके उत्पादन को किस प्रकार प्रभावित करेंगे और दूसरा प्रतिबंध यह है कि वह प्रचलित मूल्यों तथा क्रियाकल्प-ज्ञान में कोई विशेष परिवर्तन होने की आशा न करता हो। यदि उसे ऐसी आशा है तो यह पता लग जाने पर कि उसकी आशा क्या है हम पहले से बता सकते हैं कि वह क्या करेगा।

एक ओर उपभोक्ता के और दूसरी ओर साहसी के व्यवहार को बतलाने के लिए आवश्यक निर्दिष्टों (Data) में जो महान् अन्तर है उस पर पाठक ध्यान देंगे। जब किसी साहसी के सम्मुख कुछ निश्चित मूल्य आएँगे तब वह किस प्रकार का व्यवहार करेगा इसे पहले से बतलाने के लिए उसके अधिमान-माप का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि रुचिभिन्नता की कोई निश्चित सीमा नहीं है। परन्तु इस अर्थ में साहसी की रुचि में परिवर्तन होने से उसके व्यवहार पर प्रभाव नहीं पड़ता। सभी साहसियों का व्यवहार एक ही समान सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होता है कि वे सभी अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करेंगे। (उन अपेक्षाकृत छोटी बातों के विचार के अतिरिक्त, जिन्हें हमने

संकुचित होनेवाले धंध में व्यवसाय-संस्थाओं की संख्या (मिलन को छोड़ कर) घट जा सकती है । क्योंकि कुछ संस्थाएँ दिवालिया हो जाती हैं, और कुछ साहसी अन्य धंधों में चले जाते हैं जिनमें वे अधिक लाभ की आशा रखते हैं। जो संस्था अपनी मूल लागत भी प्राप्त नहीं कर सकती वह अपनी प्राप्ति की अपेक्षा अधिक व्यय कर रही है और यदि वह ऐसा ही करती जायगी तो आज नहीं तो कल उसे अपना अस्तित्व खो देना पड़ेगा। साहसी को ठीक अनुमान करने अथवा उपभोक्ताओं की इच्छा को गलत समझ लेने, या अकुशल विधियों का प्रयोग करने और जब उपभोक्ताओं के लिए उसकी सेवा का मूल्य अन्यत्र अधियुक्त रहने पर अधिक हो उस समय साहसियों की श्रेणी में प्रवेश करने का दंड अवश्य भोगना पड़ता है। जो साहसी अपनी योग्यता का उपयोग दूसरी दिशा में करने का निश्चय करते हैं वे संभव है अपने धंधे में बहुत कुशल रहे हों। संभव है वे पर्याप्त लाभ भी प्राप्त करते रहे हों परन्तु अब उस धंधे के उत्पादन की माँग घट जाने के कारण उनका ऐसा विश्वास हो सकता है कि वे अपनी योग्यता का उपयोग अन्य धंधों में करके पहले की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

ऐसा विरले ही होता है कि किसी व्यवसाय-संस्था के सभी उत्पादन के साधन एक धंधे से दूसरे धंधे में अन्तरित हो जायँ। कोई विशेष साधन अन्तरित होगा या नहीं यह इस बात पर निर्भर रहता है कि वह साधन उस धंधे के लिए किस सीमा तक 'विशिष्ट' (Specific) है। जो उत्पादक यंत्र केवल एक कार्य के लिये उपयुक्त है वह पूर्ण स्पर्द्धा में तबतक उसी के लिए व्यवहृत होता रहेगा जब तक कि उससे होनेवाली निस्तुष प्राप्ति (Net return) उस धन से अधिक होगी जो उसे पुराने माल के रूप में बेचकर उसकी आय किसी अन्य धंधे में लगाने से प्राप्त होगी। जो कर्मचारी एक धंधे में विशेषता प्राप्त कर लेते हैं, और अन्यत्र किसी काम के न होंगे, वे उसी धंधे में पड़े रहेंगे चाहे उनका वेतन बहुत घट जाय अथवा वे अनधियुक्त (Unemployed) ही रह जायँ। संकुचित होनेवाले धंधे में कुछ व्यवसाय-संस्थाओं में साधनों का पुनर्गठन हो सकता है, जिसमें 'विशिष्ट' साधन उसी धंधे में रह जायँगे, हाँ यह संभव है कि एक व्यवसाय-संस्था बन्द हो जाने पर वे दूसरे में अधियुक्त हो जायँ, परन्तु 'अविशष्ट' (Nonspecific) साधन दूसरे धंधों में चले जायँगे। उदाहरणार्थ यदि कोई साहसी [अपनी ऋण-परिशोध-निधि (Amortisation fund), जो द्रव्य अथवा विक्रेय प्रतिभूति (Marketable Securities) के रूप में हो, लेकर] दूसरे धंधे में चला जाता है तो अपना कारखाना दूसरे को बेच सकता है जो उसका उपयोग दूसरे कार्य के लिए करता है, और अपना उत्पादन-यंत्र (Plant), सज्जा (Equipment) तथा सामग्री उसी धंधे की किसी दूसरी संस्था को और शेष वस्तुओं को रद्दी के भाव बेच सकता है; उसके कुछ कर्मचारी

उसी धंधे में दूसरी संस्थाओं में काम पा जाते हैं, कुछ अन्य भिन्न भिन्न धंधों में चले जाते हैं, और कुछ अनधियुक्त रह जा सकते हैं।

पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादित पदार्थ का पूर्ति-वक्र उस पदार्थ को उत्पन्न करने वाले धंधे का सीमान्त-लागत-वक्र (Marginal cost curve) है[1]। किसी धंधे के विस्तार का अर्थ यह है कि विशेष प्रकार के श्रम, सामग्री, तथा अन्य साधनों के लिए उसकी माँग बढ़ रही है। इन साधनों में से कुछ को प्राप्त करने के लिए यदि उसे अधिक मूल्य देना पड़ता है तो उसकी सीमान्त लागत बढ़ जायगी और यदि उसकी पूर्ति उस सीमा तक बढ़ानी है तो उसी अनुपात में उस पदार्थ का मूल्य भी बढ़ाना पड़ेगा। इसके विपरीत, किसी धंधे के विस्तार के कारण कई प्रकार की मितव्ययता हो सकती है जिससे उसकी सीमान्त लागत घटने की संभावना रहती है। इस प्रकार अपने उत्पादों की माँग बढ़ने के कारण विस्तार करने पर ऐसी 'अविभाज्य' (Indivisible) सज्जा का अवियोजन, जो पहले लाभदायक नहीं था, अब लाभदायक हो सकता है। फिर, किसी स्थानीयकृत (Localised) धंधे के विस्तार से संभव है कि रेल-कंपनियाँ अधिक माल और यात्री मिलने के कारण अपना किराया घटा दें। परन्तु प्रत्येक दशा में सीमान्त लागत (जैसा कि हम एक अगले अध्याय में बतलाएँगे) पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादित पदार्थ के विक्रय मूल्य के बराबर होगी। हम यहां किसी धंधे की सीमान्त लागत का उल्लेख इसलिए कर रहे हैं कि यद्यपि कोई एक संस्था अपने साधनों का मूल्य बाजार द्वारा निश्चित और अपनी नियंत्रण शक्ति से परे समझ ले फिर भी अनेक संस्थाओं का एक साथ विस्तार होने से साथ ही साथ कुछ नई संस्थाओं के उस धंधे में प्रवेश कर जाने से, उस धंधे में लगे हुए साधनों का मूल्य बढ़ जाने की संभावना रहती है।

६—उत्पादित पदार्थ की प्रकृति (The Nature of the output)

एक ऐसे साहसी पर विचार कीजिए जो पहले से उत्पादन के किसी क्षेत्र में लगा हुआ है। संभव है कि उसके उत्पादों की माँग, अतएव उसका विक्रय मूल्य, उसकी प्रत्याशा से कम हो और उसका लाभ भी उसकी आशा के अनुकूल न हो यदि वह व्यवसाय आरंभ करने ही जा रहा हो तो किसी अन्य धंधे में प्रवेश कर सकता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह जहां है वहीं रहेगा, क्योंकि संभवतः उस धंधे के लिए उसने विशेष योग्यता और शायद कुछ ख्याति (Good will) भी प्राप्त कर ली हो; और यदि वह दूसरे क्षेत्र में चला जाता है तो उसे इन दोनों का त्याग करना पड़ेगा।

बहुत कम ऐसी संस्थाएँ होती हैं जो समजात (Homogeneous)

---

१ दे० चित्र २५.

पदार्थ उत्पन्न करती हैं। संभव है कोई संस्था केवल जूते उत्पन्न करे; परन्तु अधिकतर वह अनेक प्रकार और अनेक शैलियों के जूते उत्पन्न करेगी। कोई साहसी वस्तुओं का वह संकलन (Assortment) उत्पन्न करेगा, जिससे उसे अधिकतम आय होगी और वह अपने विभिन्न उत्पादों की माँग की पूर्ति, अधिक माँगवाले पदार्थ को अधिक परिमाण में और कम माँगवाले को कम परिमाण में उत्पन्न करके, करेगा। उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुसार चलना उसके लिए लाभदायक होता है। यदि वह सज्जा या अन्य उत्पादक की वस्तुएँ (Producers' goods) उत्पन्न कर रहा है तब भी यह बात लागू होती है। संभव है वह अपना उत्पाद दूसरे निर्माताओं (Manufacturers) को बेचे परन्तु उनकी माँग से उपभोक्ताओं की माँग के अनुमान का पता चलेगा, जिसका आधार निकट भूत में उनका व्यवहार होगा। किसी उपभोग्य वस्तु के उत्पादन में अनेक भिन्न भिन्न विधियाँ और अनेक भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हो सकती हैं। परन्तु उस शृंखला के अन्त में सर्वदा उपभोक्ता ही सर्वोपरि विराजमान रहता है जिसकी रुचि का पहले से अनुमान सभी आर्थिक क्रियाओं का पथ-प्रदर्शक होता है। संभव है कि कोई साहसी यह निश्चय करे कि कोई नई वस्तु उत्पन्न करके वह अपना लाभ बढ़ा सकता है पर इस दशा में भी उसका निश्चय उपभोक्ता की माँग के अनुमान पर ही निर्भर होगा।

अचल उत्पादक यंत्र (Fixed plant) और सज्जा में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन करके, अथवा सामग्रियों का भिन्न अनुपातों में उपयोग करके, एक वस्तु को कम और दूसरी को अधिक मात्रा में उत्पन्न करना सरल है, उन वस्तुओं के सीमान्त-लागत-वक्र (अर्थात पूर्ण स्पर्द्धा में पूर्ति-वक्र) कुछ सीमा तक लगभग पड़ी रेखा के रूप में हो सकते हैं। माँग में परिवर्तन होने से मूल्य में अधिक परिवर्तन नहीं होगा परन्तु उससे उत्पादन में तुरत संगत (Corresponding) परिवर्तन हो जायगा। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता जैसा कि हम छठे अध्याय के तीसरे विभाग में देख चुके हैं।

७. कारखानों के आकार (The Size of Plants)

अपनी सज्जा, सामग्रियों की राशि और अन्य पदार्थ एवं कर्मचारियों सहित कोई कारखाना (Plant) ही किसी व्यवसाय-संस्था का रूप हो सकता है; जैसे संभव है कि किसी कृषक के पास एक ही कृषिक्षेत्र (Farm) हो, किसी दूकानदार के पास एक ही दूकान हो, किसी निर्माता के पास एक ही कारखाना हो, इत्यादि। इसके विपरीत संभव है कि एक व्यवसाय-संस्था के नियंत्रण में अनेक कारखाने हों; जैसे कुछ कोयले की खानवाली कम्पनियाँ अनेक खानों का संचालन करती हैं, वूलवर्थ जैसी 'भंडार शृंखलाएँ' (Chain stores) अनेक दूकानें चलाती हैं और कुछ बड़ी संस्थाएँ, जैसे यूनीलीवर, अनेक

प्रकार के अनेक कारखानों का नियंत्रण करती हैं [जैसे रोपण (Plantation), कारखाने, जहाज, इत्यादि]। जर्मनी में १९२५ में जनगणनानुसार उद्योगधंधों और व्यापार में लगे हुए व्यक्तियों में से ४२.४ प्र० श० छोटे कारखानों में लगे हुए थे। ग्रेट ब्रिटेन के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु वहाँ अनेक कारखाने सूत्रधारी कंपनियों (Holding company) द्वारा नियंत्रित होते हैं और उनका प्रतिशत लगभग उतना ही है जितना जर्मनी का है।

किसी कारखाने का आकार उसके द्वारा उत्पादित पदार्थ की माँग पर निर्भर रहता है। शीशे की आँखें बनानेवाले कारखाने का विस्तार बहुत अधिक नहीं हो सकता, क्योंकि शीशे की आखों की माँग, सस्ते दामों पर भी, अधिक नहीं हो सकती। परन्तु संपूर्ण माँग द्वारा उसकी सीमाबद्धता उतनी अधिक नहीं होती जितनी स्थानीय माँग द्वारा होती है; यही कारण है कि एक ग्रामीण दूकान का आकार इतना छोटा होता है। रोटी बनाने, मुद्रण और सिलाई आदि के कारखाने, जिनका किसी न किसी कारण उपभोक्ताओं के निकट होना आवश्यक है, प्रायः आकार में छोटे होते हैं और बहुत विस्तृत क्षेत्र में उसी प्रकार वितरित रहते हैं जिस प्रकार जनसंख्या। यदि कोई वस्तु अपने अर्घ (Value) के अनुपात में भारी अथवा अधिक विस्तृत होती है तो उसमें महामात्रोत्पादन (Large scale production) के लाभ पर्याप्त होने चाहिएँ, (जैसे फ्लेटन के ईंटों में) जिससे विस्तृत क्षेत्र में पूर्ति करने में स्थानान्तरण-व्यय (Transport cost) निकल आवे। इस प्रकार ईंटों के भट्ठे और मदिरालय (Brewery) और उपस्कर (Furniture) के कारखाने प्रायः अपेक्षाकृत छोटे होते हैं और जनसंख्या के अनुसार विस्तृत क्षेत्र में वितरित होते हैं।

महामात्रोत्पादन (Large scale production) के लाभ, जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रायः अविभाज्य (Indivisible) सज्जा से उत्पन्न होते हैं। अनेक क्षेत्रों में—उदाहरणार्थ, इस्पात अथवा मोटरों और जहाजों के उत्पादन में—ये लाभ इतने अधिक होते हैं कि बड़े कारखानों की स्थापना अनिवार्य होती है।

कुछ धंधों में (एक ही कारखानों में अनेक प्रकार की उत्पादन विधियों का व्यवहार करने के अर्थ में) अनुकलन (Integration) प्रायः लाभदायक होता है। जैसे इस्पात के धंधे में नरम कोयले के चूल्हे (Coke ovens), गलाने की भट्ठियाँ, पिघलानेवाले स्थान (Melting shops), ढालनेवाले यंत्र (Rolling mills) सभी एक दूसरे के निकट रखकर एक कारखाना बनाने से अधिक मितव्ययता हो सकती है। ठंडा हुए बिना यदि धातु अपनी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने दी जाय तो ईंधन बहुत कम लगेगा। गलानेवाली भट्ठी की गैस, नरम कोयलेवाले चूल्हे (Coke ovens) में काम

दे सकती है और उसमें की गैस शक्ति और प्रकाश के लिए विद्युत् में परिवर्तित की जा सकती है। इसी से अधिकतर लोहे और इस्पात के कारखाने बड़े होते हैं। एक तो इस कारण कि अपेक्षाकृत बड़ी भट्ठियाँ (Blast furnaces) तथा अन्य प्रकार की सज्जाओं द्वारा अधिकतम क्रियाकल्पात्मक (Technical) क्षमता प्राप्त की जा सकती है और दूसरे इस कारण कि अधिकतर कारखाने बहुत कुछ अनुकलित (Integrated) होते हैं।

फिर भी कभी कभी बड़े प्रसाधक (Apparatus) से अथवा अनुकलन से होनेवाली क्रियाकल्पात्मक क्षमता (Technical efficiency) का त्याग करना लाभदायक हो सकता है; उदाहरणार्थ, यदि निकट प्राप्त होनेवाले ईंधन को बड़ी भट्ठी में (Blast furnace) जलाना लाभदायक न हो और दूसरा अच्छा ईंधन लाना आवश्यक हो तो क्रियाकल्पात्मक दृष्टि से "कुशलतम" (Most efficient) भट्ठी की अपेक्षा छोटी भट्ठी (Blast furnace) रखना अधिक लाभदायक होगा। इसके अतिरिक्त कोयले के उपोत्पादों (By-products) को भी उपयोग में ला सकते हैं और खान के पास ही बेच सकते हैं। एक टन नरम कोयला उत्पन्न करने के लिए लगभग १$\frac{1}{2}$ टन कोयले की आवश्यकता होती है। अतएव यदि कोयले के बदले नरम कोयला स्थानान्तरित किया जाय तो कम बोझ ढोना पड़ता है; और इस्पात के कारखाने को कोयला खरीदकर नरम कोयला बनाने की अपेक्षा नरम कोयला ही खरीदना अधिक लाभदायक हो सकता है। साधारणतया जो कारखाना अनुकलित (Integrated) नहीं है वह किसी वस्तु के विभिन्न भेदों की माँग तथा भिन्न भिन्न सामग्रियों और अन्य साधनों की आपेक्षिक पूर्ति में परिवर्तनों के अनुकूल बहुत शीघ्रता से परिवर्तित किया जा सकता है।

कारखाने का वह आकार जो साहसी के लिए सबसे लाभदायक होगा, पूर्ण स्पर्द्धा में सर्वदा और एकाधिकार में प्रायः, ऐसा होगा जो उपभोक्ताओं की इच्छाओं की सर्वोत्तम ढंग से पूर्ति कर सके। यदि स्थानान्तरण-व्यय तथा लचीलेपन का विचार न करना हो तो व्यवसाय-संस्था के लिए मान-मितव्ययता (Economies of Scale) अथवा अनुकलन का पूरा लाभ उठाना हितकर होगा। यदि स्थानान्तरण-व्यय आदि अधिक होने का भय है तो, भावी परिवर्तनों का विचार करते हुए, अधिक संभावना यही जान पड़ती है कि उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ छोटे कारखानों से अधिक सस्ते में पूरी की जा सकती हैं।

१९३० की जनगणना के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में लोहे और इस्पात (गलाने और ढालने) के धंधों में अधियुक्त व्यक्तियों में ७५.८ प्र० श० व्यक्ति ऐसे कारखानों में काम करते थे जिनमें ५०० से अधिक कर्मचारी थे। मोटर-कारखानों में संगत (Corresponding) संख्या ७१.२ और विद्युत्

यंत्रों में ७३.९ थी। दूसरे छोर पर रोटी का धंधा था जिसमें १३ प्र० श० और उपस्कर (Furniture) में ८.४ प्र० श० थे। कुछ धंधों में, जैसे कोयला-खोदने और ढलाई तथा इंजिनियरिंग में कारखानें का कोई निश्चित आकार नहीं था।[1]

८. व्यवसाय-संस्थाओं के आकार

एक ही कारखाना दो या अधिक संस्थाओं के नियंत्रण में नहीं रह सकता। अतएव जिन धंधों में अधिकतर बड़े कारखाने होते हैं उनमें अधिकांश व्यवसाय-संस्थाएँ कम से कम संगत रूप में (Correspondingly) तो बड़ी होंगी ही परन्तु बड़ी संस्थाओं के पास छोटे कारखाने हो सकते हैं। परन्तु जिस प्रश्न का हमें सचमुच उत्तर देना है वह यह है कि किसी व्यवसाय-संस्था का आकार किस पर निर्भर रहता है? हम मान ले रहे हैं कि साहसी जितना कार्य अपनी संस्था के लिए करता है और जितनी अपनी पूँजी वह उसमें लगाता है वह निश्चित है और वह अपना लाभ बढ़ाकर अधिकतम करना चाहता है। केवल अपना उत्पादन बढ़ाकर अर्थात् अपनी संस्था का आकार बढ़ाकर वह अपना लाभ अपरिमित क्यों नहीं कर सकता?

इसका एक कारण यह है कि संभवत: वह विस्तार के लिए आवश्यक द्रव्य उधार नहीं पा सकता अथवा यदि पा सकता है तो ब्याज की दर प्रचलित दर से इतनी ऊँची है कि उस दर पर उधार लेने से उसे लाभ नहीं होगा। विस्तार करने के लिए उसे अधिक श्रमी अधियुक्त करने पड़ेंगे और जो वस्तुएँ वे उत्पादित करेंगे उनका मूल्य पाने के पहले उसे उन श्रमियों का वेतन दे देना पड़ेगा, उसे कच्चा माल भी अधिक खरीदना पड़ेगा अथवा ईंधन आदि अधपके माल (Intermediate products) लेना पड़ेगा; सम्भव है उसे अधिक भूमि या भवन या सज्जा प्राप्त करनी पड़े। इन सब के लिए व्यय चाहिए, और उसकी अपनी संपत्ति, जिसे वह ऋणदाताओं के पास प्रतिभूति (Securities) के रूप में रख सकता है, परिमित है; अतएव संभव है, वह ऋण लेने में असमर्थ हो। यह बात सचमुच महत्व की है; परन्तु इसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। कच्चे माल तथा अन्य वस्तुएँ प्राय: उधार ली जा सकती हैं, ऋण प्राप्त करके उसके द्वारा क्रय की हुई संपत्ति ही प्रतिभूति के रूप में रखी जा सकती है; और जो

---

१. इस विभाग के अधिकांश आँकड़े एक बहुत उपयोगी लेख से उद्धृत किए गए हैं। दे० इकनोमिक जर्नल, भाग ४७, सं० १८२, दिसंबर १९३७ में "इकनोमिक रिसर्च एण्ड इंडस्ट्रियल पोलिसी" शीर्षक प्रो० पी० सार्जंट फ्लोरेंस का लेख।

साहसी किसी छोटे व्यवसाय को सफलतापूर्वक चला चुका है उसे प्रायः कोई न कोई बंक या अन्य ऋणदाता व्यवसाय का विस्तार करने के लिए द्रव्य देने को तैयार हो जाता है। और यदि विस्तार का परिणाम संतोषजनक है तो प्रायः वह और अधिक विस्तार करने के लिए ऋण प्राप्त करने में सफल होगा। परन्तु जितना वह चाहता है उतना ऋण प्रचलित ब्याज-दर पर यदि पा सके तब भी वह अपने उत्पादन को अपरिमित मात्रा में नहीं बढ़ाएगा।

यदि कोई संस्था बढ़ती जाती है तो कभी न कभी उसका उत्पादन इतना अधिक हो जायगा कि उसके मूल्य पर उसका व्यक्त प्रभाव पड़ने लगेगा। तब साहसी इस बात पर विचार करेगा कि उसके उत्पादन में वृद्धि होने से जितनी वस्तुएँ वह उत्पन्न करता है उन सबमें से प्रत्येक के लिए उसे कम मूल्य प्राप्त होगा। इसके विकल्प में विक्रय लागत पर प्रति वस्तु केवल थोड़ा अधिक व्यय करके वह पुराने मूल्य पर अधिक संख्या में अपने उत्पाद बेच सकता है। हम देख चुके हैं कि यदि विस्तृत क्षेत्र में पूर्ति की जाती है तो स्थानान्तरण-व्यय में वृद्धि होने के कारण कारखाने का विस्तार सीमित हो सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कोई संस्था दूसरे स्थानों पर नए कारखाने खोल सकती है, फिर भी पुराने मूल्य पर अधिक परिमाण में उत्पाद बेचने के लिये उसको प्रति इकाई पर विज्ञापन और बिक्री आदि के लिए उसे अधिक व्यय करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोई संस्था इतनी बड़ी हो सकती है कि एक या अनेक साधनों (जैसे किसी विशेष प्रकार के कुशल श्रमी) के लिए उसकी माँग का उनके मूल्य पर प्रभाव पड़े। तब साहसी इस बात पर विचार करेगा कि यदि वह उस साधन को अधिक मात्रा में अधियुक्त (Employ) करता है तो उसको प्रत्येक इकाई के लिये जो वह अधियुक्त करता है, उसे अधिक मूल्य देना पड़ेगा। हम इन बातों पर अध्याय १५ में, जिसमें एकाधिकार का विवेचन है, फिर विचार करेंगे। परन्तु इस समय हम एक महत्त्वपूर्ण नियम का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं जो इस सिद्धांत से व्युत्पन्न है कि कोई साहसी अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। वह नियम यह है कि वह अपने **सीमान्त व्यय और सीमान्त आय को समान करने का प्रयत्न करेगा**। दूसरे शब्दों में वह अपना उत्पादन तबतक बढ़ाता जायगा जबतक उत्पादन में वृद्धि के कारण उसकी संपूर्ण लागत में वृद्धि उसकी संपूर्ण आय की वृद्धि से अधिक न होगी। यदि उसकी सीमान्त आय उसके सीमान्त व्यय से कम है तो वह अपना उत्पादन कम करके लाभ को बढ़ाएगा। अतएव वह अपनी आय को तभी अधिकतम कर सकेगा जब दोनों समान होंगे। उसकी संस्था का आकार उसके सीमान्त व्यय में वृद्धि होने से अथवा

सीमान्त आय में कमी होने से अथवा दोनों ही से, ज्यों ज्यों उसका उत्पादन वढ़ता है, परिसीमित होगा।

फिर भी वहुत से साहसी इतना पर्याप्त नहीं उत्पन्न करते कि उनके उत्पादित पदार्थों के विक्रय मूल्य पर अथवा उन साधनों के मूल्य पर, जिन्हें वे अवियुक्त करते हैं, व्यक्त प्रभाव पड़े। और तब भी यदि वे अपना उत्पादन वढ़ावें तो उनका लाभ घट जायगा। इसका कारण यह है कि कोई साहसी अपनी क्षमता से बद्ध है। उदाहरण के लिये गेहूँ पैदा करनेवाले एक किसान पर विचार कीजिए। अनुमान (Hypothesis) द्वारा जो परिश्रम वह अपने कृषि-क्षेत्र के लिए करता है वह चाहे कितना भी अधिक हो पर निश्चित है। इसका अर्थ यह है कि कुछ सीमा के उपरांत उसके प्रवन्ध की कुशलता घट जाना अनिवार्य है। उसका कृषि-क्षेत्र क्षेत्रफल में ज्यों ज्यों वढ़ता है त्यों त्यों एक भाग से दूसरे भाग में जाने के लिए उसे अधिकाधिक समय देना पड़ेगा। उसे वहीखाता आदि के रूप में तथा अन्य प्रकार की जाँचों द्वारा, जिससे उसके प्रवन्धक उसे धोखा न दे सकें, अधिक व्यय करना पड़ेगा। ज्यों ज्यों निर्णयों की संख्या वढ़ती जाती है त्यों त्यों उसे ठीक ठीक निर्णय करने में अधिकाधिक कठिनाई होगी क्योंकि जितना समय वह अपने व्यवसाय की समस्याओं के लिए दे सकता है वह निश्चित है। संक्षेप में ह्रासमान उत्पत्ति का नियम लागू हो जाता है। साहसीपन (Entrepreneurship) की निश्चित मात्रा के साथ ज्यों ज्यों अन्य साधनों की वढ़ती हुई मात्रा संयुक्त होती है त्यों त्यों अन्य साधनों का सीमान्त उत्पादन घटता जाता है यद्यपि उस साधन की प्रति इकाई के लिए जो मूल्य उसे देना पड़ता है वह वही है। दूसरे शब्दों में उत्पादन का सीमान्त व्यय—कोई अतिरिक्त इकाई (अथवा १०० या १००० इकाइयाँ) उत्पन्न करने में जो संपूर्ण व्यय में वृद्धि होती है—वढ़ जाता है।

निःसंदेह साहसी क्षमता में भिन्न होते हैं जिससे किसी भी धन्धे में कम समर्थ साहसी की तुलना में अधिक समर्थ साहसी अपेक्षाकृत वड़ी संस्था को नियंत्रित कर सकेगा। परन्तु अत्यंत सक्षम साहसी भी यह देखेगा कि कुछ सीमा के वाद अधिक विस्तार से उसकी अपनी आय, अर्थात् उसका "लाभ" (Profit), घट जायगी चाहे संस्था कितनी ही वड़ी हो। परन्तु प्रश्न यह है कि वह और अधिक विस्तृत क्यों नहीं होती? और इसका उत्तर सर्वदा यही होता है कि अधिक विस्तार से उसकी संपूर्ण आय—अर्थात् प्राप्ति—से उसका संपूर्ण व्यय अधिक वढ़ जाता है।

९. साधनों का प्रतिस्थापन (Substitution Between Factors)

हमारे इस साधारण सिद्धान्त के, कि कोई साहसी अपनी आय या 'लाभ' को अधिकतम करने का प्रयत्न करेगा, दोनों ही अर्थ होते हैं कि वह जो

पदार्थ सबसे अधिक लाभदायक होगा वही उत्पन्न करेगा और वह उसे कम से कम संपूर्ण व्यय पर उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। अबतक हमने इस दूसरी बात को निश्चित मान लिया था, अब हमें इसे स्पष्ट कर देना चाहिए।

हम यह नहीं कहते कि वह वही उत्पन्न करेगा जिसका संपूर्ण व्यय सबसे कम होगा। यह स्पष्ट है कि बहुत छोटे परिमाण में उत्पन्न करने पर संभवतः सबसे कम व्यय लगे फिर भी वह अधिक उत्पादन से अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। हम यह भी नहीं कहते कि वह वही उत्पन्न करेगा जिसकी (उत्पादन की प्रति इकाई) औसत लागत सब से कम होगी[1]। संभव है कि उसकी औसत लागत बढ़ रही हो, फिर भी जबतक उसकी सीमान्त प्राप्ति उसके सीमान्त व्यय से अधिक होती रहती है तबतक उसे विस्तृत करना लाभदायक होगा। हमारा कथन है कि वह कोई भी निश्चित मात्रा सस्ते से सस्ते ढंग पर उत्पन्न करेगा।

इसका यह अर्थ है कि यदि वह अपना उत्पादन घटाए बिना अथवा कुछ साधनों के बदले दूसरों का प्रयोग करके अपनी संपूर्ण लागत कम कर सके तो वह अवश्य ऐसा करेगा। क्रियाकल्पात्मक ज्ञान को स्थिर मानते हुए, उसका सबसे सस्ता ढंग भिन्न भिन्न साधनों के आपेक्षिक मूल्य पर निर्भर होगा। उदाहरणार्थ यदि सिगरेट बाँधने (Packing) वाले एक यंत्र की सहायता से एक लड़की एक वर्ष में १ करोड़ सिगरेट बाँधती है और यदि उतने ही सिगरेट हाथ से बाँधने के लिए ५ लड़कियों की आवश्यकता होती है तो कौन सा ढंग सस्ता होगा? यह एक यंत्र और एक लड़की की अपेक्षिक वार्षिक लागत पर निर्भर करेगा। यदि प्रत्येक लड़की को १०० पौंड वार्षिक देना पड़ेगा तो [ऋण-परिशोध (Amortisation) को सम्मिलित करके] यंत्र का मूल्य ४०० पौंड वार्षिक से कम होने पर यंत्र सस्ता पड़ेगा। और इससे अधिक होने पर महँगा पड़ेगा। फिर यदि उत्पादन में वृद्धि करने से उसे लाभ होता है तो वह कम से कम अतिरिक्त व्यय द्वारा जिन साधनों से उत्पादन में कुछ निश्चित वृद्धि कर सकता है, उन्हें वह अवश्य अधियुक्त करके उत्पादन में वृद्धि करेगा। उदाहरणार्थ यदि वह केवल एक कोटि के श्रम को अधिक मात्रा में अधियुक्त करके उत्पादन का विस्तार करता है तो उस कोटि के श्रम का सीमान्त उत्पादन घट जायगा (और उसके अन्य साधनों के सीमान्त उत्पादन बढ़ जायँगे क्योंकि वह उस कोटि की अधिक मात्रा के

१. यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके अपने श्रम और पूँजी की प्राप्ति को हम उसकी 'लागत' (Cost) में सम्मिलित नहीं करते हैं।

साथ संयुक्त है) जिससे कुछ सीमा के बाद अन्य साधनों को अधिक मात्रा में अधियुक्त करने से अतिरिक्त विस्तार अधिक सस्ते में हो सकेगा । कुछ परिस्थितियों में इस सीमा के पहुंचने के पूर्व ही पर्याप्त विस्तार हो सकता है । यदि कुछ कारणों से उसका कारखाना क्षमता से कम कार्य करता था तो उसे अपनी पूर्ण क्षमता तक उत्पादन बढ़ाने का सबसे सस्ता उपाय केवल कुछ अतिरिक्त श्रमियों का अधियोजन होगा । फिर भी उसे यह निर्णय करना होगा कि कितने श्रमी एक कोटि के और कितने दूसरी कोटि के अधियुक्त करने होंगे और किस सीमा तक वह अधिक कच्चा माल, इंधन इत्यादि खरीदे और मरम्मत, नवीकरण (Renewal) और अनुस्थापन (Replcement) पर कितना व्यय करे ।

जिस सिद्धान्त का हम विवेचन कर रहे हैं उसके कुछ दृष्टान्त श्री आर०एफ० फाउलर ने क्वार्टरली जर्नल औफ इकनौमिक्स, भाग ५२, नवम्बर १९३७, में प्रकाशित अपने एक लेख में दिए हैं । खुली भट्ठी में बननेवाले इस्पात (Open hearth steel) के बनाने में पुराना लोहा और कच्चा लोहा भिन्न भिन्न अनुपातों में कच्चे माल के रूप में व्यवहृत हो सकते हैं । श्री फाउलर ने यह देखा कि कच्चे लोहे (Pig iron) की अपेक्षा पुराने लोहे (Scrap iron) के मूल्य में कमी होने से कच्चे लोहे की अपेक्षा पुराने लोहे का कच्चे माल के रूप में अधिक अनुपात में व्यवहार होने लगता है । उदाहरणार्थ साउथ वेल्स (औस्ट्रेलिया) में १९२४ में पुराने लोहे का मूल्य प्रति टन केवल लगभग एक प्रति शत कच्चे-लोहे के मूल्य से कम था । लगभग १$\frac{1}{3}$ टन पुराना लोहा १ टन कच्चे लोहे के साथ संयुक्त होता था । १९३५ में पुराना लोहा कच्चे लोहे से प्रतिटन १३ प्रतिशत सस्ता था और कच्चे लोहे का दूना पुराना लोहा व्यवहृत होता था । श्री फाउलर ने यह भी देखा कि पुराने लोहे के उपभोग का अनुपात ज्यों ज्यों बढ़ता है त्यों त्यों "व्यय बढ़ाए बिना कच्चे लोहे के बदले पुराने लोहे का प्रयोग करना अधिकाधिक कठिन हो जाता है" । निःसंदेह यह दृष्टान्त ह्रासमान सीमान्त उत्पत्ति (Diminishing marginal returns) का है । ज्यों ज्यों पुराने लोहे का अनुपात बढ़ता है त्यों त्यों उसका सीमान्त उत्पादन कच्चे लोहे की अपेक्षा घट जाता है ।

हमारा निष्कर्ष इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है । यदि

$$\frac{\text{ख साधन का सीमान्त उत्पादन}}{\text{ख साधन का मूल्य}} \text{ से } \frac{\text{क साधन का सीमान्त उत्पादन}}{\text{क साधन का मूल्य}}$$

अधिक है तो ऐसी विधि का व्यवहार, जिसमें क का अधिक और ख का कम उपयोग होता है, साहसी के लिए लाभदायक होगा । उदाहरणार्थ यदि ऐसे यंत्र • जिनका प्रति वर्ष व्यय ४०० पौंड है, प्रयोग में लाने से उन लड़कियों की अपेक्षा जिन्हें १०० पौंड प्रति वर्ष दिया जाता है चौगुना उत्पाद

बढ़ सकता है तो लड़कियों के बदले यंत्रों का ही उपयोग होगा। इसका अर्थ होगा यंत्रों के माँग में वृद्धि और लड़कियों की माँग में ह्रास। अतएव यंत्रों का मूल्य बढ़ने लगेगा (यदि वे महामात्रा में अधिक सस्ते न बनाए जाने लगेंगे तो) और लड़कियों का वेतन घट जायगा (जबतक कि राज-नियम द्वारा अथवा उनके मजदूर संघों द्वारा उनकी मजदूरी कम होने से रोकी न जाय, उस दशा में उनमें से कुछ को ही अधियुक्त करके उनका सीमान्त उत्पादन बढ़ाया जायगा) और तबतक बढ़ता रहेगा जबतक कि उन दोनों के सीमान्त उत्पादन उनके मूल्य के अनुपात में न हो जाएंगे।

पूर्ण स्पर्द्धा में इस प्रतिस्थापन के सिद्धान्त का (Principle of substitution) अर्थ यह होता है कि किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का अर्घ उसके मूल्य के बराबर होगा ; यदि वह कम होगा तो साहसी उनका कम उपयोग करेंगे (जबतक कि उनकी कम मांग के कारण उसका मूल्य घट न जाय) यदि अधिक होगा तो साहसी अधिक मात्रा में उपयोग करके अधिक लाभ उठाएँगे और उनकी अधिक मांग के कारण उनका मूल्य बढ़ जायगा। ऐसी दशा में साहसियों और उपभोक्ताओं के हितों में पूर्ण रूप से एकरूपता होगी। उत्पादन में किसी साधन के सहयोग का उपभोक्ता द्वारा जो अर्घापण (Valuation) होगा उसका मूल्य उस साधन के मूल्य द्वारा व्यक्त होगा। विशेष कच्चे मालों की इकाइयाँ, श्रम तथा अन्य साधनों के प्रकार किसी विशेष व्यवसाय-संस्था की ओर आकृष्ट होंगे जिसे उपभोक्ता कम से कम इतना महत्त्व अवश्य देंगे जितना वे अन्यत्र प्राप्त कर सकते। यदि कोई साहसी किसी साधन की इतनी इकाइयाँ उपभोग में लाने का प्रयत्न करे कि उनमें से कुछ अन्यत्र जाकर ऐसी वस्तुएं उत्पन्न कर सकती जिनका उपभोक्ता द्वारा अधिक अर्घापण होता तो उस साधन का मूल्य उस संस्था में अपने सीमान्त उत्पादन से अधिक होगा और विचाराधीन साहसी उसका कम मात्रा में उपयोग करके अपना लाभ बढ़ा सकता है।

१०—उत्पादन की लागत और मूल्य

एक साधारण मत है कि किसी वस्तु का मूल्य—यद्यपि संभव है उस वस्तु का उत्पादन हो जाने पर उसकी माँग में परिवर्तन होने के कारण उसके मूल्य में भी परिवर्तन हो जाय— साधारणतया उसके उत्पादन की लागत द्वारा "निर्धारित" होता है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन की लागत में साहसी का लाभ भी सम्मिलित है परन्तु वास्तव में उसका लाभ मूल्य में परिवर्तन के फलस्वरूप समय समय पर परिवर्तित हो सकता है। इसके अतरिक्त उत्पादन की लागत उत्पादित वस्तु के परिमाण के अनुसार परिवर्तित होती रहती है और उत्पादित वस्तु की मात्रा उसकी माँग पर निर्भर रहती है।

द्रव्य के रूप में उत्पादन की लागत की चाहे जैसे व्याख्या की जाय और चाहे वह औसत हो या प्रकृत (Normal) उसमें मूल्य सम्मिलित रहता है। वह वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त विभिन्न साधनों के मूल्य से बनी है। अर्घ के पूर्ण सिद्धान्त (Complete Theory of Value) द्वारा सभी प्रकार के मूल्यों का कारण स्पष्ट होना चाहिए जिनमें प्रकृति की देन, श्रम-सेवा, भूमि के लगान, द्रव्य के रूप में ऋण, विदेशी मुद्रा (Foreign currency) और अधिकार तथा नित्यप्रति उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओं के मूल्य सम्मिलित हैं। परन्तु विचाराधीन मत अनुत्पादित (Non-produced) वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को समझाने का प्रयत्न नहीं करता।

वास्तव में लागत द्वारा पक्के माल (Finished products) के मूल्य का उसी प्रकार "निर्धारण" होता है जिस प्रकार पक्के माल द्वारा लागत का। कोयला खोदनेवालों की कमी होने से उनकी मजदूरी बढ़ जा सकती है जिससे कोयले का मूल्य भी बढ़ जा सकता है। इसके विपरीत कोयले की अधिक माँग होने से संभव है उसका मूल्य चढ़ जाय जिससे कोयला खोदने वालों की माँग भी बढ़ जाय और उनकी मजदूरी बढ़ जाय। सभी मूल्य अन्योन्याश्रित हैं।

अपूर्ण स्पर्द्धा अथवा एकाधिकार में उत्पादित किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त लागत से अधिक होगा। एक सरल उदाहरण लीजिए; मान-लीजिए कि कोई एकाधिकारी (Monopolist) १ पौंड प्रति वस्तु की दर से १००० वस्तुएँ प्रति सप्ताह बेच रहा है और ११०० वस्तुएँ प्रति सप्ताह बेचने के लिए उसे अपना मूल्य घटा कर १९ शि० करना पड़ता है। उसकी संपूर्ण प्राप्ति में १९ शि० की १०० गुना वृद्धि नहीं होगी वरन् केवल १०४५ पौंड ऋण १००० पौंड या १९ शि० का १०० गुना ऋण १शि० का १००० गुना अर्थात् ९०० शि० या ४५ पौंड होगी। वह यह अतिरिक्त १०० इकाई तबतक नहीं उत्पन्न करेगा जबतक कि उसकी लागत में वृद्धि ४५ पौंड से कम न हो यद्यपि वे ९५ पौंड को बिकेंगी।

अब पूर्ण स्पर्द्धा पर विचार किया जाय। पूर्ण स्पर्द्धा में किसी व्यवसाय संस्था के उत्पादन में वृद्धि होने से उसके उत्पादित पदार्थ के मूल्य में पर्याप्त कमी नहीं होगी। उसकी प्राप्ति अतिरिक्त उत्पादन के पूरे (वर्तमान) विक्रय मूल्य के बराबर बढ़ जायगी। एक अतिरिक्त इकाई से सीमान्त आय उस इकाई के पूरे मूल्य के बराबर होगी। अतएव इस नियम का, कि कोई साहसी सीमान्त लागत और सीमान्त आय को समान करेगा, यह अर्थ है कि वह सीमान्त लागत और सीमान्त मूल्य को समान करेगा। प्रत्येक संस्था उत्पादन की वही मात्रा उत्पन्न करना चाहेगी जिसकी सीमान्त लागत सीमान्त मूल्य के बराबर होगी। संस्थाओं की कुशलता में अन्तर

उनकी सीमान्त लागत में नहीं वरन् उनके उत्पादन की मात्रा में व्यक्त होगी। अधिक कुशल संस्थाएँ अधिक उत्पादन करेंगी।

हमने देख लिया कि लम्बी अवधि में यदि किसी साहसी की प्राप्ति उसके पूरक (Supplementary) तथा मुख्य लागतों (Prime costs) के बराबर नहीं होगी तो या तो वह दिवालिया हो जायगा या दूसरे धंधे में चला जायगा अथवा अपना धंधा बन्द करके किसी दूसरे की सेवा में लग जायगा। परन्तु अल्प अवधि में परिवर्तनशील मुख्य लागत ही अधिक महत्वपूर्ण है। 'अचल' लागत (Fixed costs) सीमान्त लागत में सम्मिलित नहीं रहती क्योंकि उत्पादन चाहे कम हो या अधिक उसका दिया जाना अनिवार्य है। जब तक उसके उत्पादन का मूल्य उस अतिरिक्त द्रव्य से अधिक होगा, जो उत्पाद की एक और इकाई उत्पन्न करने में लगाना पड़ेगा, तबतक वह अपना उत्पादन बढ़ाता जायगा। यदि एक इकाई कम उत्पन्न करने से उसके संपूर्ण व्यय की होनेवाली कमी एक इकाई के मूल्य से अधिक होगी तो वह उत्पादन को कम कर देगा। सीमान्त लागत को मूल्य के बराबर करके ही वह अपना लाभ अधिकतम कर सकता है। और हम फिर से यह कहते हैं कि यह बात सभी व्यवसाय-संस्थाओं पर लागू होती है; केवल कुछ काल्पनिक "सीमान्त संस्थाओं" (Marginal firms) पर नहीं।

संभव है कि कुछ संस्थाएँ केवल एक इकाई घटा बढ़ाकर नहीं वरन् १००. या १००० इकाइयों का अन्तर करके अपना उत्पादन घटाएँ या बढ़ाएँ; परन्तु इससे हमारे निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अब हम एक बहुत साधारण उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि कोई साहसी जो गेहूं उपजाता है, एक वर्गमील भूमि लगान पर लेता है और कुछ आवश्यक यंत्र, बीज, खाद इत्यादि प्राप्त कर लेता है और उसे अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए केवल अधियुक्त (Employed) मनुष्यों की संख्या बढ़ा देनी है। मान लीजिए कि उसके कर्मचारियों का (प्रति वर्ष) सीमान्त उत्पादन भिन्न भिन्न है, जैसा पृ० १३३ पर दी गई तालिका (Table) में है। तब यदि एक व्यक्ति का वेतन १२५ पौ० प्रति वर्ष है और एक इकाई गेहूँ का मूल्य १ पौ० है तो वह १२ व्यक्ति अधियुक्त करेगा। यदि वह केवल ११ व्यक्ति अधियुक्त करता है तो उसका उत्पादन १८२२ इकाई होगा अतएव उसकी प्राप्ति भी १८२२ पौंड होगी। एक अतिरिक्त व्यक्ति उसके उत्पादन को बढ़ाकर १९५० इकाई कर देगा, अर्थात् केवल १२५ पौ० अधिक व्यय करके १२८ पौ० अधिक प्राप्ति करेगा। अतएव वह केवल १२ व्यक्ति अधियुक्त करेगा उससे अधिक नहीं। इस उदाहरण में उसकी सीमान्त लागत में केवल मजदूरी है। मनुष्य अविभाज्य होने के कारण उसके उत्पादन के साथ-साथ १२५ पौंड प्रतिवर्ष—इस कोटि के श्रम के लिए यही प्रचलित वेतन होने के

कारण—बढ़ जाता है। जो साहसी तुरत व्यक्तियों को अधियुक्त कर सकता है वह मूल्य और लागत में अधिक समानता रख सकता है; उसकी सीमान्त लागत उस पदार्थ की एक अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने के लिए अपेक्षित अतिरिक्त घंटों के श्रम की लागत के बराबर होगा। ज्यों ज्यों अधिक श्रम अधियुक्त होगा त्यों त्यों श्रम का सीमान्त उत्पादन घटता जायगा। दूसरे शब्दों में ज्यों ज्यों उत्पादन का विस्तार होता है त्यों त्यों एक अधिक इकाई उत्पन्न करने के लिए अधिकाधिक घंटों के कार्य की आवश्यकता होगी। अतएव सीमान्त लागत अर्थात् एक अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने के लिए उसके वेतन की रकम में वृद्धि बढ़ जायगी। वह अपना उत्पादन तभी तक बढ़ाएगा जबतक उसे उस पदार्थ की एक इकाई का मिलनेवाला मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होगा।

इन सब में केवल पूर्ण स्पर्द्धा ही नहीं मान ली गई है वरन् यह भी मान लिया गया है कि उत्पादन में परिवर्तन का अर्थ केवल अधियुक्त श्रम में परिवर्तन है और अन्य अधियुक्त साधनों की मात्रा ज्यों की त्यों है। अल्प अवधि में पिछली मान्यता सत्य के अधिक निकट हो सकती है। उत्पादन के विस्तार के लिये संभव है केवल अतिरिक्त श्रम तथा कच्चा माल, इंधन इत्यादि की और इन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक द्रव्य उधार लेने की आवश्यकता पड़े। उत्पादन की कोई विशेष मात्रा सस्ते से सस्ते में उत्पन्न की जा सकेगी जिससे जिस अनुपात में विभिन्न प्रकार के श्रम या कच्चे माल संयुक्त होंगे वह उत्पादन के विस्तार के साथ साथ बदल सकता है; किन्तु इससे इस निष्कर्ष में कोई परिवर्तन नहीं होता कि सीमांत लागत मूल्य के बराबर होगी। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि विचाराधीन अवधि जितनी ही लम्बी होगी उतनी ही अधिक मात्रा में अनुशासन आदि के लिए वह लागत भी अधिक होगी जो देनी पड़ेगी और इस प्रकार सीमान्त लागत में सम्मिलित होगी।

एक और बात कही जा सकती है। अल्प अवधि में संभव है कोई व्यवसाय-संस्था (यद्यपि उसकी सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय से अधिक होती है फिर भी) उत्पादन जारी रखे। यदि व्यवसाय को कुछ काल के लिए बंद करके सारी संपत्ति को अच्छी दशा में रखने में जो हानि होगी वह उसे चालू रखने की हानि से अधिक होगी और साथ ही यदि उसे आशा है कि कुछ समय बाद उसके उत्पादित पदार्थ का मूल्य बढ़ेगा तो वह अवश्य ऐसा करेगा। जैसे यदि कोई कोयले की खान कुछ समय के लिये बन्द कर दी जाय तो उसका पानी निकालते रहने और उसे अच्छी दशा में रखने का व्यय प्रायः अपेक्षाकृत अधिक होता है, उसे चालू रखने में हानि संभवतः कम होगी। परन्तु यदि साहसी का अनुमान

ठीक नहीं है कि उसके उत्पादित पदार्थ का मूल्य चढ़ेगा (अथवा उसके साधनों का मूल्य गिरेगा) तो कभी न कभी उसे काम चालू रखकर अपनी संपत्ति में से घाटा देने के बदले व्यवसाय बन्द कर देने के लिए विवश होना पड़ेगा।[1]

---

१. एन्. कैल्डर (इकनॉमिक जर्नल, १९३४) द्वारा "इक्विलिब्रियम ऑफ दी फर्म" (व्यवसाय संस्था का साम्य) शीर्षक लेख में इस अध्याय में विवेचन किए गए अनेक प्रश्नों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है।

चौदहवाँ अध्याय

उत्पादन के साधनों की गतिशीलता

(Mobility of the Factors of Production)

१. गतिशीलता का अर्थ

प्रत्येक देश में किसी अमुक समय उत्पादन के साधनों की कुछ निश्चित मात्रा होती है। सबसे पहले उसमें एक श्रमिक वर्ग होता है, जिसमें केवल मजदूरी करने वाले ही सम्मिलित नहीं रहते वरन् किसान, दूकानदार तथा अन्य व्यवसायों (Professions) में कार्य करनेवाले, गृहिणियाँ आदि, तात्पर्य यह है कि वे सभी सम्मिलित रहते हैं, जिनकी क्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से किसी पदार्थ या सेवा के उत्पादन में सहायक होती है। दूसरे, उसमें प्राकृतिक साधन (Natural resources) होते हैं जिसमें मनुष्य द्वारा की गई सभी प्रकार की उन्नति (जैसे सड़कें, सुरंगें, बाँध आदि) सम्मिलित हैं। तीसरे, उसमें पूँजी होती है जिसके अन्तर्गत, टिकाऊपन के क्रम से, भवन से लेकर तुरत-नाशवान वस्तुओं (जैसे मछली) तक सभी प्रकार के पदार्थ सम्मिलित होते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि उत्पादन के साधन भिन्न भिन्न प्रकार के और अनेक होते हैं और हम उनको केवल स्पष्टीकरण की सुविधा के लिये भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन व्यापक समूहों में रखते हैं। चाहे हम नहर या पुल को भूमि के अन्तर्गत गिनें अथवा पूँजी के अथवा हम सभी भूमि को पूँजी के ही अन्तर्गत सम्मिलित कर लें या न करें परन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह समझ लेना है कि उपलब्ध साधनों की मात्रा और प्रकृति द्वारा उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं का संभाव्य उत्पादन किस प्रकार परिमित है।

यह सच है कि उत्पादन के साधनों की एक निश्चित मात्रा या तो अधिक सेवा प्रदान कर सकती है या कम; जैसे कोई निश्चित जनसंख्या कम काम कर सकती है या अधिक। कुछ लोग कार्य करने के योग्य होने पर भी, अपनी सम्पत्ति से प्राप्त आय का उपभोग करते हुए आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं। अभी कभी तो अधिक काम करते और कम छुट्टी लेते हैं और कभी सप्ताह में केवल कुछ ही दिन या प्रति दिन कुछ घंटे ही कार्य करते हैं। परन्तु हमारे प्रस्तुत प्रश्न से इसका विशेष संबंध नहीं है।

हमारी प्रस्तुत समस्या है इस बात पर विचार करना कि उत्पादन के साधन कहाँ तक वैकल्पिक उपयोगों में लाए जा सकते हैं। जो साधन केवल

एक प्रकार से उपयोग में आ सकता है, जैसे नरम कोयले की भट्ठी (Coke-oven), वह पूर्णतः 'विशिष्ट' (Specific) कहलाता है। यदि प्रत्येक साधन पूर्णतः विशिष्ट होता तो किसी समाज को यह चुनने का अवसर न मिलता कि वस्तुओं और सेवाओं का कौन सा संकलन (Assortment) वह उत्पन्न करे। निःसंदेह वह यह निर्णय कर सकता था कि कौन से साधन उपयोग में लाने योग्य नहीं हैं और कुछ विशेष साधन किस सीमा तक व्यवहृत हो सकते हैं, परन्तु बस इतना ही। जबतक वह नये और विविध साधन प्राप्त न कर सकता तबतक परिवर्तन की सम्भावना न होती; एक प्रकार के साधनों से सर्वदा एक ही प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अनेक साधन वैकल्पिक रूप से व्यवहार में लाए जा सकते हैं और इस प्रकार साधनों की एक निश्चित मात्रा द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के अनेक भिन्न भिन्न संकलन उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्यमान साधन दूसरे साधनों के रूप में परिवर्तित अथवा दूसरे साधनों द्वारा अनुस्थापित (Replaced) किये जा सकते हैं, और इससे वह कोटि (Range) और भी विस्तृत हो जाती है जिसमें सम्पूर्ण उत्पादन की रचना परिवर्तित की जा सकती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक समाजों में उत्पादन का ढांचा (Structure) जटिल होता है। किसी पक्के माल के उत्पादन में ऐसी अनेक अवस्थाएँ और विधियां हो सकती हैं जिनमें विविध प्रकार के साधनों का व्यवहार हो सकता है। अतएव पक्के माल के उत्पादन में किसी साधन द्वारा की जानेवाली सहायता को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वह सेवा जो उस साधन द्वारा सर्वदा एक सी की जाय परन्तु उसका उपयोग भिन्न प्रकार से हो। उदाहरणार्थ कोई टंकक (Typist) अपने कार्य का ढंग बदले विना एक "धंधे" से दूसरे में जा सकता है, और कोई गलानेवाली भट्ठी (Blast furnace) सम्भव है कच्चा लोहा बनाती रहे परन्तु उसमें से पहले की अपेक्षा अधिक लोहा गाटर बनाने के लिये और पहले से कम रेल की पटरी बनाने के लिये काम में आवे। दूसरे संभव है कि कोई साधन पहले करनेवाली सेवा के बदले दूसरे प्रकार की सेवा करने लगे जैसे कोई टंकक किसी दूकान में सहायक का काम करने लगे। तब हम कह सकते हैं कि यद्यपि वह वही व्यक्ति है फिर भी वह उत्पादन के साधन की दृष्टि से भिन्न हो गया है, और हम किसी प्रकार की "परिवर्तन लागत" (Costs of conversion)—जैसे नये काम के लिये उसे "प्रशिक्षित" करने की लागत—को पूँजी का विनियोजन (Investment) कह सकते हैं।

हमने "विशिष्टता" (Specificity) शब्द का प्रयोग न करके "गतिशीलता" (Mobility) शब्द का प्रयोग किया है। उसका कुछ कारण तो यह

है कि यह शब्द अधिक प्रचलित है और कुछ यह कि इसके अन्तर्गत स्थान-संबंधी (Geographical) गतिशीलता भी सम्मिलित है। आर्थिक दशाओं में परिवर्तन होने के कारण उत्पादन के कुछ साधनों के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना वांछनीय हो सकता है। इस प्रकार हम एक धंधे से दूसरे धंधे में, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में और एक स्थान से दूसरे स्थान पर होनेवाली गतिशीलता का उल्लेख कर सकते हैं। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, कोई साधन अपना व्यवसाय परिवर्तन किये बिना एक धंधे से दूसरे धंधे में और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है। एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जाने के लिये, दूसरे धंधे में या दूसरे स्थान पर जाना आवश्यक नहीं है; उदाहरणार्थ संभव है कि हमारा टंकक जिस दूकान में टंकन करता था अब उसमें सहायक का कार्य करने लगे। इसी प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का अर्थ धंधा या व्यवसाय बदलना नहीं हो सकता। संभव है किसी एक प्रकार की गतिशीलता के साथ साथ उपर्युक्त दोनों में से एक अथवा दोनों अथवा एक भी न हो।

पिछले दोनों अध्यायों में यह दिखाया गया है कि वस्तुओं के जिस संकलन (Assortment) को उपभोक्ता सबसे अधिक चाहते हैं, उसे उत्पन्न करने, और उपभोक्ताओं की रुचि अथवा क्रियाकल्प-ज्ञान (Technical-knowledge) में परिवर्तन होने के कारण सम्पूर्ण उत्पादन की रचना में परिवर्तन करने के लिये, साहसियों तथा साधनों के अन्य स्वामियों को मूल्य-प्रणाली किस प्रकार प्रेरणा देती है। कालान्तर में जिस सीमा तक परिवर्तन किये जाते हैं वह कई बातों पर निर्भर रहती है। अंशतः वह साहसियों के इस अनुमान पर निर्भर रहती है कि भविष्य में मूल्य में किस प्रकार का परिवर्तन होगा। और कुछ अंशों में वह इस पर निर्भर रहती है कि उत्पादन के साधनों के स्वामी कहाँ तक कोई आर्थिक लाभ छोड़ देंगे या हानि सह लेंगे परन्तु अपने साधनों को (जो श्रम के संबंध में श्रमी स्वयं हैं) अन्य स्थान, व्यवसाय या धंधे में अन्तरित नहीं करेंगे; एवं लाभ और हानि के विषय में कहाँ तक उनके अनुमान ठीक हैं कुछ अंशों में वह इस पर भी निर्भर करती है कि राज्य की क्रिया (जैसे सार्वजनिक सहायता) द्वारा गतिशीलता कहाँ तक उत्साहित या निरुत्साहित की जाती है, इत्यादि। परन्तु उत्पादन में जिस सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है वह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन के साधन अन्य धंधों, व्यवसायों या स्थानों में किस सीमा तक अंतरित किये जा सकते हैं, और ऐसे अन्तरण में कितना समय लगता है। गतिशीलता की भौतिक संभावनाओं का यह प्रश्न प्रस्तुत अध्याय का विषय है, यद्यपि गतिशीलता की अभौतिक बाधाओं का भी हम कुछ उल्लेख करेंगे। प्रश्न

वास्तविकता का है। कुछ देशों और कालों में गतिशीलता अपेक्षाकृत अधिक होती है; हमारे दृष्टांत अधिकतर ग्रेट ब्रिटेन से, इधर के कुछ वर्षों में से, लिये हुये होंगे।

२. श्रम की गतिशीलता

ब्रिटेन की १९३१ की जनगणना में लगभग ३५,००० विविध धंधे गिनाये गये हैं। उनमें से कुछ—जैसे आन्तरिक सजावट, वस्त्र-निर्माण (Dress-designing) अथवा चाय-चखना आदि—ऐसे धंधे हैं, जिनमें स्वाभाविक रुचि की आवश्यकता होती है जो अपेक्षाकृत कम व्यक्तियों में पाई जाती है। अन्य धंधों में, जैसे किसी स्वतंत्र व्यवसाय (डाक्टरी, वकालत आदि), अथवा लीथो आदि की छपाई में, स्वाभाविक रुचि के अतिरिक्त शिक्षा अथवा अन्तेवास (Apprenticeship) के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। प्रत्येक व्यवसाय में, यहाँ तक कि तथाकथित "अकुशल कार्य" (Unskilled job) में भी—जैसे, कुदाल-फरसा चलाने के कार्य में—कुछ क्षमता चाहिये, और कोई भी नवसिखुवा अभ्यास के द्वारा पर्याप्त सीमा तक उन्नति कर सकता है।

फिर भी प्राय: प्रत्येक कर्मचारी जो अपने कार्य में निपुण है किसी दूसरे धंधे में, जिसमें उसी प्रकार के गुणों की आवश्यकता होती है, पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर सकता है ; और ऐसे व्यवसायों की कोटि (Range) प्राय: पर्याप्त विस्तृत होती है। जैसे कोई व्यक्ति, जो एक प्रकार के यंत्र का संचालन करने में पर्याप्त निपुण है, अन्य प्रकार के यंत्रों का संचालन भी सरलता से सीख सकता है; जो व्यक्ति शारीरिक शक्ति का एक कार्य कर रहा है वह उसी प्रकार के अन्य कार्य भी कर सकता है, बहुत से अच्छे मोटर चालक विमान चलाने का कार्य भी सरलता से सीख सकते हैं, इत्यादि। और बहुत से व्यवसाय बहुत अल्प समय में सीखे जा सकते हैं। कोई कर्मचारी अपनी कोटि में पर्याप्त सरलता से एक व्यवसाय से दूसरे में जा सकता है परन्तु किसी दूसरी कोटि के व्यवसाय में, जिसमें कुछ भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है, निपुण होने में उसे कठिनाई पड़ सकती है।

यह स्पष्ट है कि यदि कोई कर्मचारी एक ही स्थान पर रहता और एक ही प्रकार का कार्य करता है तो उसके लिये अपना धंधा बदलना सरल कार्य है और अनेक व्यवसाय–जैसे करणिक (क्लर्क), टंकक, विक्रेता, मोटर-चालक, कुली आदि के व्यवसाय—ऐसे हैं जो बहुत से धंधों में होते हैं।

परन्तु संभवत: स्थान की गतिशीलता इतनी सरल न होगी। किसी दूसरे जिले में जाने के लिये कर्मचारी केवल द्रव्य के रूप में निर्वाह-व्यय का ही विचार नहीं करता; वह अपने परिचित दृश्यों, मित्रों, सहचरों आदि को छोड़कर अपरिचित स्थान पर नए ढंग से जीवन आरंभ करने

में हिचकता है। दूसरे देश में जाने में तो उसे और भी अधिक हिचक होगी, विशेषतः ऐसे देश में जहाँ की भाषा और रीति-रिवाज भिन्न होंगे। नया व्यवसाय सीखने अथवा नये स्थान पर जाने में द्रव्य के रूप में जो लागत लगती है वह एक प्रकार से पूँजी का विनियोजन है। यह विनियोजन कभी-कभी राज्य द्वारा निःशुल्क प्रशिक्षण (Training) देकर अथवा दूसरे जिले में जानेवाले श्रमियों को मार्ग-व्यय देकर अथवा प्रवास के लिये सहायता देकर हो सकता है। कभी कभी यह अधियोजकों (Employers) द्वारा हो सकता है जो श्रमियों को प्रशिक्षित करना या उन्हें मार्ग-व्यय देना अपने लिये लाभदायक समझते हैं। परन्तु यह प्रायः स्वयं श्रमी को ही करना पड़ता है। परन्तु जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि उसकी भावी आय में होनेवाली वृद्धि द्वारा ब्याज सहित उसकी लागत वसूल हो जायगी तबतक वह ऐसा नहीं करता। कुछ श्रमियों के पास अपेक्षित पूँजी का अभाव रहता है और कुछ सोचते हैं कि उनके शेष जीवन के लिये वेतन में वृद्धि के रूप में १० या २० प्र० श० ब्याज सहित लागत की वसूली के होने की संभावना होते हुये भी वह वर्तमान पूँजी के त्याग के बराबर नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि भविष्य में अधिक अर्जन करने का आकर्षण पुराने श्रमियों की अपेक्षा नये कर्मचारियों को अन्यत्र जाने के लिये अधिक प्रलोभन देगा। ऐसा केवल इस कारण से नहीं होगा कि वह पुराने व्यवसाय म अधिक अभ्यस्त हो चुका है वरन् इस लिये भी कि पुराने श्रमी के जीवन के कुछ ही वर्ष कार्य करने को रह गये हैं जिसमें वह अपनी वर्तमान लागत को वसूल नहीं कर सकता।

किसी आधुनिक समाज में माँग और क्रियाकल्प-ज्ञान में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं और वे मूल्य-रचना के द्वारा श्रमियों को एक व्यवसाय या धंधे से दूसरे में जाने के लिये उत्तेजना देते रहते हैं। इधर कुछ वर्षों में राज्य द्वारा कुछ धंधों में प्रवेश निषिद्ध करने की प्रवृत्ति देखने में आई है, जैसे ग्रेट ब्रिटेन में कोई साहसी कोयले की नई खान नहीं खनवा सकता है, न तो नई मोटर-सेवा (Bus service) या विद्युत्-वितरण आरम्भ कर सकता है, न तो रेडियो से समाचार भेजने का केन्द्र स्थापित कर सकता है, और न तो बाजार में बेचने के लिये हॉप (एक प्रकार की लता जिसका उपयोग मदिरा बनाने में होता है) उपजा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ व्यवसायों (जैसे वकालत, डाक्टरी, आदि) में प्रवेश करनेवालों को किसी न किसी प्रकार की परीक्षा देनी पड़ती है और कुछ दशाओं में शुल्क भी देना पड़ता है। परन्तु इन नियंत्रणों को छोड़कर किसी देश के भीतर गतिशीलता में कोई रुकावट नहीं रहती। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमियों की गतिशीलता पर्याप्त मात्रा

और पर्याप्त शीघ्रता से होती है जिससे आर्थिक अवस्थाओं में परिवर्तनों का सम्यक् और सामयिक सामंजस्य हो सके।

अपर्याप्त गतिशीलता का एक प्रमुख उदाहरण गत १० या १५ वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन का है। कुछ क्षेत्र, जैसे वेल्स, ग्लास्गो, लंकाशायर और टाइनसाइड, अधिकतर "प्रधान" (Staple) धंधों पर (जैसे कोयला और सूती वस्त्र) निर्भर रहते हैं जिनके उत्पादनों का अधिकांश निर्यात होता है और जिनके उत्पादों की, विशेषतः विदेशी बाजारों में, माँग घट जाने के कारण उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। देश के अन्य भागों में तुलनीय व्यवसायों की मजदूरी की अपेक्षा इन क्षेत्रों की मजदूरी घट गई है, फिर भी इन जिलों से इतने कम श्रमी बाहर गये हैं कि वहाँ बेकारी का प्रतिशत अन्य जिलों की अपेक्षा लगभग दूना हो गया है। जिससे अब वे "विशेष" या "मंद" (Depressed) क्षेत्र गिने जाते हैं[1]। फिर भी यह कहा जाता है कि कुछ समय पहले तक देश के अधिक सम्पन्न भागों में वासस्थान के अभाव के कारण गतिशीलता में बाधा पड़ी है और अब भी इस कारण रुकावट पड़ती है कि अनवियोजन-वृत्ति (Unemployment benefit) तथा सार्वजनिक सहायता मिल जाने के कारण स्थान छोड़ने की प्रेरणा नहीं होती।

फिर भी अधिकांश आधुनिक देशों में गतिशीलता इतनी पर्याप्त होती है कि आर्थिक दशा में परिवर्तन के अनुसार बहुत बड़ी मात्रा में सामंजस्य स्थापित किया जा सके। यह स्मरण रखना चाहिये कि अवस्था में परि-वर्तन होने के कारण विरले ही कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष वर्ष में एक धंधे या व्यवसाय या स्थान से दूसरे में अल्प प्रतिशत से अधिक कर्मचारियों के घटने बढ़ने की आवश्यकता पड़ती है। सम्पूर्ण कर्मचारीवर्ग के अल्पांश का, जो हटने में समर्थ और इच्छुक हैं, हट जाना ही पर्याप्त होता है। अधिकांश कर्मचारी यदि उसी स्थान पर पड़े रहें और पहले ही वाले कार्य करते रहें तो भी अधिकतर सामंजस्य स्थापित करना कठिन नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के "पुनर्गठन" (Reshuffle) द्वारा भी सामंजस्य-स्थापन होता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि उत्तर से दक्षिण को जनसंख्या की गति अपेक्षित है। यह कार्य एक प्रकार की लहर द्वारा संपन्न हो सकता है, जैसे कुछ लोग उत्तर से मध्य में हट जायँ और मध्यवाले और भी दक्षिण को चले जायँ और वहाँ वाले और भी दक्षिण, इत्यादि। इसी प्रकार व्यवसायों के बीच भी गति हो सकती है। मान लीजिये कि

---

१. इस समय (१९४६ में) जितना कोयला और सूती वस्त्र बेचा जा सकता है उससे कम उत्पन्न किया जा रहा है फिर भी इन क्षेत्रों की समस्या ज्यों की त्यों है। दे० अध्याय ३१।

कोयले के धंधे में संकोच (Contraction) और मोटर के धंधे में विस्तार हो रहा है; तो कोयला खननेवालों में से बहुत कम मोटर के धंधे में निपुण हो सकते हैं; फिर भी यह संभव है कि कुछ कोयला खोदनेवाले राजगीर हो जायँ, कुछ लारी-चालक हो जायँ और कुछ लारी-चालक मोटर के धंधों में कार्य करने लगें। अन्त में व्यवसायों और धंधों में—यद्यपि स्थानों में उतना नहीं—गतिशीलता को सुविधाजनक बनानेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति कार्यशील जनता की संख्या (Personnel) में परिवर्तन है, जो मृत्यु तथा अवकाशग्रहण (Retirement) के कारण निरन्तर घटती और स्कूलों तथा कालेजों से नये नये बालक-बालिकाओं के श्रम-बाजार में प्रवेश करने से बढ़ती रहती है। पहले पहल किसी व्यवसाय में प्रवेश करने के लिये निर्णय करना सरल होता है; परन्तु जिस व्यवसाय में कोई व्यक्ति ज्ञान और कौशल प्राप्त कर चुका है, ढलती उमर में उसे छोड़ नये क्षेत्र में जा कर व्यवसाय आरम्भ करने का निर्णय करना कठिन होता है। श्रम-बाजार में प्रवेश करनेवाले बहुत से युवक अनेक भिन्न भिन्न व्यवसायों और धंधों में से किसी एक में प्रवेश करने की क्षमता रखते हैं और वे प्रायः उन्हीं धंधों में प्रवेश करते हैं जिनमें उपभोक्ता चाहते हैं कि वे प्रवेश करें क्योंकि उन्हीं धंधों में उन्हें उज्ज्वल भविष्य का आकर्षण मिलता है। यहां भी कभी कभी राज्य सहायक होता है। बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का पता लगाने के लिये उनकी "व्यवसायात्मक परीक्षा" (Vocational tests) ली जाती है और अधियोजन-विनिमय (Employment Exchange) के अधिकारियों के द्वारा, जो भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अधियोजन की संभावना और वेतन आदि का ज्ञान रखते हैं, उनके माता-पिताओं को सम्मति दी जाती है कि वे अपने बच्चों को किन व्यवसायों में भेजें।

कुछ आँकड़ों से यह पता चलेगा कि इधर कुछ वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में श्रम की गति पर्याप्त मात्रा में हुई है। जुलाई १९२३ और १९३५ के बीच कोयला खननेवाले बीमाकृत श्रमियों की संख्या १२४४ हजार से घट कर ९३९ हजार हो गई। सूती वस्त्र के श्रमियों की ५३८ हजार से ४२२ हजार और जहाज बनानेवालों की २७० हजार से १५७ हजार हो गई थी; उधर वितरण करनेवाले व्यवसायों में १२५४ हजार से बढ़कर २००७ हजार, भवन-निर्माण में ६१६ हजार से ९७७ हजार और मोटर के धंधे में १९२ हजार से २८६ हजार हो गई थी; इसके अतिरिक्त धंधों और व्यवसायों के बीच अनक परिवर्तन हुए थे। मंद क्षेत्रों से (Depressed areas) दूर और दक्षिण की ओर भी कुछ गति हुई थी। इस प्रकार जनगणना की प्रारम्भिक रिपोर्ट, १९३१ (पृष्ठ १४), में लिखा है:—

: यह ध्यान देने की वात है कि चेशायर और यार्कशायर के उत्तरी क्षेत्र से गत दशक में लगभग ४४३ हजार व्यक्तियों ने निष्क्रमण किया है; और मध्यवर्त्ती भाग से वेल्स की २५९ हजार, मिड्लैन्ड्स की ८१ हजार और पूर्वी क्षेत्र की ४१ हजार जनसंख्या अन्यत्र चली गई है········दक्षिण पूर्वी भाग में ६१५ हजार व्यक्तियों का आप्रवास (Immigration) हुआ है।

यह गति इधर के कुछ वर्षों में जारी रही है। यह ध्यान देने योग्य है कि वढ़ती हुई जनसंख्या द्वारा धंधों और व्यवसायों में सामंजस्य स्थापित करना सरल होता है क्योंकि भिन्न भिन्न धंधों और व्यवसायों से सम्वद्ध कर्मचारियों के अनुपात में परिवर्तन विशेष कर नये आगन्तुकों की धारा को उस क्षेत्र की ओर मोड़ देने से हो सकता है जिसका विस्तार हो रहा है, जिसमें अनेक कर्मचारियों को एक क्षेत्र छोड़ कर दूसरे में न जाना पड़े। इसका दष्टांत भी ग्रेट व्रिटेन से मिल सकता है। १८८१ में व्यवसाय में लगी हुई जनसंख्या १२७३९ हजार थी जिसमें से १५९३ हजार खेती वारी में लगी हुई थी। यातायात तथा क्रियाकल्प में उन्नेति होने के कारण अपने उपभोग के योग्य खेती की उपज स्वयं उत्पन्न न करके वाहर से मँगाना ग्रेट व्रिटेन के लिये सस्ता पड़ने लगा। इस प्रकार १९३१ में व्यवसायों में लगी हुई सम्पूर्ण जनसंख्या २१०५५ हजार में से केवल ११९४ हजार खेती में लगी थी। जनसंख्या की वृद्धि होने के कारण जहाँ पहले प्रति दस हजार में १२५० व्यक्ति काम में लगे थे वहाँ अव केवल ५६७ व्यक्ति लगे हैं; परन्तु इससे खेती में लगे रहनेवालों की संख्या में केवल ३९९ हजार की कमी हुई। इस अवधि में कुछ धंधों का विस्तार हुआ। उदाहरणार्थ, धातुओं, यन्त्रों आदि के उत्पादन में लगे हुए व्यक्ति ९२७ हजार से वढ़कर २४१२ हजार अर्थात् प्रति ६० हजार व्यवसाय में लगे व्यक्तियों में ६२८ से ११४५ हो गये। अधिकांश में श्रम-वाजार में नये आगन्तुकों के कारण ये विस्तार हुये। स्थिर जनसंख्या और उनसे भी अधिक घटती जनसंख्या में सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो जाता है क्योंकि ऐसा प्रायः तभी हो सकता है जव श्रमी एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे में चले जायँ। इधर कुछ वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि की गति मंद होने के कारण इस विषय में ग्रेट व्रिटेन को वहुत असुविधा हुई है। और यह असुविधा भविष्य में और अधिक होनेवाली है क्योंकि उसकी जनसंख्या अव वढ़ नहीं रही है वरन् घटने लगी है।

३. भूमि की गतिशीलता

यह मानना होगा कि मिट्टी स्थानान्तरित की जा सकती है, नदियों की धारा वदली जा सकती है, खनिज खानों से निकाल कर स्थानान्तरित किया जा सकता है, इत्यादि। परन्तु ऐसा कहना निरर्थक जान पड़ेगा कि

स्वयं भूमि भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाई जा सकती है।

इसका कारण यह है कि हम भूमि को क्षेत्रफल द्वारा नापते हैं। परन्तु क्षेत्रफल की अपेक्षा उसकी उत्पादन शक्ति का महत्त्व अधिक है; और भूमि के किसी विशेष खंड की उत्पादन-शक्ति घटाई बढ़ाई जा सकती है।

'भूमि' शब्द का व्यवहार कभी कभी मिट्टी की सहज और अविनश्वर शक्ति के लिये किया जाता है। परन्तु इस परिभाषा को ग्रहण करना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में जिसे साधारणतः भूमि कहते हैं वह मनुष्यकृत है और मनुष्य द्वारा की गई "उन्नति" (Improvement) को भूमि से पृथक् करना असंभव है। अधिकांश भूमि को कीड़ों आदि से बचाने अथवा उर्वरा बनाए रखने या उसपर पानी न लगने देने के लिए उसपर बराबर पूँजी लगाते रहने की आवश्यकता होती है और यह मानी हुई बात है कि अधिकाधिक 'विनियोजन' (Investment) से उत्पादन शक्ति बढ़ेगी। भूमि की जो दो प्रकार की कल्पना की गई है उसकी अस्पष्टता उस जमींदार के दृष्टांत से भलीभांति व्यक्त होती है जिसने काश्तकार को भूमि देते समय उससे कहा कि हमारी भूमि की अविनश्वर शक्ति को अविकल (Intact) रखना।

अतएव यदि किसी एक भाग की भूमि की "उन्नति" (Improvements) करने में पहले की अपेक्षा अधिक पूँजी लगाई जाय और दूसरे भाग की भूमि की "उन्नति" में पहले से कम पूँजी लगाई जाय तो पहले भाग में भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ जाएगी और दूसरे भाग की घट जाएगी।

परन्तु यद्यपि सिंचाई तथा अन्य साधनों के द्वारा मनुष्य किसी भाग की प्राकृतिक उत्पत्ति को उन्नत कर सकता है फिर भी शीतोष्ण-कटिबंध की भूमि को वह ऊष्ण-कटिबंध का जलवायु नहीं प्रदान कर सकता और न तो खान से निकाले बिना खनिज को स्थानान्तरित कर सकता है। पृथ्वी पर विभिन्न प्राकृतिक साधनों का असमान वितरण एक महत्त्वपूर्ण बात है। हम धंधों की स्थिति पर विचार करते समय इसके परिणामों का विवेचन करेंगे।

कुछ भूमि तो बहुत विशिष्ट (Specific) होती है; उदाहरणार्थ योरोप के उत्तर में अधिकांश भूमि में केवल वन हैं और वहाँ की मिट्टी इतनी उपजाऊ नहीं है कि वनों को काटकर दूसरे पदार्थ उत्पन्न किये जायँ। इसी प्रकार ऑस्ट्रेलिया के भीतरी भागों में बहुत सी भूमि पर इतनी कम और अनिश्चित वर्षा होती है कि वह केवल चरागाह आदि के काम में लाने के योग्य है। परन्तु बहुत सी भूमि ऐसी होती है कि वह अनेकप्रकार के उपयोगों में लायी जा सकती है। बहुत कम ऐसी भूमि होगी जो भवन-निर्माण के कार्य में न लाई जा सके। उदाहरणार्थ फोर्ड के कारखाने को देखिए जो डैगनहम के दलदल पर कंकरीट के ढेर के ऊपर खड़ा है। बहुत ही कम ऐसे जिले होंगे जहाँ आवश्यकता पड़ने पर गोल्फ खेलने के मैदान न बनाये जा सकें। "कृषियोग्य" (Arable) लगभग सभी भूमि पर घास उत्पन्न

की जा सकती और चरागाह के काम में लाई जा सकती है और उस पर अनेक प्रकार के पशुओं का पालन हो सकता है। वास्तव में किसी विशेष भूमि-भाग के सम्भाव्य उपयोगों की सीमा उसकी मिट्टी और जलवायु द्वारा परिमित होती है। उन सीमाओं के भीतर अधिकांश भूमि अनेक प्रकार के उपयोगों में लाने योग्य होती है। परन्तु भूमि को एक प्रकार के उपयोग से दूसरे प्रकार के उपयोगों में परिवर्तित करने के लिये प्रायः कुछ पूँजी लगाने की सर्वदा आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष पदार्थ की पूर्ति को अधिक मात्रा म बढ़ाने के लिये पर्याप्त समय की भी आवश्यकता हो सकती है; उदाहरणार्थ रबड़ के पेड़ या कहवा (काफी) के पौधे से उत्पाद निकालने में कई वर्ष लगते हैं।

एक प्रकार के व्यवहार से दूसरे प्रकार के व्यवहार में भूमि किस प्रकार लाई जाती है इसका एक ज्वलंत उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन में १८७४ और १९१४ के बीच उपस्थित हुआ था जब कि बहुत सी भूमि, जिसपर पहले गेहूँ उपजाया जाता था, घास उत्पन्न करने के काम में लाई गई थी। उस अवधि में गेहूँ उत्पन्न करनेवाला क्षेत्र ३८ लाख एकड़ से घट कर १९ लाख एकड़ हो गया था। इधर घास उत्पन्न करनेवाली भूमि का क्षेत्रफल २३७ लाख एकड़ से २७४ लाख एकड़ हो गया था राज्य से सहायता प्राप्त करके चुकन्दर उपजाने की भूमि का क्षेत्रफल १९१३ में ४ हजार एकड़ से १९३४ में ४०४ हजार एकड़ हो गया था। उसी अवधि में शलजम (Turnip) और स्वीडनीय शलजम उत्पन्न करनेवाली भूमि का क्षेत्रफल १४८६ हजार एकड़ से ८७४ हजार एकड़ हो गया था।

४. पूँजी की गतिशीलता

किसी देश की अधिकांश पूँजी उसके भवन और स्थायी यंत्र (Plant) होते हैं। स्थायी यंत्र को खोलकर उसके पुर्जे अलग अलग करके किसी दूसरे स्थान पर ले जाकर यंत्र को स्थापित कर देना प्रायः सम्भव होता है, परन्तु स्थान-परिवर्तन का लाभ विरले ही इतना अधिक होता है कि वैसा करने का पूरा व्यय निकल आवे और ईंट पत्थर का बना हुआ मकान हटाना कदाचित् ही लाभप्रद हो सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की अधिकांश अचल पूँजी (Fixed capital) अधिकतर विशिष्ट होती है। वह किसी विशेष कार्य के लिये निर्मित रहती है और उसे दूसरे कार्य के लिये परिवर्तन करने की लागत इतनी अधिक होती है कि ऐसा करना लाभप्रद नहीं होता। निःसंदेह इस नियम के अपवाद भी हैं, जैसे यह कहा जाता है कि सिलाई का यंत्र तैयार करने वाले कारखाने शीघ्रता से तोप का उत्पादन कर सकते हैं और मोटरों के लिये निर्मित यंत्रों और कृषि-यंत्रों का शस्त्रास्त्र उत्पादन करने के लिये उपयोग किया जा सकता है। परन्तु अधिकांश अचल पूँजी या तो उसी स्थान पर

रहती है जहाँ वह थी और उसी प्रकार का कार्य करती है जिसके लिये उसका निर्माण हुआ था या तोड़ कर पुराने लोहे के भाव बेच दी जाती है।

फिर भी पूँजी की गतिशीलता जितनी ऊपर से जान पड़ती है उसकी अपेक्षा अधिक होती है। जिस 'उद्देश्य' (Purpose) के लिये कोई भवन या यंत्र बनाया जाता है वह प्रायः ऐसा व्यापक होता है कि उससे विविध प्रकार की वस्तुएँ और सेवाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जैसे कारखाना या दूकान या कार्यालय के लिये निर्मित भवन किसी भी प्रकार के कारखाने या दूकान या कार्यालय के लिये व्यवहृत हो सकता है। इंजीनियरी के अनेक कारखाने विविध प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं और तुरंत एक पदार्थ अधिक मात्रा में और दूसरा कम मात्रा में उत्पन्न कर सकते हैं। तकुए प्रायः मोटा या महीन सूत कातने के लिऐ अथवा सर्वथा दूसरी वस्तु के व्यवहार के लिये उपयोगी बनाए जा सकते हैं।

अनेक प्रकार के कच्चे तथा अधपके माल अनेक भिन्न भिन्न धंधों द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं। जिससे यद्यपि वह कारखाना जिसमें वे उत्पन्न किये जाते हैं उसी कार्य के लिये विशिष्ट हो सकता है, फिर भी उसके उत्पाद अनेक प्रकार के उपयोगों में लाए जाने योग्य हो सकते हैं। उदाहरणार्थ किसी गलानेवाली भट्ठी (Blast furnace) में सम्भव है केवल कच्चा लोहा उत्पन्न किया जाता हो परन्तु वह कच्चा लोहा रेल की पटरी के रूप में अथवा भवन-निर्माण के लिये गाटर के रूप में या जहाज या मोटर या यंत्र बनाने के लिये उपयोग में लाया जा सकता हो। इसी प्रकार यातायात के साधनों की-जैसे रेल, मोटर आदि की-सेवाएँ प्रायः किसी भी प्रकार के माल के लिये उपयोग में आ सकती है, और कुछ धंधों को अधिक और कुछ को कम प्रकाश, ताप और शक्ति प्रदान करना बहुत सरल बात है। अतएव किसी देश के पक्के माल के संयोजन (Composition) में बहुत अल्प समय में पर्याप्त परिवर्तन किये जा सकते हैं; और अधिकांश अचल पूँजी ठीक पहले जैसा कार्य करती है अथवा ठीक वही पदार्थ उत्पन्न करती है जो पहले करती थी। अन्ततः ज्यों ज्यों समय बीतता है पूँजी का क्षय होता जाता है और आवश्यकता न होने पर उसके स्थान पर नई पूँजी नहीं रखी जाती। उदाहरणार्थ साहसी अपनी पूँजी अविकल रखना चाहता है, वह अपनी आय में से कुछ निकाल कर अलग रख देता है, जिससे यंत्र, सज्जा, आदि घिस जाने पर उसके स्थान पर दूसरे लगाये जा सकें। जो द्रव्य वह निकाल कर अलग रखता है वह मुक्त पूँजी है और यदि साहसी लाभदायक समझता है तो किसी भिन्न प्रकार का यंत्र खरीदने में उसे लगा सकता है। यह सच है कि बहुत से भवनों और बहुत से यंत्रों का 'जीवन' बहुत लम्बा होता है। फिर भी यदि नये संचय

(Savings) से, (जो उन धंधों में लगाए जाते हैं जिनमें अधिक लाभ की आशा होती है,) सम्पूर्ण पूँजी की मात्रा में वृद्धि होती है तो विभिन्न धंधों में पूँजी का वितरण ठीक उसी प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है जिस प्रकार बढ़नेवाली जनसंख्या द्वारा भिन्न भिन्न धंधों में श्रम का वितरण सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त "कार्यशील पूँजी" (Working capital) जिसमें अधिकतर अधपका माल होता है, और उपयोगी पूँजी के अधिकांश का जीवन पर्याप्त अल्पकालीन होता है, और उनके उपभुक्त हो जाने पर उनका स्थान दूसरी पूँजी ले सकती है।

५. उपसंहार

हम अभी तक एक व्यावहारिक प्रश्न पर विचार कर रहे थे कि कोई वर्तमान अर्थप्रणाली किस सीमा तक लचीली (Flexible) है। पूँजीवाद के अंतर्गत आर्थिक अवस्थाओं में परिवर्तन का प्रभाव मूल्य-रचना (Price mechanism) पर पड़ता है, और उससे साहसियों को कुछ वस्तुओं को दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में उत्पन्न करने के लिये प्रेरणा मिलती है। परन्तु इसका अर्थ है उत्पादन के कुछ साधनों को दूसरे उपयोग के लिये अन्तरित करना। हम देख चुके हैं कि कितनी शीघ्रता से ऐसे अन्तरण संभव हो सकते हैं।

हमारा साधारण निष्कर्ष यह है कि जैसा प्रायः समझा जाता है उससे अधिक सरलता से वे हो सकते हैं और यह निष्कर्ष, जिसके लिये हमने अनेक कारण दिये हैं, अनुभव द्वारा सिद्ध है। अनेक देशों में कुछ धंधे उन्नत हुये हैं कुछ अवनत और कुछ बिलकुल नये धंधे (जैसे मोटर का धंधा) उत्पन्न हो गये हैं, एवं बहुत शीघ्र उनका विस्तार बढ़ गया है परन्तु उनके कारण आर्थिक प्रणाली मात्र में कोई बाधा नहीं पड़ी है। परन्तु गतिशीलता में बाधाएँ भी हैं और उन्हें दूर करने में कुछ समय लग सकता है। साधारण अवस्था में परिवर्तन के पश्चात् जितना ही अधिक समय बीतता है उतनी ही वह पूँजी नये रूप में सुदृढ़ होती है।

हम देख चुके हैं कि यदि जनसंख्या और पूँजी का विस्तार हो रहा है तो सामंजस्य स्थापित करने में सुविधा होती है और सबसे कठिन अन्तरण है श्रमियों को एक जिले से दूसरे जिले में भेजना। अंत में यह कह देना आवश्यक है कि हमारे विवेचन में व्यापार-चक्र (Trade cycle) के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। किसी साधारण मंदी के समय अधिकतर निर्माणात्मक (Constructional) धंधों के उत्पादन के लिये माँग बहुत घट जाती है। ऐसे धंधों में विशेषता प्राप्त करनेवाले जिलों में बेकार मजदूरों के झुण्ड के झुण्ड पर्याप्त समय तक एकत्र हो सकते हैं। अतएव ऐसे समय अंतरण की समस्या विशेष रूप से आवश्यक हो जाती है साथ ही उनका सुलझाना भी बहुत ही कठिन होता है। परन्तु इस विषय को हम एक अन्य अध्याय के लिये स्थगित रखते हैं।

पन्द्रहवाँ अध्याय

एकाधिकार (Monopoly)

१. एकाधिकार का अर्थ

कुछ अर्थों में एकाधिकार पूर्ण स्पर्द्धा का उलटा है। पूर्ण स्पर्द्धा का क्या तात्पर्य है इसे एक बार फिर बतला देने से हमारे विवेचन में सुविधा होगी।

जब कोई साहसी किसी पदार्थ अथवा सेवा की सम्पूर्ण पूर्ति का इतना अल्पांश उत्पन्न करता है कि अपने उत्पादन का विस्तार या संकोच करके वह मूल्य को प्रत्यक्षतः (Perceptibly) प्रभावित नहीं कर सकता, तब उसे पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादन करना कहते हैं। उसका मूल्य उसके लिए एक तथ्य जान पड़ता है जिसे वह परिवर्तित नहीं कर सकता। बाजार भाव से अधिक मूल्य लेना उसकी मूर्खता होगी; क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो उसकी कुछ भी बिक्री नहीं होगी, दूसरे हजारों विक्रेता ऐसे हैं जिनके पास क्रेता जा सकते हैं। इसी प्रकार कम मूल्य लेना भी मूर्खता ही होगी क्योंकि उसने जितना उत्पन्न किया है सब बाजार भाव पर बेच सकता है। अतएव जो मूल्य है उसे स्वीकार करना चाहिए और वह करता ही है।

निःसन्देह किसी पदार्थ के सभी उत्पादकों के कार्यों का सम्मिलित प्रभाव उसके मूल्य पर पड़ता ही है। यदि वे सभी अधिक उत्पन्न करें तो मूल्य गिर जायगा; यदि वे सभी कम उत्पन्न करें तो मूल्य बढ़ जायगा। परन्तु कोई एक उत्पादक प्रत्यक्षतः प्रभावित नहीं कर सकता—जिस प्रकार आकाश के अनेक तारों में से एक तारा, बालू के ढेर में से एक कण, सिर के बालों में से एक बाल कम या अधिक होने से प्रत्यक्षतः कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ऐसा कहने का लोभ होता है कि पूर्ण स्पर्द्धा का विलोम निरंकुश एकाधिकार (Absolute monopoly) है और उसकी परिभाषा इस प्रकार करने को जी चाहता है कि निरंकुश एकाधिकारी वह है जो किसी पदार्थ का एकमात्र उत्पादक है। परन्तु "पदार्थ" (Commodity) क्या है ? सेठ झाबरमल "झाबर चाय" के एकमात्र उत्पादक हो सकते हैं परन्तु उनके उत्पाद को लगभग उसी प्रकार की अन्य उत्पादकों की चाय से स्पर्द्धा करनी पड़ती है। यदि सेठ झाबरमल चाय के एकमात्र उत्पादक होते तब भी उन्हें कहवा या चाय के अन्य स्थानापन्नों (Substitutes) से स्पर्द्धा करनी पड़ती। उपभोक्ता की परिमित पूँजी (Limited purse) में से अधिक से अधिक लेने के लिए लगभग सभी पदार्थ और सभी सेवाएँ कुछ सीमा तक प्रतिस्पर्द्धा करती हैं। निरंकुश एकाधिकारी नाम की कोई वस्तु नहीं है।

फिर भी संसार में "अपूर्ण" अथवा "एकाधिकारात्मक" (Monopolistic) स्पर्द्धा बहुत है। अनेक व्यवसाय-संस्थाएँ अपने पदार्थ के सम्पूर्ण उत्पादन का इतना बड़ा भाग उत्पन्न करती हैं कि वे अपने उत्पादन में परिवर्तन करके मूल्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकती हैं—ऐसा प्रभाव जिसका विचार वे तब करती हैं जब उन्हें यह निर्णय करना होता है कि उत्पादन की कितनी मात्रा उनके लिए सबसे अधिक लाभदायक होगी। व्यापार-चिह्न (Trade mark) की विधि द्वारा कोई व्यवसाय-संस्था अपनी प्रतिद्वन्दी संस्थाओं के उत्पादों से अपने उत्पाद का पृथकत्व रखती है और अपना पृथक् मूल्य निर्धारित करती है। निःसंदेह ऊँचे मूल्य का अर्थ होगा कम बिक्री, परन्तु एक सीमा के भीतर अपनी बिक्री शून्य किए बिना वह अधिक मूल्य ले सकती है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता—कम से कम कुछ उपभोक्ता—एक अंकित (Branded) वस्तु को दूसरी से अधिक पसंद करते हैं; भिन्न भिन्न अंकितों को वे एक दूसरे का स्थानापन्न नहीं मानते। इसी से यह भी पता चलता है कि एक वकील दूसरे से अधिक फीस क्यों पाता है; एक सिनेमा दूसरे से अधिक टिकट क्यों रखता है, इत्यादि। अपूर्ण स्पर्द्धा का एक और कारण स्थानान्तरण-व्यय है। उदाहरणार्थ, एक कोयले की कंपनी, अपने निकटतम प्रतिद्वन्दी द्वारा खान के मुहाने (Pit head) पर लिए गए मूल्य से अधिक स्थानीय ग्राहकों से ले सकती है, परन्तु शर्त यह है कि (ठीक उसी प्रकार के कोयले के) मूल्य में अन्तर उस लागत से अधिक न हो जो उसके प्रतिद्वन्दी को अपनी खान से स्थानीय उपभोक्ताओं तक स्थानान्तरित करने में लगती है। उसी प्रकार कुछ उपभोक्ता कुछ दूर दूसरी दूकान पर जाने के कष्ट से बचने के लिए जान-बूझकर एक दूकान पर कुछ अधिक मूल्य देते हैं।

विशुद्ध तर्क की दृष्टि से प्रत्येक उत्पादक दूसरे उत्पादकों का प्रतिस्पर्द्धी है। प्रत्येक उत्पादक या तो पूर्ण स्पर्द्धा या अपूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादन करता है और एकाधिकार शब्द का या तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिए या इसे अपूर्ण स्पर्द्धा का पर्याय मानना चाहिए। फिर भी कुछ उत्पादकों या उत्पादकों के समूहों का एकाधिकार किसी अंकित मक्खन के विक्रेताओं अथवा किसी विशेष दूकान की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है क्योंकि वे ऐसे पदार्थ की अधिकांश मात्रा पर नियंत्रण रखते हैं जिसका कोई ठीक ठीक स्थानापन्न नहीं है, जैसे सिलाईवाले तागे के मुख्य उत्पादक "मेसर्स कोट्स" और संसार भर में कहवा की पूर्ति का नियंत्रण रखनेवाली संस्था "कौफी इंस्टीट्यूट औफ़ ब्रेजील"। यद्यपि एकाधिकार के संबंध में हमारा विवेचन, अधिकांश में, साधारण अपूर्ण स्पर्द्धा पर लागू होगा, फिर भी हम मुख्यतः पहले प्रकार के एकाधिकारियों को ही ध्यान में रखेंगे जो साधारण अर्थ में एकाधिकार का उपभोग करते हैं।

२. एकाधिकार-मूल्य

अब एक ऐसे एकाधिकारी का विचार किया जाय जो किसी पदार्थ का एक मात्र उत्पादक है और जो उत्पादन के उन साधनों से, जो परिमाण में स्थिर मान लिए गए हैं और जिनपर स्वयं उसका स्वामित्व है और जिनका उपयोग वह अपने व्यवसाय में करता है, द्रव्य के रूप में होनेवाले लाभ को बढ़ाकर अधिकतम करना चाहता है। या तो वह जो चाहे सो मूल्य निर्धारित कर सकता है अथवा जितनी मात्रा में वह चाहे (प्रति सप्ताह) बेच सकता है; परन्तु वह जो चाहे सो और जिस मूल्य पर चाहे उस पर नहीं बेच सकता। वह ऊँचे मूल्य की अपेक्षा नीचे मूल्य पर अधिक परिमाण में बेच सकता है। किसी निश्चित मूल्य पर जो मात्रा वह बेच सकता है वह उसके उत्पाद की माँग की अवस्थाओं पर निर्भर रहती है और वह उसे प्रभावित नहीं कर सकता; उसे माँग को एक स्थिर तथ्य मान लेना होगा।[1] निःसंदेह वह माँग मूल्यों तथा उसके पदार्थ के उन स्थानापन्नों की उपयुक्तता से, जिन की ओर उपभोक्ता झुक सकते हैं, प्रभावित होगी। साधारणतः यदि उस मूल्य पर पर्याप्त निकट स्थानापन्न प्राप्य होंगे तो उसके उत्पाद के लिए माँग एक निश्चित मूल्य के आसपास अधिक लचीली होगी और यदि स्थानापन्न न होंगे तो कम।

अतएव चाहे हम यह पूछें कि कौन सा मूल्य उसके लिए सबसे अधिक लाभदायक होगा या यह कि किस परिमाण में उत्पादन उसे सबसे अधिक लाभकर होगा। दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि किसी निश्चित मूल्य पर जिस परिमाण में वह बेच सकता है वह माँग की अवस्था पर निर्भर होगा। हमारे इस प्रश्न का उत्तर तेरहवें अध्याय में दिया जा चुका है। उसका सबसे लाभदायक उत्पादन वह होगा जिसकी सीमान्त लागत और सीमांत

---

१. अनेक उत्पादक अपने उत्पाद की माँग-सरणि को विज्ञापन आदि उपायों द्वारा बढ़ा सकते हैं और बढ़ा ही देते हैं। परन्तु इससे हमारे तर्क में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतएव हमने इसे अपनी पुस्तक में स्थान नहीं दिया है। हम मान ले सकते हैं कि हमारे एकाधिकारी ने किसी निश्चित उत्पाद की विक्रय लागत पर सबसे अधिक लाभदायक व्यय का अनुकलन (Calculation) कर लिया है और माँग-वक्र, जिसे वह निर्दिष्ट (Datum) मानता है, उस बिक्री को व्यक्त करता है जो (यदि वह विक्रय-लागत पर सबसे अधिक लाभदायक रकम व्यय करता है तो) किसी निश्चित मूल्य पर वह करना चाहता है; और हम यह भी मान लेते हैं कि उसके लागत-वक्र में (Cost curve) विक्रय लागत भी सम्मिलित है।

आय (अथवा सीमान्त प्राप्ति) बराबर होगी। इस विभाग का शेषांश इसी कथन की विस्तृत व्याख्या है।

यदि उसकी कोई लागत न होगी तो यह स्पष्ट है कि उसका सबसे अधिक लाभदायक उत्पादन वह होगा जो (यह मानकर कि सब माल बिक जायगा) उसकी संपूर्ण प्राप्ति को अधिकतम कर देगा। एक सीमा के पश्चात्, उसके उत्पादन में कुछ भी वृद्धि होने से उसकी संपूर्ण प्राप्ति घटने लगेगी। यदि उपभोक्ता उसके पदार्थ पर अधिक द्रव्य व्यय करते हैं तो अन्य वस्तुओं पर व्यय करने के लिए उनके पास कम द्रव्य बचता है, अतएव (प्रति सप्ताह) द्रव्य की कोई निश्चित मात्रा अवश्य होगी जिसे वह उपभोक्ताओं से अधिक से अधिक प्राप्त कर सके। एक विशेष वक्र जो यह दिखावे कि किस प्रकार संपूर्ण प्राप्ति उत्पादन (या बिक्री) के साथ साथ परिवर्तित होती है, अधिकतम ऊपर जायगा और फिर नीचे की ओर मुड़ जायगा। जबतक यह अधिकतम सीमा नहीं आती तब तक माँग की लोच एक से अधिक होगी; अधिकतम पहुँच जाने पर एक से कम होगी और अधिकतम के आसपास वह एक के बराबर होगी (क्योंकि वक्र न तो चढ़ रहा है और न नीचे मुड़ रहा है इस लिए क्षैतिज (Horizontal) अवश्य होगा)[1]। एकाधिकारी की सीमान्त लागत शून्य है अतएव उसका सबसे अधिक उत्पादन वह है जिस पर उसकी सीमान्त आय भी शून्य होगी— उत्पादन में थोड़ी सी वृद्धि होने से उसकी संपूर्ण प्राप्ति न तो घटती है और न बढ़ती है क्योंकि वे दोनों ही अधिकतम पहुँच चुकी हैं।

अब मान लीजिए कि एकाधिकारी को कुछ लागत पड़ती है। उसका सीमान्त व्यय या तो चढ़ता हुआ होना चाहिए या गिरता हुआ या स्थिर; परन्तु इतना निश्चित है कि किसी निश्चित उत्पादन पर उसकी संपूर्ण लागत उससे कम उत्पादन पर की लागत की अपेक्षा अधिक होगी[2] इसका अर्थ यह है कि उसकी सीमान्त लागत सर्वदा धनात्मक (Positive) होगी, अतएव उसका सबसे लाभदायक उत्पादन वह होगा जिससे उसकी सीमान्त प्राप्ति धनात्मक होगी इसलिए कुछ लागत न लगने पर वह जितना

---

१. दे० अध्याय ३ विभाग ६।

२. संभव है कि प्राचीन विधियों से १००० इकाई प्रति सप्ताह उत्पन्न करने मे जो लागत पड़ती है उससे कम में विशेष यंत्रों की सहायता से वह १००० इकाई प्रति सप्ताह उत्पन्न कर सके। परन्तु यदि ऐसा होगा तो १००० इकाई प्रति सप्ताह उत्पन्न करने की उसकी सबसे सस्ती विधि होगी विशेष यंत्रों का उपयोग; चाहे ऐसा करने से उसे अपने उत्पादन का अधिकांश नष्ट ही क्यों न करना पड़े। और वास्तव में कम उत्पादन में उसकी लागत सर्वदा कम होगी।

होता उससे कम होगा, क्योंकि उस दशा में, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसकी सीमान्त आय शून्य होती। और यदि उसकी सीमान्त लागत घट भी रही हो तो भी कोई ऐसी सीमा अवश्य होगी जिससे परे उसकी सीमान्त आय उसकी सीमान्त लागत से कम होगी और इसीसे उसके परे अपना उत्पादन बढ़ाना उसे लाभदायक न होगा।

निम्नलिखित तालिका (Table), जिसके आँकड़े निःसंदेह काल्पनिक हैं, एक एकाधिकारी की लागत-सरणि का एक अंश और उसके उत्पादन की माँग-सरणि का संगत (Corresponding) अंश प्रदर्शित करती है। हम मान लेते हैं कि एक बार में वह अपना उत्पादन १००० इकाइयों में घटाए बढ़ाएगा और उसकी सीमान्त लागत १६ हजार शिलिंग प्रति हजार इकाई स्थिर है।[1] उसका लाभ १४ हजार इकाई (प्रति सप्ताह) के उत्पादन पर अधिकतम होता है क्योंकि इतने उत्पादन पर उसकी सीमान्त लागत और सीमान्त प्राप्ति यथासंभव बराबर हैं। यदि वह अपना उत्पादन घटाकर १३ हजार इकाई कर देगा तो उसकी संपूर्ण लागत १६ हजार शिलिंग कम हो जायगी और उसकी संपूर्ण प्राप्ति १७ हजार शिलिंग घट जायगी अतएव इससे भी उसका लाभ घट जायगा।

प्रति सप्ताह उत्पादन	प्रति इकाई मूल्य	संपूर्ण आय	सीमान्त आय	संपूर्ण लागत	सीमान्त लागत	लाभ
	शि०	शि०	शि०	शि०	शि०	शि०
१०,०००	५०	५००,०००	—	४६०,०००	—	४०,०००
११,०००	४८	५२८,०००	२८,०००	४७६,०००	१६,०००	५२,०००
१२,०००	४७	५६४,०००	३६,०००	४९२,०००	१६,०००	७२,०००
१३,०००	४५	५८५,०००	२१,०००	५०८,०००	१६,०००	७७,०००
१४,०००	४३	६०२,०००	१७,०००	५२४,०००	१६,०००	७८,०००
१५,०००	४१	६१५,०००	१३,०००	५४०,०००	१६,०००	७५,०००
१६,०००	३९	६२४,०००	९,०००	५५६,०००	१६,०००	६८,०००
१७,०००	३७	६२९,०००	५,०००	५७२,०००	१६,०००	५७.०००
१८,०००	३५	६३०,०००	१,०००	५८८,०००	१६,०००	४२,०००
१९,०००	३३	६२७,०००	३,०००	६०४,०००	१६,०००	२३,०००

चित्र २० में यही बात रेखा-चित्र द्वारा दिखाई गई है। उत्पादन की मात्रा क्षैतिज धुरी पर और संपूर्ण प्राप्ति और संपूर्ण लागत शीर्ष धुरी पर नापी गई है। स प नामक वक्र उत्पादन की संगत मात्रा से होने

१—यहाँ पर सज्जा के निमित्त ३ लाख शिलिंग प्रति सप्ताह स्थायी परिव्यय अनुमानित किया गया है।

वाली संपूर्ण प्राप्ति व्यक्त करता है। यह अधिकतम अ तक पहुँचकर नीचे को मुड़ता है। स ल नामक वक्र उत्पादन की प्रत्येक मात्रा की सम्पूर्ण लागत व्यक्त करता है। उसे हम क के ऊपर आरम्भ करते हैं। क्योंकि हम सज्जा के लिए एक स्थिर लागत मान लेते हैं। इसका झुकाव निरन्तर
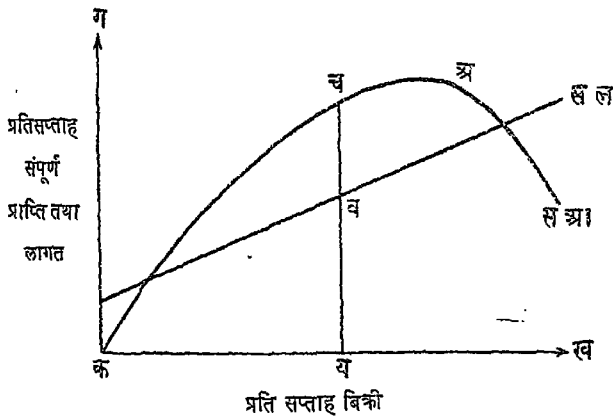
चित्र २०

है जिससे सीमान्त लागत स्थिर जान पड़ती है। यदि सीमान्त लागत घटती होती, तो यह बाएँ से दाहिने जाते हुए चपटा होता जाता, यदि वह बढ़ती होती तो इसके विपरीत होता। एकाधिकारी का उद्देश्य अपनी संपूर्ण प्राप्ति च य और संपूर्ण लागत ब य के बीच के अंतर च ब को अधिकतम करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति वह उतनी मात्रा क य उत्पन्न करके (या बेचकर) करता है, जितने पर उसकी सीमान्त प्राप्ति और सीमान्त लागत बराबर हो जाती है, अर्थात् जितने पर स प का ढाल वही है जो स ल का[1] सीधे प्रति इकाई मूल्य नहीं दिखाया गया है। किसी उत्पादन क य का प्रति इकाई मूल्य संपूर्ण प्राप्ति च य को क य उत्पादन से भाग देने पर निकलेगा।

३. विभेदक एकाधिकार (Discriminating Monopoly)

अब तक हमने मान लिया था कि एकाधिकारी अपना संपूर्ण उत्पादन प्रति इकाई समान मूल्य पर बेचने के लिए विवश है। परन्तु वह अपना विक्रय अनेक भिन्न भिन्न "बाजारों" में विभक्त करके प्रत्येक बाजार में भिन्न भिन्न मूल्य ले सकता है। इसी को विभेदन (Discrimination) कहते हैं। अब हम इसके कुछ उदाहरण देते हैं। कोई डाक्टर किसी धनी रोगी से एक ही प्रकार

१. अर्थात् च विन्दु पर स प और ब विन्दु पर स ल समानान्तर हैं।

के चीरफ़ाड़ के लिए निर्धन रोगी की अपेक्षा अधिक फीस ले सकता है। बिजली की कंपनी शक्ति के लिए व्यवहृत बिजली का मूल्य प्रकाश के लिए व्यवहृत बिजली से कम दर पर लेती है। सम्भव है कि कोई रेल की कम्पनी कोयला ढोने की अपेक्षा तांबा ढोने के लिए प्रति टन अधिक मूल्य ले। एकाधिकारी माल को विदेशों में स्वदेशी बाज़ार की अपेक्षा कम मूल्य पर "खेप" (Dump) सकता है।

जो इकाइयाँ एक ही मूल्य पर बेची जाती हैं वे एक ही बाजार में बिकी कही जाती हैं, अतएव विभेदक एकाधिकारी (Discriminating monopolist) जितने भिन्न भिन्न मूल्य लेता है उतने ही बाजारों में अपना माल बेचता है। एक ही व्यक्ति उस एकाधिकारी से दो या अधिक बाजारों में माल खरीद सकता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक ही रेल-कंपनी से दो या दो से अधि कभिन्न भिन्न माल भेजता है जिनके लिए उसे प्रति टन मील भिन्न भिन्न दर से भाड़ा देना पड़ता है।

विभेदक एकाधिकार तभी संभव है जब कि सस्ते बाजार में (अर्थात् कम मूल्य पर) बेचे जानेवाले माल या सेवाएँ शीघ्रता से मँहगे बाजार में अन्तरित (Transferred) न की जा सकें; जैसे कोई व्यवसाय-संस्था यदि ठाटबाट से कपड़े पहने हुए ग्राहकों से अधिक मूल्य लेना चाहे तो ऐसा करना संभव न होगा, क्योंकि तब ऐसे लोग सस्ती दर पर खरीदने के लिए या तो सादे कपड़े पहनकर जायँगे या गन्दे कपड़े पहने हुए नौकरों को या किसी अन्य परिचित को भेजेंगे। परन्तु जब कोई व्यक्ति डाक्टर के यहाँ जाता है तो अपने को सरलता से छिपा नहीं सकता; रेल से भेजने के लिए ताँबा लोहे में परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता; प्रकाश के लिए बिजली और शक्ति के लिए बिजली लेने के लिए भिन्न-भिन्न मापक (Meters) होते हैं इससे एक के उपयोग के लिए कहकर दूसरे उपयोग में बिजली नहीं व्यय की जा सकती, और विदेश में बिकनेवाले माल का मूल्य स्वदेशी बाजार के मूल्य से इतना कम हो सकता है जिसमें वह दोनों ओर का अन्तरण-व्यय (Cost of transport) मिलाने पर स्वदेशी बाजार के मूल्य के बराबर हो। यदि अन्तर अधिक होगा तो विदेशी क्रेता फिर से स्वदेशी बाजार में वही माल भेजकर और उससे थोड़ा कम मूल्य पर बेचकर लाभ उठा सकते हैं।

यदि कोई एकाधिकारी अपनी बिक्री अनेक ऐसे बाजारों में, जिनमें माँग की अवस्थाएँ भिन्न भिन्न हों, विभक्त कर सके तो प्रत्येक बाजार में भिन्न मूल्य लेकर वह अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। वह ऐसे मूल्य लेकर अपना लाभ अधिकतम कर सकता है जिससे (संपूर्ण उत्पादन पर) उसकी सीमान्त लागत प्रत्येक बाजार की सीमान्त प्राप्ति के बराबर हो। क्योंकि यदि वह

ऐसा करता है तो न तो वह अपना उत्पादन घटाकर न बढ़ाकर और न तो एक बाजार से कुछ बिक्री दूसरे बाजार में अन्तरित करके वह लाभ प्राप्त कर सकेगा ।

एक सरल दृष्टान्त देना अच्छा होगा । मान लीजिए कि किसी एकाधिकारी की लागत-सरणि (Cost schedule) वही है जो हमारी तालिका (Table) में दिखाई गई है और वह अपना उत्पादन एक बार में १००० इकाइयों में परिवर्तित कर सकता है जब कि (अतिरिक्त १००० इकाइयों के लिए) उसकी सीमान्त लागत सर्वदा १६००० शिलिंग है । मान लीजिए कि उसके पास दो बाजार हैं। एक की माँग-सरणि वही है जो हमारी तालिका में है । अतएव इस बाजार में, ४३ शिलिंग प्रति इकाई की दर से वह १४००० इकाइयाँ बेचेगा और (१४ वें हजार से) उसकी सीमान्त आय १७००० शिलिंग होगी । दूसरे बाजार में, मान लीजिए कि उसकी माँग-सरणि का उपयोगी भाग इस प्रकार है:—

मात्रा	प्रति इकाई मूल्य	संपूर्ण आय	सीमान्त आय
	शि०	शि०	शि०
१०००	४०	४००००	—
२०००	३०	६००००	२००००
३०००	२६	७८०००	१८०००
४०००	२१	८४०००	६०००

इस बाजार में वह २६ शिलिंग मूल्य लेगा, (तीसरे हजार से) उसकी सीमान्त आय १८००० शि० होगी । अतएव उसका सम्पूर्ण उत्पादन १७००० और सम्पूर्ण लाभ ६०२०००७८०००–५७२,००० = १०८००० शि० होगा, इस अवस्था में यही अधिकतम सम्पूर्ण लाभ वह प्राप्त कर सकता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि विभेदन (Discrimination) तभी लाभदायक होगा जब कि विभिन्न बाजारों में माँग की लोच (Elasticity of Demand) भिन्न भिन्न हो । इसमें संदेह नहीं कि बहुत से ऐसे एकाधिकारी हैं जो यदि चाहें तो विभेदन कर सकते हैं परन्तु, इस अवस्था के अभाव में वे ऐसा करना लाभदायक नहीं समझते ।

दो (या अधिक) बाजारों में से सबसे लाभदायक मूल्य उस बाजार में कम होगा जिसमें माँग की लोच अधिक होगी । यदि लागत बढ़ रही है तो विदेशी बाजार में माल 'खेपने' (Dumping) की संभावना से स्वदेश में

मूल्य चढ़ जायगा, यदि लागत घट रही है तो कम हो जायगा और यदि स्थिर रहेगी (जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में है) तो कोई परिवर्तन नहीं होगा।*

४. एकाधिकार-शक्ति के आधार

(The Foundations of Monopoly Power)

एकाधिकारी भी उपभोक्ता के प्रभुत्व के अधीन है। वह किसी विशेष मूल्य पर उपभोक्ता को जितना वह खरीदना चाहता है उससे अधिक खरीदने को बाध्य नहीं कर सकता। उसके एकाधिकार की सीमा केवल उस वस्तु की पूर्ति के नियंत्रण तक ही है। उसके द्वारा वह, माँग की किसी विशेष अवस्था में, जिस मात्रा में बेचने से उसे अधिकतम लाभ होगा उतनी मात्रा बेचने में समर्थ होता है।

यदि उसका पदार्थ (Commodity) पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पन्न किया हुआ होता तो उत्पादन की मात्रा इतनी होती कि पदार्थ का मूल्य उस धंधे में लगे हुए प्रत्येक व्यवसाय-संस्था के उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होता, और बाहर से उस धंधे में आकर उत्पादन का कोई साधन उत्पादन में अपने योगदान (Contribution) का अर्घ बढ़ाकर अधिक अर्जन करने में समर्थ न होता। परन्तु अपने एकाधिकार द्वारा वह अपने पदार्थ की पूर्ति पर इस प्रकार नियंत्रण रखने में समर्थ होता है कि उसका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन-लागत (Marginal cost of production) से अधिक रहता है। पूर्ण स्पर्द्धा में कार्य करनेवाली अनेक संस्थायें संभवतः अपना सम्पूर्ण उत्पादन उस सीमा से अधिक बढ़ा सकतीं जिस पर माँग की लोच एक (Unity) से कम हो जाती।

ऐसी अवस्था में यदि वे अपना संपूर्ण उत्पादन नियंत्रित करके संपूर्ण प्राप्ति Receipts) बढ़ा लेतीं तो उनको अवश्य ही लाभ होता। जैसा कि म देख चुके हैं, कोई एकाधिकारी—यदि उसकी कुछ लागत होगी—सर्वदा र मात्रा से, जिससे उसकी संपूर्ण प्राप्ति अधिकतम हो जाती है कम उत्पादन ..रेगा क्योंकि वह अपनी संपूर्ण प्राप्ति ऋण संपूर्ण लागत को अधिकतम करना चाहता है। अतएव एकाधिकारी के लिए किसी एकाधिकृत (Monopolised) पदार्थ की उत्पादित मात्रा की माँग की लोच सर्वदा एक (Unity) से अधिक होगी, परन्तु किसी धंधे को एकाधिकार के रूप में परिवर्तित करके लाभ उठाने की संभावना विशेषतः उस समय अधिक होगी जब स्पर्द्धा में उत्पादित पदार्थ की माँग अपेक्षाकृत कम लोचदार होगी। हमारे रेखाचित्र के अनुसार वह विशेषतः उस समय अधिक होगी जब स्पर्द्धा का उत्पादन संपूर्ण प्राप्ति

*टि० इस अध्याय के अन्त में दी हुई टिप्पणी।

वक्र (Total revenue curve) पर अधिकतम सीमा अ से परे अपेक्षाकृत कम लोचदार मांग के क्षेत्र में चला जायगा।

अतएव एकाधिकारी की सफलता की कुंजी है उत्पादन का नियंत्रण। इससे पदार्थ का मूल्य चढ़ा रहता है और एकाधिकारी के अधिकार में रहने वाले उत्पादन के साधन अन्यत्र की अपेक्षा अधिक अर्जन करने में समर्थ होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह है कि उसके समान साधनों के स्वामी [अथवा उस मुक्त पूँजी (Free capital) के स्वामी जिससे उसीके समान साधन वाजार मूल्य पर—जो एकाधिकृत धंधे से वाहर उनके अर्जन के बरावर होगा—किराए पर लिए जा सकते हैं] एकाधिकृत धंधे में अपने साधनों का उपयोग करके अधिक आय उत्पन्न कर सकते हैं। यदि वे ऐसा करते हैं तो उस पदार्थ की अधिक मात्रा उत्पन्न होगी, उसका मूल्य गिरेगा और अवतक एकाधिकार रखनेवाला उत्पादन के साधनों द्वारा जितना अन्यत्र अर्जन करता था उससे अधिक नहीं अर्जन कर सकेगा—उसका एकाधिकार नष्ट हो जायगा। इससे परिणाम यह निकला कि एकाधिकार तभी रखा जा सकता है जब भावी आगन्तुक (Entrants) उस धंधे में आने से रोके जा सकें। जिन परिस्थितियों में नवागन्तुक रोके या वर्जित किए जा सकते हैं, जिससे उत्पादन नियंत्रित रहे, वे ही एकाधिकारी की शक्ति के मूल आधार हैं। इन परिस्थितियों को हम तीन मुख्य समूहों में विभक्त कर सकते हैं।

सबसे पहले, एकाधिकार का आधार किसी ऐसी वस्तु की पूर्ति का आंशिक अथवा पूर्ण स्वामित्व हो सकता है जो एकाधिकृत वस्तु के उत्पादन के लिए परम आवश्यक हो। यह वस्तु कोई कच्चा माल हो सकता है—जैसे इंटर्नेशनल निकेल कौर्पोरेशन औफ कैनाडा का संसार भर में ज्ञात निचा ों (Deposits) के अधिकांश पर प्रभुत्व है—अथवा वह कोई गुप्त विधि हो सकती है; अथवा वह एक अद्‌भुत व्यक्तित्व हो सकता है, जैसा चार्ली चैपलिन का है। इसी वर्ग में वे स्थानीय एकाधिकार भी आते हैं जैसे किसी जिले या प्रान्त की कोयले की सभी खानों का स्वामित्व।

दूसरे, एकाधिकार का आधार किसी वैध विशेषाधिकार (Legal privilege) का एकमात्र स्वामित्व हो सकता है (जैसे वहुत से राज्य, अनुसंधानों को प्रोत्साहन देने के लिए पेटेंट का अधिकार प्रदान करते हैं जिसके द्वारा उनके स्वत्वाधिकारियों को कुछ वर्षों के लिए, किसी नवीन विधि या आविष्कार के उपयोग का, जिसका उन्होंने आविष्कार किया है अथवा आविष्कारक से खरीद लिया है, संपूर्ण अधिकार मिल जाता है। इसी प्रकार वहुत से देशों में कोई व्यवसाय-संस्था अपना व्यापार-चिन्ह (Trade Mark) जिसका उपयोग या अनुकरण दूसरी संस्थाओं द्वारा वर्जित है, अंकित करके अपने उत्पादित पदार्थ को उसी के समान दूसरे पदार्थ से पृथक्

कर सकती हैं, अथवा राज्य स्वयं अपने लिए किसी विशेष क्षेत्र में एकाधिकार सुरक्षित रख सकता है (उदाहरणार्थ, फ्रांस की सरकार ने अपने देश में तंबाकू के उत्पादन का एकाधिकार अपने हाथ में रखा है), अथवा किसी संस्था को (जैसे ब्रौडकास्टिंग कॉर्पोरेशन) या किसी विद्यमान उत्पादक को दे सकता है [जैसे ग्रेट ब्रिटेन में चुकंदर (Hop) उपजानेवालों की रक्षा के लिए राज्य बाहरी लोगों को उस धंधे में प्रवेश करने से वर्जित कर रखा है] ।

यह स्पष्ट है कि वैध विशेषाधिकारों (Legal privileges) पर निर्भर अधिकांश एकाधिकार केवल उस राज्य के अंतर्गत ही रह सकते हैं परन्तु उस राज्य की सीमा में वे आयात कर (Import duty) अथवा वर्जन (Prohibition) द्वारा बाह्य स्पर्द्धा से सुरक्षित रखे जा सकते हैं। साधारणतया संरक्षण कर (Protective tariff) सुरक्षित क्षेत्र में व्यवसाय-संस्थाओं की बाह्य स्पर्द्धा से रक्षा करके, उस क्षेत्र में एकाधिकार की स्थापना और उसके पालन की सुविधाएँ प्रदान करता है।

तीसरे, संभव है कि कुछ धंधों में उत्पादन की सबसे लाभदायक विधि में बहुमूल्य और विशेष यंत्रों तथा सज्जा (Equipment) की आवश्यकता पड़े। अतएव ऐसे धंधों में व्यवसाय-संस्थाओं की संख्या कम होगी जिससे उनको अपने उत्पादित पदार्थ की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण रखने के लिए संघ बनाना सुविधाजनक होगा। उदाहरणार्थ, लोहे और इस्पात के धंधे की अनेक शाखाओं में यह बात देखने में आती है। इसी कठिनाई के कारण नई व्यवसाय-संस्थाएँ, अल्पावधि में उस धंधे में प्रवेश करने का साहस नहीं करतीं। क्योंकि परिवर्तनशील लागत (Variable Cost) की अपेक्षा, और निरपेक्ष रूप से भी, स्थिर लागत (Fixed Cost)अधिक होती है। किसी अत्यन्त विशिष्ट रूप में बड़ी पूँजी विनियुक्त (Invest) करने के पहले पूँजीपति को हिचक होती है। संभव है पहले से विद्यमान संस्थाएँ एकाधिकार का लाभ उठा रही हों; परन्तु एक नई संस्था के प्रवेश से संभव है कि उत्पादन इतना अधिक हो जाय कि सभी का लाभ स्पर्द्धावाले लाभ के स्तर से नीचे गिर जाय—जिस प्रकार किसी छोटे गाँव में एक दूकान तो अच्छी तरह चल सके परन्तु दो होने पर दोनों ही को घाटा उठाना पड़े। यदि यंत्र की आयु लंबी होगी तो पूँजीपति उसे स्थापित करने के पहले निकट भविष्य में होनेवाले लाभ के साथ-साथ सुदूर भविष्य में होनेवाले लाभ का भी विचार करेगा। इस प्रकार विद्यमान व्यवसाय-संस्थाएँ कुछ समय तक धंधे में आवश्यक यंत्र और सज्जा की अविभाज्यता (Indivisibility) के कारण एकाधिकार का लाभ उठा सकती हैं। परन्तु नई संस्थाओं के प्रवेश का निषेध करने के लिए उनके पास कोई उपाय नहीं है; अतएव पर्याप्त उन्नति के समय नए उत्पादकों को उसमें प्रवेश करने का आकर्षण हो सकता है जिससे धंधे की क्षमता (Capacity) बढ़ जा सकती है।

सार्वजनिक उपयोगी धंधों से (Public utilities) पृथक्, इस प्रकार के धंधे मुख्यतः रचनात्मक (Constructional) धंधे होते हैं, अतएव उनके उत्पादनों की माँग व्यापार की तेजी और मंदी के अनुसार पर्याप्त मात्रा में घटती बढ़ती रहती है। तेजी के समय नई व्यवसाय-संस्थाए उनमें प्रवेश करती हैं परन्तु उसके पश्चात् जब मंदी आती है तब यह देखा जाता है कि धंधे की उत्पादन-क्षमता तो बढ़ गई है परन्तु माँग बहुत घट गई है। अतएव ऐसे धंधों में तेजी के समय एकाधिकारीय - लाभ (Monopoly profits) होता है परन्तु मंदी के समय उनकी दशा अन्य अनेक धंधों से भी बुरी होती है।

रेल और ट्राम द्वारा अन्तरण की पूर्ति, टेलीफ़ोन द्वारा संवाद-वहन (Communication) की और पानी, गैस, बिजली आदि की पूर्ति के लिये विशिष्ट अचल पूँजी की आवश्यकता होती है जिनमें रेल की पटरी, तार, या नल, जिनके द्वारा ये सेवाएँ प्रदान की जाती हैं, सम्मिलित हैं। इस कारण इन धंधों को स्थानीय एकाधिकार प्राप्त हो जाता है जिससे वे विभेदात्मक मूल्य लेने में समर्थ होते हैं, इन्हीं कारणों से राज्य उन्हें "सार्वजनिक उपयोगी धंधे" (Public Utilities) के वर्ग में रखता है और या तो वह उन पर स्वयं स्वामित्व रखता है अथवा उनके मूल्य या लाभ पर नियंत्रण रखता है।

उपर्युक्त तीन शीर्षकों में यद्यपि सब का नहीं फिर भी उन अधिकांश परिस्थितियों का उल्लेख हो चुका है जिनमें एकाधिकार की उत्पत्ति होती है।

५. उत्पादकों के समुच्चय (Combination of Producers)

कोई एक व्यवसाय-संस्था, किसी पदार्थ या सेवा के उत्पादन के संपूर्ण या अधिकांश पर, या तो संसार भर में (जैसे डी० बीयर्स रत्नों का नियंत्रण करते थे) या किसी एक क्षेत्र में (जैसे इंपीरियल केमिकल इन्डस्ट्रीज) नियंत्रण रख सकती हैं। अधिकतर ऐसी संस्थाएँ मिलन (Amalgamation) के द्वारा नियंत्रण रख सकती हैं। किसी धंधे की मुख्य मुख्य संस्थाएँ संयुक्त हो जाती हैं जिनमें उनकी पृथक् सत्ता विलीन हो जाती है अथवा एक संस्था अन्य सबों को आत्मसात् कर लेती है। इस प्रकार के एकीकरण के फलस्वरूप जो व्यवसाय-संस्था बनती है उसे कभी कभी संघ (Trust) कहते हैं।

परन्तु कभी कभी एकाधिकार का अर्थ अनेक व्यवसाय-संस्थाओं का संयोग हो सकता है जिसमें उनका पृथक् अस्तित्व बना रहता है और वे अपने संयुक्त हित के लिए एक सी एकाधिकारीय-नीति का अनुसरण करने के उद्देश्य से संयुक्त होती हैं।

इस एक सी नीति का अर्थ केवल न्यूनतम मूल्य (Minimum prices) निश्चित करना हो सकता है जिसे वे सभी स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि केवल इतना ही है तो अधिक दिनों तक समुच्चय (Combination) के टिकने की कम संभावना रहती है। यदि आदेशों (Orders) का विभिन्न संस्थाओं में वितरण उपभोक्ताओं के ऊपर छोड़ दिया जाता है तो कुछ संस्थाओं को उनके विचार से कम अनुपात प्राप्त होगा। ऐसा वे दो प्रकार से कर सकती हैं—एक तो गुप्त रूप से, जैसे दस्तूरी या बाद (Rebate) देकर और दूसरे खुले रूप से समुच्चय (Combination) छोड़कर। अतएव कोई समुच्चय तभी स्थायी हो सकता है जब उसके सभी सदस्य आरंभ में ही इसका निर्णय कर लें कि किस संस्था को संपूर्ण बिक्री का कौन सा अनुपात मिले। उनमें से कोई संस्था यथासंभव समझौते की उपेक्षा करके गुप्त रूप से अथवा निश्चित मूल्य से कम पर बिक्री न करने पावे। इस उद्देश्य से संभव है कि वे यह भी समझौता कर लें कि समुच्चय द्वारा स्थापित केन्द्रीय संस्था ही सब आदेश और भुगतान (Payments) प्राप्त करेगी और उसी के द्वारा सारी बिक्री होगी। इसके अतिरिक्त बहुत सा बिना बिका हुआ माल एकत्र होने पर क्रेता समझते हैं कि भविष्य में मूल्य गिरेगा अतएव वे अपनी खरीद कम कर देते हैं। इस संकट से बचने के लिए कोई समुच्चय (भावी माँग के अनुमान के अनुसार) यह निश्चय करके कि आगामी मास, त्रैमास या वर्ष में, सम्पूर्ण उत्पादन कितना होगा, अपने सदस्यों का संपूर्ण उत्पादन नियंत्रित कर सकता है। तब यह संपूर्ण उत्पादन विभिन्न सदस्य संस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है और प्रत्येक को वह यथांश (Quota) मिल सकता है जो आरंभ में समुच्चय की स्थापना के समय निश्चित हुआ था।

विद्यमान उत्पादकों को उत्पादन के नियंत्रण के लिए समुच्चय स्थापित करके अधिक लाभ उठाने की संभावना होते हुए भी समझौते की वार्ता असफल हो सकती है। विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं की विभिन्न माँगों का समाधान आवश्यक है। जो संस्थाएँ विगत काल में संपूर्ण उत्पादन का अपेक्षाकृत अधिक भाग उत्पन्न करती रही हैं वे भविष्य में उसी प्रकार उत्पादन करने की मांग करेंगी। जिन संस्थाओं का विस्तार हो रहा है (उदाहरणार्थ, असाधारण कौशलपूर्वक प्रबंध के कारण) वे भविष्य में विगत काल की अपेक्षा अधिक भाग माँगेंगी। जिन संस्थाओं की स्थायी संपत्ति, जैसे यंत्रादि, वृहत् मात्रा में है, अतएव उनकी उत्पादन की "क्षमता" (Capacity) अधिक है, वे उसी अनुपात में अधिक भाग चाहेंगी। अधिकतर ऐसी विरोधी माँगों का समाधान करना और स्वेच्छापूर्वक समझौता द्वारा समुच्चय स्थापित करना तभी संभव होता है जब उस धंधे में संस्थाओं की संख्या कम होती है, यदि बड़े कारखानों की व्यवस्था में क्रियाकल्पात्मक

(Technical) सुविधाएँ होती हैं, जैसे कि लोहे और इस्पात के धंधे में, अथवा यदि किसी आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति कुछ विशेष स्थानों में सीमित होती है, जैसे पोटाश और कुनैन की, अथवा यदि गुप्त विधियों का उपयोग होता है, जैसे रंग तथा अन्य रासायनिक पदार्थों में, तो ऐसा होना अधिक संभव होता है। यदि उत्पादकों की संख्या अधिक है तो सरकार द्वारा बाध्य किए गए बिना एकाधिकार-स्थापन के लिए उनका संयोग बहुत कठिन होगा। भिन्न भिन्न प्रकार के कच्चे माल के ऊपर लागू अधिकांश नियंत्रण-योजनाएँ, विशेषकर इधर के कुछ वर्षों में, अनेक पृथक् पृथक् उत्पादन करने वालों के हित के लिए राज्य द्वारा संगठित और बलपूर्वक लागू की गई हैं। जैसे ग्रेट ब्रिटेन में कोयले के उत्पादन पर नियंत्रण १९३० के विधान के आधार पर है, मलाया और लंका में रबड़ का उत्पादन (१९२८ से १९३२ के बीच) एक निर्यात कर (Export duty) द्वारा नियंत्रित था; संयुक्त-राज्य में रूई का उत्पादन सरकार द्वारा नियंत्रित होता है, ब्राजील में कहवा की पूर्ति का नियंत्रण करनेवाली कहवा संस्था (Coffee Institute) सहकारी संस्था है; वास्तव में अनेक उत्पादकों से संबंध रखनेवाली विरली ही कोई योजना होगी जो वैध उपायों द्वारा बाध्य न की गई हो।

किसी समुच्चय की स्थापना हो जाने पर उसके सफलतापूर्वक चलने में बाहर और भीतर दोनों ओर से बाधाएँ उपस्थित होने का भय रहता है। कालान्तर में अवस्था में परिवर्तन हो जाता है और समुच्चय को अपने कुछ सदस्यों का सम्मान (Loyalty) प्राप्त करना कठिन हो जाता है। कुछ व्यवसाय संस्थाएँ यह अनुभव करेंगी कि उपभोक्ता उनके द्वारा उत्पादित पदार्थ की पहले की अपेक्षा अधिक माँग करते हैं। और तब वे (अपने यथांश (Quota) से अधिक) आदेशों (Orders) को समुच्चय के दूसरे सदस्यों को देने में हिचकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई कोई संस्थाएँ क्रियाकल्प-ज्ञान संबंधी उन्नति से पहले की अपेक्षा अधिक लाभ उठाकर अधिक कुशलता प्राप्त कर लेती हैं जिससे वे सोचती हैं कि समुच्चय का सदस्य बने रहने की अपेक्षा मूल्य घटाकर अपनी बिक्री बढ़ाने से अधिक लाभ होगा। यदि धंधे के उत्पाद की माँग पर्याप्त मात्रा में घट जाती है तो "अप्रयुक्त क्षमता" (Unused capacity) का अनुपात बढ़ जायगा और इससे कुछ संस्थाओं की समुच्चय छोड़ने की इच्छा अधिक प्रबल हो जायगी जिससे वे कम मूल्य पर बेचकर और अपने कारखानों का अधिक पूर्णता से उपयोग करके अपनी प्राप्ति (Receipts) बढ़ा सकेंगी। अतएव संघ (Cartels) तथा अन्य समुच्चय, जो सरकार की सहायता पर निर्भर नहीं रहते, प्रायः अपेक्षाकृत कम समय में टूट जाते हैं और उनका पुनरुत्थान तभी होता है जब पहले वाले सदस्यों में यथांश

का फिर से सामञ्जस्य स्थापित होता है। इस प्रकार के पुनर्गठन को सफल बनाने के लिए उन मुख्य मुख्य "बाहरी लोगों" (Out siders) को भी सम्मिलित करना आवश्यक होता है जिनका उस योजना के जीवन काल में आविर्भाव अथवा विस्तार हुआ है। इससे हम अपने दूसरे विषय पर पहुंचते हैं— अर्थात् बाहर का भय।

समुच्चय के बाहर के उत्पादकों की स्थिति भाग्यशाली होती है। समुच्चय द्वारा उत्पादन पर लगाए गए नियंत्रण के कारण एकाधिकार-मूल्य का वे लाभ तो उठा ही सकते हैं उधर वे स्वयं जितना चाहें उतना उत्पन्न कर सकते हैं। मूल्य को चढ़ाने अथवा लागत के गिरते हुए भी उसे ऊँचा रखने में समुच्चय जितना सफल होगा, उतना ही नई व्यवसाय-संस्थाओं को उस धंधे में प्रवेश करने और पहले से विद्यमान बाहरी उत्पादकों को अपना उत्पादन बढ़ाने का प्रलोभन होगा; परन्तु इस प्रकार का बाहरी उत्पादन जितना ही बढ़ता है उतना ही समुच्चय को अपना उत्पादन घटाना पड़ता है (जबतक कि माँग भी उसी मात्रा में बढ़ न जाय) जिससे मूल्य न गिरने पावे और कुछ सीमा के बाद यह भार इतना अधिक हो जायगा कि समुच्चय उसे सँभाल नहीं सकेगा। तब या तो वह टूट जायगा या उसका पुनर्गठन होगा जिसमें अधिकांश बाहरी उत्पादक (जिनके सामने मूल्य गिरने की समस्या आ जायगी) उसमें सम्मिलित हो जायँगे जिससे समुच्चय का पुनरुत्थान हो जायगा।

उत्पादन का नियंत्रण करने के लिए सरकार से समर्थित अथवा असमर्थित अनेक योजनाएँ इसी प्रश्न पर चूर चूर हो गई हैं। उदाहरणार्थ, चीनी का उत्पादन नियंत्रित करने के लिए बना हुआ चैडबोर्न समझौता (Chadbourne Agreement) जो १९३१ में हुआ था और जिसमें जर्मनी, बेलजियम, हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, क्यूबा, मेक्सिको, पेरू और जावा में चीनी का उत्पादन सम्मिलित था। यह क्षेत्र १९२९-३० में संसार के संपूर्ण उत्पादन की लगभग आधी चीनी उत्पन्न करता था परन्तु १९३४-३५ में इसका उत्पादन घट कर संपूर्ण उत्पादन का ३० प्र० श० रह गया। समझौता १९३८ में समाप्त हो गया और उसका नवीकरण फिर नहीं हुआ। उसी प्रकार रबड़-नियंत्रण-योजना के कारण डचशासित पूर्वी द्वीप-समूह (East Indies) में, जो योजना के बाहर था, उत्पादन की बहुत वृद्धि हुई जिससे विवश होकर १९२८ में योजना बंद कर देनी पड़ी (१९३४ के नए समझौते में डचशासित पूर्वी द्वीप-समूह तथा अन्य सभी महत्त्वपूर्ण उत्पादक क्षेत्र सम्मिलित कर लिए गए)।

संयुक्त राज्य (U. S. A.) की सरकार अब भी अपने किसानों

को इस लिए धन देती है कि वे कपास न उगाएँ परन्तु इससे (ब्राजील तथा अन्य देशों के) बाहरी उत्पादकों को जो उपहार वह प्रदान करता है वह बहुत ही व्ययसाध्य हो रहा है। १९२९–३० में अमेरिका में ३२ लाख मीटरीय टन (Metric ton) रुई उत्पन्न की गई थी और अन्य देशों में २५ लाख टन; परन्तु १९३४–३८ में संगत (Corresponding) आँकड़े २१ लाख और ३० लाख थे।

इस प्रकार कोई समुच्चय किसी लंबी अवधि तक मूल्य स्थिर रखने में तभी समर्थ हो सकता है जब उसके प्रति उसके सदस्यों का सम्मान बना रहे और वह पर्याप्त मात्रा में बाहरी उत्पादन का नियंत्रण कर सके अथवा इसके विकल्पस्वरूप (Alternatively) जो सरकार या सरकारें उसका समर्थन कर रही हों वे बाहरी उत्पादन के कारण होनेवाली हानि सहने को (अथवा स्वदेश के उपभोक्ताओं के ऊपर डाल देने को) तैयार हों।

६. एकाधिकार के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Monopoly)

एकाधिकार के आर्थिक प्रभावों का पूर्ण विवेचन करने के लिये जितने स्थान की आवश्यकता है उतना देने में हम असमर्थ हैं। अतः इस विषय पर हम स्वयं अपना उत्पादन नियंत्रित रखेंगे—फिर भी हम यह विश्वास नहीं रखते कि इससे हमारे शब्दों का मूल्य बढ़ जायगा।

पहले इस प्रश्न को संक्षिप्त कर लिया जाय। मान लिया जाय कि किसी पदार्थ (Commodity) का उत्पादन जिसका कोई निकटतम स्थानापन्न (Substitute) नहीं है एक व्यवसाय-संस्था द्वारा अथवा संस्थाओं के किसी समुच्चय द्वारा, जो एकाधिकारी के समान कार्य करनेवाली हो, नियंत्रित होता है। अब हमें यह दिखाना है कि यह अवस्था उस अवस्था से किन बातों म भिन्न है जिसमें एक दूसरे से स्पर्द्धा करनेवाली अनेक व्यवसाय-संस्थाएँ उस पदार्थ का उत्पादन करतीं।

आरंभ में हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि संभव है कुछ दशाओं में यह समस्या वास्तविक न हो; संभव है किसी एक कारखाने (Plant) द्वारा संपूर्ण बाजार की पूर्ति करने से होनेवाला लाभ इतना अधिक हो कि एकाधिकार स्वतः स्थापित हो जाय। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि सार्वजनिक उपयोगी धंधे (Public Utilities) इसी प्रकार के होते हैं; क्योंकि यदि मान लिया जाय कि किसी जिले में गैस की पूर्ति के लिए अनेक व्यवसाय-संस्थाएँ एक दूसरे से स्पर्द्धा करें तो यंत्रों और नलों की वृद्धि से होनेवाला अपव्यय इतना अधिक होगा कि विभिन्न व्यवसाय-संस्थाएँ संयुक्त हो जाँयगी अथवा उनमें से एक अन्य सबों को धंधे से बाहर कर देगी या सबको आत्मसात् कर लेगी। ऐसी दशा में किसी निजी एकाधिकारी द्वारा लिया जाने

वाला मूल्य संभवतः उससे कम होगा जो अनेक प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं द्वारा उत्पादन होने पर होता; फिर भी वह उसकी सीमान्त लागत (Marginal cost) से अधिक होगा। राज्य द्वारा ऐसे अनिवार्य (Inevitable) एकाधिकारों का नियंत्रण हो—उदाहरणार्थ यह निश्चय करने के लिए कि वे अपना उत्पादन उस अनिवार्य सीमा तक बढ़ावें जिसपर उनमें विनियुक्त होनेवाली नवीन मुक्त पूँजी (Free capital) की आय अन्यत्र होनेवाली आय से अधिक हो—या न हो यह प्रश्न बहुत कठिन और विवादग्रस्त है जिसमें हम नहीं पड़ेंगे। इस विभाग के शेषांश में ऐसी बातों का विचार छोड़ दिया गया है।

प्रायः लोगों का यह विश्वास है कि एकाधिकार से संपत्ति का वितरण असमान (Uneven) हो जाता है। वास्तव में यह सर्वदा सत्य नहीं होता कि एकाधिकारी उन उपभोक्ताओं से अधिक संपन्न होता है जिनका वह शोषण करता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य के अनेक छोटे छोटे रुई उत्पादक किसान अपनी रुई के उपभोक्ताओं में से बहुतों की अपेक्षा निर्धन होते हैं।

एकाधिकार से ऐसे आविष्कारों के प्रयोग में बाधा पड़ने की आशंका रहती है जिनमें नए ढंग की पूंजी और सज्जा की आवश्यकता होती है। मान लीजिए कि एक व्यवसाय संस्था किसी पदार्थ की एकमात्र उत्पादक है और उसके सामने ऐसा कोई आविष्कार आ जाता है तो वह अपने पुराने यंत्रों को हटाकर नए यंत्र तभी स्थापित करेगी जब नए यंत्र को व्यवहार में लाने की लागत, धन व्याज तथा उसके क्रयमूल्य का ऋण-परिशोध (Amortisation), उस लागत से कम होगा जो पुराने यंत्र को व्यवहार में लाने से होता। वह पुराने प्रकार की सज्जा के साथ साथ नए ढंग की सज्जा की स्थापना तभी करेगा जब कि अधिक उत्पादन और उसके फलस्वरूप उसके पदार्थ के मूल्य में कमी होने के कारण नई सज्जा से होनेवाला लाभ पुरानी से होनेवाले लाभ में कमी की अपेक्षा अधिक होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो वह कोई परिवर्तन नहीं करेगा और इस प्रकार जबतक उसकी पुरानी सज्जा घिसकर बेकार नहीं हो जाती तबतक अधिक कुशल-विधि के लाभों से उपभोक्ताओं को वंचित रखेगा। परन्तु यदि एकाधिकार नहीं है तो नई व्यवसाय-संस्थाओं को उस धंधे में प्रवेश करके नई सज्जा की स्थापना लाभदायक होगी क्योंकि यह बात उनके लिए बाधक नहीं होगी कि उपभोक्ताओं से कम मूल्य मिलने से उनके प्रतिस्पर्द्धियों की वर्त्तमान सज्जाओं से होनेवाली आय (या लगानाभास Quasi rent) घट जायगी।

एकाधिकार के अन्य अनेक संभाव्य प्रभाव होते हैं परन्तु हम केवल उन्हीं का विवेचन करेंगे जो एकाधिकार से उत्पादन के नियंत्रण के कारण होते हैं।

उत्पादन नियंत्रित करने की विधियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। सबसे पहले में, पहले से उत्पन्न की हुई कुछ उत्पादित वस्तु नष्ट

की जा सकती है; जैसे १९३१ और १९३४ के बीच ब्राजील की कहवा संस्था ने (Coffee Institute) २० लाख टन से अधिक निम्न कोटि का कहवा नष्ट कर दिया था। स्पष्ट है कि पूर्ति के नियंत्रण की यह विधि बहुत व्ययसाध्य है और एकाधिकारी उसका अवलंबन तभी करता है जब इससे सस्ती दूसरी विधि व्यवहार में लाने योग्य नहीं होती। दूसरे में, कोई एकाधिकारी अपने उत्पादक साधनों में से कुछ अप्रयुक्त छोड़ सकता है; जैसे कुछ रबड़ के पेड़ों में घाव नहीं किए जाते। इसी प्रकार मान लीजिए कि कपास या गन्ना उत्पन्न करनेवाली कुछ भूमि पर खेती नहीं की जा रही है, कुछ यंत्र या सज्जा का व्यवहार नहीं हो रहा है। स्पर्द्धा में यदि साधनों से कुछ भी अर्जन किया जा सकता है तो उनका व्यवहार होगा परन्तु एकाधिकार में वे अप्रयुक्त छोड़े जा सकते हैं अथवा उनका क्षमता से कम (Below capacity) उपयोग किया जा सकता है। [जिससे सहयोगी साधनों से (Co-operative factors) स्थिर अथवा वर्द्धमान उत्पत्ति (Constant or Increasing Returns) हो सकती है। क्योंकि उनके उत्पादन से उत्पादित वस्तु का मूल्य गिर जायगा और एकाधिकारी का लाभ घट जायगा। तीसरे में, संभव है कि व्यक्त अपव्यय (Waste) न हो अर्थात् कोई भी उत्पादक साधन अप्रयुक्त न छोड़ा जाय और उत्पादन की संपूर्ण मात्रा बेच डाली जाय--परन्तु मुक्त पूँजी और साहस (Enterprise) उस एकाधिकृत धंधे में प्रवेश करने से रोका जाय; चाहे वे अन्यत्र की अपेक्षा उस धंधे में अधिक अर्जन कर सकते हों। एकाधिकारी स्वयं भी अपने उत्पादक साधनों के विस्तार पर नियंत्रण रखता है। वह केवल उतने ही साधनों का उपयोग करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो और यह प्रायः उससे कम होगा जो स्पर्द्धा के अन्तर्गत होता।

एकाधिकार द्वारा उत्पादन के नियंत्रण के अनेक प्रभाव पड़ते हैं। एकाधिकृत धंधे में उत्पादन के साधनों की माँग उसकी अपेक्षा कम होती है जो अन्यथा होती और इससे किसी अन्य साधन का, जिसकी अधिक बिक्री उसी धंधे में होती है, मूल्य घट जाने की प्रवृत्ति होती है। जैसे लोहा और इस्पात के धंधे में एकाधिकार कोक (Coke) बनानेवाले कोयले के उत्पादकों के लिए असुविधाजनक है। संघ-समझौते (Cartel agreement) का सामान्य प्रभाव होता है "अतिरिक्त क्षमता" (Surplus Capacity) को जन्म देना। व्यवसाय-संस्थाएँ अपने यंत्र और कारखानों में वृद्धि करती हैं जिससे संघ के पुनर्गठन के समय वे अधिक यथांश (Quota) का अधिकार उपस्थित कर सकें। इसके अतिरिक्त यदि एकाधिकार का अर्थ कुछ उत्पादकों का समुच्चय (Combination) होता है तब पूर्ति के अधिक कुशल साधन अन्य साधनों की तुलना में उसकी अपेक्षा कम उत्पादन करते हैं जो वे स्पर्द्धा में करते। जैसे ब्रिटेन की कोयले की खानों की योजना (British Coal Mines

Scheme) द्वारा प्रत्येक खान को संपूर्ण उत्पादन का लगभग वही भाग दिया जाता है जो उसे १९२८ में प्राप्त था। यह निश्चित है कि यदि उन जिलों (और खानों) में, जिन्होंने १९२८ की अपेक्षा दूसरों की तुलना में अपनी कुशलता बढ़ा ली है, सम्पूर्ण उत्पादन का अधिक भाग उत्पन्न किया जाता, तो १९३७ में वास्तव में उत्पादित सम्पूर्ण मात्रा के लिए बहुत कम खनकों की अवश्यकता होती। १९३४-३५ का संसार का आर्थिक पर्यवलोकन (The World Economic Survey) पृष्ठ ९६-९७ पर कहता है:—"यह विचित्र बात है कि मौलिक खाद्य पदार्थों (Basic Food Stuffs) और कच्चे माल के बाजारों में समानता लाने के लिये अधिकतर ऐसी विधि प्रयोग में लाई जाती है जिससे उत्पादन के अधिकतम कुशल और न्यूनतम व्ययसाध्य क्षेत्रों में उत्पादन घटा दिया जाता है।" उत्पादन के एकाधिकारात्मक नियन्त्रण (Monopolistic Restriction) का अर्थ सर्वदा यही होता है कि उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का संकलन (Assortment) उससे भिन्न हो जो उपभोक्ता सबसे अधिक चाहते हैं। एकाधिकार की रुकावटें उत्पादन के उपलभ्य साधनों को उपभोक्ताओं के अधिमान के अनुसार विविध प्रकार के उपभोगों में वितरित होने में बाधक होती हैं। यदि उत्पादित पदार्थों में से कुछ भी नष्ट न किया जाय और न तो एकाधिकारी द्वारा कोई साधन अप्रयुक्त छोड़े जायँ और यदि एकाधिकृत धंधे में प्रविष्ट होने से वर्जित सभी साधन अन्यत्र अधियुक्त हो जाँय तो भी यह बात सत्य बनी रहेगी। एकाधिकृत क्षेत्र में प्रवेश करके उत्पादन के कुछ साधन अपने सीमान्त उत्पादन का अर्घ (Value) बढ़ा सकते हैं और इसका अर्थ यह है कि वे साधन उस क्षेत्र के बाहर जो उत्पन्न कर रहे हैं उसकी अपेक्षा जो वे उस क्षेत्र में उत्पन्न कर रहे हैं उसे उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं। अतएव इस सम्बन्ध में एकाधिकार उपभोक्ता के प्रभुत्व को परिसीमित कर देता है।

हमें आधुनिक संसार में एकाधिकार की शक्ति को अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये। कुछ एकाधिकार राज्य द्वारा परिचालित अथवा पूर्णतया नियंत्रित होते हैं। यद्यपि दूसरी ओर, आधुनिक राज्य अनेक प्रकार के एकाधिकार उत्पन्न करते अथवा उनका समर्थन करते हैं। अन्य एकाधिकारी अपने लाभों को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करते क्योंकि वे डरते हैं कि यदि वे मूल्य अधिक बढ़ा देंगे तो राज्य हस्तक्षेप करेगा अथवा उपभोक्ता उसके माल का बहिष्कार करेंगे अथवा उसके द्वारा उत्पादित पदार्थ के नये स्थानापन्न ढूँढ़ने के लिये अनुसन्धान होने लगेंगे। फिर, जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्पादकों का समुच्चय बनाना और बन जाने पर उनका चलाना कितना कठिन होता है। अन्त में, प्रत्येक एकाधिकारी पर उसके उत्पादित पदार्थ की माँग का अंकुश लगा रहता है, माँग का प्रभाव स्थानापन्न वस्तुओं के

मूल्यों पर पड़ता है और विरले ही ऐसे पदार्थ हैं जिनके स्थानापन्न पदार्थ उपलब्ध न हों। एकाधिकार की शक्ति पर इन विविध नियन्त्रणों के कारण, उपभोक्ता के प्रभुत्व को घटानेवाला इसका प्रभाव जितना दिखाई पड़ता है वास्तव में उतना नहीं है। फिर भी वह रुकावट वास्तविक और महत्त्वपूर्ण है। एकाधिकार के कारण प्रायः अत्यधिक क्षमता (Excess Capacity) उत्पन्न होती है और कभी कभी बहुमूल्य पदार्थों का विनाश आवश्यक हो जाता है। कभी कभी वे आविष्कारों तथा उन्नत विधियों का उपयोग होने में बाधा उपस्थित करते हैं। प्रायः उनके द्वारा सम्पत्ति की असमानता बढ़ती है। उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का जो संकलन पूर्ण स्पर्द्धा में होता उससे भिन्न संकलन वे उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अपूर्ण स्पर्द्धा के व्यापक अर्थ में एकाधिकार के कारण मूल्य-रचना की उपभोक्ताओं और साहसियों के हितों को समान करने की प्रवृत्ति कुछ न कुछ दुर्बल पड़ती जाती है।

टिप्पणी

१. जब माँग-वक्र एक सरल रेखा होगी तब सीमान्त आय-वक्र (Marginal revenue curve) भी सरल रेखा होगी और वह माँग-वक्र पर के किसी विन्दु से ग धुरी (axis) पर पड़नेवाले लंब को समद्विभाग करेगी।
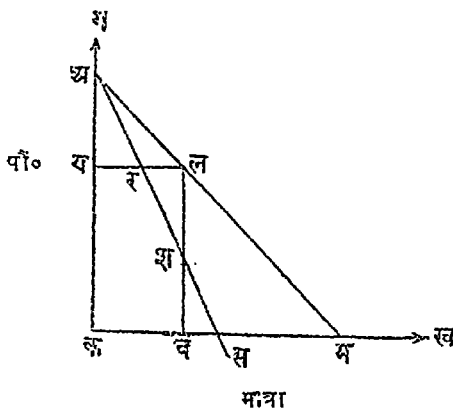
चित्र २१

अ म माँग-वक्र है और अ स सीमान्त-आय-वक्र। क व उत्पादन व ल मूल्य पर बेचा जाता है। संपूर्ण आय (अथवा उपभोक्ता की लागत) आयत य ल व क (मूल्य व ल × बिक्री की मात्रा क व) द्वारा नापी गई है। सीमान्त आय-वक्र के "अन्तर्गत" अ श व क्षेत्र द्वारा भी यह नापी जा सकती है [क्योंकि

अ स, उत्पादन की प्रत्येक क्रमिक (Successive) इकाई द्वारा संपूर्ण आय में होनेवाला योग (Addition) व्यक्त करती है]।

अतएव इन दोनों के क्षेत्रफल बराबर हैं। य र श व क क्षेत्र को, जो उभयनिष्ठ (Common to both) है, घटा देने पर त्रिभुज अ य र और र ल श क्षेत्रफल में बराबर हैं और चूंकि ∠य=∠ल=एक समकोण और र पर के सम्मुख कोण (Opposite angles) बराबर हैं इसलिए दोनों त्रिभुज आपस में बराबर हैं।

अतः य र=र ल

(यदि माँग-वक्र सरल रेखा नहीं है तो हम माँग-वक्र में ल विंदु पर एक स्पर्शरेखा (Tangent) अ म खींच कर और उपर्युक्त विधि से क्रिया करके किसी मूल्य ल की संगत (Corresponding) सीमान्त आय व श मालूम कर सकते हैं।

२. ल पर माँग-वक्र की लोच $\frac{\text{क य}}{\text{य ल}}$ है (जैसा कि हम पृष्ठ ५८ पर की अपनी टिप्पणी में दिखा चुके हैं।

क य=व ल=मूल्य

य अ=ल श (दे० ऊपर)=व ल ऋण व श

=मूल्य ऋण सीमान्त आय

$$\text{अतः माँग की लोच (लो)} = \frac{\text{मूल्य}}{\text{मूल्य–सीमान्त आय}}$$

$$\text{अथवा} \quad \text{मूल्य} = \text{सीमान्त आय} \times \frac{\text{लो}}{\text{लो}-१}$$

$$\text{अथवा} \quad \text{सीमान्त आय} = \text{मूल्य} \times \frac{\text{लो}-१}{\text{लो}}$$

इस प्रकार यदि उदाहरण के लिए मान लें कि मूल्य ६ पै० है और माँग की लोच २ है तो सीमान्त आय ३ पै० ($६ \text{ पै०} \times \frac{२-१}{२}$) होगी।

३. मान लीजिए कि कोई एकाधिकारी दो बाजारों में विभेदन (Discrimination) कर सकता है और वह अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है।

हमने (पृ.२२६) देखा है कि उसे प्रत्येक बाजार में (अपनी संपूर्ण लागत के लिए) अपनी सीमान्त लागत को अपनी सीमान्त आय के बराबर करना चाहिए।

पहले बाजार में वह $\text{व}_१ \text{ ल}_१$ मूल्य पर $\text{क}_१ \text{ व}_१$ बेचेगा और दूसरे बाजार में $\text{व}_२ \text{ ल}_२$ मूल्य पर $\text{क}_२ \text{ व}_२$ बेचेगा। उसके संपूर्ण उत्पादन

($क_1$ $व_1$ + $क_2$ $व_2$) के लिए उसकी सीमान्त लागत $क_1$ $इ_1$ (= $क_2$ $इ_2$) है और यह पहले और दूसरे बाजार में उसकी सीमांत आय (क्रमशः $व_1$ $उ_1$ तथा $व_2$ $उ_2$) के बराबर हैं।
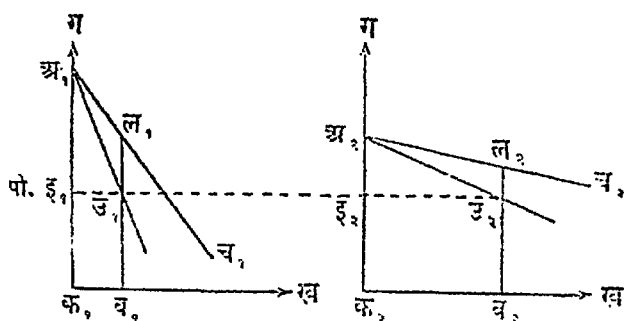
मात्रा
चित्र २२

पहले बाजार में मूल्य दूसरे बाजार की अपेक्षा अधिक इस लिये है कि पहले में मांग की लोच दूसरे की अपेक्षा कम है।

४. यदि सीमान्त लागत वक्र(Marginal cost curve)क्षैतिज(Horizontal)

मात्रा
चित्र २३
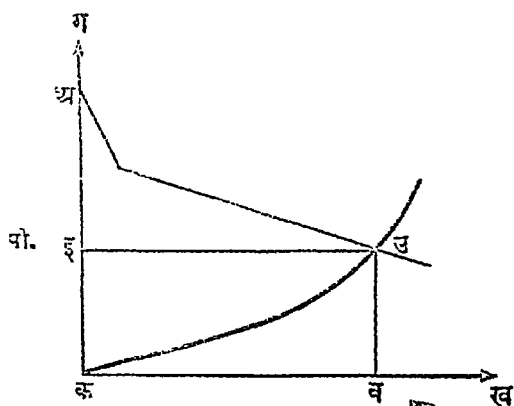
नहीं वरन् उठता हुआ है तो उत्पादन की वह मात्रा [क व ($क_1$$व_1$ +

$क_2व_2$)], जिसमें ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, कैसे जानी जायगी ? सीमान्त-लागत-वक्र खींच कर और यह देखकर कि वह अ उ को कहाँ काटती है। दोनों सीमान्त-आय-वक्रों को "जोड़ने" से अ उ का पता लगता है।

क व उत्पादन पर सीमान्त लागत क इ प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय व उ के बराबर होगी।

उपर्युक्त रेखाचित्र में सीमान्त-लागत-वक्र क उ उठता हुआ है। क व उत्पादन $क_1व_1$ उत्पादन से अधिक है जो, यदि केवल पहला बाजार प्राप्त हो तो, सबसे अधिक लाभदायक होगा। अतएव दूसरे बाजार में बिक्री का अर्थ यह है कि जब वही बाजार होता तब की अपेक्षा सीमान्त लागत (अतः सीमान्त आय और मूल्य) पहले बाजार में अधिक है। परन्तु यदि सीमान्त-लागत-वक्र गिरता हुआ होता तो तथ्य इसके विपरीत होता। ["खेपने" से (Dumping) मात्रा-बचत (Economies of scale) संभव हो सकती है जिससे स्वदेशी बाजार में मूल्य गिर सकता है।]

सोलहवाँ अध्याय

लागत का सिद्धान्त (The Theory of Costs)

१. कुछ साधरणीकरण

(Some Generalisations)

पाठक (विशेषतः यदि वे विद्यार्थी हैं) स्वभावतः यह चाहेंगे कि उत्पादन, लागत और उत्पाद के मूल्य के संबंध का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हो। प्रस्तुत विभाग में उनकी इच्छा पूर्ण करने का प्रयत्न किया जायगा। इसमें अधिकतर व्यवसाय-संस्थाओं से संबंध रखनेवाले अनेक "सैद्धान्तिक" साध्य (Theoretical Propositions) संग्रहीत हैं। इनमें से कुछ तो केवल परिभाषाएँ हैं। कुछ का विवेचन पहले के अध्यायों में हो चुका है; कुछ इसी अध्याय के आगामी विभागों में स्पष्ट किये जायँगे, और कुछ ऐसे भी हैं जिनका पूर्ण विवेचन पुस्तक के अन्त तक होता रहेगा।

जिन चार साध्यों की हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं पहले उन्हीं से आरंभ करते हैं।

१. प्रत्येक व्यवसाय-संस्था अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहती है।

२. अतएव वह उतना पदार्थ उत्पन्न करना चाहती है जिसके उत्पादन से सीमान्त लागत और सीमान्त आय बरावर हो।

३. पूर्ण स्पर्द्धा में सीमान्त आय मूल्य के बरावर होती है।

४. अपूर्ण स्पर्द्धा में सीमान्त आय मूल्य से कम होती है।

सीमान्त आय और मूल्य का ठीक-ठीक संबंध गत अध्याय के अन्त में दी हुई टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है। संभवतः हम उसमें यह भी जोड़ सकते हैं कि—

५. सीमान्त लागत परिवर्तनशील (Variable) लागत में वह योग है जिससे उत्पादन में अल्प वृद्धि होती है।

कोई उत्पादन उ उत्पन्न करने की संपूर्ण लागत है स्थिर लागत अ धन परिवर्तनशील लागत य। एक इकाई अधिक उत्पादन (उ+१) उत्पन्न करने की संपूर्ण लागत है अ+(प+सी. ला.)। स्थिर लागत इसलिए कहलाती है कि वह उत्पादन के साथ साथ परिवर्तित नहीं होती। उत्पादन चाहे कितना ही कम या अधिक हो परन्तु कोई अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने की लागत केवल परिवर्तनशील लागत में योग (अर्थात् सी. ला.) है।

इसके पश्चात् दो महत्त्वपूर्ण साध्य आते हैं जो उन अवस्थाओं का उल्लेख

करते हैं जिनमें कोई व्यवसाय-संस्था--अपने उत्पादन का विस्तार (या संकोच) करने की प्रेरणा प्राप्त करने के बदले--एक निश्चित उत्पादन करती है।

६. पूर्ण स्पर्द्धा में सीमान्त लागत का वर्द्धमान होना अनिवार्य है।

७. अपूर्ण स्पर्द्धा में सीमान्त लागत वर्द्धमान, स्थिर अथवा ह्रासमान हो सकती है। परन्तु, कभी न कभी, अधिक उत्पादन से सीमान्त आय का सीमान्त लागत से कम हो जाना अनिवार्य है।

रेखाचित्र के रूप में--
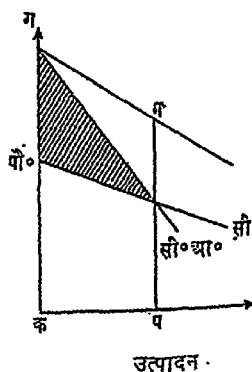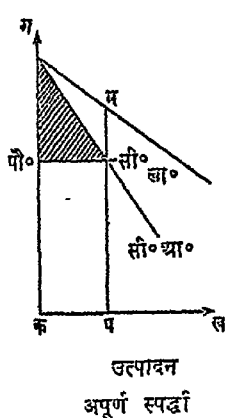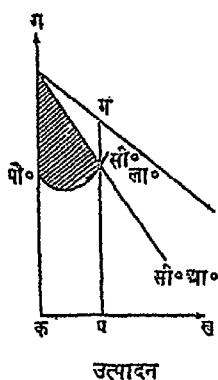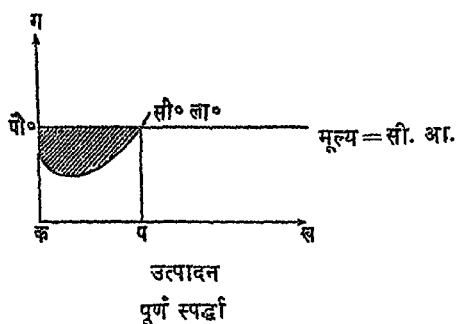
चित्र २४

सीमान्त-आय-वक्र का सीमान्त लागत वक्र को "ऊपर से" काटना अनिवार्य है जिसमें संपूर्ण परिवर्तनशील लागत से संपूर्ण प्राप्ति का आधिक्य

हो। यह आधिक्य रेखांकित भाग है। यह वह रकम व्यक्त करता है जो, लाभ को सम्मिलित करते हुए, स्थिर लागत के लिए उपलब्ध है।

इसके पश्चात् संभवतः हमें यह बतलाना चाहिए कि सीमान्त लागत क्यों वर्द्धमान या ह्रासमान हो सकती है।

८. सीमान्त लागत ह्रासमान उत्पत्ति (Diminishing returns) के कारण अथवा (अपूर्ण स्पर्द्धा में) इस कारण बढ़ सकता है कि साधनों के लिए व्यवसाय-संस्था की अधिकाधिक माँग उनका मूल्य बढ़ा देती है।

९. सीमान्त लागत वर्द्धमान उत्पत्ति (Increasing returns) के कारण, अथवा (अपूर्ण स्पर्द्धा में) इस कारण घट सकती है कि व्यवसाय-संस्था की साधनों के लिए बढ़ती हुई माँग उनका मूल्य घटा देती है।

१०. किसी धंधे के विस्तार के कारण किसी व्यवसाय-संस्था की सीमान्त लागत बढ़ या घट सकती है।

उपर्युक्त रूप में ये साध्य सूत्र मात्र हैं। इनकी व्याख्या और अन्तः तथा वाह्य मितव्ययताओं (Internal and External Economies) का संक्षिप्त विवेचन इसी अध्याय में पीछे किया जायगा।

अन्त में "स्थिर" अथवा "ऊपरी" (Overhead) लागत से संबंध रखनेवाले कुछ साध्य आते हैं।

११. स्थिर और परिवर्तनशील लागतों का अन्तर अल्पकालीन अन्तर है।

इसका स्पष्टीकरण १३वें अध्याय के विभाग ३ में हो चुका है। और फिर १९वें अध्याय के ४थे विभाग में होगा। जितनी ही लंबी अवधि होगी उतना ही अधिक संपूर्ण लागत का वह अनुपात होगा जो स्थिर न होगा। उदाहरणार्थ, यंत्र घिस जाते हैं और यदि उत्पादन चालू रखना है तो उनके स्थान पर नये यंत्र प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। परन्तु अल्प अवधि में यंत्र (Plant,), सज्जा (Equipment) आदि की लागत, प्रबंध-विभाग एवं कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन और विज्ञापन का व्यय ये सभी "स्थिर" होते हैं। परिवर्तनशील लागत केवल चालू श्रम तथा उपादानों (Materials) की लागत होती है। अन्य लागतें ज्यों की त्यों रहती हैं, चाहे उत्पादन कम हो या अधिक।[1] परन्तु

---

१. यह कथन कुछ सीमा तक परिसीमित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, "अल्पकालीन संस्कार" (Short-period repairs), अधिक काम लेने के कारण यंत्रों की अधिक घिसावट, ग्राहकों को पहुँचाये गये माल पर स्थानान्तरण-व्यय (यदि वह व्यवसाय-संस्था द्वारा दिया जाता है), प्रत्येक पुलिंदे के साथ लगी हुई विज्ञापन सामग्री की लागत तथा इसी प्रकार की अन्य मदें परिवर्तनशील लागत में गिनी जा सकती हैं। परन्तु इस संबंध में विषयान्तर आवश्यक नहीं जान पड़ता।

यह आवश्यक नहीं है कि वे "चुकता" (Paid-out) हों। उनमें से कुछ "साहसी" द्वारा (उदाहरणार्थ, साधारण हिस्सेदारों द्वारा) अपनी पूंजी अथवा श्रम के लिए प्राप्त आय हो सकती है। अतएव हम परिभाषा के रूप में कह सकते हैं कि—

१२. स्थिर लागत में वे सभी लागतें सम्मिलित हैं जो उत्पादन के साथ-साथ परिवर्तित नहीं होतीं। उनमें साहसी के अपने साधन, जिनका मूल्य इस प्रकार आँका जाता है कि वे अन्यत्र कितना अर्जित कर सकते हैं, तथा "चुकता" स्थिर लागत सम्मिलित रहती हैं।

संभवतः "स्थिर लागत" पद यह अर्थ व्यंजित करता है कि इन लागतों की पूर्ति होना अनिवार्य है। परन्तु ऐसी बात नहीं है। अल्प अवधि में कोई संस्था उत्पादन करती जा सकती है चाहे साहसी को अपनी पूंजी अथवा श्रम से बहुत कम आय प्राप्त हो रही हो। अतः—

१३. यदि मुख्य लागत (Prime cost) निकलती जाती है तो कोई व्यवसाय-संस्था प्रायः कुछ काल तक उत्पादन करती रहेगी।

इस साध्य के सारांश का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।[1] परन्तु "मुख्य लागत" पद की व्याख्या करना आवश्यक है। मुख्य लागत वह लागत है जो, किसी पदार्थ के उत्पन्न करने में अल्पकाल में अवश्य ही वसूल हो जानी चाहिए। उसमें सभी परिवर्तनशील लागतें तथा कुछ स्थिर लागतें भी सम्मिलित रहती हैं; जैसे कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन। स्थिर लागत का शेषांश "पूरक लागत" (Supplementary cost) कहलाता है।

परन्तु—

१४. दीर्घकाल में स्थिर एवं परिवर्तनशील दोनों ही लागतें अवश्य ही वसूल हो जानी चाहिएँ अन्यथा व्यवसाय-संस्था को अपना व्यवसाय बंद करना पड़ेगा।

परन्तु दीर्घकाल बहुत लंबा भी हो सकता है। इस साध्य का आधार यह है कि दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील होती हैं। यदि कोई साधन अन्यत्र अधिक अर्जन कर सकेगा तो वह वहाँ अवश्य चला जायगा। यदि कोई साधन किसी धंधे में अपेक्षाकृत कम या कुछ भी

---

१. अर्थात् अध्याय १३ के विभाग ३ में। यदि स्थिर लागत में पावनेदारों का (उदाहरणार्थ ऋणधारियों या बंकों का) भुगतान भी सम्मिलित हो तो आगे उत्पादन जारी रहेगा या नहीं यह पावनेदारों के व्यवहार पर निर्भर करेगा। अधिकतर वे यह करते हैं कि वे किसी-न-किसी प्रकार की ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे उत्पादन चालू रहे।

नहीं अर्जन कर सकता तो उसकी आय में बहुत कमी होने पर भी वह जहाँ का तहाँ पड़ा रहेगा और अन्यत्र नहीं जायगा । उस धंधे में पड़े रहने के लिए जितना आवश्यक है उससे जो कुछ भी अधिक वह पाता है वह शुद्ध आर्थिक अर्थ में "लगान" (Rent) है । लगान के उदाहरण हैं—उस वन-भूमि की संपूर्ण आय जो किसी अन्य कार्य के उपयुक्त नहीं है; पूर्णतः विशिष्ट यंत्रों की (पुराने माल के रूप में उनके अर्घ से ऊपर) आय; १५०० पौंड प्रति वर्ष पानेवाले व्यक्ति का ५०० पौंड प्रति वर्ष, यदि वह वही काम १००० पौंड प्रति वर्ष पर भी (परन्तु उससे कम पर नहीं) करता रहता। फिर भी किसी संस्था को धंधे में व्यवहृत साधनों के लिए चालू मूल्य देना आवश्यक है, चाहे उस मूल्य में, इस अर्थ में "लगान" का तत्व (Elements of rent) सम्मिलित भी हो। अतः—

१५. कुछ लागतों में "लगान" का तत्व सम्मिलित रहता है। "लगान" साधनों को दी जानेवाली वह रकम है जो उन्हें धंधे में रखने के लिए दी जानी आवश्यक नहीं है। परन्तु किसी संस्था को साधनों की प्राप्ति के लिए चालू मूल्य देना आवश्यक है।

इसका विवेचन लगान के अध्याय में किया जायगा।

ये पन्द्रहों साध्य लागत के स्पष्ट और संबद्ध सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। कुछ और परिभाषाएँ तथा अन्य आवश्यक बातें जोड़कर हम इनका विस्तार कर सकते हैं। परन्तु ऐसा न करके हम इस अध्याय के शेष भाग में आर्थिक क्रिया के मुख्य-मुख्य क्षेत्रों में उत्पादन, लागत और मूल्य के परस्पर संबंध का संक्षिप्त पर्यवलोकन करेंगे। यह पर्यवलोकन इन साध्यों में से कुछ के यथार्थ दृष्टान्त प्रदान करेगा। इससे उनकी परिसीमा पर भी प्रकाश पड़ेगा ।

वास्तविक संसार में स्पष्टता नहीं है। उसमें बहुत-सी विभिन्नताएँ तथा जटिलताएँ हैं। "पूर्ण स्पर्द्धा" का सिद्धान्त प्रायः कृषि के अनेक विभागों पर लागू होने वाला माना जाता है। हम कृषि की कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु पूर्ण स्पर्द्धा के सिद्धान्त से उनका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। हम कृषि से नहीं वरन् खनन (Mining) से दृष्टान्त देकर पूर्ण स्पर्द्धा का स्पष्टीकरण करेंगे । परन्तु वास्तव में महत्त्वपूर्ण खनिज तथा कृषि के उत्पादन विगत वर्षों में नियंत्रण की योजनाओं के अधीन रहे हैं । अतः हम नियंत्रण की योजनाओं का विवेचन पहले के अध्यायों की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक करेंगे। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि बहुत-सी व्यवसाय-संस्थाएँ अनेक पदार्थ उत्पन्न करती हैं; अब हम यह दिखाएँगे कि इससे उनके व्यवहार

पर क्या प्रभाव पड़ता है। हमारे पर्यवलोकन से संभवत: जो मुख्य निष्कर्ष निकलेगा वह होगा अपूर्ण स्पर्द्धा का ऐसे रूप में व्यापक होना जिसके कारण किसी व्यवसाय-संस्था के "माँग-वक्र" की चर्चा चलाना अयथार्थ-वादी होगा। उसकी अपेक्षा हमारा संबंध इस बात से अधिक होगा कि रीति-रस्म और परंपरा द्वारा लाभ का अंश (Profit-margins) किस प्रकार बना रहता है और उनसे "अतिरिक्त सामर्थ्य" (Excess capacity) उत्पन्न होता है।

सामाजिक हित की दृष्टि से सर्वोत्तम नियम यह है कि सर्वत्र मूल्य सीमान्त लागत के बराबर (अथवा कम से कम अनुपात में) हो। क्योंकि लागत वास्तव में "अवसर लागत" (Opportunity-cost) होती है। वह ऐसा अर्घ है जो उत्पादन के साधनों द्वारा अन्यत्र उत्पन्न किया जा सकता है। यदि ऐसे साधन (जिनके लिए लागत लगती है) अन्यत्र कम उत्पन्न कर सकते हैं तो उन्हें अन्यत्र से अत्र (यहाँ) चले आना चाहिए, और इसी प्रकार इसका विलोम भी। परन्तु यदि सीमान्त लागत औसत संपूर्ण लागत से बहुत कम हो तो भी क्या ? तब सीमान्त लागत के बराबर मूल्य से संपूर्ण लागत का केवल कुछ अंश (संभवत: आधे से भी कम) प्राप्त हो सकेगा। ऐसी दशा में सर्वोत्तम नियम किस प्रकार लागू हो सकता है? इसका विवेचन हम जनहित कार्यों (Public utilities) तथा द्विविध आयात-कर (Two-part tariff) के साथ करेंगे।

संभवत: हमें यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहिए कि किसी क्रिया के एक क्षेत्र का विवेचन करने से जो निष्कर्ष निकलता है वह संभव है संपूर्ण क्षेत्र पर लागू न हो और हो सकता है कि वह अन्य क्षेत्रों के कुछ अंशों पर भी लागू हो। पूर्ण स्पर्द्धा से मिलती जुलती कोई वस्तु खनन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी व्याप्त हो सकती है। उदाहरणार्थ, अति-रिक्त सामर्थ्य (Excess capacity) किराए की गाड़ियों में उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार निर्माण के धंधे में (Manu-facturing) और फुटकर व्यापार में पाया जाता है। उत्पादित पदार्थ के प्रेषण का अन्तरण व्यय (Transport cost), कोयले की खानों और गोशालाओं के लिए उसी प्रकार महत्त्व रखता है जिस प्रकार ईंटे के भट्टे के लिए। उदाहरणार्थ, स्थिर लागत इस्पात के कारखानों में भी उसी प्रकार अपेक्षाकृत अधिक होता है जिस प्रकार जनहित कार्यों में। हमारा उद्देश्य अधिक से अधिक यथार्थवादी तथा उपयुक्त दृष्टान्त ढूँढ़ना रहा है।

अन्त में हमें उत्पादन, लागत और मूल्यों में, किसी समय, जो संबंध होता है

उस पर पर्याप्त विचार करना पड़ेगा। क्रियाकल्पात्मक उन्नति और विभिन्न साधनों की संपूर्ण उपलभ्य मात्रा में परिवर्तन, अधिकांश में छोड़ दिये गये हैं। उनका विवेचन हम अन्य अध्यायों म करेंगे। प्रस्तुत अध्याय केवल यही प्रश्न उठाता है कि उत्पादित पदार्थों की माँग में वृद्धि (या ह्रास) होने के कारण उत्पादन, लागत और मूल्य किस प्रकार परिवर्तित होंगे?

२. खनन (Mining)

खनन प्रायः वर्द्धमान लागत (Increasing cost) के अधीन होता है। मान लीजिए कि किसी विशेष खनिज की माँग में पर्याप्त वृद्धि होती है। यदि यह वृद्धि केवल अल्पकालीन नहीं है, और केवल विद्यमान खनिज-राशि से उसकी पूर्ति नहीं हो सकती, तो परिणाम यह होगा कि मूल्य में बड़ी तीव्र वृद्धि होगी। क्योंकि कुछ ही दिनों या सप्ताहों में उत्पादन बहुत बढ़ा देना कठिन या असंभव हो सकता है। विद्यमान सज्जा के साथ प्रस्तुत खानों में अधिक श्रमिकों के अधि-योजन (Employment) से ह्रासमान उत्पत्ति का, सम्भव है, शीघ्र अनुभव होने लगे। यह अल्पकालीन स्थिति है।

अब मान लीजिये कि माँग में वृद्धि स्थायी हो गई है। खनिज का मूल्य चढ़ गया है; अब उसका उत्पादन पहले की अपेक्षा अधिक लाभ-दायक होता है। मान लीजिये कि इतना समय बीत जाता है कि खानों में नये स्तर (Shafts) खोदे जा सकते हैं, नयी खानों का पता लग जाता है, नयी संज्जा की स्थापना हो जाती है और, संक्षेप में, बढ़ी हुई माँग के अनुसार उत्पादन को सामंजस्य स्थापित करने का पूरा अवसर मिल जाता है। यह हुई दीर्घकालीन स्थिति। इस लंबी अवधि में भी खनिज का मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक रहने की संभावना है, यद्यपि उतना अधिक नहीं जितना माँग के बढ़ने के समय था। रेखाचित्र के रूप में, किसी खनिज का दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र संभवतः चढ़ने लगेगा, यद्यपि इतनी तीव्र गति से नहीं जितनी अल्पकालीन पूर्ति-वक्र।

उत्पादन में वृद्धि होने पर निम्नोक्त में से एक या दोनों कारणों से लागत में वृद्धि हो सकती है। धंधे में अवियुक्त साधनों में से कुछ के मूल्य उनकी माँग बढ़ने के कारण चढ़ सकते हैं और उनका प्रति इकाई उत्पादन घट जा सकता है। जैसे यदि बहुत अधिक खनकों की आवश्यकता होगी तो उनकी मजदूरी चढ़ जा सकती है। यदि प्रामाणिक वेतन (Standard wages) ज्यों का त्यों रहता है तो भी प्रति टन पर श्रम की लागत बढ़ सकती है क्योंकि अब कम कुशल श्रमियों से कार्य होने लगेगा। यदि ऐसा होता है तो दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र इतनी तीव्र गति

से ऊपर को जायगा जितनी गति से अन्यथा न जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं। यह संभव है कि किसी अन्य खनन-धंधे से, जिसके उत्पादनों की माँग घट गयी है, अथवा अनभियुक्त श्रमिकों में से पर्याप्त संख्या में अतिरिक्त खनक (लगभग उतने ही कुशल जितने उस धंधे में पहले से अभियुक्त हैं) प्रचलित मजदूरी दर पर मिल सकते हैं। फिर भी दूसरे कारण से लागत अधिक होने की संभावना है। अर्थात् प्रति खनक उत्पादन पहले से कम होने की संभावना है।

इसका मौलिक कारण यह है कि पर्याप्त उत्कृष्ट तथा गम्य (Accessible) निचाय (Deposits) मात्रा में परिमित होते ह। उदाहरण के लिए कोयले को ले लिया जाय। संसार में कोयले के अनेक बृहत् "भंडार" ((Reserves)) हैं। परन्तु उसका केवल अल्पांश ही मोटी तहों में और सरलता से खनने योग्य, भूतल के पर्याप्त निकट और बाजार से—अर्थात् जहाँ उसका उपयोग होगा उस स्थान से—अनति दूर है। जिस खान में पहले ही से खनाई हो रही है उससे प्रति दिन और अधिक कोयला प्राप्त करने के लिए, खनकों को अधिक गहराई में जाना पड़ेगा जहाँ गर्मी इतनी अधिक होती है कि उनकी कुशलता घट जाती है अथवा उन्हें भूतल से कोयला खनने के स्थान तक जाने में अधिक समय लगेगा अथवा अधिक कठोर तहों पर कोयला काटना पड़ेगा। यदि नई खानों का उद्घाटन होता है तो अधिक संभावना है कि उनमें कार्य करना कठिन होगा नहीं तो उनका उद्घाटन पहले ही हो गया होता। कभी कभी वे बाजार से इतनी दूर हो सकती हैं कि वहाँ तक कोयला ढोने का अधिक व्यय उनके खनने में तबतक बाधक होगा जबतक कोयले का मूल्य पहले की अपेक्षा पर्याप्त बढ़ न जाय।

कोयले के विपरीत बहुत से अन्य खनिज अशोधित खनिज (Ore) में छिपे रहते हैं, अतएव अशोधित खनिज से खनिज को पृथक् करने के व्यय का भी विचार करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए हम लोहे को लेते हैं। लोहा अशोधित खनिज को एक भट्ठी में गला कर निकाला जाता है। संभव है कि कुछ निचाय (Deposits), जिसमें मान लिया जाय कि २५ प्र. श. लोहा है, सरलता से खने जा सकते हैं। फिर भी उनका खनना तब तक लाभप्रद न होगा जबतक ५० प्र. श. लोहेवाला अशोधित खनिज उपलब्ध है। पहले तो, यदि शुद्ध धातु केवल आधी है तो, एक टन लोहा प्राप्त करने के लिए दूना अशोधित खनिज खनना (और संभवतः स्थानान्तरित करना) पड़ेगा। दूसरे, निम्नकोटि के अशोधित खनिज से एक टन कच्चा लोहा (Pig iron)

निकालने के लिए अधिक कोयला व्यय करना पड़ेगा। आजकल पर्याप्त निम्नकोटि का अशोधित खनिज खना जाता है; परन्तु इसका मुख्य कारण यह है कि उच्च कोटि के अशोधित खनिज के निचाय जवाब देते जा रहे हैं।

धन्धे में एकाधिकार की मात्रा चाहे कितनी ही अधिक हो फिर भी हमारा यह साधारणीकरण, कि खनन प्रायः वर्द्धमान लागत के अधीन होता है, सर्वथा ठीक है। वास्तव में बहुत से महत्वपूर्ण खनिजों का अधिकांश आजकल किसी-न-किसी प्रकार के एकाधिकार में होता है। फिर भी खनन में पूर्ण स्पर्द्धा का लोप नहीं हो गया है।[1]

विगत काल में ऐसा प्रायः देखा गया है कि खनन-उद्योग में प्रायः अनेक संस्थाएँ एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए कार्य करती थीं। उनमें से कोई इतनी बड़ी नहीं थी जो इस बात का अनुभव करती कि उसके उत्पादन में परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य पर कितना अल्प प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ इंग्लैंड के कोयला खनने के धंधे में लगी हुई हजार पृथक् संस्थाएँ बहुत कुछ ऐसी ही दशा में थीं, जब कि १९३० में सरकार ने उन्हें एक राष्ट्रीय कंपनी संघ (Cartel) बनाने और मूल्य तथा उत्पादन का नियंत्रण करने को बाध्य किया। ऐसी ही एक संस्था पर विचार करके हम दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट करेंगे कि पूर्ण स्पर्द्धा में क्या होता है। हम मान लेते हैं कि उसके पास एक ही खान है।

उसके विशेष प्रकार के कोयले की माँग का वक्र नीचे की ओर बहुत धीरे धीरे झुक सकता है। परन्तु बहुत-सी अन्य खानें हैं जो उसी प्रकार का कोयला उत्पन्न करती हैं; अतः हमारी विचाराधीन संस्था कोयले के प्रचलित मूल्य को एक अटल बात मान लेती है जिसमें वह परिवर्तन नहीं कर सकती। चाहे उसका उत्पादन कम हो या अधिक; परन्तु वह जितना उत्पन्न करती है सब का सब बाजार मूल्य पर बेच देती है। अतएव संस्था द्वारा अपने कोयले की माँग का वक्र एक सरल रेखा (चित्र २५ में **मा मा**) मानी जाती है। पारिभाषिक शब्दों में—वह समझती है कि उसके कोयले की माँग की लोच असीम है। उसकी प्रति टन "औसत आय" और "सीमान्त आय" एक ही है, अर्थात् प्रति टन प्रचलित मूल्य।

---

१. स्वर्ण-खनन (Gold-mining) एक अपवाद है। जबतक एक भी सरकार किसी निश्चित मूल्य पर स्वर्ण की अपरिमित मात्रा क्रय करने को प्रस्तुत है और स्वर्ण-उत्पादन में किसी प्रकार के नियंत्रण द्वारा उसका मूल्य चढ़ने की आशंका नहीं है तबतक सभी स्वर्ण-खनक-संस्थाएँ स्वर्ण का मूल्य निश्चित समझ लेंगी।

यही बात उन साधनों के मूल्यों पर भी लागू होती है जिन्हें वह क्रय करती है। उसकी अपनी माँग उनकी संपूर्ण माँग का इतना अल्प अंश है कि वह उनके मूल्य को बाजार द्वारा निश्चित सी मान लेती है।

अब हम अल्पकालीन स्थिति पर विचार करेंगे। खान और उसकी सज्जा बहुत विशिष्ट हैं—किसी अन्य कार्य के लिए उनका उपयोग नहीं हो सकता। जबतक उत्पादित कोयला उसके उत्पादन में लगे हुए परिवर्तनशील लागत से अधिक मूल्य पर बिकता है तबतक खान खनी जाती रहेगी।[1] वह प्रति दिन कितना उत्पन्न करती है यह पूर्णतया उसकी परिवर्तनशील लागत पर निर्भर होगा। व्यवसाय-संस्था उतना उत्पादन करके, जिस पर सीमान्त लागत मूल्य के बराबर रहती है, अपने लाभ को अधिकतम अथवा हानि को न्यूनतम करेगी। यदि वह कम उत्पन्न करती है तो अपने उत्पादन में वृद्धि करके अपनी लागत से आय को अधिक बढ़ा लेगी; यदि अधिक उत्पन्न करती है तो अपने उत्पादन को घटाकर अपनी लागत को आय से कम कर लेगी।

परिवर्तनशील लागत में अधिकतर श्रम की लागत—अर्थात् खनकों को दी गई मजदूरी—सम्मिलित रहती है। ऊपर दिये गये कारणों से, जब कुछ खनक अवियुक्त कर लिए गये हैं तो उनकी संख्या में वृद्धि होने से उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि नहीं होगी। श्रम की ह्रासमान उत्पत्ति होने लगेगी; पहले सीमान्त और पीछे औसत उत्पत्ति घटेगी; जैसा कि पृष्ठ १३७ पर रेखा-चित्र में दिखाया गया है। प्रति खनक कम टन उत्पादन का अर्थ है प्रति टन अधिक श्रम-लागत; पहले सीमान्त और पीछे औसत श्रम-लागत बढ़ जायगी। ये वर्द्धमान लागतें ह्रासमान

---

१. यह सर्वथा ठीक नहीं है। कुछ ऐसी लागतें हो सकती हैं जैसे कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन, जो उत्पादन के साथ-साथ परिवर्तित नहीं होतीं, परन्तु जो खान के बंद हो जाने पर बंद हो सकती हैं। इस प्रकार की स्थिर लागत तथा परिवर्तनशील लागत दोनों ही का मूल्य द्वारा वसूल हो जाना आवश्यक है। इसके विपरीत यदि खान छोड़ दी जाय तो संभवतः उसमें जल भर जायगा और वह व्यर्थ हो जायगी। यदि व्यवसाय-संस्था को यह आशा है कि आगे चल कर कोयले का मूल्य फिर चढ़ेगा तो वह पंप द्वारा खान से पानी उलीचने का निश्चय कर सकती है जिससे चाहे अभी वह कोयला निकालना बंद भी कर दे तो भी पीछे उसमें से कोयला निकाल सके। यदि ऐसा करने की लागत उस रकम से अधिक होगी जितनी चालू व्यय से चालू आय कम पड़ती है तो संस्था के लिए उसे घाटे पर चालू रखना ही अधिक लाभप्रद होगा।

उत्पत्ति की मुद्रा-संबंधी अभिव्यक्ति हैं। अतः हमारा पृष्ठ १३७ वाला रेखाचित्र उलट दिया जाना चाहिए। दोनों में से प्रत्येक खान के लिए जो परिणाम होगा नीचे दिखाया गया है। क्षैतिज रेखा (Horizontal line)
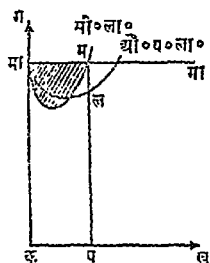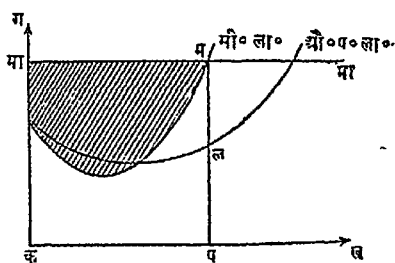
उत्पादन (टन प्रति दिन)

चित्र २५

मा मा द्वारा, जो कि प्रत्येक खान को अपने कोयले के विषय में चिंतित करनेवाला माँग-वक्र है, कोयले का प्रचलित मूल्य दिखाया गया है। यह क मा (=प म) शि. प्रति टन है।

खान का उत्पादन म बिंदु द्वारा व्यक्त होता है जिस पर सीमान्त लागत मूल्य के बराबर है। यह क प (=मा म) टन प्रति दिन है। अतः प्रति दिन की संपूर्ण प्राप्ति प म × मा म शि. होगी।

औसत परिवर्तनशील लागत प ल शि. प्रति टन है; अतएव संपूर्ण परिवर्तनशील लागत प ल × क प शि. प्रति दिन है।

(लाभयुक्त) स्थिर लागत के लिए प्रति दिन उपलभ्य द्रव्य है संपूर्ण प्राप्ति ऋण संपूर्ण परिवर्तनशील लागत। अतएव यह मा म × म ल आयत (Rectangle) है। इस आयत का रेखाचित्र में रेखांकित भाग के बराबर होना आवश्यक है क्योंकि यह भाग द्रव्यों का वह योगफल व्यक्त करता है जो उत्पादन की प्रत्येक क्रमिक इकाई की परिवर्तनशील लागत से मूल्य में अधिक होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सीमान्त लागत-वक्र औसत (परिवर्तनशील) लागत वक्र को उसके सबसे नीचे वाले बिंदु पर काटता है। इसका कारण वही है जो पृष्ठ १३८ की पाद टिप्पणी में दिया गया है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि हमने सीमान्त लागत-वक्र को लगभग लांबिक (Vertical) होने के लिए चुना है। ऐसा होने की संभावना तब रहती है जब खान पूरी क्षमता के साथ खनी जाती है। उत्पादन

में कुछ भी अधिक वृद्धि अल्पकाल में कठिन या असंभव हो जायगी।

उपर्युक्त रेखाचित्र में दूसरी खान का उत्पादन (क प) पहली की अपेक्षा बहुत अधिक है और उसकी औसत परिवर्तनशील लागत (प ल) पहली की अपेक्षा बहुत कम है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दूसरी खान पर अधिकार रखनेवाली संस्था पहली खानवाली संस्था से अधिक कुशल है। उनमें अन्तर दोनों निचायों की केवल भिन्न-भिन्न भौगर्भिक (Geological) रचना के कारण हो सकता है। संभव है कि खान १ में अपेक्षाकृत कम कोयला हो परन्तु जो कुछ हो सो सब भूतल से पर्याप्त निकट हो। दूसरी खान में संभव है कोयले की बहुत उत्तम तहें हों; परन्तु वे पर्याप्त गहराई में हों जिससे खान की खनाई और उसकी सज्जा में बहुत द्रव्य व्यय होता हो। निःसंदेह आरंभ से ही अधिमात्रा (Large scale) में अधिक उत्पादन के लिए उसकी योजना बनी होगी। उसमें प्रति खनक उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक है जिससे प्रति टन उसकी परिवर्तनशील लागत पहली खान से अपेक्षाकृत कम है। परन्तु आरंभिक "पूँजी" की लागत अपेक्षाकृत बहुत अधिक थी। यद्यपि संस्था को प्रति दिन परिवर्तनशील लागत चुकाने के बाद भी पहली खानवाली संस्था की अपेक्षा बहुत बड़ी रकम मिलती है; फिर भी जहाँ तक हमारी जानकारी है वह अपनी पूँजी पर आशा से कम लाभ पाती होगी; परन्तु छोटी खान आशा से अधिक अर्जित करती होगी।

इस प्रकार के कोयले के लिए अब हम अल्पकालीन पूर्ति-वक्र बना सकते हैं। किसी निश्चित मूल्य पर, सैकड़ों खानों में से प्रत्येक कुछ न कुछ उत्पादन अवश्य करेगी; अर्थात् प्रत्येक वह मात्रा उत्पन्न करेगी जिसमें उसकी सीमांत लागत मूल्य के बराबर होगी। इन सभी उत्पादनों को एकत्र करने पर हम वह संपूर्ण उत्पादन प्राप्त करेंगे जो उस मूल्य पर उत्पन्न किया जायगा। कई प्रकार के मूल्यों के लिए ऐसा करके हम अल्पकालीन पूर्ति-वक्र बना सकते हैं, जैसा कि चित्र २६ में दिखाया गया है।

हमने यह मान लिया था कि प्रत्येक संस्था, विभिन्न साधनों की प्रति इकाई के लिए दिये जानेवाले मूल्य को निश्चित मान लेगी। वास्तव में उत्पादन का साधारण विस्तार होने से संभव है कि इन मूल्यों में से कुछ चढ़ जायँ; जैसे खनकों की मजदूरी की दर, जो परिवर्तनशील लागत में सबसे मुख्य भेद है, ऊँची चढ़ सकती है। यदि ऐसा हुआ तो अल्पकालीन पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर अधिक तीव्र गति से मुड़ेगा; क्योंकि वास्तव में भिन्न-भिन्न खानों की सीमान्त लागत के सभी वक्र, मजदूरी की दर और अन्य साधन मूल्यों को (Factor-prices) निश्चित

मानते हुए विभिन्न संस्थाओं ने जो अनुमान किया था उसकी अपेक्षा अधिक तीव्र गति से, ऊपर को मुड़ेगी।

जब इतना पर्याप्त समय बीत जाता है कि उत्पादन माँग के नए और ऊँचे स्तर के अनुसार अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है तब सारी स्थिति बदल जाती है। अधिक तहें (Shafts) खनी जा चुकी रहेंगी, नई खानों का उद्घाटन हो चुका रहेगा, साधारणतया कुछ विद्यमान व्यवसाय-संस्थाएँ अपनी क्षमता बढ़ा चुकी रहेंगी और कुछ नई संस्थाएँ उस धंधे में प्रविष्ट हो गई रहेंगी। अतः यह स्पष्ट है कि पुराना अल्पकालीन पूर्ति-वक्र निरर्थक हो जायगा। उस के स्थान पर नया वक्र आ चुका रहेगा। मान लीजिए कि हम पूछते हैं कि सामंजस्य के लिए पूरा समय दे देने पर, किसी निश्चित मूल्य पर, कितना उत्पादन होगा? इसका उत्तर नवीन स्थिति के अनुसार "नवीन" अल्पकालीन पूर्ति-वक्र पर उस मूल्य का संगत (Corresponding) बिंदु लेने से निकलेगा। इस प्रकार के अनेक बिंदुओं को (जिनमें से प्रत्येक बिंदु उत्पादन द्वारा पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लेने पर नवीन स्थिति के अनुसार, एक अन्य "नवीन" अल्पकालीन पूर्ति-वक्र पर होगा) मिलाने से हम दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र प्राप्त करते हैं। चित्र २६ में, पुराना पूर्ति-वक्र, जो उस अल्पकालीन स्थिति का द्योतक है जब माँग-वक्र मा मा था, पूअ पूअ के रूप में दिखाया गया है। दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र पूद पूद के रूप में व्यक्त किया गया है। यह पूअ पूअ की अपेक्षा अधिक लचीला है—अर्थात् ऊपर की ओर कम तीव्र गति से मुड़ता है। $मा_1$ $मा_1$ द्वारा व्यक्त माँग के नवीन और उच्च स्तर के अनुसार उत्पादन का सामंजस्य स्थापित हो जाने पर नवीन अल्पकालीन पूर्ति-वक्र नहीं खींचा गया है। यह $मू_2$ से होकर जाता।

घटनाओं का संबंध-क्रम इस प्रकार होगा। माँग में वृद्धि होती है। माँग-वक्र मा मा के स्थान पर नवीन माँग-वक्र $मा_1$ $मा_1$ आ जाता है। पहले तो मूल्य मू से $मू_1$ तक चढ़ जाता है और उत्पादन क प से क $प_1$ तक बढ़ जाता है, जैसा कि पुराने अल्पकालीन पूर्ति-वक्र पूअ पूअ द्वारा दिखाया गया है। नवीन स्थिति के अनुसार धंधे का सामंजस्य स्थापित करने के लिए पर्याप्त समय बीत जाता है। अब एक नई साम्य-स्थिति (Equilibrium position) उत्पन्न हो जाती है जिसमें मूल्य $मू_2$ और उत्पादन क $प_2$ हो जाता है, जैसा कि दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र पूद पूद द्वारा दिखाया गया है।

यदि माँग में वृद्धि के बदले ह्रास हुआ होता तो क्या होता? तो विद्यमान खानों ने अपना उत्पादन घटा दिया होता जिससे प्रत्येक खान की सीमान्त लागत फिर मूल्य के बराबर हो जाती। कुछ खानें, जो अब

अपनी परिवर्तनशील लागत नहीं प्राप्त कर सकतीं तुरत बंद हो गई होतीं। अल्पकालीन स्थिति वह होती जिस पर नवीन और निम्नतर माँग-वक्र पुराने पूअ पूअ वक्र को काटता है। कालान्तर में कुछ खानें समाप्तप्राय
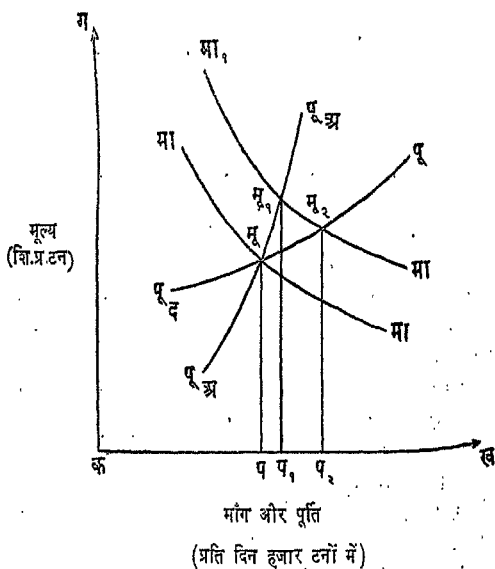
चित्र २६

हो जातीं। प्रति टन कोयला प्राप्त करने के लिए पहले से अधिक श्रम की आवश्यकता होती। ऐसी खानें कभी-न-कभी बंद हो जातीं। यदि नई नई खनी जातीं तो बहुत कम, और नई खानें तो उद्घाटित ही नहीं होतीं (क्योंकि यदि पहले उनका खनना लाभप्रद नहीं था तो अब कोयले का मूल्य घट जाने पर कैसे लाभप्रद हो सकता है?) अतएव उत्पादन और भी घट जाता और कोयले का मूल्य कुछ ऊपर जाता। नवीन साम्य-स्थिति उस प्रकार की होगी जैसी उस बिंदु द्वारा व्यक्त है जिस पर निम्नतर माँग-वक्र पूर्ति-वक्र पूद पूद को काटता है।

अतएव हम यह साधारणीकरण कर सकते हैं कि माँग में परिवर्तन होने के कारण दीर्घकाल की अपेक्षा अल्पकाल में मूल्य में अपेक्षाकृत अधिक और उत्पादन में कम परिवर्तन होने की प्रवृत्ति होगी।

३. कृषि[1]

कृषि द्वारा उत्पन्न प्रायः प्रत्येक पदार्थ किसानों द्वारा उत्पादित किया जाता है जिसमें से प्रत्येक कृषक संपूर्ण मात्रा का इतना अल्पांश उत्पादित करता है कि उसके उत्पादन में परिवर्तन होने से उस पदार्थ के मूल्य में नगण्य प्रभाव पड़ेगा। यही बात उत्पादन के साधनों (जैसे श्रम या खाद) के लिए उसकी माँग पर भी लागू होती है। दूसरे शब्दों में, कृषि-कर्म में पूर्ण स्पर्द्धा होती है; प्रत्येक किसान प्रचलित बाजार-मूल्य को निश्चित मान लेता है।

इसके अतिरिक्त कृषि प्रायः वर्द्धमान लागत के अधीन रहती है। इसका मौलिक कारण यह है कि उर्वरा तथा अच्छी स्थिति की भूमि मात्रा में परिमित है। कृषि की साधारण वृद्धि का अर्थ यह होगा कि विद्यमान भूमि पर अधिक गहनता पूर्वक (Intensively) खेती करनी पड़ेगी और संभवतः घटिया भूमि पर भी खेती होने लगेगी। भूमि पर लगाये हुए श्रम तथा अन्य साधनों से ह्रासमान उत्पत्ति (Diminishing returns) होने लगेगी। किसी विशेष पदार्थ के उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ माँग में परिवर्तन के कारण, संभव है, कृषि-क्षेत्र (Farm) के किसी अन्य उत्पादन की मात्रा घटानी पड़े और एक के उत्पादन से दूसरे के उत्पादन में साधनों का अन्तरग लागत में वृद्धि किये बिना ही हो जाय। उदाहरणार्थ, संभव है कि जौ की माँग बढ़ जाय और गेहूँ की घट जाय। अबतक जिस भूमि पर गेहूँ बोया जाता था उसमें से कुछ भूमि पर जौ बोया जा सकता है और कृषि-क्षेत्र के वे ही मजदूर तथा वे ही यंत्र काम में लाये जा सकते हैं। परन्तु संभावना यह रहती है कि किसी विशेष पदार्थ के उत्पादन में पर्याप्ति वृद्धि होने से ह्रासमान उत्पत्ति के कारण वर्द्धमान लागत लगने लगती है। तब या तो पहले से उसका उत्पादन करनेवाली भूमि पर अधिक गहन खेती होने लगती है या जिस पर पहले कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न होता था उस पर अब यह पदार्थ उत्पन्न किया जाने लगता है, संभवतः दोनों बातें होती हैं। इस प्रकार से अन्तरित भूमि, मिट्टी, जलवायु अथवा स्थिति की दृष्टि से संभवतः उस पदार्थ के उत्पादन के लिए उतनी उपयुक्त नहीं होगी जितनी पहलेवाली भूमि है जिस पर अबतक उसका उत्पादन हुआ करता था।

---

१. इस विषय पर श्री आर. कोहेन द्वारा लिखित (निस्वत, १९४०) उत्कृष्ट पुस्तक "दी इकनौमिक्स ऑफ ऐग्रीकल्चर" का छठा अध्याय तुलनीय है।

फिर भी ऐसा कहना भ्रामक होगा कि पिछले विभाग में समझाये गये रेखा-चित्र कृषि के उत्पादों पर लागू होते हैं। क्योंकि कृषि में लागत और उत्पादन के संबंध की **चार विशेषताएँ** हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

पहली विशेषता यह है कि यद्यपि कृषि के उत्पाद की माँग में साधारण वृद्धि होने से—जैसे जनसंख्या बढ़ जाने के कारण—कृषि के उत्पाद मात्र की वृद्धि हो जायगी, फिर भी माँग में साधारण ह्रास के कारण उस पर बहुत मंद गति से प्रभाव पड़ेगा। अंशतः इसका कारण यह है कि भूमि पर्याप्त स्थायी होती है। यह सत्य है कि ऊपर की मिट्टी कभी-कभी नष्ट हो जाती अथवा बुरी कमाई से बिगड़ जाती है फिर भी खनिज-निचायों (Mineral deposits) के समान भूमि रिक्त नहीं हो जाती और न तो यंत्रों के सदृश घिसती या जीर्ण हो जाती है। और उस पर संभवतः तबतक खेती होती रहेगी जबतक वह परिवर्तनशील लागत के ऊपर कुछ भी आय देती रहेगी। इसके अतिरिक्त, बहुत से देशों में खेती परिवार द्वारा ही होती है। कृषक और उसका परिवार खेती का अधिकांश या संपूर्ण कार्य कर लेता है। जब समय बुरा होता है तब भी किसान प्रायः अपना खेत छोड़ने से हिचकता है। संभव है कि भूमि उसी की हो, अतः यह स्वाभाविक है कि वह उसे थोड़े मूल्य पर बेचना अथवा अपने महाजन को देना न चाहे। संभव है कि उसे अपना अधियोजक स्वयं बनने की इच्छा हो, अथवा संभव है कि उसे खेती करना अच्छा लगता हो और उसे करने योग्य कोई दूसरा अच्छा कार्य न मिलता हो। अतएव अनेक कृषक अपने उत्पादों का मूल्य—अतः अपनी आय—बहुत गिर जाने पर भी, पहले की ही भाँति, अथवा पहले से भी अधिक कठिन परिश्रम करते हुए अपना धंधा चालू रखते हैं। अन्त में, यदि श्रम का अधिक अंश किराये का होता है, जैसा कि रोपण (Plantations) तथा बड़े बड़े विशेषीकृत कृषि-क्षेत्रों (Specialised farms) पर प्रायः होता है, तब भी श्रमी कभी कभी दूसरी जगह काम पाने में असमर्थ होते हैं अथवा जाना ही नहीं चाहते और मंदी के समय अपने वेतन में कटौती स्वीकार कर लेते हैं।[1]

परिणाम यह होता है कि वह 'दीर्घकाल", जिसमें उत्पादन माँग के ह्रास के अनुसार सामंजस्य स्थापित कर लेगा, वास्तव में बहुत ही दीर्घ-

---

१. इंग्लैंड में अधिकांश कार्य किराये के श्रम से होता है और विधि (Law) द्वारा न्यूनतम वेतन (Minimum wages) निश्चित किया जाता है (जो १९४६ में ४ पौंड प्रति सप्ताह था)। परन्तु दोनों ही बातों में इंग्लैंड अपवाद है।

काल हो जाता है। १९२९ से १९३२ की बड़ी मंदी के समय कृषि में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का मूल्य बहुत गिर जाने पर भी उनका उत्पादन बहुत ही कम घटा था। कारखानों में बने हुए माल का उत्पादन गिर कर दो-तिहाई हो गया था, यद्यपि --अधिकतर उसी कारण---उनका मूल्य कृषि-क्षेत्र के उत्पादनों की अपेक्षा कम गिरा था।

दूसरी बात यह है कि कृषक पहले से यह नहीं कह सकता कि उसका उत्पादन ठीक-ठीक कितना होगा; क्योंकि ऋतु (Weather) का बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, जिस पर सरकार भी नियंत्रण नहीं रख सकती। उसके प्रभाव के महत्त्व की मात्रा पदार्थों और स्थानों पर निर्भर रहती है। जिन जिलों में सूखा पड़ने अथवा अत्यधिक शीत पड़ने की आशंका रहती है उनमें सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है; पेड़ों से होने वाले उत्पादों पर सबसे अधिक और (समशीतोष्ण देशों में) पशुओं के उत्पादों पर सबसे कम प्रभाव पड़ता है। एक वर्ष से दूसरे वर्ष में किसी पदार्थ की संभाव्य उत्पत्ति का अन्तर देशभर की अपेक्षा किसी विशेष कृषि-क्षेत्र के लिए अधिक हो सकता है; और संसार भर के लिए तो सबसे कम हो सकता है क्योंकि कुछ कृषि-क्षेत्रों का अच्छा उत्पाद दूसरों के बुरे उत्पादों की पूर्ति कर देता है। इस प्रकार १९२३ से १९३५ के बीच गेहूँ के प्रति एकड़ उत्पादन में संसार भर का अन्तर ४ प्र. श. का था; १३ प्र. श. हंगरी का और २४ प्र. श. हंगरी में एक विशेष कृषि-क्षेत्र का था।[1]

इससे स्पष्ट है कि कृषि-कर्म एक प्रकार से जुए का खेल है और इसमें उत्पादन की सीमान्त लागत और सचमुच में प्राप्त उत्पादन का ठीक-ठीक सामंजस्य स्थापित करना बहुत कठिन होता है।

तीसरी बात यह है कि साधनों के विनियोजन (Investment) और उनके द्वारा होनेवाले उत्पादन में कुछ अवधि की अपेक्षा (Time-lag) होती है। यह अवधि की अपेक्षा पेड़ों तथा पशुओं से होने वाले उत्पादनों में सबसे अधिक होती है। उदाहरणार्थ, कहवा की झाड़ी रोपने के पांच वर्ष बाद से फल देना आरंभ करती है और फिर बीस वर्ष या इससे भी अधिक काल तक फल देती जाती है; "पशुओं के लिए उत्पादन की अवधि आठ मास के पश्चात् आती है, मांस के लिए मोटे किए गये पशु लगभग दो वर्ष के पूर्व नहीं बचे जाते; और बछिया ढाई वर्ष के पूर्व गाय होकर दूध नहीं देने लगती।[2]

---

१. इंग्लैंड के लिए ६ प्र. श. और रोथमस्टेड कृषि-क्षेत्र के लिए ३१ प्र. श. था। दे० Paul de Hevesy, *World Wheat Planning*, पृष्ठ ७३५

२. श्री आर. कोहेन का पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ० ९८

अतः इस प्रकार के पदार्थों के मूल्य में वृद्धि होने से कृषक मात्र उसका उत्पादन अत्यधिक बढ़ा सकते हैं; काल की अपेक्षा होने के कारण कुछ वर्षों तक मूल्य चढ़ा रह सकता है; इस अवधि में बहुत से कृषक एक-दूसरे से पृथक् अपना-अपना उत्पादन बढ़ाने के उपाय कर सकते हैं और अन्त में जब अधिकाधिक मात्रा में उसकी पूर्ति बाजार में होने लगती है तो उस पदार्थ का मूल्य बहुत नीचे गिर सकता है। तब संभव है कि सभी किसान अपना भावी उत्पादन बहुत घटाकर दूसरी भूल करें। कुछ ही वर्षों में जब उनके निश्चय के कारण उत्पादन घट जाता है तो संभव है कि मूल्य अकस्मात् बहुत चढ़ जाय और वही चक्र फिर आरंभ हो जाय।

अतः हम रोमांचकारी "लूता-जाल-साम्य" (Cobweb Theorem) प्राप्त करते हैं।
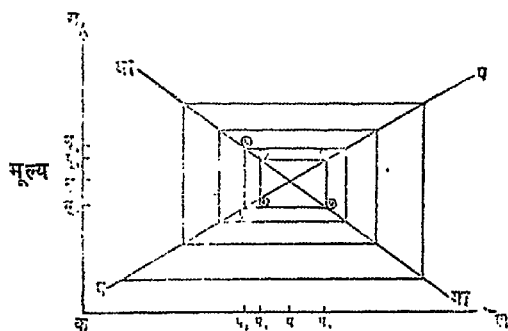
चित्र २७

यदि माँग से पूर्ति की लोच अधिक हो तो कालान्तर में घट बढ़ की मात्रा अधिक हो सकती है। मान लीजिए कि हम साम्य स्थिति से आरंभ करते हैं जब कि मूल्य क म पर पूर्ति क प है। अब मान लीजिए कि उत्पादन (बुरे मौसम या किसी अन्य कारण से) घट कर क प१ (पूर्ति-वक्र पर (१) द्वारा अंकित बिंदु के संगत) हो जाता है। इस उत्पादन (क प१) से मूल्य चढ़ कर क म, (माँग-वक्र पर (२) द्वारा अंकित बिंदु के संगत) हो जाता है। तब उत्पादक, पृथक्-पृथक् उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, जो प्रकृति द्वारा अपेक्षित अवधि के बीत जाने पर, बाजार में आता है और प्रति मास या वर्ष में एकत्र क प२ (पूर्ति-वक्र पर (३) द्वारा अंकित बिंदु के संगत) के बराबर हो जाता

है। तब मूल्य गिर कर क $म_2$ (माँग-वक्र पर (४) द्वारा अंकित विंदु के संगत) हो जाता है। तब उत्पादक मात्र, सर्वदा की भाँति पृथक्-पृथक्, अपने भावी उत्पादन घटाने का उपाय करते हैं, जिससे कुछ कालोपरान्त[1] संपूर्ण उत्पादन घट कर क $प_3$ (पूर्ति-वक्र पर (५) द्वारा अंकित विंदु के संगत) हो जाता है। मूल्य चढ़कर क $म_3$ (माँग-वक्र पर (६) द्वारा अंकित विंदु के संगत) हो जाता है। और इसी प्रकार अनन्त तक।

इसमें सन्देह नहीं कि यह अर्थशास्त्रियों का स्वप्न है और वास्तव में ऐसा होता नहीं। फिर भी इन अपेक्षित अवधियों के कारण बहुत कुछ अस्थिरता रहती है और कहा जाता है कि अत्युत्पादन (Over-production) और न्यूनोत्पादन (Under-production) जैसे इंग्लैंड में तथाकथित चतुर्वर्षीय शूकर-चक्र (Pig cycle) के-चक्र चला करते हैं।

चौथी बात यह है कि, प्रायः ठीक-ठीक यह कहना कठिन होता है कि किसी विशेष पदार्थ का उत्पादन घटाने या बढ़ाने के लिए जो उपाय कोई कृषक करता है उससे परिवर्तनशील लागत में कितनी वृद्धि या ह्रास होता है। उदाहरणार्थ यदि शूकर-मांस की माँग बढ़ जाती है तो अधिक शूकरों का उत्पादन होने लगता है और इसी प्रकार इसका वलोम। साधारणतः कृषि-मात्र के उत्पादनों की पूर्ति की (विशेषतः मूल्य में ह्रास के परिणाम स्वरूप) अपेक्षा किसी एक पदार्थ की पूर्ति बहुत अधिक लचीली होती है। परन्तु बहुत से कृषि-क्षेत्रों में अनेक भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और वे केवल एक ही के उत्पादन में, जैसे गेहूँ, अथवा संयुक्त पदार्थ में, जैसे ऊन और मांस या रुई और बिनौला, वशेषता नहीं प्राप्त करते। डेनमार्क में शूकर-मांस और मक्खन का घनिष्ठ संबंध होता है; मक्खन निकाला हुआ दूध शूकरों को पिलाया जाता है। चरनेवाले पशुओं के गोबर से खेत में खाद पड़ जाती है जहाँ आलू बोया जा सकता है। चीनीवाले चुकंदर का ऊपरी भाग पशुओं को खिलाया जा सकता है। जो पौधे मिट्टी से नाइट्रोजन लेते हैं उन के पहले नाइट्रोजन-शोषक (Leguminous) पौधे लगाए जा सकते हैं जो भूमि को नाइट्रोजन देते हैं। अन्न (Cereals), तथा कंद (Root) के लिए श्रम की आवश्यकता वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में पड़ती है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि जब कोई मिश्रित धंधेवाला कृषि-क्षेत्र अन्य पदार्थों का उत्पादन छोड़ कर अधिक माँगवाले पदार्थ का

---

१. यह अपेक्षित अवधि, जो उत्पादन घटने के पूर्व बीत जाती है वही नहीं है जिसका उल्लेख इसके पूर्व के वाक्य में हुआ है और जो उत्पादन के बढ़ने के पूर्व बीत जाती है।

उत्पादन करने लगता है तो वास्तव में हमें किसी विशेष पदार्थ की परिवर्तनशील लागत के परिवर्तन का ही, जिसका प्रत्यक्ष संबंध उसके उत्पादन में परिवर्तन से होता है, विचार नहीं करना चाहिए वरन् उसी कृषि-क्षेत्र में उस पदार्थ के संयोग में अथवा उसके आवर्तन (Rotation) में उत्पन्न होनेवाले अन्य पदार्थों की लागत अथवा उत्पादन पर पड़नेवाले अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभावों का भी विचार करना चाहिए। परन्तु इन अप्रत्यक्ष प्रभावों का, यद्यपि ये प्रायः महत्त्वपूर्ण होते हैं, ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है।

ये चार विशेषताएँ केवल कृषि में ही नहीं पाई जातीं। किसी भी धंधे में जिसमें पर्याप्त टिकाऊ तथा विशिष्ट सज्जा का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है, मूल्य में ह्रास के कारण उत्पादन में वृद्धि होने में बहुत समय लगता है। उदाहरणार्थ, ट्रैम गाड़ी, या गैस का कारखाना, या खान या धातु गलानेवाली भट्ठी (Blast furnace) के उत्पादित पदार्थों के मूल्य चाहे गिर जायँ परन्तु उनका कार्य बहुत दिनों तक चालू रहता है। कुछ धंधे, जैसे सोने की खान की खोज, बहुत कुछ जुए के खेल के समान होते हैं और, ऋतु प्रतिकूल होने पर भवन-निर्माण-कार्य में बाधा पड़ सकती है। कुछ औद्योगिक पदार्थों का, जैसे जहाज (और अस्त्रशस्त्रादि), उत्पादन-काल (Period of gestation) बहुत लंबा हो सकता है। प्रायः सभी व्यवसाय-संस्थाएँ अनेक पदार्थ उत्पन्न करती हैं और कहा जाता है कि विविध भंडार (Department Stores) वाले कभी-कभी जलपान-गृह (Restaurants) अथवा पुस्तकालय जान-बूझकर घाटे पर चलाते हैं जिसमें ऐसे ग्राहक आकृष्ट हों जो अन्य विभागों से कुछ मोल लें।

फिर भी ये चारों विशेषताएँ कृषि में एक सङ्ग पाई जाती हैं और जिस मात्रा में किसी अन्य धंधे में इनमें से एक भी पाई जाती है उससे अधिक स्पष्ट रूप में इसमें देखने में आती हैं। इसी से पूर्ण स्पर्द्धा में लागत का दृष्टान्त देने के लिए हम कृषि का पदार्थ न चुन कर खनिज पदार्थ चुनते हैं। कृषक मूल्य को निश्चित-सा मान बैठते हैं। वे अपने "लाभ" को अधिकतम करना चाहते हैं, विशेष पदार्थों की माँग में परिवर्तन की प्रतिक्रिया वे करते ही हैं; निःसंदेह वे किसी पदार्थ की सीमान्त लागत को उसके मूल्य के बराबर रखने का प्रयत्न करते ही हैं; और यह प्रायः निश्चित-सा है कि ज्यों-ज्यों किसी पदार्थ का उत्पादन बढ़ेगा त्यों-त्यों उसकी सीमान्त लागत भी बढ़ती जायगी। उचित मान्यताएँ (Assumptions) कर लेने पर हमारे रेखा-चित्र किसी कृषि-जन्य पदार्थ पर भी लागू हो सकते हैं। परन्तु हम समझते हैं कि पाठक इस बात से सहमत

होंगे कि ऐसा करना कुछ अयथार्थवादी होगा। परन्तु इससे हमें निराश नहीं होना चाहिए। हमारा उद्देश्य रेखाचित्र बनाना नहीं है वरन् यह समझना है कि वास्तविक आर्थिक संसार में क्या होता है।

४. पदार्थ-नियन्त्रण योजनाएँ (Commodity Control Schemes)

लूताजाल-साध्य (Cobweb theorem) बड़ा निराशावादी चित्र उपस्थित करता है। वास्तव में उत्पादक अपने अनुभव से कुछ न कुछ सीखते ही हैं संभवतः उनमें से प्रत्येक संपूर्ण उत्पादन का इतना अल्पांश उत्पन्न करता है कि वह मूल्य पर प्रभाव डाले बिना उसकी दूनी मात्रा उत्पन्न कर सकता है अथवा चाहे कुछ भी न उत्पन्न करे। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह इसे निश्चित मान ले कि प्रचलित मूल्य सर्वदा इसी प्रकार बने रहेंगे। अन्य उत्पादक क्या कर रहे हैं इस ओर भी उसका ध्यान जा सकता है और संभवतः वह सोच सकता है कि इससे भविष्य में कहाँ तक मूल्यों में परिवर्तन हो सकता है।

फिर भी पूर्ति और माँग का सामंजस्य बहुत अपूर्ण हो सकता है। स्वतंत्र रूप से प्रत्येक उत्पादक की, दूसरे क्या कर रहे हैं इस विषय में, धुंधली जानकारी हो सकती है और उनके कार्यों के प्रभाव को वह बहुत कम महत्त्व दे सकता है और यह केवल काल्पनिक संभावना नहीं है। विगत काल में बहुत से कच्चे मालों और खाद्य पदार्थों के उत्पादन और उनके मूल्यों में, माँग में परिवर्तन हो जाने के कारण, प्रत्याशित मात्रा से बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। तो क्या इस प्रकार के प्रत्येक पदार्थ के विषय में "धंधे" की आँख और मस्तिष्क का काम करनेवाली किसी केन्द्रीय संस्था की स्थापना आवश्यक नहीं है?

इस प्रकार की संस्था का कार्य क्या होगा? वह उस पदार्थ की माँग और पूर्ति की दशाओं का पता लगाने का प्रयत्न करेगी। वह उन दशाओं में होनेवाले परिवर्तनों की प्रकृति और सीमा का अनुमान करने का प्रयत्न करेगी। वह सभी उत्पादकों से इस संबंध में जानकारी संग्रह करेगी कि वे क्या कर रहे हैं और भविष्य में क्या करने का विचार कर रहे हैं। वह इन जानकारियों का संग्रह करके तब उन्हें परिचालित (Circulate) करेगी। वह मूल्यों की भावी गति का अनुमान भी लगा सकती है। और उत्पादकों को इस विषय में साधारण परामर्श भी दे सकती है।

परन्तु एक उत्तम कृषि या खान-विभाग पहले ही से ऐसा करता है। और इसी से बहुत अधिक परिवर्तन नहीं होने पाते। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि ऐसी प्रत्येक केन्द्रीय संस्था के पास, जो "आँख और मस्तिष्क" का काम करती है, यदि एक "डंडा" भी हो तो उसका कार्य और भी

उत्तम हो। यदि उसके हाथ में यह भी शक्ति हो कि वह प्रत्येक उत्पादक को अपने परामर्श और निर्देश के अनुसार कार्य करने को विवश कर सके तो, वह ऋतु अथवा प्रकृति के अन्य व्यापारों के कारण होनेवाले परिवर्तनों को छोड़ कर, अपने इच्छानुसार उत्पादन में परिवर्तन करा सकती है।

इस प्रकार की योजना में एक बात का बड़ा भय यह है कि संभव है नियंत्रक संस्था उस धंधे की ओर से एकाधिकारी का सा व्यवहार करने लगे और उत्पादन पर प्रतिबंध लगा कर संपूर्ण लाभ में वृद्धि करना चाहे। यदि प्रतिबंध के पूर्व पदार्थ की माँग की लोच एक से पर्याप्त कम हो तो इस प्रकार की नीति के लिए पर्याप्त क्षेत्र हो सकता है। कम उत्पादन से संपूर्ण लागत घटने के अतिरिक्त संपूर्ण प्राप्ति में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। यह निम्नांकित रेखाचित्र में दिखाया गया है।
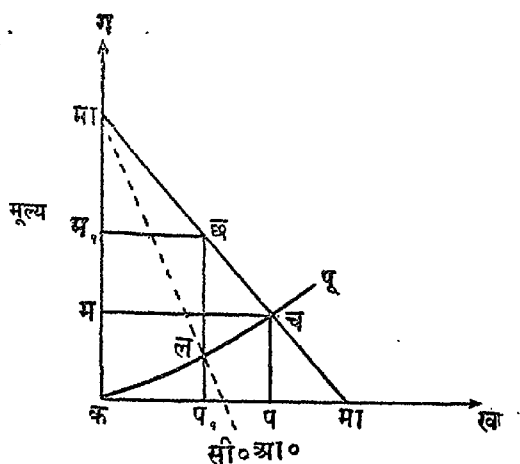
उत्पादन

चित्र २८

पूर्ण स्पर्द्धा में उत्पादन क प और मूल्य क म होता है क्योंकि पूर्ति-वक्र क पू माँग-वक्र मा मा को च पर काटता है। (स्थिर लागत सहित) लाभ क म च के क्षेत्रफल द्वारा व्यक्त किया गया है। बिंदु-रेखा सीमान्त-आय-वक्र है जो धंधे के पूर्ति अथवा सीमान्त लागत-वक्र को ल पर काटता है। यदि उत्पादन घटा कर क $प_1$ कर दिया जाय तो मूल्य क $म_1$ तक चढ़ जायगा और संपूर्ण लाभ बढ़ जायगा। तब वह क $म_1$ छ ल के क्षेत्रफल द्वारा व्यक्त होगा जो कि क म च से बहुत अधिक है।

टिन-प्रतिबंध-योजना ने कुछ कुछ इसी प्रकार का कार्य किया होगा। निःसंदेह वह टिन का मूल्य १९३३ के अंत से (केवल १९३८ में औसत मूल्य १९० पौंड था) प्रति टन २०० पौंड के ऊपर रखने में सफल हुई थी; यद्यपि मलाया की एक बहुत बड़ी टिन-खनन कंपनी के अध्यक्ष ने कहा था कि लाभ सहित १०० पौंड प्रति टन की दर से पूर्वीय देश संसार भर की आवश्यकता के लिए पर्याप्त टिन उत्पन्न कर सकते हैं। संक्षेप में इस पर विचार करना उपादेय होगा कि यह योजना मूल्य को चढ़ाये रखने में क्यों सफल हुई और अन्य योजनाएँ क्यों विफल हुईं।

सबसे पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि १९३० में, जब मूल्य गिर रहा था और राशि की वृद्धि हो रही थी, स्वेच्छया प्रतिबंध का प्रयत्न सर्वथा प्रभावहीन सिद्ध हुआ। यदि दूसरी खान या दूसरे देश की खान अपना उत्पादन नहीं घटाती तो कोई खान अपना उत्पादन क्यों घटाये? इसके अतिरिक्त कुछ अल्प लागतवाले महत्त्वपूर्ण उत्पादक किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के विरोधी थे; वे सोचते थे कि अपने ऊँची लागतवाले प्रतिद्वंदियों के लाभ के लिए अपना उत्पादन कम करने की अपेक्षा अपनी पूरी क्षमता भर कार्य करके अपने लिए अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। जिस योजना का विवेचन हम कर रहे हैं वह एक अनिवार्य योजना थी जो फरवरी १९३१ में सरकार द्वारा कार्यान्वित की गई थी। इससे एक साधारण नियम व्यक्त होता है—किसी केंद्रीय संस्था द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर बहुत से छोटे छोटे उत्पादक चलें इसके लिए सरकारी अनिवार्यता सर्वदा आवश्यक होती है।

बात यह हुई कि केवल तीन सरकारें—इंग्लैंड, हालैंड और बेल्जियम की—अधिकांश उत्पादनों का नियंत्रण करने में समर्थ थीं। स्पष्ट है कि अनेक सरकारों की अपेक्षा, जिनको गेहूँ आदि के समान पदार्थों का नियंत्रण करने के लिए आवश्यकता पड़ सकती है, केवल तीन सरकारों के लिए कोई समझौता करना सरल होता है। फिर ऐसी योजना के, जिसका संभाव्य उत्पादन की अधिकांश मात्रा पर नियंत्रण हो, जैसा कि इसका था, "बाहरी" उत्पादकों द्वारा उत्पादन बढ़ा कर, भंग किए जाने की कम संभावना रहती है। वास्तव में अनेक बाहरी उत्पादक (सितम्बर १९३१ में थाईलैंड से आरंभ करके) कालान्तर में इस योजना में सम्मिलित हुए परन्तु वे बहुत कुछ विवश करके लाये गये थे। जिन चार देशों का नियंत्रण सबसे अधिक था वे मलाया, नाइ-जीरिया, हालैंडीय पूर्वी द्वीप-समूह और बोलीविया। उन्होंने बार बार अपना उत्पादन घटाया और १९३२ के ग्रीष्म में वह १९२९ का एक तिहाई हो गया था। १९३१ के अंत में प्रति टन लगभग १०५ पौंड से

१९३३ के अन्त में प्रतिटन २२० पौंड के ऊपर टिन का मूल्य चढ़ाने में वे सफल हुए थे। परन्तु जिस सीमा तक उन्होंने भार वहन किया और अन्य देशों ने उसका लाभ उ ाया वह निम्नांकित संक्षिप्त तालिका से जाना जा सकता है।

टिन का उत्पादन (हजार टनों में)

	१९२९	१९३७	१९३८
मलाया	६९	७७	४३
नाइजीरिया	११	१०	७
हालैंड पूर्वी द्वीप समूह	३६	४०	२१
बोलीबिया	४६	२५	२५
थाईलैंड (श्याम)	१०	१७	१४
शेष संसार	२०	३८	३८
योग	१९२	२०७	१४८

१९३८ में जब कि उत्पादन कुछ कड़ाई के साथ घटाया जा रहा था—क्योंकि मूल्य गिर रहा था—इन चारों देशों ने संपूर्ण उत्पादन का केवल ६५ प्रतिशत उत्पन्न किया; जब कि १९२९ में उन्होंने ८४ प्र. श. उत्पन्न किया था।

टिन के दो मुख्य उपयोग होते हैं—डब्बे तैयार करने के लिए और मोटर बनाने में। एक मोटर बनाने में केवल २॥ सेर के लगभग टिन का व्यवहार होता है। टिन का मूल्य १०० पौंड प्रति टन रहने पर इसकी लागत ४ शि. ६ पेंस और ३०० पौंड प्रति टन रहने पर इसकी लागत १३ शि. ६ पें. होती है। इससे स्पष्ट है कि टिन के मूल्य में परिवर्तन होने से मोटर के मूल्य पर—अतः उसकी माँग पर—नगण्य प्रभाव पड़ता है। बहुत कुछ यही बात डब्बों में भरे माल के संबंध में भी है। उनमें रखे हुए पदार्थ डब्बे की अपेक्षा (जिसका मूल्य १ से ६ सेंट तक होता है) अधिक मूल्य के होते हैं; डब्बा स्वयं केवल टिन का नहीं वरन् लोहे की चद्दर पर टिन की पालिश चढ़ा कर बनाया जाता है। फिर भी यदि टिन के संतोषजनक स्थानापन्न पदार्थ उपलभ्य हों तो उत्पादक टिन के बदले उन्हीं का व्यवहार करेंगे। परन्तु ऐसे पदार्थ हैं नहीं। कुछ प्रकार के व्यवहारों में (जैसे टिन के बदले ऐलुमिनियम के पत्तलों में) ऐलुमिनियम ने टिन का स्थान ले लिया है। परन्तु अधिकांश में नहीं ले सका है। उज्वल धातु के वाहक (White-metal bearings) के बदले, जिसके लिए टिन का स्थानापन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, वेलन या गेंद के आकार के वाहकों (Bearings) का व्यवहार करने के लिए यंत्रों में परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु इसमें अधिक

व्यय पड़ेगा। किसी पदार्थ के मूल्य में वृद्धि का एक अवरोधक (Brake) पुराने पदार्थ का पुनरुद्धार (Reclaiming) हो सकता है। परन्तु टिन के संबंध में उसका विशेष महत्त्व नहीं है।[1] अतः जबतक टिन का मूल्य अपेक्षाकृत बहुत अधिक नहीं हो जाता तबतक उसकी माँग बहुत लोचदार होती है। इसीसे संभाव्य उत्पादन का अधिकांश अपने नियंत्रण में होने के कारण टिन-योजना मूल्य को ऊँचा रखने में सफल हुई (परन्तु इससे टिन का प्रधान उपभोक्ता संयुक्त राज्य कुछ रुष्ट हुआ।)

पन्द्रहवें अध्याय के अंत में नियंत्रण-योजनाओं की सामाजिक हानियों के विषय में, जो मूल्य को ऊँचा रखने में एकाधिकारी का सा व्यवहार करती हैं, जो कुछ हम कह चुके हैं उसे फिर नहीं दुहराएँगे। केवल इतना ही फिर कहेंगे कि व्यवहार में प्रायः सबसे कुशल उत्पादकों को ही सबसे अधिक प्रतिबंध लगाना पड़ता है। अतएव हमारे रेखाचित्र में पूर्ति-वक्र क पू के स्थान पर एक दूसरा अधिक तीव्र गति से ऊपर चढ़ने वाला वक्र आ जाता है जिससे "लाभ" का क्षेत्रफल घट जाता है—यह एक ऐसी हानि है जिसका कोई संगत (Corresponding) लाभ उद्योग मात्र को नहीं होता।

युद्ध के पश्चात् अनेक महत्त्वपूर्ण कच्चे मालों और खाद्य पदार्थों के लिए नियंत्रण-योजनाएँ बनाई जा सकती हैं। यदि उन्हें प्रभावशाली बनाना है तो उनका अन्तर्राष्ट्रीय होना आवश्यक है। यदि समाज के हित में उनका संचालन करना है, केवल उत्पादकों के किसी विशेष समूह का लाभ बढ़ाने के लिए नहीं, तो मुख्य-मुख्य उपभोक्ता देशों को चाहिए कि प्रत्येक नियंत्रण संस्था में अपना मताधिक्य रखें। फिर भी बड़ी-बड़ी भूलें की जा सकती हैं। सरकारें प्रायः बहुत विवेकशील नहीं होतीं—उदाहरणार्थ १९३० के पश्चात् इंग्लैंड की जलयान-निर्माण-क्षमता के समेटने को ही ले लीजिये। यह भी भय रहता है कि क्रियाकल्पात्मक उन्नति के अनु-

---

१. पुनरुद्धार विशेषतः संयुक्त राज्य (अमेरिका) में होता है। किसी किसी वर्ष उसका "गौण" (Secondary) उत्पादन लगभग ३० हजार टन तक पहुँच जाता है जिससे टिन उत्पादक देशों में उसका दूसरा या तीसरा स्थान हो जाता है, यद्यपि उसके यहाँ टिन की खान नहीं हैं। यह मुख्यतः टिन की पतली चद्दरों की कतरन से बनाया जाता है। अब इस कार्य के लिए बने हुए कारखानों में बहुत से पुराने डब्बों का उपयोग हो सकता है; परन्तु शान्ति के समय उन्हें एकत्र करने और अंतरित करने का व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उनका उत्पादन लाभदायक नहीं होता।

सार अपेक्षित परिवर्तन भी किये जा सकते हैं; इंग्लैंड की कोयले की खानों के समान, प्रत्येक उत्पादक विगत वर्षों में संपूर्ण उत्पादन का जो प्रतिशत उसने उत्पन्न किया है उसी की सीमा में बद्ध किया जा सकता है, और नवागन्तुकों को वर्जित करने एवं दंड देने की दुर्नीति का भी अवलंबन किया जा सकता है।

मेरे मत से, इससे अच्छा उपाय यह होगा कि एक या अनेक मुख्य-मुख्य सरकारें ऐसी वस्तुओं की राशि एकत्र रखें। उन्हें साम्य मूल्य से कुछ कम पर असीम मात्रा में क्रय करने तथा साम्य मूल्य से कुछ अधिक पर बेचने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। यदि सीमा का चुनाव विवेकपूर्वक किया जाय और समय समय पर क्रियाकल्पात्मक उन्नति तथा अन्य परिवर्तनों का ध्यान रखते हुए उसकी आवृत्ति होती रहे तो ऐसी योजना व्यर्थ के परिवर्तनों को कम करने और संभवत: व्यापार-चक्र (Trade Cycle) का प्रभाव हल्का करने में अधिक सफल होगी और व्यक्तियों को आगे बढ़ने और अपनी कुशलता बढ़ाने की पूरी स्वतंत्रता रहेगी।

५. औद्योगिक उत्पादन (Manufacturing)

औद्योगिक उत्पादन में लागत का व्यवहार विभिन्न धंधों में भिन्न-भिन्न होगा और देश, काल तथा परिस्थितियों पर निर्भर रहेगा। जब उत्पादन बढ़ेगा तो अल्प काल में भी औसत परिवर्तनशील लागत के अधिक बढ़ने की कम संभावना होगी, और दीर्घ काल में तो होगी ही नहीं; कुछ धंधों में तो वह गिर भी सकती है।

ह्रासमान उत्पत्ति का सिद्धान्त उत्पादन के विभिन्न साधनों के अनुपात में होनेवाले परिवर्तनों पर भी लागू होता है। कृषि के विस्तार का अर्थ यह है कि उसी भूमि पर पहले से अधिक मनुष्यों का अधियोजन (Employment) होगा अथवा कम उपयुक्त भूमि का व्यवहार करना आवश्यक होगा। श्रम की ह्रासमान उत्पत्ति के कारण लागत वर्द्धमान होगी। क्या कृषि में उपयुक्त भूमि अथवा खनन में उपयुक्त निचायों (Deposits) के समान महत्त्व रखनेवाले "दुर्लभ" साधन (Scarce factors) औद्योगिक उत्पादनों में भी होते हैं?

औद्योगिक उत्पादन में अपेक्षाकृत बहुत कम भूमि की आवश्यकता होती है और कारखाने के लिए लगभग पहले ही स्थान के समान या ठीक वैसा ही अतिरिक्त स्थान प्राय: मिल जाता है। विद्यमान भवन तथा सज्जा दूनी की जा सकती है। संभव है कि पहले से अधियुक्त श्रमी के समान कुशल अतिरिक्त श्रमी अनधियुक्त (बेकार) लोगों में से उसी मजदूरी-दर पर प्राप्त किया जा सके। फिर भी, अल्पकाल में, बहुत संभव है कि पर्याप्त विस्तार से श्रम की लागत बढ़ जाय। दूसरे धंधों से, जैसे कृषि से, कम कुशल श्रमी

औद्योगिक धंधे में आकर्षित हो सकते हैं, कुछ प्रकार के कुशल श्रमियों की भी कमी पड़ सकती है (जैसे एक प्रकार के श्रमियों (Drop-forgers) की कमी से इंगलैंड में १९४१ में अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन में बाधा उपस्थित हुई थी), उत्पादन को शीघ्र बढ़ाने के लिए संभव है कि अधिसमय (Overtime) कार्य की दर से वेतन देना पड़े और बहुत से श्रमियों के वेतन में वृद्धि भी हो सकती है। यदि केवल कुछ ही धंधों का विस्तार होता है और शेष का संकोचन होता है तो कुछ श्रमी दूसरे प्रकार के धंधों से पहलेवालों में जा सकते हैं। और यदि श्रम की लागत बढ़ती है तो बहुत कम बढ़ेगी। दीर्घ काल में, जब कि इतना समय बीत जाता है कि श्रम-बाजार में प्रवेश करने वाले युवक तथा अन्य लोग औद्योगिक उत्पादन की ओर आकृष्ट हो सकते हैं और विशेष प्रकार के कुशल शिल्पियों का अभाव दूर करने के लिए श्रमी प्रशिक्षित (Train) किये जा सकते हैं, श्रम की लागत (Labour-cost) में बहुत वृद्धि नहीं होगी।

यदि ह्रासमान उत्पत्ति होती है तो उसका मुख्य कारण उत्तम साहसियों का अभाव हो सकता है। प्रथम श्रेणी की व्यापारिक योग्यता विरले लोगों में होती है और वह केवल प्रशिक्षण से नहीं प्राप्त की जा सकती। किसी व्यवसाय-संस्था का बहुत अधिक विस्तार होने पर उसके विद्यमान साहसी के लिए उसका सँभालना कठिन हो सकता है और संभव है कि उसका दिवाला निकल जाय। अन्यत्र से औद्योगिक उत्पादन में आनेवाले साहसी पहले के साहसियों की अपेक्षा प्रायः कम कुशल होंगे। इन बातों पर विचार करना व्यवहार में कितना महत्त्वपूर्ण है यह तथ्य की बात है जिस पर विद्वानों में मतभेद है।

हमारा निष्कर्ष यह है कि ह्रासमान उत्पत्ति के कारण होनेवाली वर्द्धमान लागत औद्योगिक उत्पादन में भी हो सकती है। परन्तु कृषि अथवा खनन की अपेक्षा इसमें वह कम जान पड़ेगी। साधनों की विशेष "दुर्लभता" (Scarcity) अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल में कम महत्त्वपूर्ण होगी और औद्योगिक उत्पादन मात्र का विस्तार होने पर जितनी महत्त्वपूर्ण होगी उतनी कुछ ही धंधों का विस्तार होने पर नहीं होगी।

परन्तु ह्रासमान उत्पत्ति के साथ साथ ऊँचे साधन-मूल्य भी वर्द्धमान लागत का कारण हो सकते हैं। हम देख चुके हैं कि श्रम की लागत संभवतः इसलिए भी बढ़ सकती है कि श्रमियों का वेतन बढ़ा दिया जाता है। ज्यों-ज्यों कच्चे माल की माँग बढ़ती जाती है त्यों-त्यों, उनको उत्पन्न

करनेवाले धंधों में ह्रासमान उत्पत्ति के कारण, उनका मूल्य चढ़ने की संभावना रहती है। इसका महत्त्व दीर्घकाल में भी उतना ही हो सकता है जितना अल्पकाल में।

संक्षेप में हम लागत को बढ़ानेवाली शक्तियों का विवेचन कर चुके। इसकी विपरीत दिशा में कार्य करनेवाली शक्तियाँ कौन-कौन हैं ?

सबसे पहले, संभव है कि पदार्थ की माँग बढ़ने के समय, अर्थात जब उसका उत्पादन बढ़ाया जाता है, कुछ कारखाने अपनी क्षमता से कम कार्य कर रहे हों, पीछे हम इसका कारण बताएँगे कि यह अवस्था बुरे समय में और "प्रकृत" (Normal) समय में भी, पर्याप्त रूप से व्यापक हो सकती है। यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों कोई कारखाना अपनी पूर्ण क्षमता की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों प्रति इकाई औसत संपूर्ण लागत घटती जायगी, क्योंकि "स्थिर लागत" (Fixed costs) अब उस पदार्थ की अधिक इकाइयों में बँट जायगी। परन्तु परिवर्तनशील लागत भी, जिससे यहाँ पर हमारा संबंध है, गिर सकती है। संभव है कि वह कारखाना किसी निश्चित मात्रा में उत्पादन के लिए उपयुक्त बनाया गया हो और औसत परिवर्तनशील लागत न्यूनतम तभी होती हो जब वही मात्रा उत्पन्न की जाती हो। मंदी के समय उस कारखाने में अधियुक्त श्रमी, संभव है, पूर्ण रूप से व्यस्त न रहते हों, यद्यपि वेतन उन्हें पूरा मिलता हो। इसके कुछ उदाहरण श्री० डी० एल० बर्न की उत्कृष्ट पुस्तक "दी इक्नौमिक हिस्ट्री ऑफ स्टील मेकिंग" के दूसरे परिशिष्ट में दिये गये हैं। "नरम कोयले की भट्ठियों (Coke-ovens) में बालू का दिया हुआ स्तर (Silica lining) ठंढा करने से नष्ट हो जाता है, अतएव कार्य का कम चालू रखना आवश्यक होता है। परन्तु यद्यपि प्रकृत (Normal) गति का ३० प्रतिशत घटा देना संभव है फिर भी (दैनिक वेतन पानेवाले) श्रमिकों की संख्या में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं होता; परिवर्तन केवल उपोत्पादों (By-products) की उत्पत्ति में होता है जो अन्त में प्रतिकूल ही रहता है। उपोत्पादों को छोड़ कर यदि किसी आधुनिक भट्ठी (Battery of ovens) का उत्पादन घट कर आधा हो जाता है तो मुख्य लागत (Prime cost) में प्रधान परिवर्तन यह होगा कि औसत श्रम-लागत में १ शि. ६ पें. प्रति टन से लगभग २ शि० ९ पें० प्रति टन वृद्धि होगी।" पुनः श्री बर्न लिखते हैं कि "खुले मुँह की भट्ठी (Open hearth furnace) विरले ही ऐसी बनाई जाती है कि एक बार गरमाने से ६० टन से कम इस्पात तैयार हो।" यदि कम की आवश्यकता होगी तो शेष ठोस लोहे (Ingots) के रूप में रखना

होगा और जब उसी प्रकार के इस्पात की माँग होगी तब वह बनाया जायगा। इसका अर्थ यह है कि उसकी राशि रखनी पड़ेगी और (ठोस लोहे को फिर से गरमा कर आवश्यक वस्तुओं के रूप में परिवर्तित करने के लिए) पीछे से भट्ठी गरमाने का व्यय लगेगा। पुनः, "भारी पदार्थों के विभाग के लिए एक जोड़े बेलन से १००० टन से ऊपर का सामान एक बार के चलाने से बनता है..............। यदि किसी विभाग के माल के लिए इतने पर्याप्त आदेश (Orders) नहीं प्राप्त होते कि एक जोड़ा बेलन बिना बदले हुए कार्य करता रहे तो उसे बदलने में शक्ति और समय का अपव्यय एक और भी व्यय को बढ़ा देता है।" परन्तु ज्यों-ज्यों कारखाना "पूर्ण क्षमता" (Full capacity) के निकट पहुँचता है, और पहले निष्क्रिय पड़ी हुई कम कुशल सज्जा व्यवहार में आने लगती है, त्यों-त्यों, चाहे इस्पात के कारखाने में हो या किसी अन्य प्रकार के कारखाने में, संभव है कि औसत परिवर्तनशील लागत बढ़ती जाय। हम केवल यही कह सकते हैं कि उसमें ह्रास हो सकता है।

यदि "अत्यधिक क्षमता" न हो तो भी किसी व्यवसाय-संस्था की परिवर्तनशील लागत उत्पादन के बढ़ने पर घट सकती है। उसके उत्पाद की माँग में वृद्धि होने के कारण ऐसी बचत हो सकती है जिसे कभी कभी" "आन्तरिक मितव्यय" (Internal economies) कहते हैं। छठे अध्याय के चौथे विभाग में और फिर नवें अध्याय के पाँचवें विभाग में हम इसका विवेचन कर चुके हैं। यह ऐसी बचत है जो किसी संस्था के भीतर होती है; इसका कारण मुख्यतः किसी न किसी प्रकार की "अविभाज्यता" (Indivisibility) होती है— उदाहरणार्थ कोई बड़े एवं अधिक कुशल यंत्र की स्थापना तभी लाभदायक होती है जब कि माँग इतनी अधिक हो कि उसका पूर्ण उपयोग हो सके। "बाह्य बचत" (External economies) का कारण बतलाया जाता है किसी धंधे मात्र का विस्तार। कोई एक संस्था केवल अपना विस्तार करके बाह्य मितव्यय नहीं प्राप्त कर सकती। अतएव अपने कलन (Calculation) में वह उसे नहीं गिन सकती। किसी धंधे की वृद्धि—विद्यमान संस्थाओं का विस्तार और नवीन संस्थाओं की स्थापना—प्रायः किसी विशेष जिले या क्षेत्र में होती है; अर्थात् वह धंधा स्थानीयकृत (Localised) हो जाता है। अतएव धंधे की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में विशेषता प्राप्त करना कुछ संस्थाओं के लिए अधिक लाभकर हो सकता है। बीमा और महाजनी (Banking) की विशेष सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं, व्यापारिक पत्र निकाला

जा सकता है; गमनागमन (Traffic) बढ़ जाने से स्थानांतरण व्यय (Transport cost) घटाया जा सकता है, उसी जिले या मंडल में उन यंत्रों की मरम्मत के लिए दूकानें खोली जा सकती हैं, किसी किसी को उस धंधे के उपोत्पादों को, जो पहले नष्ट हो जाते थे, खरीदकर उनका उपयोग करना लाभदायक हो सकता है; उस क्षेत्र में रहनेवाले युवकों में से, जो बचपन से वहाँ रहने के कारण उस धंधे का कुछ अनुभव भी प्राप्त कर लेते हैं, अतिरिक्त श्रमी प्राप्त किये जा सकते हैं। संभव है कि विश्लेषण करने पर ये सुविधाएँ तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाएँ उस धंधे से बाहर के किसी धंधे के लिए "आन्तरिक बचत" गिनी जाती हों; जैसे मितव्यय। उपोत्पादों का उपयोग तभी लाभदायक हो सकता है जब कि वे बहुत निकट प्राप्त हों और इतनी पर्याप्त मात्रा में मिल सकें कि "अविभाज्य" कारखाना (Indivisible plant) पर्याप्त समय तक चालू रखा जा सके। फिर यह भी संभव है कि अब रेल या सड़क की सुविधाओं का अधिक उपयोग हो सके जिससे भीड़ घट जाय; परन्तु इससे उस तथाकथित "बाह्य मितव्यय" का महत्त्व घट नहीं जाता। फिर भी इतना और कहना आवश्यक है कि किसी व्यवसाय-संस्था का विस्तार होने के साथ-साथ "आन्तरिक अपव्यय" (Internal diseconomies) भी हो सकता है। जैसे अधिक निरीक्षण, अधिक अनुशासन तथा समय और नियमों का पालन कराने की आवश्यकता। और किसी धंधे के विस्तार से "बाह्य अपव्यय" (External diseconomies) भी हो सकता है; जैसे उस जिले या क्षेत्र की सड़कों पर अधिक भीड़ होना और कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि।

अब हम उपर्युक्त विवेचन का सारांश निकाल सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि संप्रति हम यह मान लेते हैं कि किसी प्रकार की क्रियाकल्पात्मक उन्नति नहीं होती है। फिर भी औद्योगिक उत्पादन के किसी धंधे में दीर्घकालीन सीमान्त लागत बहुत कुछ स्थिर अथवा ह्रासमान हो सकती है। वह वर्द्धमान भी हो सकती है; [जैसे यदि उत्पादन की वृद्धि के कारण कच्चे माल का मूल्य चढ़ जाय और उसके अनुरूप मात्रा-मितव्यय (Economies of scale) द्वारा व्यय न घटे] परन्तु ऐसी संभावना नहीं है कि वह बहुत तीव्र गति से बढ़ रही हो। अल्पकाल में, यदि विद्यमान संस्थाएँ अपनी प्रकृत क्षमता (Normal capacity) से अधिक कार्य करें तो उसकी वृद्धि अधिक तीव्र गति से हो सकती है। परन्तु कारखानों की यह भीड़ (Over-crowding), अस्थायी व्यापार (Phenomenon) है जो प्रायः नहीं होता। पहले से विद्यमान "अधिक क्षमता" का उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। उस अवस्था में सीमान्त लागत घट सकती है।

ये निष्कर्ष हमारे सम्मुख एक समस्या खड़ी कर देते हैं। यदि सीमान्त लागत न बढ़ रही हो तो कौन-सी शक्तियाँ किसी व्यवसाय-संस्था की सीमा निर्धारित करती हैं? यदि स्थिर लागत (जिसमें पूँजी पर औसत लाभ और साहसी का पारिश्रमिक सम्मिलित हैं) निकालना है तो पदार्थ का विक्रय-मूल्य उसके उत्पादन की औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर होना आवश्यक है। परन्तु यदि सीमान्त-लागत बढ़ नहीं रही है तो वह औसत परिवर्तनशील लागत से कम, अथवा अधिक से अधिक बराबर होगी। अतएव ऐसा जान पड़ेगा कि उत्पादन की अतिरिक्त इकाइयाँ अपनी अतिरिक्त लागत से अधिक पर बिकेंगी जिससे संपूर्ण लाभ बढ़ जायगा। तब उनका उत्पादन क्यों नहीं होता?

ऐसा संभव है कि कोई संस्था उसके समान पदार्थ अथवा उसका निकटतम स्थानापन्न नहीं उत्पन्न करती और किसी न किसी कारण नई संस्थाएँ उस क्षेत्र में प्रवेश नहीं करतीं। यदि यह बात है तो हमारी समस्या हल हो गई। और पिछले अध्याय का हमारा विश्लेषण लागू हो जाता है। व्यवसाय-संस्था अपनी सीमांत-लागत और सीमांत आय को समान करके
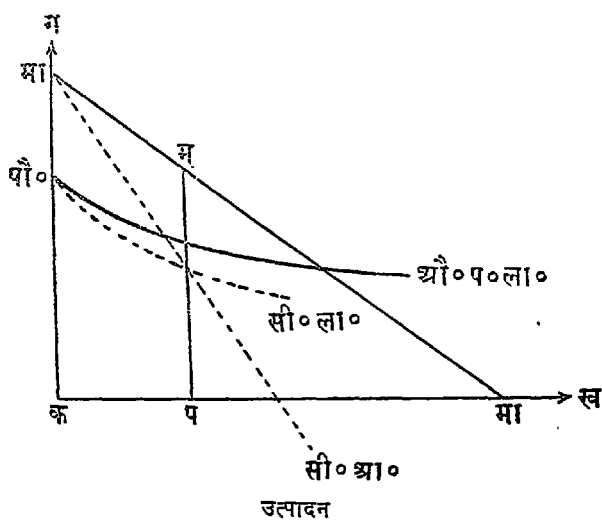
उत्पादन

चित्र २९

अपना लाभ बढ़ाने का प्रयत्न करेगी। संभव है सीमान्त लागत घट रही हो, परन्तु कुछ काल के उपरान्त सीमांत आय अधिक तीव्र गति से घटने लगेगी और दोनों वक्र एक दूसरे को काटेंगे जैसा कि चित्र २९ में दिखाया गया है।

एक दूसरा समाधान यह हो सकता है कि संभव है सीमान्त विक्रय लागत बढ़ रही हो। उत्पाद की अतिरिक्त इकाइयाँ अधिक सस्ते में उत्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु उन्हें बेचने की लागत प्रति इकाई अधिक हो जायगी और सीमांत उत्पादन की लागत में जितनी कमी होगी उससे अधिक उसमें वृद्धि हो जायगी। उदाहरणार्थ, यदि ईंट का कोई स्थानीय भट्ठा अपना उत्पादन बढ़ाता है तो संभव है कि उसे अधिक दूर के ग्राहकों को ईंटें बेचना पड़े जिससे ईंटे पहुँचाने का स्थानान्तरण-व्यय बढ़ जाय। प्रत्येक अतिरिक्त बोझे पर व्यय बढ़ जायगा क्योंकि उसे अधिकाधिक दूरी तक भेजना पड़ेगा। प्रत्येक बोझ के बेचने की लागत को प्राप्ति में से—अर्थात् प्रत्येक बोझ के स्थिर मूल्य से—घटाना आवश्यक होगा।

यह चित्र ३० में दिखाया गया है। सीमान्त उत्पादन-लागत घट रही है। मूल्य क म पर स्थिर है। एक अतिरिक्त इकाई की विक्रय लागत मूल्य-रेखा और सीमान्त आय-वक्र के बीच की लांबिक (Vertical) दूरी होगी। सीमांत-आय वक्र नीचे की ओर मुड़ता है क्योंकि सीमांत उत्पादन-लागत बढ़ रही है। (मूल्य क म दिया होने पर) सब से अधिक लाभदायक उत्पादन क प होगा।
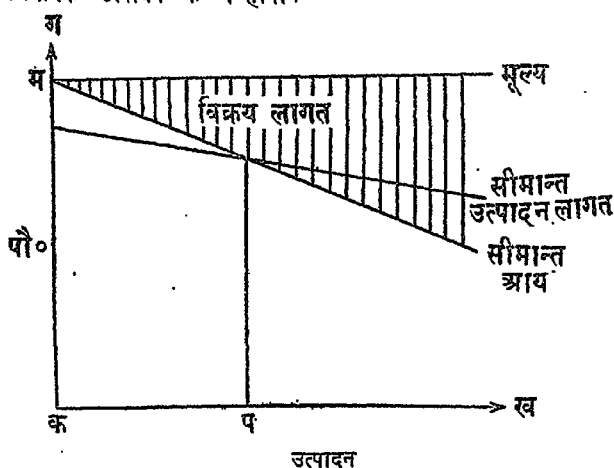
चित्र ३०

परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अवस्था एकाधिकार की द्योतक है। स्थिर मूल्य क म वह क्षैतिज (Horizontal) माँग-वक्र नहीं है जो पूर्ण स्पर्द्धा में किसी व्यवसाय-संस्था के सम्मुख एक

समस्या खड़ी करती है। यदि वह संस्था कारखाने में ही कम मूल्य पर जितना चाहे बेच ले तो वह पहुँचाने की लागत अपने ग्राहकों से क्यों न ले? अथवा वह क्यों विज्ञापन दे या बिक्री के लिए सहायक नियुक्त करे? कम मूल्य स्वयं संस्था द्वारा (अथवा व्यापारियों में समझौते के द्वारा) निर्धारित किया जाता है। और घर पर माल निःशुल्क पहुँचा देने (Free delivery) की प्रणाली में दूर के ग्राहकों की अपेक्षा कारखाने के पास रहनेवाले ग्राहकों से सचमुच ही अधिक मूल्य लिया जाता है।[1]

इस उदाहरण में ईंटा के भट्ठे को एकाधिकार इसलिए मिला कि प्रतिद्वंद्वी भट्ठे कुछ दूरी पर थे; इससे निकट के ग्राहकों से उन ग्राहकों की अपेक्षा अधिक मूल्य लिया जा सकता था जो अन्य भट्ठों के निकट थे। विगत वर्षों में व्यवसाय-संस्थाओं में ऐसी प्रवृत्ति अधिकाधिक देखी गई है कि अपने प्रतिद्वंद्वियों के उत्पादित पदार्थ से अपने उत्पाद में "भेद करके" (Differentiating) कुछ इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न करते हैं। उत्पाद पर या उसके साथ कोई व्यापार-चिन्ह (Trade-mark) अथवा उत्पादक का नाम दिया जाता अथवा किसी विशेष रूप में प्रस्तुत किया जाता है, अथवा ऊपर लपेटने के लिए विशेष प्रकार का कागज व्यवहार में लाया जाता है। उसका उद्देश्य यह रहता है कि ग्राहकों को (चाहे वह साधारण जनता हो अथवा कोई व्यवसाय-संस्था) विश्वास दिलाया जाय कि अन्य संस्थाओं द्वारा बनाए हुए पदार्थों से उसका पदार्थ भिन्न है और कुछ बातों में अच्छा भी है। इस उद्देश्य की सिद्धि प्रायः विज्ञापन द्वारा अथवा विक्रेता (Salesman) रखकर की जाती है। अतएव प्रत्येक चिन्हित माल के क्रेताओं का एक दल होता है जो उससे संबंध रखता है। उसी प्रकार के प्रतिद्वंद्वी माल का मूल्य घट जाने से उस दल के सभी ग्राहक नहीं खिंच जायँगे। (जिस प्रकार किसी दूर के भट्ठे पर ईंटों का मूल्य गिर जाने से स्थानीय भट्ठे की बिक्री पर उसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा।)

किसी चिन्हित पदार्थ का उत्पादक उसका (थोक और फुटकर दोनों) मूल्य निर्धारित कर देने को सफल व्यापार-नीति समझता है। जनता उसके

---

१. कभी-कभी किसी धंधे की सब व्यवसाय-संस्थाएँ यह समझौता कर लेती हैं कि किसी उत्पादन-केन्द्र से, जिसे "आधार-स्थान" (Basing point) कहते हैं, पहुँचाने की लागत को छोड़कर अपने उत्पादन का एक समान मूल्य लेंगे। यह प्रणाली इस्पात के धंधे में प्रचलित थी। आधार-स्थान से दूर रहनेवाले ग्राहक को स्थिर मूल्य और आधार-स्थान से स्थानान्तरण-व्यय देना पड़ता था, यद्यपि माल उसके पास ही उत्पन्न किया जाता और वहीं से उसके पास पहुँचाया जाता था।

मूल्य से परिचित हो जाती है और उत्पादक को भय रहता है कि उसे घटाने या बढ़ाने से उसकी ख्याति को धक्का लगेगा। अतएव ईंटों के भट्ठेवाला हमारा रेखाचित्र इस प्रकार के चिन्हित पदार्थ पर भी लागू हो सकता है[1]—अन्तर इतना ही है कि उनकी विक्रय-लागत स्थानान्तरण-व्यय नहीं वरन् विज्ञापन तथा विक्रेता पर किया हुआ व्यय है।

परन्तु जिस प्रश्न का उत्तर हमने अभीतक नहीं दिया है और जिसका देना आवश्यक है वह यह है कि **मूल्य का स्तर किस पर निर्भर रहता है?** कोई ईंट का भट्ठा अथवा मंजन बनानेवाला क्यों यह निश्चय करता है कि उसका मूल्य इतना होगा ?

पाठक सोचते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर तो बड़ी सरलता से दिया जा सकता है। मंजन बनानेवाले का उस पर अपना व्यापार-चिन्ह है। वह एकाधिकारी है। एकाधिकार का सामान्य रेखाचित्र (चित्र २९) उस पर लागू होगा। वह वही मूल्य रखेगा जिससे उसका लाभ अधिकतम होगा।

परन्तु उसका उत्तर इतना सरल नहीं है। माँग-वक्र यह मानकर खींचा जाता है कि निकटतम स्थानापन्न तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहते हैं। वास्तव में किसी चिह्नित पदार्थ का उत्पादक यदि अपने पदार्थ का मूल्य घटाता है तो उसके प्रतिद्वंद्वी भी अपने उत्पादों का मूल्य घटाएँगे अथवा संभव है कि वे अपना विज्ञापन अधिक कर दें। अतएव ऐसी संस्था के लिए माँग-वक्र खींचना अयथार्थ होगा। यदि वह अपना मूल्य घटा दे (अथवा बढ़ा दे) तो उसकी बिक्री पर पड़नेवाला प्रभाव इस बात पर निर्भर होगा कि उसके प्रतिद्वन्द्वी क्या करेंगे और प्रत्येक संस्था के ग्राहक उसके कितने "प्रेमी" बने रह सकते हैं।

इसका वास्तविक उत्तर, जो (केवल चिह्नित पदार्थों के क्षेत्र पर ही नहीं वरन्) औद्योगिक उत्पादन के बहुत बड़े क्षेत्र पर लागू होता है, मार्शल द्वारा दिया गया है। प्रचलित "व्यावसायिक नैतिकता" (Code of trade morality) किसी व्यवसाय-संस्था को सीमान्त लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर बेचने को वर्जित करती है। "प्रत्येक व्यक्ति को

---

१. वास्तव में कोई व्यवसाय-संस्था पहले से यह निर्णय कर सकती है कि वह विक्रय-लागत के रूप में कितना व्यय करेगी। ऐसी दशा में उसे उसके स्थिर मूल्य का एक अंश मान सकते हैं। यदि वह उसमें परिवर्तन करने को तैयार भी हो तो भी संभव है कि सीमान्त विक्रय-लागत न बढ़े। ऊपर जो इसके आगे विवेचन दिया गया है उसमें ये दोनों दशाएँ सम्मिलित हैं।

यह भय रहता है कि भविष्य में वह अपने ही ग्राहकों से अधिक मूल्य पाने का अवसर खो देगा, अथवा यदि वह किसी विस्तृत और खुले बाजार के लिए उत्पादन करता है तो उसे यह भय रहता है कि यदि वह अकारण ऐसे मूल्य पर बेचे जिससे सबके लिए बाजार-भाव बिगड़ जाय तो दूसरे उत्पादक उससे अप्रसन्न हो जायंगे।"[१] उत्पादन पर लाभ की दर—अर्थात् मूल्य निकालने के लिए औसत मुख्य लागत (Prime cost) में जोड़ा हुआ लाभ की सीमा का प्रतिशत—भिन्न भिन्न धंधों में भिन्न भिन्न होती है "क्योंकि वह उत्पादन के लिए अपेक्षित समय की अवधि और कार्य की मात्रा पर निर्भर रहती है।"[२] उदाहरणार्थ रूमाल के उत्पादक की अपेक्षा जलयान के उत्पादक को बहुत अधिक प्रतिशत जोड़ना पड़ेगा। "वास्तव में प्रत्येक व्यवसाय और प्रत्येक व्यवसाय की प्रत्येक शाखा में उत्पादन के ऊपर न्यूनाधिक मात्रा में लाभ की एक निश्चित दर होती है जिसे "उचित" अथवा प्रकृत दर कहते हैं।"[३] यह मान लेने पर कि अवस्था में अधिक परिवर्तन नहीं होता है इसका निर्णय व्यवसाय की परंपरा द्वारा होता है। "ऐसा परंपरा बहुत बड़े अनुभव का परिणाम होती है और उससे यह व्यक्त होता है कि यदि उसी दर से मूल्य लिया जाय तो उस विशेष उद्देश्य के लिए की गई सभी लागतों (मुख्य और पूरक दोनों) का उचित विचार किया जायगा और इसके अतिरिक्त उस श्रेणी के व्यवसाय में प्रकृत लाभ की दर प्रति वर्ष दी जा सकेगी। यदि वे ऐसा मूल्य लेते हैं जिससे उत्पादन पर हो सकनेवाली इस लाभ दर से बहुत कम लाभ होता है तो उनकी उन्नति होना कठिन है। और यदि वे इससे बहुत अधिक मूल्य लेते हैं तो उन्हें अपना व्यवसाय खो देने की आशंका रहती है क्योंकि दूसरे व्यवसायी उनसे कम मूल्य पर बेच सकते हैं।"[४]

इसी संबंध में संयुक्त राज्य की सेनेट की अस्थायी राष्ट्रीय आर्थिक समिति The (Temporary National Economic Committee of the United States Senate) के लिए लिखित बहुमूल्य पुस्तक "मूल्य का व्यवहार और व्यवसाय-नीति" (Price Behaviour and Business Policy, 1941) से कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा। "बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों की अपेक्षा आज मूल्य-संसार का अधिक बृहत् भाग अचेतन (Insensitive) माना जाना चाहिए" (पृ० १९)। "व्यवसायी . . . प्रायः मूल्य

१. प्रिंसिपल्स ऑफ इकनोमिक्स, आठवाँ संस्करण, पृ० ३७४।
२. वही, पृ० ३१५।
३. वही, पृ० ६१७।
४. वही।

की स्थिरता पसंद करते हैं" (पृ० २० भूमिका)। "इस प्रकार की स्थिरता धंधे में कई प्रकार के समझौतों द्वारा प्राप्त की जा सकती है" (पृ० ९)। "प्रतिस्पर्द्धी पदार्थों में पारस्परिक अन्तर की वृद्धि और विस्तार" के कारण स्पर्द्धा मूल्य-मार्ग (पृ० १०) से हट कर उत्कृष्टता (Quality), क्रिया (Performance) तथा ढंग (Style) की ओर और व्यापार-चिह्न, छाप एवं विज्ञापन के व्यवहार पर चली गई" (भूमिका पृ० २१)। परिणाम यह हुआ कि अनेक पदार्थों के मूल्य "अपेक्षाकृत स्थिर" कर दिए गए हैं। औद्योगिक उत्पादन के अधिकांश क्षेत्र का जो चित्र हमारे सम्मुख है वह अब कुछ कुछ इस प्रकार है। सीमांत-लागत घट नहीं रही है। मान लीजिए कि वह स्थिर अथवा परिवर्तनशील औसत लागत के बराबर है। सामान्य अर्थ में एकाधिकार नहीं है। नई नई व्यवसाय-संस्थाओं को धंधे में प्रवेश करने की स्वतंत्रता है। परंतु जबतक अवस्थाओं—व्यापार के ढंगों—में अधिक परिवर्तन नहीं होता, तबतक मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर रहेंगे। वे बहुत कुछ परंपरा और रिवाज पर आश्रित रहेंगे—संभवतः धंधे में कार्य करनेवाली विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं के आपसी समझौतों से पुष्ट रहेंगे। वे इसलिए स्थिर रहेंगे कि उनसे स्थिर लागत प्राप्त हो जाय और साहसी को पूँजी और उद्योग पर लाभ की "प्रकृत" दर भी प्राप्त हो जाय। मान लीजिए कि, संभवतः माँग में वृद्धि होने के कारण, उनसे अधिक लाभ होता है। तो नई व्यवसाय-संस्थाएँ उस धंधे में प्रवेश कर सकती हैं—और करेंगी—और तबतक प्रवेश करती रहेंगी जबतक मुक्त पूँजी तथा व्यापार की योग्यता द्वारा अन्यत्र की अपेक्षा उस धंधे में अधिक प्राप्ति होती रहेगी।

परन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं हो जाती। लाभ की सीमा—मार्शल का "उत्पादन पर लाभ की दर"—विस्तृत सीमा के भीतर चाहे अधिक हो या कम, फिर भी पूँजी पर अधिक नहीं केवल लाभ की "प्रकृत" दर ही प्राप्त हो सकती है। लाभ की कौन सी सीमा लाभ की यह प्रकृत दर प्रदान कर सकती है यह धंधे में "क्षमता के आधिक्य" (Excess capacity) की मात्रा पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, संभव है कि लाभ की अधिकता के कारण प्रचलित मूल्य में कमी करके पारस्परिक स्पर्द्धा किए बिना बहुत से व्यवसायी धंधे में आकृष्ट हो गए हों। परिणाम यह होगा कि "क्षमता का आधिक्य" बहुत अधिक होगा जिससे (व्यवहृत एवं अव्यवहृत) पूँजी पर प्राप्त दर केवल प्रकृत दर होगी।

जैसा कि एक लेखक ने[1] लिखा है—"धंधों की प्रचलित अवस्था

---

१. एन० कैल्डर, एक अप्रकाशित स्मृतिपत्र में।

न तो विशुद्ध स्पर्द्धा की है और न तो केवल एकाधिकार की है। यह ऐसी अवस्था है जहाँ अत्यधिक लाभ स्पर्द्धा के द्वारा लुप्त हो जाता है परन्तु ऐसी नहीं जिसमें स्पर्द्धा अपना वह पुराना रूप धारण करती है जिसमें उत्पादक अपना लाभ घटाने को विवश होते हैं। अधिकतर विक्रय-लागत और ऊपरी लागत (Overhead costs) बढ़ जाते हैं जिससे अत्यधिक लाभ लुप्त हो जाता है।"

६. जनहित कार्य (Public Utilities)

जनहित कार्य आर्थिक क्रिया का एक प्रधान अंग है। इसके अन्तर्गत ऐसे धंधे सम्मिलित रहते हैं जैसे जल, विद्युत्, गैस, टेलीफोन, रेल-यातायात, इत्यादि की पूर्ति करनेवाले धंधे। इनके लिए अपेक्षाकृत बहुत बड़े यंत्रों तथा सज्जा की आवश्यकता होती है जिससे इनकी स्थिर लागत परिवर्तनशील लागत की अपेक्षा प्रायः अधिक होती है।

इस प्रकार के धंधों में प्रायः क्षमता से कम कार्य होता है। इसका एक कारण यह है कि यदि उपर्युक्त कारखानों द्वारा किसी एक जिले में पूर्ति करनी रहती है तो तात्कालिक माँग की पूर्ति के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है उससे अधिक पूँजी एकत्र होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, दो स्थानों के बीच प्रतिदिन केवल कुछ ही गाड़ियाँ चलाने की आवश्यकता हो सकती है फिर भी उन दोनों के बीच रेल की लाइन बनाना लाभदायक हो सकता है। जहाँ एक बार स्थायी लाइन बन गई कि आवश्यकता पड़ने पर अधिक गाड़ियाँ भी चलाई जा सकती हैं। इसी प्रकार छोटे यंत्र की अपेक्षा क्षमता से कम कार्य करनेवाले किसी बड़े यंत्र से किसी पदार्थ का—जैसे विद्युत् का—निश्चित मात्रा में उत्पादन किया जा सकता है।

जनहित कार्यों में क्षमताधिक्य (Excess capacity) का दूसरा कारण यह है कि कालान्तर में माँग में परिवर्तन होता रहता है। यदि उत्पाद संचित करके रखा नहीं जा सकता (जैसे गैस रखा जा सकता है) तो चरम माँग (Peak demand) की पूर्ति करने योग्य कारखाने में, माँग घट जाने पर, अवश्य ही क्षमताधिक्य होगा।

जब एक बार यंत्र और सज्जा की स्थापना हो जाती है तब अपेक्षाकृत मंदी के समय विज्ञापन एवं अन्य प्रकार के प्रचार द्वारा माँग बढ़ाकर चरम के निकट पहुँचाई जा सकती है और यदि उससे यंत्र की क्षमता पर धक्का लगता है और सीमान्त लागत तीव्र गति से बढ़ जाती है तो चरम-स्तर घटाया जा सकता है। मूल्य-निर्धारण की विधि द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। जैसे काम का झोंक कम होने पर रेल का

किराया घटाया जा सकता है और रात में टेलीफोन का शुल्क कम किया जा सकता है। यदि रातदिन के कुछ विशेष घंटों में विद्युत् की चरम माँग होती है तो उन घंटों में व्यवहार की जानेवाली विद्युत्-धारा (Electric current) का शुल्क अधिक लिया जा सकता है।[१]

यदि यंत्र और सज्जा का व्यवहार पूर्ण क्षमता से कम होता है तो परिवर्तनशील-लागत के बढ़ने की संभावना कम रहती है। अतः प्रति इकाई सीमान्त-लागत के बराबर मूल्य में स्थायी लागत का परता नहीं पड़ेगा। दूसरे शब्दों में उससे धन्धे की संपूर्ण लागत का केवल एक अंश—संभवतः आधे से कम—की ही पूर्ति होगी। तो क्या करना चाहिए? एक उपाय तो यह होगा कि औसत पूर्ण लागत के बराबर प्रति इकाई मूल्य लिया जाय। यह प्रायः सीमान्त लागत से अधिक होगा। परन्तु समाज के हित के लिए यह आवश्यक है कि जो उपभोक्ता उस पदार्थ की अतिरिक्त इकाई की पूर्ति में लगनेवाला अतिरिक्त मूल्य देने को प्रस्तुत हैं उनकी संभाव्य माँग की पूर्ति की जाय।

इसका एक दूसरा उपाय है द्विविध-कर (Two-part tariff)। इंगलैंड में आजकल यह विद्युत् और टेलीफोन पर लागू है और बहुत-सी गैस-कंपनियाँ दिन पर दिन इसका अधिक व्यवहार करने लगी हैं। उपभोक्ता को दो प्रकार के शुल्क देने पड़ते हैं। पहला स्थायी शुल्क जो प्रायः त्रैमासिक होता है—जैसे टेलीफोन के "किराए" के रूप में शुल्क। यह शुल्क उसके उपयोग की मात्रा के अनुसार परिवर्तित नहीं होता। चाहे कोई उस सेवा का उपयोग कम करे, अधिक करे, या बिलकुल न करे, उसे यह शुल्क देना ही पड़ता है। सभी स्थिर शुल्क मिलकर उस धंधे की स्थिर लागत की लगभग पूर्ति कर देते हैं। दूसरा शुल्क उपर्युक्त सेवा की प्रति इकाई पर होता है। इससे सीमान्तलागत की पूर्ति हो जाती है।

जहाँ संभव है वहाँ शुल्क की यही विधि सामाजिक दृष्टि से सर्वोत्तम जान पड़ती है। जल के लिए परिवर्तनशील शुल्क प्रायः नगण्य होता है। जब एक बार नल सहित सब अचल पूँजी स्थापित हो चुकती है तब जल की पूर्ति करने की सीमान्त लागत बिलकुल कम हो सकती है और स्वच्छता की दृष्टि से लोगों को निःशुल्क जल का व्यवहार करने देना वांछनीय हो सकता है।[२]

---

१. इस संपूर्ण विषय पर दे० अगस्त १९४१ में "इकोनौमिका" में प्रकाशित श्री डब्ल्यू० आर्थर लुई का लेख "द टू-पार्ट टैरिफ।"

२. इसी प्रकार किसी पुल का अधिकाधिक व्यवहार होने पर भी उसकी लागत में बहुत कम वृद्धि हो सकती है। अतः (अंशतः आसपास

जनहित कार्य का धंधा रेल का पटरियों, या तारों, या नलों, या समुद्री तारों (Cables) के द्वारा किसी विशेष क्षेत्र को सेवा प्रदान करता है। उसकी "अचल पूँजी" इस कार्य के लिए विशेषीकृत (Specialized) होती है। इस कारण जनहित कार्य का धंधा एक प्रकार से स्थानीय एकाधिकार हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रायः उनके उत्पाद उपभोक्ताओं अथवा व्यवहार करनेवालों में परस्पर हस्तान्तरित नहीं किए जा सकते। इससे विभेदात्मक शुल्क (Discriminating charge) लेना संभव होता है। उदाहरणार्थ, कोई बिजली-कंपनी एक ही उपभोक्ता से उष्णता और शक्ति के लिए व्यवहृत धारा की अपेक्षा बत्ती जलाने के लिए व्यवहृत धारा के लिए प्रति इकाई अधिक शुल्क ले सकती है। (पहले प्रकार के उपयोग के लिए वैकल्पिक रूप में कोयले का व्यवहार किए जाने की संभावना के कारण उस कार्य के लिए विद्युत् की माँग अधिक लचीली हो सकती है।)

द्विविध-कर इस प्रकार की विवेचना को दूर कर देता है, फिर भी एक ही सेवा के लिए एक उपभोक्ता की अपेक्षा दूसरे से अधिक शुल्क लेना संभव हो सकता है। परन्तु रेलों के लिए द्विविध कर लेना कठिन होता है। अतः रेलें प्रायः कोयला अथवा असिद्ध खनिज (Ore) आदि भारी पदार्थों की अपेक्षा अधिक बहुमूल्य पदार्थों के लिए प्रति टन-मील अधिक किराया लेती हैं। पहली कोटि के पदार्थों के स्थानांतरण-व्यय की माँग लचीली होती है क्योंकि उनके मूल्य में स्थानान्तरण-व्यय का अनुपात अधिक होता है।

इन दोनों विशेषताओं के कारण जनहित कार्य अन्य संस्थाओं से (जैसे मोटर-कंपनी, या जहाज-कंपनी, या कोयले की खान) भिन्न होते हैं। इन्हीं कारणों से राज्य—जिनमें स्थानीय संस्थाएँ सम्मिलित हैं—या तो जनहित कार्यों पर स्वामित्व रखता और उसे चलाता है अथवा उस पर पूर्ण नियंत्रण रखता है।

राज्य प्रायः उनके शुल्क का नियंत्रण रखता है। इससे यह प्रश्न तुरत उठता है कि उन्हें कितना लाभ उठाने दिया जाय? संयुक्त राज्य में इस प्रश्न पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ है कि यदि शुल्क इतना कम रखा जाय कि वह "अपहरणीय" (Confiscatory) हो जाय—अर्थात् जनहित

की भूमि के—जिनका मूल्य पुल बन जाने से बढ़ गया हो—स्वामियों पर लगाए हुए) कर द्वारा पुल बनवाना और उसके लिए किराया न लेकर लोगों को निःशुल्क व्यवहार करने देना बुद्धिमता हो सकती है।

कार्य को उसकी संपत्ति के एक अंश से ही वंचित कर दे—तो न्यायालय द्वारा वह अवैध घोषित कर दिया जायगा। क्या किसी निश्चित शुल्क दर द्वारा इतनी आय होती है कि पूँजी पर उचित लाभ हो ? इस संबंध में विभिन्न प्रश्नों में सब से कठिन यह है कि यह कैसे निर्णय किया जाय कि पूँजी का "उचित अर्घ" (Fair value) क्या है ?

किसी "चलती व्यवसाय-संस्था" (Going concern) की पूंजी का अर्घापण (Valuation) करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि भविष्य में उसके संपूर्ण प्रत्याशित निस्तुष अर्जन (Net earning) का अर्घ निकाल लेना चाहिए। यह बहुत कठिन है। भविष्य में उस प्रकार के पदार्थ की माँग कहाँ तक बढ़ने या घटने की संभावना है ? क्या विद्यमान स्थानापन्न पदार्थों के उत्पादन की लागत घट जायगी ? यदि संस्था स्थानीय माँग की पूर्ति करती है तो स्थानीय जनता की संख्या और संपत्ति और रुचि में क्या परिवर्तन होने की संभावना है ? क्या क्रियाकल्पात्मक उन्नति से व्यवसाय-संस्था के विद्यमान यंत्र और सज्जा के पुराने हो जाने की संभावना है ? यदि है तो कब ? नवीकरण (Renewal), जीर्णोद्धार और अनुस्थापन (Replacement) करने की लागत बढ़ने की संभावना है या घटने की ? भावी निस्तुष अर्जन का अनुमान लगाने के पूर्व इन तथा इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर देने की आवश्यकता है, और फिर जिस व्याज-दर पर पूँजी का अर्घापण किया जायगा उसका भी निर्णय कर लेना चाहिए।

परन्तु जनहित-कार्य में पूँजी का अर्घापण बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि राज्य उसे जितना मूल्य रखने देगा उसी पर उसका भावी अर्जन निर्भर रहेगा, अतः उस मूल्य का निर्धारण करने के लिए उसी को आधार नहीं मान सकते।

न तो वंट-विनिमय (Stock Exchange)) में इसके हिस्सों का संपूर्ण अर्घ ही आधार माना जा सकता है क्योंकि इसके द्वारा भी प्रत्याशित भावी अर्जन का अनुमान लगेगा। इसीसे संयुक्तराज्य में नियामक संस्थाओं (Regulatory bodies) को विवश होकर यंत्र और सज्जा की लागत को आधार मानना पड़ा है। तब तुरत यह प्रश्न उठता है कि क्या मौलिक लागत का विचार किया जाय या अनुस्थापन लागत का? दोनों में महान् अंतर हो सकता है। विद्यमान यंत्र और सज्जा जिस समय खरीदे और स्थापित किए गए थे उसकी अपेक्षा उसीके समान यंत्र और सज्जा का वर्तमान मूल्य बहुत अधिक हो सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य उलझनें भी हैं। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि विद्यमान यंत्र यद्यपि जीर्ण नहीं हुआ है फिर भी लगभग दिनातीत (Out of date)

हो गया है और शीघ्र ही उसके स्थान पर नवीनतर यंत्रों की स्थापना होनी चाहिए। अन्तःराज्यीय व्यापार-आयोग ((Interstate Commerce Commission) ने रेल-मार्गों का अर्घापण करने में वर्षों का समय और करोड़ों डालर द्रव्य व्यय किया, फिर भी निश्चित रूप से ऐसा अर्घापण नहीं कर सका जो न्यायालय के समक्ष टिक सके। यह घटना इस बात की साक्षी है कि इस कार्य में कितनी कठिनाइयाँ हैं।[1]

हम इन प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। परन्तु एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि आर्थिक विषयों में जो बोता सो बोता। विद्यमान साधनों का मूल अथवा उनकी मौलिक-लागत कुछ भी हो उनका सर्वोत्तम उपयोग करना ही आर्थिक समस्या है। संभव है कि अन्य दिशाओं में क्रियाकल्पात्मक उन्नति होने से किसी रेल या गैस-कंपनी की संपत्ति की अर्जन-शक्ति घट जाय। कोई कारण नहीं है कि रेल या गैस-कंपनी के हिस्सेदारों के लाभ के लिए राज्य की ओर से सड़कों के यातायात अथवा विद्युत् के उपयोग पर किसी प्रकार का नियंत्रण लगाया जाय। उन्होंने अपने आप जोखिम (Risk) उठाया। यदि राज्य के नियमों से वे अपने प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में दंडित नहीं किए जाते तो आशा से कम आय होने पर उन्हें शिकायत करने का कोई आधार नहीं है।

७. मध्यजन (Middlemen)

मध्यजन प्रायः अप्रिय व्यक्ति होता है। उत्पादक समझता है कि मध्यजन जो कार्य करता है उसकी तुलना में उसे बहुत अधिक आय होती है। उपभोक्ता जब यह सोचता है, कि कोयले की खान पर प्रति टन जिस भाव से कोयला मिलता है उसका लगभग दूना मूल्य उसे देना पड़ता है, अथवा फलों का उत्पादक जो मूल्य पाता है उसका तिगुना मध्यजन उससे लेता है, तब वह यह सोचने लगता है कि यदि मध्यजन न रहें तो उसे सब चीजें बहुत सस्ती मिलें।

कभी-कभी ऐसी धारणा निराधार नहीं होती। फुटकर बिक्री के कुछ पक्ष, जिसका वर्णन हम आगामी विभाग में करेंगे, प्रायः अपव्यय कहे जाते हैं। एकाधिकार की स्थिति में यातायातवाली कोई संस्था किराए की दर अत्यधिक ऊँची कर सकती है। व्यवसाय के कुछ क्षेत्रों में थोक विक्रेता एक "गुट" (Ring) बनाकर अपनी सेवाओं के लिए बहुत अधिक शुल्क ले सकते हैं।

---

१. ए० एल० मेयर्स—एलिमेंट्स ऑफ मौडर्न इकनौमिक्स, पृ० २६२। विशेषतः अपूर्ण स्पर्द्धा के विषय में यह पुस्तक बहुत उत्तम है।

फिर भी अधिकतर मध्यजन उपयोगी कार्य करते हैं। यदि न करते तो उनका अस्तित्व ही न रहता। उत्पादक सीधे दूकानदारों या जनता के हाथ बेच कर उन्हें हटा देतें और संभवतः दोनों मिलकर इस कार्य के लिए सहकारी-संघ (Co-operative associations) बना डालते (जिस प्रकार बहुत-से देशों में किसानों के दलों ने किए हैं)।

मध्यजन का एक कार्य तो यह है कि वे उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को संपर्क में लाकर उनके समय और परिश्रम की बचत करते हैं। दूसरा यह हो सकता है कि वे पदार्थों का वर्गीकरण करते हैं। इससे उपभोक्ताओं को अपनी रुचि को तुष्ट करने और उत्पादकों को अधिक मूल्य प्राप्त करने में सहायता मिलती है। प्रायः महामात्रा में यह कार्य बहुत सस्ते में हो सकता है। कभी-कभी कोई विशिष्ट संयोग (Combination) बनाने के लिए किसी वस्तु के—जैसे चाय या तंबाकू के—विभिन्न भेदों को वह एक साथ मिला सकता है। एक अन्य कार्य संग्रह करने का हो सकता है जिसमें यह आशंका रहती है कि वह चोरी न चला जाय अथवा जल न जाय अथवा किसी अन्य प्रकार से नष्ट न हो जाय (जैसे चूहे या घुन खा जायँ), अथवा उनका मूल्य गिर जाय। यदि फुटकरिए थोकवालों से अपने संग्रह की पूर्ति कर सकें तो उन्हें और उत्पादकों को अधिक संग्रह न रखना पड़े। मध्यजन इन सब कार्यों का विशेषज्ञ होता है।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि यदि थोकवालों के बिना काम चलाना हो और सीधे फुटकरियों के हाथ बेचना हो तो उत्पादक को क्या करना चाहिए? सबसे पहले तो उसे फुटकरियों को जानना होगा, प्रत्येक की आवश्यकताएँ और उनकी आर्थिक स्थिति जाननी पड़ेगी। फिर कभी-कभी फुटकरियों के पास जाकर माल का नमूना दिखाने और आदेश प्राप्त करने के लिए उसे कुछ बेचनेवाले सहायक रखने पड़ेंगे। थोक-विक्रेता ही प्रायः यह करता है। परन्तु वह अनेक भिन्न-भिन्न उत्पादकों का माल बेचता है जिससे, प्रत्येक उत्पादक के अपना पृथक् विक्रेता रखने की अपेक्षा कम विक्रेताओं की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त संभव है कि फुटकरिए को यह प्रणाली अधिक पसंद हो। उदाहरणार्थ लोहे का विक्रेता लोहे के अनेक प्रकार के सामान बेचता है; वह प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न उत्पादकों के अनेक विक्रेताओं से मिलने और उनसे सौदा करने में अपना समय नहीं गँवाना चाहता। वरन् वह किसी ऐसे थोक-विक्रेता से लेन-देन करना चाहता है जो एक साथ ही विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं द्वारा उत्पन्न विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का संकलन (Assortment) उसे बेच सके। फिर, मान लिया कि बर्मिंघम का कोई उत्पादक लंदन के २०० फुटकरियों के लिए माल तैयार करता है।

यदि वह उनसे सीधे लेन-देन करता है तो उसे २०० पार्सल पृथक्-पृथक् भेजने पड़ते हैं; परन्तु यदि वह किसी एक थोक विक्रेता के पास केवल एक ही पार्सल भेजे तो पार्सल बाँधने का व्यय और स्थानांतरण की लागत बहुत कम हो जाय। मितव्ययता की इतिश्री यहीं नहीं हो जाती; यह सच है कि थोक-व्यापारी इस एक पार्सल को कभी-न-कभी खोलकर २०० पृथक्-पृथक् पार्सल बनाएगा। वह अन्य उत्पादकों से भी अन्य वस्तुओं के अनेक पार्सल प्राप्त करता है जिससे कि इतने पर भी वह प्रत्येक फुटकरिए के पास अपेक्षाकृत बड़ा पार्सल भेज सकता है। स्थानान्तरण की यह बचत ही माल के अनेक हाथों में जाने का मुख्य कारण है। ऊपर से तो यह अपव्यय जान पड़ता है परन्तु संभवत: यही सब से सस्ती विधि है।

अत: जबतक कि किसी उत्पादक का उत्पादन इतना अधिक नहीं है कि उसके सभी विक्रेता पूर्णरूप से व्यस्त रहें, और जबतक उसका उत्पादन कोई ऐसा चिह्नित (Branded) पदार्थ नहीं है जिसके वर्गीकरण अथवा मिश्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती, और (कोयले के विपरीत) उसका प्रति टन मूल्य अधिक न हो जिससे स्थानान्तरण का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो, तबतक सीधे फुटकरियों के हाथ माल बेचने में उसे कोई लाभ न होगा।

इसके अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि कुछ उत्पादकों की अपनी दूकानें होती हैं अथवा विज्ञापन के लिए विशेष रूप से फुटकर बेचनेवाले उनके एजेंट होते हैं। वे अपने उत्पादों को केवल अपनी दूकानों अथवा अपने विशेष एजेंटों से ही प्राप्य रखते हैं जिससे लोगों को विश्वास हो कि उनके उत्पाद "अपने ढंग के अनूठे" और विशिष्ट प्रकार के हैं। अथवा उन्हें यह आशंका हो सकती है कि प्रतिस्पर्द्धी पदार्थों के विक्रेता फुटकरिए उनके पदार्थों को पर्याप्त रूप से आगे नहीं बढ़ाते"। अत: वे सीधे उपभोक्ता के हाथ बेचते हैं, यद्यपि इससे माल की विक्रय-लागत बढ़ जाती है।

यह स्मरण दिलाना मनोरंजक होगा कि १९३० में रूस की सरकार ने अपनी थोक-विक्रेता संस्थाओं को तोड़ देने का निश्चय किया। कारखाने सीधे फुटकरिए सहकारी-संघों को माल बेचने लगे। परन्तु इससे प्रत्येक कारखाने को अपने सभी फुटकरियों से संपर्क बनाए रखना और थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वस्तुएँ प्रदान करना कठिन हो गया। दो ही वर्षों के भीतर फिर से थोक-संस्थाएँ स्थापित हो गईं और यह मान लिया गया कि उनके द्वारा बहुत महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य होता है।

अत: हमारा निष्कर्ष यह है कि साधारणत: मध्यजन उपयोगी कार्य करते हैं और "वितरण की शृंखला" की लंबाई उपभोक्ता के लिए मूल्य बढ़ाने के बदले प्राय: घटाती है।

८. फुटकर व्यापार

इंग्लैंड में, युद्ध के ठीक पहले बीस लाख से ऊपर व्यक्ति फुटकर व्यापार में लगे हुए थे। सब दूकानों की संख्या साढ़े सात लाख के आस-पास थी—अर्थात् प्रति ६९ व्यक्ति पर एक दूकान थी। (चौकीदार और संदेशवाहक बालकों को छोड़कर) दूकान पीछे औसत दो सहायक थे; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उनमें महान् विभिन्नताएँ थीं। पाँच या दस लाख पौंड प्रतिवर्ष की विक्रीवाला विभागीय भंडार (Department store) बहुत से व्यक्ति अधियुक्त करता है परन्तु अधिकांश छोटी-छोटी "साधारण" (General) दूकानें एक भी व्यक्ति नहीं रखतीं।

दूकानों की संख्या बेची जानेवाली वस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न थी; पंसारियों और खाद्य पदार्थों की दूकानें एक लाख के लगभग, कपड़े की दूकानें ७५ हजार के लगभग, और रासायनिकों की केवल दस हजार दूकानें थीं।

संपूर्ण फुटकर विक्री प्रति वर्ष २०० करोड़ पौंड से ३०० करोड़ पौंड के बीच थी। इसमें से संभवतः एक चौथाई विभागीय भंडारों, विविध पदार्थों की दूकानों (Multiple shops) और सहकारी समितियों की विक्री थी। बहुसंख्यक निजी दूकानें नहीं, वरन् ये ही दूकानें मूल्य को गिराए रखने और नए-नए मार्ग निकालने में प्रयत्नशील थीं। वे इतनी प्रबल थीं कि अपनी नीति बर्त सकती थीं। बहुत-सी छोटी दूकानें केवल चिह्नित और राष्ट्र द्वारा विज्ञप्त (Nationally-advertised) वस्तुएँ, उत्पादकों द्वारा निर्धारित मूल्य पर, बेचती थीं।

लाभ की मात्रा (Retail mark-up), संग्रह में किसी वस्तु के पड़े रहने की अवधि और उस अवधि में उसके नष्ट होने अथवा उपभोक्ता की दृष्टि में उसका मूल्य गिर जाने की आशंका पर निर्भर थी और भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न थी। इस प्रकार संयुक्तराज्य में, जहाँ १९३० में वितरण की गणना (Census of Distribution) हुई थी फुटकर बेचने की लागत से फुटकर मूल्य का औसत अनुपात पंसारी के व्यापार में, जिसमें विक्री जल्दी-जल्दी होती है, १७ प्र० श० था; परन्तु रत्नों के व्यापार में, जहाँ विक्री बहुत मंद गति से होती है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु का औसत मूल्य अधिक होता है, औसत अनुपात ३५ प्र० श० था। फलों में, जिनमें उतनी ही तीव्र-गति से विक्री होती है जितनी पंसारी के व्यापार में, अनुपात २५ प्र० श० था। इसका कारण यह था कि फल जल्दी खराब हो जाते हैं। स्त्रियों के पहनावों के व्यापार में यह अनुपात ४ प्र० श० था।

कुछ दूकानें, जैसे बड़े-बड़े विभागीय भंडार और श्रृंखला-भंडार (Chain stores) अनेक प्रकार की वस्तुएँ बेचते हैं। दृष्टांत के लिए हम एक विभागीय भंडार को लेते हैं। यह एक ऐसी संस्था है जो अनेक प्रकार के पदार्थ बेचती है। उसकी समस्या यह है कि वह अपने निर्वहणीय निस्तुप आय (Maintainable net revenue) को किस प्रकार अधिकतम करे। यदि वह चाहे तो अपनी भविष्य की बिक्री मार कर और एक ही समय घटे मूल्य पर बेच कर अपनी बिक्री बढ़ा सकता है। उसे ध्यान रखना चाहिए जो वस्तुएँ वह बेचता है उनमें से कुछ परस्पर पूरक हैं, उदाहरणार्थ बिछौना और चटाई, जिससे दोनों पर १० प्र० श० की कटौती करने का परिणाम केवल एक पर २० प्र० श० कटौती की अपेक्षा श्रेष्ठतर होगा। उसे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो वस्तुएँ वह बेचता है उनमें से बहुत सी परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हैं। मान लिया जाय कि उसका लेन-देन उन नियमित ग्राहकों से है जो अपने द्रव्य का अधिकांश उसीसे क्रय करने में व्यय करते हैं। वह एक विभाग में मूल्य घटा सकता है जिसके फलस्वरूप उस विभाग की आय बढ़ जायगी परन्तु इसका परिणाम यह हो सकता है कि दूसरे विभागों की आय घट जाय। उदाहरणार्थ यदि मोजे और दस्ताने अधिक सस्ते और आकर्षक बनाए जायँ तो स्त्रियाँ भोजन अथवा अन्य आवश्यकताओं पर कम व्यय करके उनपर अपना व्यय बढ़ा सकती हैं। हम लिख चुके हैं कि भंडारों में ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कोई विभाग—जैसे एक जलपान-गृह अथवा पुस्तकालय—घाटे पर चलाया जा सकता है। एक और भी ढंग है कि कोई प्रसिद्ध वस्तु प्रचलित मूल्य से कम पर प्रदर्शन के लिए रखी जाय। इससे यह आशा की जाती है कि ग्राहक जब उसे खरीदने आएँगे तो और भी बहुत-सी चीजें खरीदेंगे। इस प्रकार का माल "घाटे का अगुवा" (Loss leader) कहलाता है। यह प्रथा अमेरिका में इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक प्रचलित है।

कुछ दूकानें, विशेषतः, इधर के कुछ वर्षों में, सब प्रकार की अतिरिक्त सुविधाएँ और सेवाएँ प्रदान करती रही हैं, जैसे माल पहुँचाना, उधार देना, विश्राम के लिए स्थान देना, इत्यादि। परन्तु जो ग्राहक सस्ते में चीजें खरीदना चाहते हैं, उन्हें "चोखा सौदा नगद दाम" (Cash and carry) वाली दूकानों से खरीदना चाहिए।

एक महत्त्वपूर्ण समस्या पुनर्विक्रय मूल्य-निर्वाह (Resale price maintenance) की है। निःसंदेह यह चिन्हित वस्तुओं पर, जो देश में विज्ञप्त रहती हैं, अधिक लागू होता है, उदाहरणार्थ सिगरेट, पेटेंट दवाएँ, और श्रृंगार की सामग्रियाँ। लोग सोच सकते हैं कि उत्पादक को "मूल्य

में कमी" (Cut prices) का स्वागत करना चाहिए क्योंकि वह (थोक विक्रेता से) प्रति वस्तु वही मूल्य पाता है; परन्तु उसकी बिक्री अधिक होती है। ग्राहक भी ताजा माल पाते हैं। जो दूकानें "मूल्य में कमी" करती हैं उनकी बिक्री बढ़ जाती है और उन्हें बिना काम के बैठे कम रहना पड़ता है।

परन्तु अन्य दूकानें, इस पर आपत्ति करती हैं। उदाहरणार्थ, किसी छोटे शहर में यदि कोई एक दूकानदार कम मूल्य पर सिगरेट बेचता है तो वहाँ के शेष सभी सिगरेट विक्रेता मिलकर उसका विरोध कर सकते हैं और उत्पादक को धमकी दे सकते हैं कि जबतक उस दूकानदार को माल देना बंद नहीं कर दिया जायगा तबतक वे माल नहीं मँगाएँगे। अधिकतर उत्पादक सहमत हो जाते हैं। व्यापार नियंत्रण समिति ने (The Committee on Restraint of Trade, 1931) यह तर्क स्वीकार कर लिया था कि "यदि कोई उत्पादक किसी चिह्नित वस्तु को किसी निश्चित मूल्य पर विज्ञप्त करता है और फुटकरिए, अपने स्वार्थ के लिए थोड़े समय के लिए उसे कम मूल्य पर बेचने लगें तो सर्वसाधारण पर उसका यह प्रभाव पड़ेगा कि उस चिह्नित वस्तु की ख्याति (Goodwill) नष्ट हो जायगी।" संयुक्तराज्य में राज-नियम द्वारा न्यूनतम पुनर्विक्रय मूल्य (Resale prices) लागू किए गए हैं। अस्थायी राष्ट्रीय आर्थिक समिति (The Temporary National Economic Committee, 1941) इस प्रकार के नियम के सर्वथा विरुद्ध है।

इससे हम फुटकर बिक्री के मुख्य प्रश्न—अपूर्ण स्पर्द्धा और क्षमताधिक्य (Excess capacity)—पर पहुँचते हैं। एक नई दूकान खोल लेना सरल कार्य है। उसके लिए मकान किराए पर मिल सकता है, माल उधार लिया जा सकता है। अपेक्षित पूँजी को टिकाऊ और विशिष्ट यंत्रों में फँसाने की आवश्यकता नहीं है; इसकी पूँजी तो व्यापार करने योग्य माल है जो कुसमय पड़ने पर प्रायः थोड़ी ही हानि उठाकर बेच दिया जा सकता है। ऐसा प्रायः कहा जाता है कि इससे दूकानों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि बहुत सी दूकानों में क्षमताधिक्य होता है—अर्थात् उन्हीं कर्मचारियों से अपेक्षाकृत अधिक ग्राहकों से लेन-देन किया जा सकता है।

अधिक दूकानों का अर्थ यह नहीं होता कि मूल्य गिर जायगा। फुटकर बेचने की क्षमता में वृद्धि होने से लाभ की मात्रा घट जाने की संभावना भी कम है, वरन् उसमें वृद्धि हो सकती है। स्पर्द्धा अपूर्ण है। मार्शल का कथन है, "जब कोई फुटकरिया एकबार अच्छे संबंध स्थापित कर लेता है तो वह सर्वदा कुछ सीमा तक स्थानीय एकाधिकार प्राप्त

कर लेता है।"[1] प्रायः प्रत्येक दूकान के लिए ऐसे ग्राहकों का एक समूह होता है जो पर्याप्त मात्रा में उसके "प्रेमी" होते हैं। संभव है उसकी स्थिति उनके लिए सुविधाजनक हो, या वह उन्हें उधार सौदा देती हो, या वह स्थानीय लोगों के गपशप का केन्द्र हो। संभव है वे उसके माल के टिकाऊपन अथवा अन्य आवश्यक गुणों के कारण उस पर अधिक विश्वास करते हों। यह भी संभव है कि किसी अन्य दूकान पर उस दूकान की अपेक्षा कम मूल्य देना पड़े फिर भी वे उससे इसलिए खरीदते हैं कि मोलभाव करने और उतम सौदा पाने के लिए अधिक समय लगाना या कष्ट उठाना उन्हें पसंद नहीं है। आजकल जिस मात्रा में वस्तुएँ चिह्नित की जा रही हैं और उत्पादकों द्वारा निर्धारित मूल्य पर सर्वत्र बेची जा रही हैं उससे स्पष्ट हो यह प्रवृत्ति और भी पुष्ट होती जा रही है।

जिन कारणों से नई दूकानें अधिकतर मूल्य घटाकर चीजें नहीं बेचतीं वे एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किए जा सकते हैं। मान लीजिए कि किसी लंबी सड़क के दोनों छोरों पर एक-एक मोदी की छोटी दूकान है और कोई तीसरा व्यक्ति उसके बीच में एक नई दूकान खोलता है। उसे विश्वास है कि उसके प्रतिस्पर्द्धियों की अपेक्षा निकटतर रहनेवाले कुछ ग्राहक उसे अवश्य मिल जाएँगे। तो क्या मूल्य घटाना उसके लिए लाभकर होगा? कुछ क्षेत्रों में तो वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि संभव है कि उत्पादक उसे माल देना बंद कर दें। यदि अन्य क्षेत्रों में वह मूल्य कम भी कर दे तो भी संभवतः वह उन दोनों दूकानों के कुछ ही ग्राहकों को आकर्षित कर सकेगा क्योंकि उनमें से अधिकांश अपनी-अपनी दूकान से संबंध नहीं तोड़ेंगे। इसके अतिरिक्त उसे यह भी आशंका हो सकती है कि उसकी देखादेखी शेष दो दूकानदार भी मूल्य घटा दें; यदि ऐसा होगा तो तीनों ही की दशा शोचनीय हो जायगी। इससे अच्छा होगा कि वह "जियो और जीने दो" की नीति का अवलंबन करे। अतः बहुत संभव है कि वह प्रचलित मूल्य और लाभ की सीमा को स्वीकार कर लेगा। उस व्यवसाय में उसके प्रवेश का परिणाम यह होगा कि क्षमताधिक्य बढ़ जायगा। पहले जो कार्य दो दूकानें करती थीं वही अब तीन दूकानें करेंगी।

९. अपूर्ण स्पर्द्धा का सामाजिक परिणाम

हमारे पर्यवलोकन से यह पता चला है कि आर्थिक क्रिया के अधिकांश

१. "मेमोरियल्स ऑफ अल्फ्रेड मार्शल", पृष्ठ ३५३, में प्रकाशित "रिटेल प्राइसेज" (फुटकर मूल्य) नामक लेख।

क्षेत्रों में स्पर्द्धा किसी प्रकार पूर्ण नहीं कही जा सकती। नियंत्रण की योजनाओं और साधारण अर्थ में एकाधिकार के अतिरिक्त लाभ की सीमा को बनाए रखने और मूल्य में स्पर्द्धा से बचने के लिए, नियमित अथवा आपसी समझौते, विशेषतः उत्पादन और फुटकर बिक्री के क्षेत्र में, बहुत प्रचलित हैं। एकाधिकार के आर्थिक प्रभाव पर हम जो कुछ लिख चुके हैं[1] उसमें इतना विवेचन और जोड़ देना आवश्यक है कि इस प्रकार के समझौते समाज की दृष्टि से कहाँ तक अवांछनीय हैं। संक्षेप में हम इस पर भी विचार करेंगे कि इन समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज को किस प्रकार की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

क्षमताधिक्य कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है और प्रायः इससे कुछ लाभ भी होते हैं जिनसे साधनों का जो अपव्यय जान पड़ता है वह बहुत कुछ कम हो जाता है। कुछ दृष्टान्त लीजिए।

हम पहले ही बता चुके हैं कि क्षमता से कम कार्य करनेवाला कारखाना फिर भी किसी छोटे कारखाने की अपेक्षा, जो क्षमतापूर्वक कार्य करता है, कम लागत पर उत्पादन कर सकता है। इसका कारण है "अविभाज्यता"। अपेक्षाकृत बड़ा कारखाना किसी-न-किसी कारण से अधिक कुशल होता ही है; उससे छोटा जो बनाया जा सकता है वह मात्रा की मितव्ययता की दृष्टि से उतना लाभदायक न होगा।

कोई यात्री-जलयान जितने यात्री या माल सुविधापूर्वक ले जा सकता है प्रायः उससे कम ले जाता है। परन्तु संभाव्य यात्री पहले से जानते हैं कि जहाज कब प्रस्थान करेगा; अतः उसके अनुसार वे अपना कार्यक्रम बना सकते हैं।

कुछ वस्तुओं के व्यवहार की आवश्यकता किसी विशेष समय अथवा कुछ विशेष ऋतुओं में पड़ सकती है। सड़कों पर जलनेवालील लटेनें केवल रात को जलती हैं परन्तु उनका रखना अपव्यय नहीं कहा जा सकता इसी प्रकार खेत काटनेवाला यंत्र, जो प्रायः सालभर बेकार पड़ा रहता है, व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। कुछ वस्तुओं का व्यवहार निरंतर नहीं होता परन्तु उनका रखना सुविधाजनक होता है जिससे आवश्यकता पड़ने पर वे प्राप्य हो सकें। घर-गृहस्थी में इस प्रकार की बहुत-सी चीजें होती हैं, जैसे स्नान-घर, सिलाई की मशीन और घर के बर्तन। इसी प्रकार व्यवसाय-संस्थाएँ कुछ वस्तुएँ रखना आवश्यक समझती हैं। संभव है उनमें से कुछ का व्यवहार अपेक्षाकृत बहुत कम होता हो परन्तु जब उनकी आवश्यकता पड़ती है तो संभव है कि वह आवश्यकता अत्यंत अनिवार्य हो।

प्राप्यता (Availability) का यह सिद्धांत दूकानों पर बिक्री के लिए रखे गए उन सहायकों पर भी लागू होता है जिनके लिए सदा काम

---

१. अध्याय १५, विभाग ६।

नहीं रहता। ग्राहक को पंक्ति में खड़ा रखने, या सौदा लेने के लिए देर तक रोककर फिर जल्दी में उसे निबटा देने के बदले यदि शिष्टता और नम्रतापूर्वक उसकी माँग तुरत पूरी की जाय तो वह अधिक संतुष्ट रहता है।

देखने में समान, परन्तु प्रतिस्पर्द्धी वस्तुओं का विज्ञापन करने में जो धन लगाया जाता है वह अपव्यय जान पड़ता है। कुछ क्षेत्रों में किसी चिह्न या निर्माता के नाम के विना विकनेवाली वस्तुओं की अपेक्षा उसीके समान परन्तु अधिक विज्ञप्त वस्तुएँ महँगी होती हैं। उदाहरणार्थ, बेयर का ऐस्पिरिन (Bayer Aspirin), जो फुटकर ७५ सेंट प्रति औंस विकता था, "प्राइस बिहेवियर ऐंड बिजनेस पौलिसी" नामक पुस्तक के मत से वही पदार्थ है जो "ऐसिटिल-सैलिसिलिक ऐसिड" कहलाता है और १३ सेंट प्रति औंस विकता है। परन्तु किसी बहुविज्ञप्त पदार्थ के व्यवहार से उपभोक्ता को प्रायः अत्यधिक संतोष प्राप्त होता है, यद्यपि रासायनिक दृष्टि से उसी के समान कोई दूसरा पदार्थ वैसा ही "गुण-कारी" परन्तु सस्ता हो सकता है। समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की अधिकांश आय विज्ञापनों से होती है; इसी से वे पाठकों को, जो संभवतः विज्ञापन देखना पसंद करते हैं, बहुत कम मूल्य पर दी जाती हैं।

एक गली में कई फेरीवालों द्वारा दूध के वितरण की प्रायः आलोचना की जाती है। परन्तु संभव है कि भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओं को भिन्न-भिन्न गोशालाओं का दूध पसंद हो; क्योंकि सभी का दूध एक सा नहीं होता। फिर दूध की आवश्यकता सब को भिन्न-भिन्न समयों पर होती है, कोई-कोई फेरीवाले भी किसी-किसी को बहुत प्रिय होते हैं।

इसी प्रकार के अनेक दृष्टांत दिए जा सकते हैं। अपूर्ण स्पर्द्धा में कुछ साधनों का अपव्यय होता ही है। यही सब का सारांश है। युद्धकाल में युद्धकार्य के लिए श्रम तथा अन्य साधनों की बड़ी प्रबल आवश्यकता रहती है; अतः उनका दुरुपयोग अथवा क्षमता से न्यून उपयोग न होना चाहिए। परन्तु शांति के समय उपभोक्ताओं को अधिकार है कि वे "अपव्ययात्मक" (Wasteful) विधियों से अपने सुविधानुसार कार्य करने की अपनी स्वतंत्रता का पूरा उपयोग करें।

शान्तिकाल में राज्य को इन सब विषयों में क्या करना चाहिए? निःसंदेह यह एक विवादास्पद प्रश्न है। आगे जो कुछ व्यक्त किय जायगा वह मेरा व्यक्तिगत मत है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नए प्रवेशकों, नई विधियों और नए विचारों के लिए द्वार खुला रहना चाहिए, उनपर किसी प्रकार का विशेष कर या दंड नहीं लगाना चाहिए। संयोजना (Planning), या वैज्ञानिक गठन (Rationalisation), या सहसंबंधन (Co-ordination)

अथवा नियमित विक्रय के नाम पर राज्य को उनका नियंत्रण करने अथवा दंड देने का प्रलोभन हो सकता है। संभव है, कि उसका विश्वास हो कि इस प्रकार के नियंत्रण अथवा दंड से कोई धंधा "अधिसंपृक्त" (Over-saturated) होने से बच जायगा और क्षमताधिक्य तथा अपव्यय रोकने में सहायता मिलेगी।

वास्तव में वे एकाधिकार की शक्ति के सब से प्रबल अंकुश—प्रवेश की स्वच्छन्दता—को नष्ट कर देंगे। वे उपभोक्ता की आवश्यकताओं की अधिक संतोषजनक पूर्ति को रोक देंगे; उनके कारण नवीन और श्रेष्ठ-तर विधियों का उद्‌भव विलंब से होगा; उन्नत क्रियाकल्पों का उपयोग रुक जायगा।

कभी-कभी लाभ की सीमा घटा दी जाती है। मार्शल लिखते हैं कि "व्यापार की विधियों में परिवर्तन के फलस्वरूप ये दरें बराबर बदलती रहती हैं; ये विधियाँ प्रायः उन व्यक्तियों द्वारा प्रारंभ होती हैं जो उत्पादन पर परंपरागत लाभ-दर की अपेक्षा कम लाभ पर—परन्तु अपनी पूँजी पर प्रतिवर्ष अधिक लाभ की दर से—अधिक व्यापार करने के इच्छुक रहते हैं।"[1] श्री हेनरी फोर्ड आते हैं और मोटर-उत्पादन की विधियों में क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं। वे प्रत्येक मोटर पर अपेक्षाकृत कम लाभ लेकर और अपेक्षाकृत कम मूल्य पर बहुत बड़ी संख्या में मोटरें बेचकर—जो अधिक मात्रा में उत्पादन करने तथा बहुत लचीली माँग के कारण संभव हो सका है—करोड़पति बन जाते हैं। "व्यापार की विधियों" में परिवर्तन का ऐसा ज्वलन्त उदाहरण, जैसा उनका है, कम देखने में आता है। परन्तु जो व्यक्ति जलपान-गृह खोलता है, जो ठेलेवाला लौटती मात्रा के लिए कम किराया लेता है, जो मोटरवाला एक ही "फुटबौल-मैच" देखने के लिए जानेवाले पाँच व्यक्तियों को एकत्र कर लेता है, जो लेखक अपनी पुस्तक का मूल्य कम रखता है—वे सभी अपने-अपने ढंग से उसी प्रकार का कार्य कर रहे हैं। राज्य को न तो प्रवेश निषिद्ध करना चाहिए, न उत्पादन पर नियंत्रण रखना चाहिए और न न्यूनतम मूल्य निर्धारित करना चाहिए; और यदि किसी व्यापार-संघ द्वारा इस प्रकार के नियम लागू किए गए हों तो राज्य को उनपर अपनी अनुमति नहीं प्रदान करनी चाहिए। प्रथा और परंपरा द्वारा लाभ की मात्रा और मूल्य चाहे कुछ काल तक स्थिर बने रहें परन्तु आर्थिक क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में नवागन्तुकों तथा नवीन उद्‌भावनाओं के लिए द्वार खुला रखा जा सकता है।

"भिन्नता स्थापन" (Differentiation) का महत्त्व घटाने या उसकी

१. प्रिंसिपल्स औफ इकनौमिक्स, पृ० ६१७।

सीमा निर्धारित करने के विषय में भी राज्य बहुत कुछ कर सकता है। उदाहरणार्थ वह किसी भी व्यक्ति को किसी पेटेंट के लिए उसके स्वत्वाधिकारी को उचित 'रायल्टी' देकर उसका व्यवहार करने की स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है। व्यापार-चिह्नों अथवा स्वत्वाधिकार-प्रदर्शन के अन्य चिह्नों को उसे अत्यधिक वैध (Legal) रक्षण नहीं देना चाहिए। उसे विज्ञापन करना दंडनीय नहीं बनाना चाहिए, नहीं तो नवीन आविष्कार एवं नए अवसर और मूल्य में कमी पर सर्वसाधारण का ध्यान भला किस प्रकार आकृष्ट किया जा सकता है? परन्तु विज्ञापकों द्वारा झूठ और भ्रामक विज्ञापन देना अपराध घोषित कर देना चाहिए। उसे चाहिए कि किसी पेटेंट दवा के मूल तत्वों का उसके आवरण या बोतल के ऊपर स्पष्ट रूप से उल्लेख करना अनिवार्य कर दे। उपभोक्ताओं के हित के लिए, भिन्न-भिन्न वस्तुओं के स्वत्वाधिकार का निर्णय करने के लिए, उसे एक अनुसंधान समिति (Research Council) की स्थापना करनी चाहिए।

अपूर्ण स्पर्द्धा के होते हुए भी आर्थिक प्रणाली की कार्यविधि बहुत बुरी नहीं है। ग्रेटब्रिटेन में १९०७ से १९२४ के बीच उत्पादक-धंधों में प्रतिजन घंटे औसत उत्पादन में २८ प्र० श० की और १९२४ से १९३६ के बीच ३२ प्र० श० की वृद्धि हुई। अन्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार की —यद्यपि सर्वत्र इतनी ज्वलन्त नहीं—प्रगति हुई। साधारण निर्वाह-स्तर में पर्याप्त वृद्धि हुई। यदि राज्य बेकारी की समस्या सुलझा सके और नियंत्रण की नीति का पोषण और समर्थन करने के बदले साहसपूर्ण कार्यों को करने तथा नया मार्ग अपनाने के लिए मार्ग खुला रखे तो भविष्य में युद्धोत्तरकालीन नवनिर्माण के पश्चात् भी यही प्रवृत्ति बनी रहेगी।

सत्रहवाँ अध्याय

मजदूरी

१. प्रस्तावना

प्रस्तुत अध्याय बहुत लंबा है, अतः जिस क्रम से भिन्न-भिन्न विषयों का विवेचन हुआ है उसका उल्लेख करते हुए आरंभ करना उपादेय होगा।

निम्नांकित विभाग में उन कारणों का विवेचन किया गया है जिनसे एक मजदूर दूसरे की अपेक्षा, जो ठीक उसी प्रकार का कार्य करता है, अधिक किस प्रकार अर्जन कर सकता है; अर्थात् इसमें किसी व्यवसाय में अर्जन की भिन्नता (Differences in earnings) का विवेचन किया गया है।

परन्तु एक ही व्यवसाय में मजदूरी-दर में भिन्नता उतनी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होती जितनी भिन्न-भिन्न व्यवसायों में होती है। इस अध्याय का अधिकांश इसीसे संबंध रखता है। विभाग ३ में स्वतंत्र श्रमी पर एक टिप्पणी देकर हम कुछ निश्चित व्यवसायों में श्रम की माँग पर पहुँचते हैं। वहाँ हम यह मानकर समस्या को सरल कर लेते हैं कि उस व्यवसाय में सभी कर्मचारी समान रूप से कुशल हैं और एक ही दर से दूरी पाते हैं, जिसे हम इतना प्रति सप्ताह समयानुसार दर मान लेते हैं।

एक ही व्यवसाय में वेतन की भिन्नता के कारणों—जैसे, कुशलता में अन्तर—का उल्लेख विभाग २ में हुआ है इस लिए हम उसे छोड़ देते हैं जिससे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—एक व्यवसाय में प्रचलित दर दूसरे की अपेक्षा अधिक क्यों है?—पर ध्यान दे सकें। विभाग ४ में दो और भी अधिक मान्यताएँ (Assumptions) स्वीकार कर ली गई हैं—एक तो व्यवसाय-संस्थाओं में अपने-अपने उत्पादनों की विक्री के लिए और श्रम की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक वेतन देने में स्पर्द्धा और दूसरी यह कि उत्पादन की विधियों में तुरत परिवर्तन हो सकता है। यह दिखाया गया है कि इन मान्यताओं के आधार पर किसी प्रकार के श्रम की मजदूरी उसके सीमान्त उत्पाद के अर्घ के बराबर होगी।

विभाग ५ में इस बात का विवेचन किया गया है कि यदि एक ही संस्था अथवा संघ को (क) अपने पदार्थों की विक्री का और (ख) किसी विशेष प्रकार का श्रम क्रय करने का एकाधिकार हो तो स्थिति में क्या परिवर्तन होता है। विभाग ६ में इस तथ्य का विवेचन है कि यदि

किसी अन्य साधन के साथ श्रम इस प्रकार संयुक्त हो कि उत्पादन की विधि में मनमाना परिवर्तन न किया जा सके तो स्थिति में क्या अन्तर पड़ता है।

यदि किसी व्यवसाय में श्रम-पूर्ति की मात्रा निश्चित है तो उसका मूल्य अथवा मजदूरी उसकी माँग पर आश्रित होगी। विलोमतः (Conversely) यदि माँग दी हुई है तो काम चाहनेवाले उस प्रकार के श्रमियों के ऊपर मजदूरी आश्रित होगी। विभाग ७ में भिन्न-भिन्न व्यवसायों में श्रम की पूर्ति पर प्रभाव डालनेवाली बातों का विवेचन है। विभाग ८ स्त्रियों के अर्जन पर एक टिप्पणी है।

यहाँ तक हमने मान लिया है कि श्रम का मूल्य परिवर्तित होने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र है। विभाग ९ में किसी विशेष व्यवसाय में विधि (Law) द्वारा अथवा किसी मजदूर-संघ द्वारा निश्चित न्यूनतम वेतन का क्या प्रभाव पड़ता है—इसका विवेचन किया गया है। विधि द्वारा वास्तविक वेतन (Real wage) में सर्वतोमुखी वृद्धि करने में जो जो कठिनाइयाँ हैं उनपर एक टिप्पणी भी इसमें है। १०वें विभाग में यह विवेचन किया गया है कि किन-किन दशाओं में कोई मजदूर-संघ अपने सदस्यों की मजदूरी बढ़ा सकता है। अनधियोजन (Unemployment) पर टिप्पणी के साथ अध्याय की समाप्ति होती है।

२. किसी एक ही व्यवसाय में अर्जन में भिन्नता
(Difference in Earnings within an Occupation)

यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रम अनेक प्रकार का होता है। साधारण अर्थ में "व्यवसाय" (Occupation) में श्रम की अनेक पृथक्-पृथक् कोटियाँ या भेद हो सकते हैं। स्पष्ट है कि किसी मस्तिष्क-विशेषज्ञ औ साधारण डाक्टर के, अथवा किसी महाविद्यालय के प्राध्यापक और प्रारंभिक पाठशाला के अध्यापक के, अथवा किसी बड़े जहाज के कप्तान तथा किसी बड़ी नाव के कप्तान के कार्यों में पर्याप्त अंतर होता है। म्यूल (Mule) तकुओं पर काम करनेवाले मजदूर का कार्य रिंगफ्रेम-तकुओं पर काम करनेवाले मजदूर से भिन्न होता है। इसी प्रकार किसी बड़े होटल में सेवक (Waiter) का कार्य करनेवाला किसी छोटे भोजनालय के नौकर से भिन्न कार्य करता है। अतएव "व्यवसाय" की परिभाषा हम इस प्रकार करते हैं कि किसी विशेष "व्यवसाय" के सभी कर्मचारी ठीक एक ही प्रकार का कार्य करते हैं। इस शब्द का यह अर्थ साधारण अर्थ से कुछ संकुचित है, परंतु व्यावहारिक अर्थ से मेल खाता है क्योंकि हमारे अर्थ में भिन्न-भिन्न व्यवसायों में भिन्न-भिन्न मजदूरी मिलती है।

किसी विशेष सप्ताह में किसी व्यवसाय में कुछ कर्मचारी दूसरों की अपेक्षा अधिक इसलिए अर्जन करते हैं कि उनका कार्य-सप्ताह अपेक्षाकृत बड़ा होता है, अथवा इसलिए कि वे अतिरिक्त घंटों में कार्य करते हैं, अथवा इसलिए कि दूसरे कम समय तक कार्य करते हैं। इन सब के अतिरिक्त एक ही समय में, एक मजदूर दूसरे से अधिक इसलिए भी अर्जन कर सकता है कि वह अधिक कुशल अथवा स्फूर्तिवान है। यदि ठेके पर वेतन दिया जाय तो निःसन्देह वह दूसरे की अपेक्षा अधिक द्रव्य पाएगा। उदाहरणार्थ, यदि दोनों में से प्रत्येक प्रति टन इतने पर कोयला खनता है और एक का उत्पादन दूसरे से अधिक होता है तो वह उसी मात्रा में अधिक अर्जन करेगा। परन्तु अधिकांश व्यवसायों में सभी कर्मचारियों को समान वेतन दिया जाता है, अर्थात् इतना प्रति घंटा, या प्रति सप्ताह या प्रति मास; क्योंकि कुछ व्यवसायों में यह नापना कठिन है कि किसी विशेष व्यक्ति ने कितना कार्य किया; कुछ अन्य व्यवसायों में किए गए कार्य की कोटि (Quality) की जाँच करना कठिन है और मात्रा के अनुसार वेतन देने से काम बिगड़ने का डर रहता है। कुछ में कर्मचारी इस ढंग से वेतन लेना पसंद नहीं करते। समयानुसार दर में संभव है कि कुछ कर्मचारी दूसरों की अपेक्षा अधिक कार्य करते हों, फिर भी उन्हें वही वेतन मिलता हो जो औरों को मिलता है। अधियोजक (Employer) जिन्हें (बिना किसी बाह्य मानदंड के) अधिक कुशल समझते हैं उन्हें यदि अधिक वेतन देने लगें तो कर्मचारियों में असन्तोष फैलेगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कर्मचारी से अलग-अलग सौदा करने की अपेक्षा एक कोटि के सभी कर्मचारियों को एक ही दर से वेतन देकर अधियोजक अपने समय और श्रम की बचत करता है। व्यवहार में प्रायः अधियोजकों और मजदूर-संघों के सामूहिक निर्णय द्वारा समयानुसार दर से प्रामाणिक वेतन निर्धारित होते हैं। परन्तु कुछ व्यवसायों में अधियोजक श्रेष्ठता (Seniority) की कसौटी पर पुराने कर्मचारियों को, अधिक कुशल न होनेपर भी, अधिक वेतन देते हैं।

एक जिले के कर्मचारी दूसरे जिले के समान व्यवसाय के कर्मचारियों की अपेक्षा प्रति घंटा अधिक अर्जन कर सकते हैं। संभव है कि मुद्रा के रूप में वेतनों की यह भिन्नता केवल "वास्तविक" वेतन को समान करने के लिए हो, अर्थात्, जहाँ मुद्रा के रूप में कम आय हो वहाँ का निर्वाह व्यय भी कम हो। यही कारण है कि वेतन की दर देहातों में नगरों की अपेक्षा कम होती है, नगरों में विशेषतः मकान भाड़ा अधिक होता है। भिन्न-भिन्न जिलों के वास्तविक वेतनों में जो भिन्नता होती है उसका कारण गतिशीलता की वे बाधाएँ हैं, जिनका विवेचन अध्याय १४ में हो चुका

है, और जो कर्मचारियों को उन स्थानों पर जाने में बाधक होती हैं, जहाँ वे अधिक अर्जन कर सकते हैं।

कार्य की मात्रा तथा स्थिति में अन्तर होने के अतिरिक्त एक ही व्यवसाय में अर्जन में भिन्नता होने का कारण अज्ञान भी हो सकता है। यदि एक ही स्थान पर समान कुशलतावाले कर्मचारियों को एक अधियोजक दूसरे की अपेक्षा अधिक वेतन देता है तो अपने कर्मचारियों को हटाकर अपने प्रतिस्पर्द्धी के कर्मचारियों को दोनों के बीच किसी भी वेतन पर रख लेना उसके लिए लाभदायक होगा; और उन कर्मचारियों को उसके यहाँ चला जाना लाभकर होगा। इस प्रकार दोनों की दर एक समान हो जायगी। एक ही व्यवसाय के सदस्य अनेक भिन्न-भिन्न धंधों में अधियुक्त हो सकते हैं, परन्तु कोई कारण नहीं है कि उन्नत धंधों के अधियोजक एक ही प्रकार के कार्य के लिए अवनत धंधों की अपेक्षा अधिक वेतन दें।

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य इस बात पर विचार करना है कि किसी विशेष व्यवसाय में वेतन की जो दर है वह क्यों है, और कुछ व्यवसायों में वेतन की दर दूसरों की अपेक्षा ऊँची क्यों है? अतः एक ही व्यवसाय के कर्मचारियों के वेतनों में अन्तर क्यों है इसका विचार छोड़कर हम यह मान लेंगे कि किसी एक प्रकार के श्रम के लिए एक निश्चित वेतन-दर प्रचलित है।

३. स्वतंत्र कर्मचारी

वेतन की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है:—यह कर्मचारी द्वारा प्रदान की हुई सेवा के विनिमय में अधियोजक द्वारा दी गई वह रकम है जो पहले से तय कर ली जाती है। यहाँ पर वेतन और मजदूरी का अन्तर स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु स्वतंत्र कर्मचारी के अर्जन पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

स्वतंत्र कर्मचारी वह है जो अपने आप कार्य करता है किसी अधियोजक के लिए नहीं। चाहे वह कोई किसान हो या डाक्टर, लेखक हो या फेरीवाला, वह एक साहसी (Entrepreneur) है। हम पहले ही तर्क कर चुके हैं[1] कि किसी साहसी का अर्जन (उसकी पूँजी की आय छोड़कर) किसी वेतनभोगी व्यवस्थापक—अथवा किसी अधियोजक के लिए उसी प्रकार का कार्य करनेवाले किसी अन्य व्यक्ति—की अपेक्षा अधिक नहीं होता। अतः किसी निश्चित व्यवसाय में "वेतन" की हमारी व्याख्या उस व्यवसाय के स्वतंत्र कर्मचारी के अर्जन को भी स्पष्ट करेगी और, श्रम की पूर्ति का विचार करते समय, हमें स्वतंत्र कर्मचारियों को भी वेतन-भोगियों के साथ सम्मिलित करना चाहिए।

---

१. दे० पृ० १८७।

स्वतंत्र कर्मचारियों के वेतन में परतंत्र कर्मचारियों के अर्जन की अपेक्षा, कालान्तर में, अधिक परिवर्तन होते हैं क्योंकि स्वतंत्र कर्मचारी अपनी सेवा अथवा अपने उत्पाद का बाजार में प्रत्यक्ष विक्रय करते हैं परन्तु परतंत्र कर्मचारी अपनी सेवा किसी अधियोजक के हाथ बेचते हैं जिसके बदले वह उन्हें एक निश्चित दर से वेतन देता है जिसमें जबतब परिवर्तन करना कठिन और झंझट का काम होता है। अतः पहली कोटिवालों की सेवा अथवा उत्पाद के मूल्य में परिवर्तन होने से लाभ या हानि उसीके सिर पड़ती है परन्तु दूसरी कोटिवालों का हानि या लाभ अधियोजक को मिलता है।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि कृषि के अनेक पदार्थ अधिकतर उन किसानों द्वारा उत्पादित होते हैं जो अपने खेतों पर स्वयं काम करते हैं। जब इन उत्पादों के मूल्य गिर जाते हैं तो बहुत से किसान इस आशा से, कि कुछ काल के लिए अपनी भूमि को अव्यवहृत छोड़ देने और दूसरा व्यवसाय ढूंढ़ने की अपेक्षा उसीमें लगे रहना अधिक लाभदायक होगा, अपना उत्पादन पहले के समान ही रखते अथवा पहले से भी अधिक बढ़ा देते हैं। इस कारण उन उत्पादों का मूल्य बहुत अधिक गिर सकता है। १९२८ से १९३२ के बीच कृषि के अनेक उत्पादों के मूल्य आधे हो गए थे। बहुत से किसानों की आय बहुत घट गई थी। उनमें से हजारों को तो उद्योग-धंधों में काम करनेवाले अकुशल मजदूरों का वेतन भी नहीं मिलता था। वे स्वयं अपने अधियोजक थे और अपना उत्पाद बाजार में सीधे बेचते थे। अतः यद्यपि वे "पूर्णतः" अधियुक्त थे फिर भी वे अपने उत्पादित पदार्थों की गिरी हुई माँग के परिणामों से बचने में असमर्थ थे। फ्रांस और जर्मनी जैसे देशों में, जो अन्ततः कृषि के उत्पादों का आयात करनेवाले थे, किसानों ने अपनी सरकार को आयात पर नियंत्रण लगाकर संरक्षण देने को प्रस्तुत किया। जो देश कृषि के उत्पादों का निर्यात करते थे, जैसे संयुक्त राज्य (अमेरिका), वहाँ के किसानों ने अपनी सरकार से सहायता के लिए निवेदन किया और उत्पादन घटाकर पूर्ववत् मूल्य बनाए रखने के लिए अनेक नियंत्रण-योजनाएँ बनाई गई थीं। कोयला खनने के समान धंधे, जिनमें अधिकतर वेतनभोगी मजदूर होते हैं, इसका ठीक उलटा उदाहरण उपस्थित करते हैं। कोयले की माँग में अधिक कमी खनकों के श्रम की अर्थोत्पादन शक्ति (Value-productivity) बहुत घटा देती है। परन्तु बहुत से देशों में खनक एक न्यूनतम निर्वाह-स्तर का दावा और मजदूरी में अधिक कटौती का विरोध करते हैं। अतः बहुत सी खानों के खोदने में लाभ नहीं रह जाता और वे बंद कर दी जाती हैं। कोयले की पूर्ति में कमी होने से उसका मूल्य अधिक नहीं गिरता और अधियुक्त श्रम की मात्रा में पर्याप्त

कमी करके कोयला खनने के श्रम का सीमांत अर्थोत्पादन लगभग उसकी मजदूरी के बराबर रखा जाता है। मोटे तौर पर किसी पदार्थ (जैसे गेहूँ) की माँग में पर्याप्त कमी होने से उसके उत्पादकों की आय में कमी हो जाती है, परन्तु कोयले की माँग में कमी होने से कोयला खननेवालों में बेकारी फैलती है। किसानों की आय की अपेक्षा औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरी अधिक स्थिर होती है परन्तु बेकारी अधिकतर कृषि के धंधे में नहीं वरन् औद्योगिक धंधों में देखने में आती है।

४. श्रम की माँग–(सीमान्त उत्पादकता)

उत्पादन के अन्य साधनों की भाँति, श्रम की माँग भी "व्युत्पन्न माँग" (Derived demand) है। उपभोक्ता कोई पदार्थ उपभोग के लिए खरीदता है, उसके लिए उस पदार्थ की माँग अंतिम है। परन्तु, वैयक्तिक सेवा को छोड़कर, अधियोजक कर्मचारियों को प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं चाहता, वह उन्हें उस कार्य के लिए चाहता है जो वे करते हैं और जिसकी माप उनका परिश्रम नहीं है वरन् उसके उत्पादन में उनका योगदान और उसके द्वारा उसकी आय में वृद्धि है। इस प्रकार उनकी सेवाओं के लिए उसकी माँग उसके उत्पादों के लिए उसके ग्राहकों की माँग से व्युत्पन्न है। वह एक मध्यस्थ है जो कार्य को क्रय करता है और उसे अपने उत्पादों के साथ सम्मिलित करके बेचता है।

किसी विशेष व्यवसाय के कर्मचारी अनेक भिन्न-भिन्न धंधों में अधियुक्त हो सकते हैं; परन्तु हम इस प्रकार के श्रम का विचार करते हुए अपना विवेचन आरंभ करेंगे जिसकी साहसियों द्वारा माँग किसी एक ही धंधे में होती है। जैसे कोयले के खनकों की माँग केवल कोयले की माँग से व्युत्पन्न होती है। कोई साहसी कोयले के खनक क्यों अधियुक्त करता है? इसका एकमात्र कारण यही है कि वे उसके कोयले का उत्पादन और उसके द्वारा उसकी आय बढ़ाते हैं। हम पहले ही तर्क कर चुके हैं कि वह अतिरिक्त कर्मचारी तभी अधियुक्त करेगा जब वे उसके उत्पादन में इतनी पर्याप्त वृद्धि करेंगे कि उसकी लागत से प्राप्ति में अधिक वृद्धि होगी। यदि उसका उत्पादन इतना अधिक नहीं है कि उसके कोयले के विक्रय-मूल्य पर उसका प्रकट प्रभाव जान पड़े और यदि अतिरिक्त मनुष्यों के अधियोजन (Employment) से उसकी प्राप्ति में केवल उतनी ही वृद्धि होती है जितनी उनकी मजदूरी होती है तो वह अपने श्रमिकों की संख्या वहीं तक बढ़ाएगा जहाँ एक अतिरिक्त खनक के अधियोजन से उसके साप्ताहिक उत्पादन में होनेवाली वृद्धि उतने मूल्य पर बिकेगी जितना उसका साप्ताहिक वेतन होगा। क्योंकि यदि उसके श्रमियों की संख्या

इससे कम होगी तो वह अधिक श्रमी रखकर अपनी आय बढ़ा सकता है; जिसका उत्पादन उनके वेतन से अधिक पर विकेगा; और यदि उनकी संख्या इससे अधिक होगी तो कुछ व्यक्तियों को निकाल कर वह अपनी आय की अपेक्षा लागत को अधिक घटा सकता है। किसी कोयला-खनक का साप्ताहिक वेतन कोयला-खनन श्रम के सीमान्त उत्पादन के अर्घ के बराबर होगा जिसकी माप "जन-सप्ताह" (Man-week) की इकाई द्वारा होती है।

किसी साहसी की श्रमिक-संख्या में परिवर्तन होने से उसकी लागत में केवल उतना ही परिवर्तन होता है जितना उसके मजदूरी-खाते में वृद्धि या कमी होती है—इस मान्यता (Assumption) का तात्पर्य यह है कि उसके अन्य साधन-यंत्र (Plant), सज्जा (Equipment) इत्यादि —स्थिर हैं। ह्रासमान उत्पत्ति नियम से हम जानते हैं किसा अन्य धनों की एक स्थिर मात्रा के साथ ज्यों-ज्यों अधिक श्रम संयुक्त किया जाता है त्यों-त्यों कुछ सीमा के अनन्तर उस श्रम की सीमान्त उत्पादकता घटेगी।

चित्र ३१ में च छ वक्र किसी साहसी के लिए श्रम की सीमान्त उत्पादकता व्यक्त करता है। यदि मजदूरी कोयले के रूप में दी जाती तो वह साप्ताहिक मजदूरी क च पर क ज श्रम अधियुक्त करता इत्यादि। उसका कोयले का साप्ताहिक उत्पादन क च वा ज के क्षेत्रफल द्वारा व्यक्त होगा जिसमें से क व वा ज मजदूरी खाते में जायगा और च वा व की रकम अन्य साधनों (जिस पर स्वयं उसका स्वत्वाधिकार है
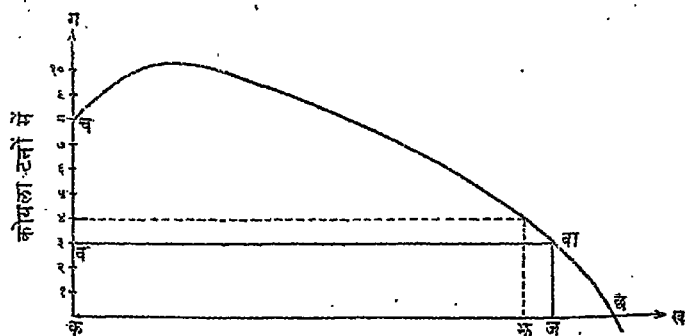
चित्र ३१

उसे सम्मिलित करके) के लिए प्राप्त होगी। परन्तु वास्तव में मजदूरी कोयले के रूप में नहीं वरन् द्रव्य के रूप में दी जाती है; फिर भी हम

कोयले के टनों को तुल्यार्थ (Equivalent) द्रव्य में परिवर्तित करके लांबिक मान (Vertical scale) को फिर से लिखकर च छ वक्र द्वारा श्रम के लिए उनकी माँग व्यक्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोयला १५ शि० प्रति टन हो तो लांबिक मान पर की प्रत्येक इकाई १५ शि० व्यक्त करेगी और ४५ शि० साप्ताहिक मजदूरी-दर पर श्रम के लिए उसकी माँग क ज, ६० शि० पर क झ, इत्यादि होगी। स्पष्ट है कि कोयले के मूल्य में वृद्धि होने से किसी निश्चित मजदूरी-दर पर, श्रम के लिए उसकी माँग बढ़ेगी और कोयले के मूल्य में कमी होने पर वह घट जायगी। इस प्रकार १५ शि० प्रति टन से १ पौंड प्रति टन की वृद्धि होने से, ३ पौंड प्रति सप्ताह मजदूरी-दर पर, श्रम के लिए उसकी माँग क झ से क ज तक बढ़ जायगी; परन्तु च छ वक्र अपरिवर्तित रहेगा।

भिन्न-भिन्न साहसियों द्वारा श्रम की माँग का योगफल श्रम की संपूर्ण माँग कहलाती है। कोयले के मूल्य में वृद्धि होने से साहसियों में इस धंधे की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति होगी और मूल्य में ह्रास का परिणाम विपरीत होगा। परन्तु किसी विशेष समय साहसियों की संख्या निश्चित रहती है और श्रम के लिए उनकी सम्मिलित माँग एक ऐसे वक्र द्वारा व्यक्त की जा सकती है जो, एक तरह से, सभी च छ वक्रों के भुजों (Abscissae) को जोड़ कर एक करता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि ६ टन साप्ताहिक मजदूरी-दर पर, एक साहसी पाँच हजार कर्मचारी अधियुक्त करता है, दूसरा आठ सौ, तीसरा पचास इत्यादि, और इन सभी माँगों का योगफल ५ लाख कर्मचारी है। तो श्रम की संपूर्ण माँग को व्यक्त करनेवाला वक्र यह व्यक्त करेगा कि प्रति सप्ताह ६ टन के बराबर मजदूरी-दर पर ५ लाख कर्मचारियों की माँग होगी।

किसी समय किसी धंधे में लगे हुए कर्मचारियों की संख्या जितनी ही अधिक होगी—कोयले के रूप में—उतनी ही नीची वह मजदूरी-दर होगी जिसपर वे सभी अधियुक्त हो सकेंगे। क्योंकि उस धंधे में अन्य साधनों की एक निश्चित मात्रा के संयोग में अधियुक्त श्रमियों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतना ही कम उसका कोयले का सीमान्त उत्पाद होगा; और मजदूरी-दर की प्रवृत्ति उस सीमान्त उत्पाद की समता करने की होगी।

अतः यदि कोयले के रूप में मजदूरी दी जाती तो खनकों की एक निश्चित संख्या में से प्रत्येक को एक सप्ताह के कार्य के लिए उसकी अपेक्षा कम कोयला मिलता जितना उनकी संख्या कम होनेपर उन्हें मिलता। परन्तु इतना ही नहीं। उससे अधिक संख्या में खनक अधिक

कोयला उत्पन्न करते जिससे प्रतिटन कोयले का अर्घ बलात् गिर जाता। तब प्रत्येक खनक प्रति सप्ताह केवल कम कोयला ही नहीं पाता वरन् प्रत्येक टन कोयले की क्रय शक्ति भी घट जाती। कितनी घट जाती यह तो निःसंदेह कोयले की बाजार-माँग की सरणि (Schedule) पर निर्भर होता।

वास्तव में मजदूरी दी जाती है द्रव्य के रूप में। स्पर्द्धा में प्रत्येक साहसी कोयले के मूल्य को बाजार का एक तथ्य मान लेता है जिसे वह परिवर्तित नहीं कर सकता; फिर भी यदि धंधे का संपूर्ण उत्पादन बढ़ता है तो कोयले का मूल्य गिरेगा। खननेवाले श्रमी प्रायः अपने सीमान्त उत्पाद का अर्घ पाते हैं। और अधियुक्त खनकों की संख्या में वृद्धि होने से उनका कोयले का सीमान्त उत्पाद घट जायगा और प्रतिटन उसका मूल्य भी गिर जायगा; अतः उनके सीमान्त उत्पाद का अर्घ उसकी मात्रा में कमी की अपेक्षा अधिक घटेगा। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि ५ लाख जन-सप्ताहों का सीमान्त उत्पादन ६ टन और छः लाख का केवल ५.५ टन है। तो श्रमियों की संख्या में ५ लाख से ६ लाख की वृद्धि से कोयले का साप्ताहिक उत्पादन अवश्य ही बढ़ जायगा। उदाहरणार्थ, वह ४० लाख से ४६ लाख हो जा सकता है। यदि कोयले की माँग निश्चित है तो उसके मूल्य को इस प्रकार गिरना ही पड़ेगा कि प्रति सप्ताह ४० लाख टन के बदले ४६ लाख टन की बिक्री हो सके। मान लीजिए कि उसे १० शि० ६ पेंस से १० शि० प्रति टन तक गिरना पड़े। तब मुद्रा के रूप में मजदूरी संभवतः ६३ शि० (६ × १० शि० ६ पें) से घट कर ५५ शि० (५.५ × १० शि०) हो जायगी। सीमान्त-उत्पाद में द्वादशांश (६ से ५.५) को कमी हो जायगी; उसके प्रति इकाई मूल्य में इक्कीसवें अंश की कमी हो जायगी (१० शि० ६ पें० से १० शि०) और सीमान्त उत्पाद का अर्घ आठवें अंश से भी अधिक (६३ शि० से ५५ शि०) गिर जायगा।

किसी विशेष प्रकार के श्रम की माँग अनेक धंधों द्वारा हो सकती है। परन्तु इससे हमारे विश्लेषण में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता। यदि एक कर्मचारी ठीक-ठीक दूसरे कर्मचारी का सा कार्य कर रहा है और गतिशीलता में कोई बड़ी कठिनाइयाँ नहीं हैं तो, चाहे वह कोई भिन्न पदार्थ उत्पन्न करने में सहायता कर रहा हो तब भी, उसे संभवतः वही मजदूरी मिलेगी। स्पर्द्धा के अन्तर्गत इस प्रकार के व्यवसाय में मजदूरी-दर प्रायः प्रत्येक धंधे में लगे हुए उस प्रकार के श्रम के सीमान्त उत्पाद के अर्घ के बराबर होगी और इसी पर यह निर्भर होगा कि उन भिन्न-भिन्न धंधों में कितने कर्मचारी अधियुक्त हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए

कि किसी एक धंधे के उत्पाद की माँग में वृद्धि होने के कारण उस धंधे में श्रम का सीमान्त उत्पाद उसकी मजदूरी से अधिक मूल्य का हो जाता है। तो उस धंधे के साहसी अधिक कर्मचारी अधियुक्त करके अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु उस प्रकार के कर्मचारियों को अन्य धंधों से आकृष्ट करने के लिए उन्हें मजदूरी की दर ऊँची करनी पड़ेगी। इससे उस व्यवसाय भर में मजदूरी-दर ऊँची हो जायगी। उस ऊँची दर पर दूसरे धंधों के कुछ साहसी अब पहले के बराबर श्रमी अधियुक्त करने में असमर्थ होंगे। अतः अपने कुछ कर्मचारियों को निकाल कर वे शेष कर्मचारियों की सीमान्त उत्पादकता बढ़ा देते हैं जिससे कि उनके सीमान्त उत्पाद का अर्घ बढ़ी हुई मजदूरी के बराबर हो जाता है। निकाले हुए कर्मचारी उस धंधे में अधियुक्त हो जायेंगे जिसकी माँग उस प्रकार के श्रम के लिए बढ़ गई है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि श्रम की माँग का "सीमान्त उत्पादकता"–समाधान वास्तविक संसार में लागू नहीं होता, क्योंकि बहुत से अधियोजक यह नहीं जानते कि एक अतिरिक्त कर्मचारी (अथवा दस या सौ या हजार कर्मचारी) संपूर्ण उत्पादन में कितनी वृद्धि करेगा। परन्तु इस आपत्ति का कोई आधार नहीं है। यदि किसी व्यवसाय-संस्था अथवा विभाग का व्यवस्थापक कुछ भी कुशल है तो वह इस बात का बराबर ध्यान रखेगा कि यदि संभव हो तो एक प्रकार के श्रम का अधिक और दूसरे प्रकार के श्रम का कम उपयोग करे। और समय-समय पर वह इस प्रकार का प्रयोग करके उसके परिणाम की प्रतीक्षा करेगा। बड़ी संस्थाएँ प्रायः लागत का लेखा रखना उपयोगी समझती हैं जिससे वे किसी विशेष साधन के कम या अधिक मात्रा में उपयोग करने का परिणाम जान सकें। अल्पकाल में मजदूरी-दर और सीमान्त उत्पादकता में थोड़ा अन्तर हो सकता है। अपने उत्पादित पदार्थ की माँग में कमी (जिसे वह अस्थायी समझता है) का सामना करनेवाला कोई अधियोजक संभवतः अपने सभी कर्मचारियों को प्रचलित मजदूरी-दर पर इसलिए अधियुक्त रखेगा कि वे सब एकत्र रहें और उनमें सद्भाव बना रहे, और उत्पादित पदार्थ के मूल्य में वृद्धि होने से मजदूरी में वृद्धि नहीं भी हो सकती है। परन्तु जो साहसी किसी साधन की सीमान्त लागत को उसकी सीमान्त प्राप्ति के बराबर करने का प्रबल प्रयत्न नहीं करते वे उन साहसियों द्वारा उस व्यवसाय से निष्कासित हो जायेंगे जो ऐसा करते हैं।

परन्तु हमारा विश्लेषण केवल उन साहसियों पर लागू होता है जो बाजार के लिए उत्पादन करते हैं। आधुनिक राज्य श्रम के बड़े-बड़े अधियोजक हैं, और कुछ सीमा के भीतर, दिवालिया हुए बिना, वे जितनी

चाहें उतनी ऊँची दर से मजदूरी दे सकते हैं। फिर भी किसी विशेष प्रकार के श्रम के लिए दी जानेवाली और निजी धंधे में उस श्रम की सीमान्त उत्पादकता में कुछ संबंध होता है। क्योंकि राज्य को जितने श्रमी चाहिए उतने आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त मजदूरी देनी होगी। यदि जितना वे अन्यत्र अर्जन कर सकते हैं उससे पर्याप्त अधिक मजदूरी राज्य देता है तो राज्य के अधियोजन में प्रवेश करने के लिए बड़ी घोर प्रतियोगिता होगी और प्रायः अधिक कुशल कर्मचारी इसमें सफल होंगे। परन्तु व्यवहार में कुछ पद (विशेषतः ऊँचे पदों पर नियुक्तियाँ जो प्रतियोगिता की परीक्षाओं द्वारा नहीं की जातीं) योग्यता द्वारा नहीं वरन् पक्षपात तथा प्रभाव द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इस विभाग में हमने मान लिया है कि स्पर्द्धा[1] सर्वत्र विद्यमान है और उत्पादन की विधियों में तुरत परिवर्तन हो सकता है। अब हम इस पर विचार करते हैं कि यदि मान्यताएँ ठीक नहीं उतरती हैं तो हमारे निष्कर्षों में क्या अन्तर पड़ता है।

५. श्रम की माँग—एकाधिकार

इसके पूर्व के विवेचन में हमने यह मान लिया था कि प्रत्येक साहसी कोयले की संपूर्ण पूर्ति का इतना अल्पांश उत्पन्न करता है कि उसके उत्पादन में परिवर्तन होने से कोयले के प्रति टन मूल्यपर कोई प्रकट प्रभाव नहीं पड़ता। यदि संपूर्ण उत्पादन किसी एकाधिकारी के नियंत्रण में होता, जो अपने लाभ को अधिकतम करने का इच्छुक रहता, तो वह इस बात को नहीं भूलता कि उसके उत्पादन में वृद्धि होने से प्रति टन उत्पादन के लिए उसे मिलनेवाला मूल्य घट जायगा। उदाहरणार्थ, यदि उसे एक हजार अतिरिक्त मनुष्य अधियुक्त करने पड़ते तो कोयले का उत्पादन बढ़ जाता और उसका प्रति टन मूल्य घट जाता जिससे उसकी आय में अतिरिक्त उत्पादन के विनिमय-अर्घ की अपेक्षा कम वृद्धि होती। इससे इस सामान्य नियम का—कि कोई साहसी अतिरिक्त मनुष्य तभी अधियुक्त करेगा जब कि उसके मजदूरी-खाते में होनेवाली वृद्धि उसकी आय में होनेवाली वृद्धि की अपेक्षा कम होगी—अर्थ यह है कि कोई एकाधिकारी अपने कर्मचारियों को उनके सीमान्त उत्पाद का पूरा मूल्य दे देने पर घाटे में रहेगा। इसी बात को दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि यदि कोई धंधा किसी एकाधिकारी के हाथ में हो तो किसी निश्चित मजदूरी दर पर जितने कर्मचारी अधियुक्त होंगे उसकी अपेक्षा स्पर्द्धा करनेवाली

१. "स्पर्द्धा" का प्रयोग हम "पूर्ण स्पर्द्धा" के अर्थ में कर रहे हैं। इसके विपरीत अपूर्ण स्पर्द्धा है जिसे हम "एकाधिकार" कहते हैं।

संस्थाओं के हाथों में रहने पर अधिक व्यक्ति अधियुक्त किए जायँगे। स्पर्द्धा करनेवाली संस्थाओं के हाथों में रहने पर श्रमियों की संख्या में वहाँ तक वृद्धि होगी जहाँ उनके सीमान्त उत्पादन का अर्घ उनकी मजदूरी के बराबर हो जायगा। एकाधिकारी के हाथों में वह उसी सीमा तक बढ़ाई जायगी जहाँ अतिरिक्त उत्पादन (अर्थात् अतिरिक्त उत्पादन से होनेवाली आय में से पुराने उत्पादन से होनेवाली आय निकाल कर) अतिरिक्त मजदूरी के बराबर हो।

अब हम "क्रय-एकाधिकार" (Monopsony)—अर्थात् श्रम (या अन्य साधनों) को क्रय करने का एकाधिकार—पर आते हैं। वस्तुओं के विक्रय के एकाधिकार की अपेक्षा यह कम प्रचलित है। ऐसा विरले ही होता है कि कोई संस्था अथवा संघ किसी विशेष प्रकार के श्रम का एक मात्र क्रेता हो। यदि ऐसा कोई हो तो निःसंदेह वह जितनी चाहे उतनी कम मजदूरी दे सकता है, परन्तु यदि वह इतनी कम मजदूरी दे कि वह उसीके समकक्ष व्यवसायों में मिलनेवाली मजदूरी से बहुत कम हो तो बहुत संभव है कि कालान्तर में कर्मचारी उसे छोड़कर अन्य व्यवसायों में चले जायँ और उसे उतने श्रमी न प्राप्त हों जितने वह चाहता है। साधारणतया वह जितनी ही अधिक संख्या में श्रमी चाहता है उन्हें प्राप्त करने के लिए उसे उतनी ही अधिक मजदूरी देनी होगी। अतः वह इस बात का ध्यान रखेगा कि यदि वह अपने श्रमियों की संख्या बढ़ाता है तो उसे केवल अतिरिक्त कर्मचारियों को ही अधिक मजदूरी नहीं देनी पड़ेगी वरन् उन्हें भी जिन्हें उसने पहले ही अधियुक्त किया है—क्योंकि एक ही कार्य में साथ-साथ काम करनेवाले और समान कुशलतावाले कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न दर से मजदूरी देना विरले ही संभव है। इस प्रकार अतिरिक्त कर्मचारियों की सीमान्त लागत उनकी मजदूरी से अधिक होगी। यदि उस प्रकार का श्रम बहुत से अन्य धंधों में भी अपेक्षित हो, जिससे उसकी मजदूरी-दर बहुत कुछ निश्चित सी मान ली जाय, तो उसकी श्रम की माँग जितनी होगी उसकी अपेक्षा इसके कारण कम होगी।

६. श्रम की माँग

[निस्तुष उत्पादकता] (Net Productivity)

हमारी दूसरी मान्यता, जिसपर अब हमें विचार करना चाहिए, यह थी कि अन्य साधनों की एक निश्चित मात्रा के सहयोग में किसी विशेष प्रकार के न्यूनाधिक श्रम का अधियोजन होने पर उत्पादन की विधियों में

तुरत परिवर्तन हो सकता है।[1] यह मान्यता प्रायः सर्वदा सत्य होती है। हम देख चुके हैं[2] कि कोई साहसी किसी निश्चित उत्पादन को सबसे सस्ती विधि से उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। यदि किसी विशेष प्रकार के श्रम का मूल्य चढ़ (या गिर) जाता है तो अन्य साधनों की तुलना में उसका, पहले की अपेक्षा, कम (या अधिक) मात्रा में उपयोग करना उसके लिए अधिकतर लाभदायक होगा। ऐसा हो सकता है कि कुछ दशाओं में, अल्पकाल में, साधनों का परस्पर प्रतिष्ठापन (Substitution) बहुत कम संभव हो। उदाहरणार्थ, संभव है कि कोई यंत्र ऐसा बना हो कि उसमें मनुष्यों की एक निश्चित संख्या अधियुक्त की जा सके । फिर, कालान्तर में, यंत्र घिस जाते हैं और पुनः ठीक उसी रूप में उनका अनुस्थापन आवश्यक नहीं है। तुलनात्मक साधन-मूल्यों में परिवर्तन होने से समय पर ऐसे यंत्रों के स्थान पर दूसरे प्रकार के यंत्रों की स्थापना की प्रवृत्ति होती है, जो इस प्रकार के बने होते हैं कि जो साधन सस्ते हो गए हैं वे उनमें अधिक मात्रा में और जो महँगे हो गए हैं वे कम मात्रा में अधियुक्त हो सकें। अतः मजदूरी में वृद्धि या ह्रास का पूर्ण प्रभाव व्यक्त होने के लिए कुछ समय लग सकता है। परन्तु अधिकांश धंधों में, अल्पकाल में भी, साधनों में परस्पर प्रतिष्ठापन के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहता है।

यदि कुछ अन्य साधनों के साथ श्रम का निश्चित अनुपात में संयोग करना अनिवार्य हो तो कोई विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित होती। मान लीजिए कि प्रत्येक कर्मचारी के लिए एक यंत्र, अथवा कच्चे माल की एक निश्चित मात्रा, का होना आवश्यक है। तो साहसी उस कर्मचारी तथा यंत्र (अथवा कच्चे माल) को एक इकाई समझेगा और यदि इस

---

१. यदि कोई धंधा अपनी श्रमी-संख्या बढ़ाता (या घटाता) है तो निःसंदेह वह कुछ अन्य साधनों की, जिनका वह व्यवहार करता है, मात्रा में भी वृद्धि (या कमी) करेगा। जैसा कि ह्रासमान उत्पत्ति नियम के अपने विवेचन में हम दिखा चुके हैं कि वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या विभिन्न साधनों का अनुपात परिवर्तित हो सकता है। उदाहरणार्थ, अन्य साधनों की मात्रा ज्यों की त्यों रहने पर श्रमी-संख्या में २० प्र० श० की वृद्धि होने से श्रम का सीमान्त उत्पाद लगभग उतना बढ़ जायगा जितना श्रमी-संख्या में ३२ प्र० श० की वृद्धि तथा अन्य साधनों की मात्रा में १० प्र० श० की वृद्धि होने से होगा। (निःसंदेह उस पदार्थ का प्रति इकाई अर्घ दूसरी अवस्था में अधिक गिरेगा क्योंकि संपूर्ण उत्पादन अधिक होगा।)

२. दे० अध्याय १३, विभाग ९।

प्रकार की इकाइयों का अन्य साधनों से अनुपात परिवर्तित हो सके तब भी सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal productivity principle) लागू होता है। स्पर्द्धा में उस इकाई का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होगा। प्रत्येक कर्मचारी इस अर्थ में से यंत्र अथवा कच्चे माल का मूल्य निकाल कर जो बचेगा पाएगा। यह रकम कभी-कभी उसके निस्तुष उत्पाद का अर्घ कहा जाता है।

प्रायः श्रम का मूल्य चुकाने और उसके उत्पादों की विक्री होने में कुछ समय का व्यवधान पड़ता है। अतः साहसी को "चालू पूँजी" (Circulating capital) की आवश्यकता पड़ती है जिसमें से वह इसी व्यवधान-काल में मजदूरों को अग्रिम वेतन दे सके। यदि किसी साहसी के लिए यह व्यवधान-काल निश्चित-सा रहता है तो उसकी श्रमी-संख्या में वृद्धि या ह्रास होनेपर उसी मात्रा में उसकी चालू पूँजी में भी वृद्धि या ह्रास की आवश्यकता होगी। अतः वह तबतक कोई अतिरिक्त व्यक्ति अधियुक्त नहीं करेगा जबतक कि अतिरिक्त उत्पादन का अर्घ उस व्यक्ति की मजदूरी तथा अपेक्षित अतिरिक्त चालू पूँजी पर (प्रचलित दर से) व्याज के बराबर या उससे अधिक न हो जाय। अर्थात् इन दशाओं में मजदूरी प्रायः सीमान्त उत्पाद के घटित अर्घ (Discounted value) के बराबर होगी। परन्तु कोई कारण नहीं है कि व्यवधान काल सर्वदा एक-सा हो, अतः चालू पूँजी की एक निश्चित मात्रा का कम या अधिक व्यक्तियों के अधियोजन के लिए उपयोग हो सकता है। (उदाहरणार्थ, तीन महीने के लिए दिया गया २००० पौंड उतनी ही चालू पूँजी के बराबर है जितना १००० पौंड ६ महीने के लिए)। अतः हमने अपने पूर्व विवेचन में इस जटिलता की उपेक्षा की है।

७. श्रम की पूर्ति

कुछ व्यवसायों में, अथवा सभी में, राज्य द्वारा न्यूनतम मजदूरी-दर निर्धारित की जाती है। अथवा मजदूर संघ की शक्ति उसे बनाए रखती है। इसके परिणामों का विवेचन आगामी विभाग में होगा। सम्प्रति हम यह मान लेंगे कि मजदूरी की ऐसी कोई न्यूनतम सीमा नहीं है जिसे, आवश्यकता पड़ने पर, अधियोजन प्राप्त करने के लिए श्रमी स्वीकार करने को तैयार होंगे। ऐसी अवस्था में किसी व्यवसाय में मजदूरी की दर प्रायः उस स्तर पर रहेगी जिस पर उस व्यवसाय के सभी श्रमी अधियोजन प्राप्त कर सकें। यदि वह उस स्तर से ऊँची होगी तो प्रचलित दर से कम पर अपनी सेवा प्रदान करनेवाले अनधियुक्त श्रमियों के कारण वह दर बलात् गिर जायगी। यदि वह उससे कम हुई तो उन साहसियों में प्रतियोगिता के कारणजो अधिक

श्रमी अधियुक्त करके अपनी आय बढ़ाने के इच्छुक हैं, वह ऊँची हो जायगी। अतः यदि उस धंधे में श्रम की मांग निश्चित है तो मजदूरी की दर उस प्रकार का कार्य ढूंढ़नेवाले कर्मचारियों की संख्या पर निर्भर रहेगी—जितनी ही अधिक संख्या होगी उतनी ही कम मजदूरी-दर होगी। अतः हमें इस बात का पता लगाना चाहिए कि किसी विशेष व्यवसाय में काम चाहने वालों की संख्या किस पर निर्भर रहती है।

तर्क की दृष्टि से संभवतः सबसे पहले हमें इस पर विचार कर लेना चाहिए कि किसी देश की कार्यशील जनसंख्या किस पर निर्भर रहती है परन्तु इस प्रकार की जांच से हम विषयान्तर पर पहुँच जायंगे; इतना ही नहीं, हम अर्थविज्ञान की सीमा का उल्लंघन कर जायँगे। एक समय यह माना जाता था कि कार्यशील जनसंख्या पर मजदूरी का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। लोगों का ऐसा विश्वास था कि "वास्तविक" मजदूरों में वृद्धि होने से जीनेवाले बच्चों की संख्या—अतः कालान्तर में श्रमियों की संख्या—बढ़ेगी। जिससे कि फिर मजदूरी घटेगी और "वास्तविक" मजदूरी में ह्रास होने से इसका उलटा परिणाम होगा। अतः बहुत दिनों तक वास्तविक मजदूरी एक निश्चित स्तर के बहुत ऊपर या बहुत नीचे नहीं रहेगी। कुछ लेखक समझते थे कि यह वह स्तर था जो श्रमियों को केवल जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त था, दूसरे समझते थे कि यह वह स्तर था जिसे वे अपने जीवन-निर्वाह का एक न्यूनतम स्तर बनाए रखने के लिए आवश्यक समझते थे और उसे पाने के लिए अड़ते थे। अब प्रायः ऐसा माना जाता है कि ये मत भ्रामक हैं। आधुनिक देशों में संतान-निग्रह बहुत व्यापक रूप में व्यवहृत होता है, और पहले से ठीक-ठीक बतलाना कठिन है कि मजदूरी में परिवर्तन का जन्म की संख्या पर क्या प्रभाव पड़ेगा। कुछ श्रमी दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक अर्जन करते हैं, यद्यपि उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ समान होती हैं। किसी कर्मचारी का निर्वाह-स्तर उसकी मजदूरी पर निर्भर रहता है परन्तु इसका विलोम नहीं। निःसंदेह बहुत से श्रमी अपना निर्वाह-स्तर ऊँचा करना चाहते हैं, परन्तु इस आकांक्षा के फलस्वरूप जबतक वे अधिक परिश्रम पूर्वक कार्य नहीं करते अथवा किसी ऐसे व्यवसाय के लिए योग्यता नहीं प्राप्त करते जिसमें अधिक वेतन मिले तबतक उनके अर्जन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सच है कि किसी विशेष साधनोंवाले क्षेत्र की जनसंख्या जितनी अधिक होगी उस क्षेत्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता साधारणतः उतनी ही कम होगी। अतः मजदूरी का साधारण स्तर भी उतना ही

नीचा होगा ।[1] श्रम का यह तुलनात्मक आधिक्य ही बहुत से पूर्वीय देशों में मजदूरी की नीची दर का प्रधान कारण है । परन्तु कहीं की जनसंख्या चाहे कम हो या अधिक विभिन्न व्यवसायों की मजदूरी-दर में पर्याप्त भिन्नता रहती है जिनका कारण केवल जनसंख्या का उल्लेख करने से स्पष्ट नहीं हो जाता । अतः हम मान लेते हैं कि कार्यशील जनता की संख्या निश्चित सी है।

फिर भी श्रमियों की कोई निश्चित संख्या प्रतिवर्ष कम या अधिक कार्य कर सकती है। इसका एक प्रधान कारण हो सकता है अनधियोजन (बेकारी) की मात्रा में भिन्नता। इसका विचार हम पीछे करेंगे। संप्रति जिस बात का विवेचन आवश्यक है वह यह है कि श्रमी, कुछ सीमातक, एक ओर आय और दूसरी ओर विश्राम चुन सकते हैं, और चुनते ही हैं।

यहाँ फिर हमारे सम्मुख "अधिमान-माप" (Scale of preferences) का सिद्धान्त आता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि कोई श्रमी २ शि० प्रति घंटे की दर पर जितना कम या अधिक कार्य चाहे करने के लिए स्वतंत्र है।[2] प्रतिदिन उसके पास कुछ निश्चित घंटे हैं जिनमें से कुछ वह कार्य के लिए देता है, जिससे आय होती है, और कुछ विश्राम के लिए। यदि वह अपनी आय बढ़ाना चाहता है तो उसे अपने विश्राम का त्याग करना पड़ेगा और अपने विश्राम की अवधि बढ़ाने के लिए आय का त्याग

---

१. किसी देश की जनसंख्या इस दृष्टि से न्यून हो सकती है कि यदि उसकी जनसंख्या बढ़ाई जाय तो उसकी सड़कों, रेल-मार्गों, तथा अन्य विद्यमान साधनों का अधिक पूर्णता से उपयोग हो सके और श्रम तथा अन्य साधनों का इतना विशेषीकरण हो सके कि श्रम की वर्द्धमान उत्पत्ति हो। परन्तु अधिकांश देश ऐसी अवस्था में नहीं होते।

२. कथन का यह ढंग एक जटिलता की उपेक्षा कर देता है और वह यह है कि एक घंटे में किए जानेवाले कार्य की मात्रा प्रतिदिन (और प्रतिवर्ष) के कार्य के घंटो पर निर्भर रहेगी। उदाहरणार्थ, कुछ व्यवसायों में, संभव है कि नियमित बारह घंटे प्रतिदिन कार्य करने से जो संपूर्ण वार्षिक उत्पादन होता है उसकी अपेक्षा प्रतिदिन नौ घंटे कार्य करने से अधिक हो। यह भी संभव जान पड़ता है कि पूर्वकाल में ब्रिटेन के बहुत से धंधों में जो देर तक काम हुआ करता था वह अपव्यय था और काम के घंटे कम करने के लिए जो विधान बने उससे श्रमियों को अधिक विश्राम मिला और साथ ही प्रति श्रमी वार्षिक उत्पादन भी बढ़ा। परन्तु जिन देशों में प्रति सप्ताह ४८ घंटे या इसके आसपास कार्य होता है वहाँ संभव है कि घंटों में थोड़ी कमी या वृद्धि करने से लगभग उसी अनुपात में प्रति सप्ताह होनेवाले कार्य में कमी या वृद्धि हो।

करना पड़ेगा। मान लीजिए कि वह प्रतिदिन आठ घंटे कार्य करने का निश्चय करता है। इसका अर्थ यह है कि वह १६ शि० प्रतिदिन की आय और १६ घंटे के विश्राम, मनोरंजन आदि को किसी अन्य संयोग (जैसे १४ शि० और १७ घंटे अथवा १८ शि० और १५ घंटे) की अपेक्षा अधिक पसंद करता है। वह अपने "विश्राम" के सोलहवें घंटे को प्रति दिन के नवें फ्लोरिन (१ फ्लोरिन = २ शि०) की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझता है। इसके विपरीत वह विश्राम के उस अतिरिक्त (सत्रहवें) घंटे को, जिसे वह आठवें फ्लोरिन का त्याग करके प्राप्त कर सकता था, आठवें फ्लोरिन से अधिक मूल्यवान समझता है। अब मान लीजिए कि उसकी घंटेभर की दर स्थायी रूप से ३ शि० कर दी गई। तो क्या वह पहले की अपेक्षा प्रतिदिन कम घंटे कार्य करेगा अथवा अधिक? यह बतलाना असंभव है। एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकती है। यह बहुत कुछ निश्चित है कि वह अपने काम के घंटे इतने कम नहीं करेगा कि उसकी आय पहले से कम हो जाय क्योंकि उस दशा में (आय की अपेक्षा) विश्राम का आपेक्षिक सीमान्त महत्त्व (Relative marginal significance) पहले की अपेक्षा कम होगा और विश्राम की कुछ निश्चित मात्रा का त्याग करने पर जो आय होगी वह पहले से अधिक होगी। यदि वह पहले की तरह आठ घंटा प्रति दिन काम करे तो वह पहले के १६ शि० प्रति दिन के बदले अब २४ शि० प्रति दिन उपार्जन करेगा। फिर भी उसे प्रति दिन १६ घंटे का विश्राम मिलेगा। आय के विपरीत, जो शिलिंगों में नापी जाती है, घंटों में नापे जानेवाले विश्राम का आपेक्षिक सीमान्त महत्त्व बढ़ गया होता; परन्तु उसकी समस्या यह है कि वह अपने उपलब्ध २४ घंटों को किस प्रकार वितरित करे, और अब काम में लगाए हुए एक अतिरिक्त घंटे का उसे ३ शि० अतिरिक्त मिलता है जहाँ पहले केवल २ शि० मिलता था। ऐसी परिस्थिति में दोनों ही संभव है कि चाहे वह अपने काम के घंटों को घटा दे या बढ़ावे। अतः जबतक इस विषय में उनका अधिमान-माप ज्ञात न हो तबतक हम पहले से यह नहीं कह सकते कि (प्रति घंटे) मजदूरी-दर में परिवर्तन होने से श्रमी अपने काम के घंटे बढ़ाएँगे या घटाएँगे।

अधिकांश मजदूरों को साप्ताहिक वेतन मिलता है। अतः कार्य-सप्ताह की अवधि पर उनका कोई वश नहीं है क्योंकि वह तो कानून या रीति-रिवाज द्वारा निश्चित है। परन्तु अधिकतर किसी व्यवसाय में कार्य-सप्ताह की सीमा उसमें कार्य करनेवाले बहुसंख्यकों की इच्छा से निर्धारित होती है। उनमें से अधिकांश प्रति घंटे उसी मजदूरी-दर पर अधिक लंबा कार्य-सप्ताह नहीं पसंद करेंगे, वरन् अधिसमय (Overtime)

कार्य के लिए प्रति घंटे अधिक मजदूरी की आशा करेंगे। इसके विपरीत वे अपने साप्ताहिक अर्जन में संगत (Corresponding) ह्रास के साथ कम समय तक कार्य करने का प्रस्ताव नहीं स्वीकार करेंगे। और यदि, श्रम की माँग में वृद्धि होने के कारण, मजदूरों का एक दल अपनी साप्ताहिक आय बढ़ाने या घंटे घटाने में सफल हो जाता है, तो वह सामूहिक मोलभाव के द्वारा वही माँगता है जो बहु-संख्यकों को पसंद होता है। कभी तो वे विशेषतः मजदूरी बढ़ाने पर जोर देते हैं और कभी विश्राम की अवधि बढ़ाने पर। उदाहरणार्थ, १९३६ और १९३७—जो वर्द्धमान सम्पन्नता का काल था—की ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने मजदूरी बढ़ाने की अपेक्षा कार्य-सप्ताह को घटाने पर अधिक जोर दिया था।

फिर भी, किसी विशेष समय, कार्यशील सप्ताह की सीमा निर्धारित रहती है। अब हमारी समस्या यह है कि प्रत्येक व्यवसाय में कार्य करने-वाले श्रमियों की संख्या कैसे निर्धारित होती है ?

यदि प्रत्येक श्रमी जिस व्यवसाय में चाहता उसीमें काम पा जाता तो सभी व्यवसायों की "निस्तुष सुविधाएँ" (Net advantages) समान होतीं। किसी-किसी व्यवसाय में मजदूरी दूसरों की अपेक्षा कम हो सकती थी परन्तु वह अन्तर इस कारण मिट जाता कि कम मजदूरीवाला धंधा अथवा उसमें कार्य करने की अवस्था अधिक आकर्षक होती। श्रमी विभिन्न व्यवसायों में अपना वितरण इस प्रकार कर लेते कि (अन्य सुविधाओं अथवा असुविधाओं का विचार करने पर) सर्वत्र मजदूरी समान रहती। किसी एक प्रकार के श्रम के लिए अधिक माँग होने से उसकी मजदूरी बढ़ जाती, परन्तु ऐसा केवल कुछ काल के लिए होता; क्योंकि अन्य व्यवसायों को छोड़कर श्रमी उस व्यवसाय में प्रवेश करते जिससे उस प्रकार के श्रम का सीमान्त उत्पाद घट जाता। इसी प्रकार एक प्रकार के श्रम की माँग घट जाने पर उसकी मजदूरी केवल अल्पकाल के लिए घटती क्योंकि कुछ श्रमी उस कार्य को छोड़ देते जिससे जो बच जाते उनका सीमान्त उत्पाद बढ़ जाता।

वास्तव में विभिन्न व्यवसायों की निस्तुष सुविधाएँ कभी समान नहीं होतीं। अधिकतर जितने ही हेय कार्य हैं उनकी मजदूरी उतनी ही कम है और कुछ व्यवसायों—जैसे वकालत, डाक्टरी आदि—में दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक अर्जन है। निःसंदेह इसका कारण यह है कि अधिकांश श्रमियों (अथवा श्रम के बाजार में नवागन्तुकों) के लिए अच्छे वेतनवाले व्यवसायों में प्रवेश पाना कठिन होता है।

अपेक्षाकृत अधिक वेतनवाले व्यवसायों में प्रवेश करनेवालों की संख्या पर विधि (कानून) द्वारा भी नियंत्रण हो सकता है। जैसे प्रशिक्षित

कर्मचारी (Journeyman) के रूप में अधियोजन प्राप्त करने के पूर्व किसी श्रमी को किसी निश्चित अवधि तक परिवासिक (Apprentice) के रूप में कार्य करना अनिवार्य हो सकता है और परिवासिकों की संख्या राज्य द्वारा सीमित रखी जा सकती है। फिर संभव है कि राज्य किसी "संयोजित" (Planned) धंधे में— अर्थात् जिसके उत्पादन का मूल्य बनाए रखने के लिए राज्य उसके उत्पादन पर नियंत्रण रखता है—नवागन्तुकों का प्रवेश वर्जित अथवा सीमित कर दे।

कुछ जन्मजात गुण अपनी माँग की अपेक्षा कम मात्रा में उपलभ्य होते हैं। इसीसे बहुत से श्रमी अपेक्षाकृत कम मजदूरी पाते हैं; क्योंकि अच्छे वेतनवाले व्यवसायों में अधियुक्त होने के लिए जिस मात्रा में कुशाग्रता, अथवा व्यवसाय-कुशलता अथवा यंत्रों की ओर अभिरुचि अथवा कलात्मक रुचि की आवश्यकता होती है उसका उनमें अभाव रहता है।

परन्तु अधिक श्रमी अच्छे वेतनवाले व्यवसायों में क्यों नहीं प्रवेश करते? इसका संभवतः मुख्य कारण यह है कि उनके पास अपेक्षित पूँजी का अभाव होता है। कुछ व्यवसायों—जैसे वकालत, डाक्टरी, इंजीनियरी आदि—में प्रवेश करने का अधिकार केवल उन्हीं को प्रदान किया जाता है जिन्होंने किसी प्रकार की परीक्षा द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उन्होंने उसके लिए विधि द्वारा अपेक्षित न्यूनतम योग्यता प्राप्त कर ली है। इस प्रकार बहुत से व्यक्ति, जिनमें इन व्यवसायों में से किसी में प्रवेश करने के लिए जन्मजात योग्यता है, केवल इसलिए रोक दिए जाते हैं कि वे आवश्यक शिक्षा अथवा प्रशिक्षण का भार नहीं उठा सकते और न तो वे उस आय का त्याग करने में समर्थ होते हैं जो उस काल में वे पढ़ाई छोड़ कर अर्जित कर सकते हैं। अतः ऐसे व्यवसायों में अर्जन उन व्यवसायों के अर्जन से, जिनमें शिक्षण की कम अथवा बिलकुल नहीं आवश्यकता पड़ती, पर्याप्त अधिक—शिक्षा आदि में लगाई जानेवाली पूँजी पर व्याज और ऋण-परिशोध के अन्तर से भी अधिक—होता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि डाक्टरी की योग्यता प्राप्त करने के लिए एक युवक को पाँच वर्ष तक विश्वविद्यालय और अस्पताल की शिक्षा आवश्यक है। इस अवधि में संभव है कि उसने किसी अपेक्षाकृत अकुशल व्यवसाय में कार्य करके ७५० पौंड अर्जित कर लिया होता और उसे २५० पौंड फीस, पुस्तकों तथा यंत्रों के लिए व्यय करना पड़ा होता। १००० पौंड पर ५ प्र० श० की दर से केवल ५० पौंड वार्षिक व्याज होगा और ३० वर्ष का कार्यशील जीवन मान लेने पर इसका ऋण-परिशोध बहुत कम होगा। अब यदि इतनी पूँजी की लागत से उसे १०० पौंड प्रति-वर्ष की आय होने लगे तो यह बहुत से अन्य विनियोजनों (Investments) की अपेक्षा

अधिक आय मानी जायगी। परन्तु वास्तव में प्रायः डाक्टरों का अर्जन १०० पौंड वार्षिक से बहुत अधिक होता है। और इसका मुख्य कारण यह है कि बहुत से युवक और युवतियाँ, जो डाक्टरी के व्यवसाय में अच्छे कुशल हो सकते हैं वे आवश्यक पूँजी लगाने में असमर्थ होती हैं और न तो उनके मातापिता या मित्र ही ऐसे होते हैं जिनके पास उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देने का साधन अथवा दृढ़ इच्छा हो। अतः संपन्न मातापिताओं के बच्चे बड़ी सुविधा के साथ जीवन में प्रवेश करते हैं। सीमित संख्या में कुछ बच्चों को उस अवधि के उपरान्त भी, जब कि अन्यथा वे श्रम के बाजार में प्रविष्ट होने के लिए विवश हुए होते, अध्ययन चालू रखने के लिए राज्य तथा अन्य संस्थाएँ छात्रवृत्ति, निर्वाह-व्यय आदि देकर उपर्युक्त सुविधा को कुछ घटाती अवश्य हैं परन्तु मिटा नहीं सकतीं।

फिर अपना निजी व्यवसाय आरंभ करने अथवा किसी जमी हुई संस्था में साझेदारी लेने के लिए भी पूँजी की आवश्यकता होती है। अतः निर्धन मातापिताओं की संतान के लिए, जबतक वे पर्याप्त पूँजी बचा न सकें अथवा ऋण न ले सकें—और थोड़ी आय में से न तो अधिक बचत ही संभव है और न पर्याप्त ठोस सम्पत्ति की जमानत दिए बिना ऋण ही प्राप्त हो सकता है—तबतक ऐसे क्षेत्रों के द्वार बंद रहते हैं।

कुछ काम अंशतः "प्रभाव" द्वारा प्राप्त किए जाते हैं और कुछ—जैसे हिस्सों की दलाली अथवा मूल्यवान मोटरों की बिक्री कराना—में पर्याप्त धनवान व्यक्तियों से परिचय बड़ा सहायक होता है।

अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अच्छे वेतनवाले व्यवसायों में अधिक संख्या न होने का मुख्य कारण—यद्यपि एकमात्र कारण नहीं—यह है कि अधिकांश आधुनिक समाजों में पर्याप्त मात्रा में आय की असमानता पाई जाती है।

८. स्त्रियों का अर्जन

औसत पुरुष की अपेक्षा औसत स्त्री बहुत कम अर्जित करती है।[1] अंशतः इसका कारण यह है कि बहुत से क्षेत्रों में उनकी सीमान्त उत्पादकता

१. इंगलैंड में १९३५ में जहाँ पुरुषों का अर्जन ६४ शि० ६ पें० प्रति सप्ताह था वहाँ स्त्रियों का लगभग ३१ शि० ३ पें० था। दे० **मिनिस्ट्री औफ लेबर गजट** फरवरी से जुलाई १९३७। जनवरी १९३५ में उद्योगों में स्त्रियों का अर्जन ६३ शि० २ पें० प्रति सप्ताह था जब कि पुरुषों का ११९ शि० ३ पें० था। बहुत से अन्य क्षेत्रों में यह अन्तर कम था। दे० **रिपोर्ट औफ रायल कमीशन औन ईक्वल पे** (१९४६ का सुझाव ६९३७)।

कम होती है और अंशतः इसलिए कि अधिकांश स्त्रियाँ न्यून वेतनवाले धंधों में ही लगी हुई हैं।

जब हम "सीमान्त उत्पादकता" का व्यवहार करते हैं तब हमारा तात्पर्य किसी साधन विशेष की एक "इकाई" कम या अधिक का अधियोजन करने से संपूर्ण आय में होनेवाले अन्तर से होता है। कुछ व्यवसायों में—जैसे वे जिनमें पर्याप्त बल की आवश्यकता पड़ती है,—पुरुष की अपेक्षा स्त्री का भौतिक उत्पादन कम होता है। और ऐसे व्यवसायों में, उन व्यवसायों की अपेक्षा—जैसे बच्चों का लालन-पालन—जिनमें पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक कुशल होती हैं, श्रम की माँग संभवतः अधिक होती है। कुछ अन्य व्यवसायों में—जैसे होटल में सेवक का काम अथवा दूकान पर सहायक का काम—कर्मचारियों को ग्राहकों के लिए वैयक्तिक सेवा प्रदान करनी पड़ती है। अधिकांश ग्राहक पुरुषों की सेवा से सन्तुष्ट रहते हैं जिससे समान कुशलतावाली स्त्री की अपेक्षा पुरुष आय में अधिक वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त, बहुत से पुरुष स्त्रियों की अधीनता में काम करना पसंद नहीं करते अतः अधिकारी पुरुष अपने अधीनस्थ पुरुष कर्मचारियों से समान कुशलतावाली अधिकारी स्त्री की अपेक्षा अधिक कार्य करा सकता है। अन्ततः, बहुत से अधियोजकों का ऐसा विचार है कि पुरुषों पर स्त्रियों की अपेक्षा अधिक निर्भर रहा जा सकता है और इसकी कम आशंका रहती है कि वे स्त्रियों की तरह बीमार होकर अनुपस्थित हो जायँ, अथवा अधिसमय कार्य करना अस्वीकार कर दें अथवा अकस्मात् काम छोड़ उन्हें मँझधार में छोड़ दें। अतः एक ही व्यवसाय में पुरुष की अपेक्षा स्त्री इसलिए कम अर्जित करती है कि या तो उसका उत्पादन कम होता है अथवा ऐसा विश्वास किया जाता है कि कालान्तर में उसके द्वारा व्यवसाय-संस्था की आय में कम वृद्धि होती है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ औसत कम अर्जन क्यों करती हैं इसका एक यह भी कारण है कि उनमें से अपेक्षाकृत बहुत कम ऐसी हैं जो उच्च वेतनवाले धंधों में अधियुक्त हों। इसका एक कारण यह है कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की शिक्षा पर कम व्यय किया जाता है; मातापिता अपनी लड़कियों पर अधिक पूँजी न लगाकर लड़कों पर अधिक लगाते हैं। इसका एक यह भी कारण है कि साधारण जनता स्त्रियों को कुछ व्यवसायों में नहीं देखना चाहती, जैसे स्त्री का वकालत या डाक्टरी करना। इसके अतिरिक्त अधियोजक प्रायः सोचते हैं कि स्त्री का मुख्य उद्देश्य होता है, विवाह कर लेना और फिर काम छोड़ देना, जिससे उन्हें उच्च वेतन-वाले पदों के लिए प्रशिक्षित करने में बड़ी आशंका रहती है कि कहीं सीख कर काम छोड़ दें तो उनके स्थान पर जल्दी कोई दूसरा व्यक्ति पाना

कठिन होगा। अन्ततः, बहुत से व्यवसाय स्त्रियों के लिए बंद से हैं क्योंकि विधि अथवा परंपरा द्वारा (और संगठित पुरुषों द्वारा समर्थित) वे "पुरुषों के व्यवसाय कहे जाते हैं। जैसे इंगलैंड में स्त्रियाँ (भूमि के नीचे) खनन लोहा और इस्पात, भारी इंजीनियरी, भवन-निर्माण, यातायात-कार्य तथा कूट-नीति संबंधी कार्यों में नहीं लगाई जातीं। यह सामाजिक दृष्टि से उचित हो या अनुचित परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे स्त्रियों के लिए अधियोजन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इन सब बातों का सम्मिलित परिणाम यह होता है कि अधिकांश श्रमी स्त्रियाँ कुछ ऐसे व्यवसायों में केंद्रित रहती हैं जहाँ, अधिकतर इसी कारण, उन्हें मजदूरी कम मिलती है।

९. न्यूनतम वेतन

अबतक हमने यह मान लिया था कि किसी व्यवसाय में उस प्रकार के श्रम की माँग अथवा पूर्ति में परिवर्तन होने से मजदूरी-दर स्वतंत्रता-पूर्वक परिवर्तित हो सकती है। अब हम किसी व्यवसाय में न्यूनतम वेतन निर्धारित करने के परिणामों पर विचार करेंगे। न्यूनतम वेतन चाहे राज्य द्वारा निर्धारित हो अथवा मजदूर-संघ द्वारा उसका नियंत्रण हो, परिणाम एक ही होता है।

मान लीजिए कि किसी तथाकथित "शोषित व्यवसाय" (Sweated trade) —अर्थात् वह धंधा जिसमें अधिकांश अन्य धंधों या व्यवसायों की अपेक्षा बहुत कम वेतन मिलता हो—में वेतन निर्धारित करने के लिए एक मंडली की नियुक्ति की जाती है। मान लीजिए, कि वह पहले प्रचलित मजदूरी-दर से पर्याप्त अधिक साप्ताहिक न्यूनतम वेतन निर्धारित करती है। तो यह आवश्यक नहीं है कि जिन मजदूरों के हित के लिए वह निर्धारित की गई है उनका उससे सचमुच लाभ हो। अब उस व्यवसाय का प्रत्येक अधियोजक अपने प्रत्येक कर्मचारी को न्यूनतम वेतन देने के लिए विधि द्वारा बाध्य है। परन्तु अपने वर्तमान कर्मचारियों में से सभी को इस ऊँची मजदूरी-दर पर अधियुक्त रखने के लिए वह बाध्य नहीं है। अतः बहुत से श्रमी हटाए जा सकते हैं, और संभव है कि जो थोड़ी मजदूरी वे उस व्यवसाय में पा रहे थे वह भी किसी अन्य धन्धे की अपेक्षा, जिसमें कार्य करने में वे समर्थ थे, अधिक रही हो जिससे अब वे ऐसे धंधों में कार्य करने को बाध्य हों जिनमें उन्हें पहले से भी कम वेतन मिले अथवा—यदि राज्य किसी भी व्यक्ति को एक न्यूनतम से नीचे मजदूरी स्वीकार न करने दे तो—वे सर्वदा के लिए अनधियुक्त हो जायँ और उन्हें सार्वजनिक सहायता अथवा भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने को विवश होना पड़े।

ऐसी आशा की जाती है कि न्यूनतम वेतन इतना ऊँचा होगा कि उस व्यवसाय में पहले से कार्य करनेवालों की अपेक्षा अधिक कुशल श्रमी दूसरे धंधों से उसमें आकर्षित होंगे। यदि ऐसा होगा तो, अधियोजक यथासंभव अपने वर्तमान कर्मचारियों के स्थान पर उन कुशल श्रमियों को रखने लगेंगे और न्यूनतम वेतन का मुख्य परिणाम यह होगा कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों में श्रम का पुनर्वितरण होगा। एक दूसरी संभावना यह है कि अधियोजक अपने कुछ कर्मचारियों को हटा कर श्रम की बचत करनेवाले यंत्रों की स्थापना तथा अन्य उपायों का अवलंबन करेंगे। पुरानी मजदूरी-दर पर संभव है कि कोई यंत्र श्रम से महँगा पड़ता रहा हो परन्तु मजदूरी में वृद्धि हो जाने के कारण संभव है कि अब वह सस्ता पड़े।[1] किसी भी दशा में, वेतन में वृद्धि होने पर प्रभावित धंधों में लाभ की मात्रा घट जायगी। कुछ कम कुशल अधियोजकों का तो दिवाला निकल सकता है। कुछ अधियोजक अपना कार्यक्षेत्र बदल सकते हैं। कालान्तर में नई पूंजी और साहस का उस धंधे में प्रवेश रुक जायगा जिससे उत्पादन में कमी हो जाने के कारण उस धंधे में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं का मूल्य फिर चढ़ने लगेगा और उस धंधे में भी उतने ही लाभ की संभावना हो जायगी जितनी अन्य धंधों में होती है।

अतः न्यूनतम वेतन का संभाव्य परिणाम यही होगा कि उस धंधे में अधियोजन घट जायगा। परन्तु यह प्रभाव व्यक्त होने में कुछ विलंब लग सकता है। स्थायी यंत्रोंवाले अधियोजक लगभग पहले के बराबर कर्मचारियों को रखकर काम चालू रख सकते हैं, यद्यपि अब उससे उनकी आय कम होती है; परन्तु जब यंत्र घिस जाता है तब संभवतः उसके स्थान पर दूसरा यंत्र नहीं स्थापित होगा और यदि होगा भी तो किसी दूसरे रूप में जिसमें पहले से कम श्रम की आवश्यकता होगी। अतः वेतन-वृद्धि के पश्चात् पर्याप्त समय बीत जाने पर यदि श्रमी काम से हटाये जाते हैं तो उसका कारण प्रायः न्यूनतम वेतन नहीं समझा जाता वरन् अधियोजकों की अकुशलता अथवा श्रम की बचत करनेवाले उपाय समझे जाते हैं।

---

१. परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वेतन-निर्धारण से किसी देश की संपूर्ण पूँजी में वृद्धि होने लगती है। वरन् अधिक संभावना यह है कि—लाभ को घटाकर और अधिक संख्या में अनधियुक्तों के लए निर्वाह का प्रबंध करने के लिए कर में वृद्धि करके—पूंजी का संचय रोक दिया जाय। परन्तु इससे यह भी हो सकता है कि बचत की उपलब्ध मात्रा विभिन्न क्षेत्रों में कुछ भिन्न रूप में वितरित हो जाय, जैसे उसकी कुछ मात्रा भवन-निर्माण अथवा किसी नए आविष्कार के विकास में न लगाई जाकर श्रम के बदले प्रयुक्त होने लगे।

उत्पादन की विधियों में परिवर्तन होने के लिए पर्याप्त समय बीत जाने पर, वेतन-वृद्धि के कारण उस धंधे में अधियोजन कहाँ तक घटेगा यह उस प्रकार के श्रम की माँग की लोच पर निर्भर होगा। और श्रम की माँग की लोच उस पदार्थ की माँग की लोच पर निर्भर होगी, जिसके उत्पादन में उस प्रकार का श्रम सहायक होता है, तथा इस बात पर निर्भर होगी कि यंत्रादि अन्य साधन कितनी सरलता से उसके स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। यदि उसके उत्पाद को विदेशों से आयात होने-वाले ऐसे पदार्थों के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है जिसका मूल्य पूर्ववत् है तो उनकी माँग बहुत लचीली होगी। अत:उस प्रकार के श्रम की माँग भी वैसी ही लचीली होगी; और उसकी मजदूरी में वृद्धि होने से अधियोजन में पर्याप्त कमी हो जायगी। इसके विपरीत, यदि उसके उत्पाद के मूल्य में पर्याप्त वृद्धि होने से उसकी बिक्री में थोड़ी ही कमी होती तो संभव है कि अधियोजन में भी थोड़ी ही कमी हो। हम कहते हैं "संभव है", यह नहीं कि "होगा ही" क्योंकि प्रतिष्ठापन (Substitution) की संभावना का बहुत महत्त्व है। कोई साहसी कम से कम लागत पर किसी पदार्थ की कोई मात्रा उत्पन्न करना चाहेगा; और यदि मजदूरी में वृद्धि होने पर कोई वैकल्पिक उत्पादन—जिसमें अधिक पूँजी का उपयोग होता हो—सस्ती पड़ती है तो वह उसी विधि का उपयोग अपनायेगा चाहे उसके उत्पादन की माँग सर्वथा रूढ़ ही क्यों न हो। जहाँ प्रतिष्ठापन अधिक सीमा तक लाभकर नहीं होता, वहाँ श्रम की लागत का संपूर्ण लागत से अनुपात महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि वह जितना ही कम होगा उसके उत्पादन के मूल्य में उतनी ही कम वृद्धि होगी। जिससे मजदूरी में वृद्धि होने से अधियोजकों को जो क्षति होगी उसकी पूर्ति हो जायगी।

फिर भी, इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि, कालान्तर में, न्यूनतम वेतन से उन श्रमियों की हानि होगी जिनकी सहायता करना उसका उद्देश्य रहा है। चार प्रकार से वह उनके लिए सचमुच ही हित-कारी हो सकता है।

सबसे पहले, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, स्थिर तथा विशेषीकृत (Specialized) यंत्र के विद्यमान होने का अर्थ यह है है कि उत्पादन-विधि में तुरत परिवर्तन नहीं किया जा सकता; अत: संभव है कि अधिक अनधियोजन को रोकने के लिए लाभ को कम करके वेतन में वृद्धि कर दी जाय। यदि उत्पादन में अल्प ह्रास होने से ही उत्पादित पदार्थ के मूल्य में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है तो इसकी कम आशंका है कि बहुत-से कारखाने बंद हो जायँगे; और यह कहा जा

सकता है कि वेतन में वृद्धि का कुछ अंश उस पदार्थ के ऊँचे मूल्य के रूप में उसके उपभोक्ताओं के ऊपर डाल दिया जाता है। इस प्रकार अधिकांश श्रमी ऊँची मजदूरी-दर पर पर्याप्त समय तक अधियुक्त बने रह सकते हैं और इस बीच अवस्था में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन हो सकता है, जैसे उनकी कुशलता में वृद्धि होना, जिससे उनके श्रम की माँग बढ़ जाय और वे सभी—अथवा लगभग सभी—अधियुक्त बने रहें।

इससे हम दूसरी बात पर पहुँचते हैं। किसी श्रमी के वेतन में वृद्धि होने से संभव है उसकी कुशलता बढ़ जाय। इससे वह अधिक मात्रा में तथा उच्चतर कोटि का भोजन तथा "कुशलता के लिए आवश्यक" अन्य पदार्थ उपभोग करने में समर्थ हो सकता है, इससे उसकी अर्थ-संबंधी कुछ बड़ी चिन्ताएँ मिट सकती है जिससें उसका कार्य पहले से उत्कृष्ट होने लगे; इससे उसमें अपनी वेतन-वृद्धि के बदले अधिक कार्य करने की प्रवृत्ति जागृत हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि यदि श्रमी अधिक कार्य करते हैं तो उत्पादन में वृद्धि होती है और उनके उत्पादित पदार्थों का मूल्य गिरने लगता है; परन्तु इसके विपरीत प्रति इकाई श्रम की लागत भी घट जाती है जिससे अन्य साधनों की अपेक्षा श्रमकी माँग अधिक बढ़ती है; अतः अनेक दशाओं में समयानुसार वेतन दिये जानेवाले श्रमियों की कुशलता में वृद्धि होने से उनकी माँग में वृद्धि होती है। परन्तु हम इतना और कह देने के लिए विवश होते हैं कि इस बात पर विश्वास करने का कोई आधार नहीं जान पड़ता कि आज आधुनिक देशों में अधिकांश मजदूरों को दी जानेवाली मजदूरी में वृद्धि होने से उनकी कुशलता में कोई विशेष वृद्धि होगी।

तीसरी बात यह है कि किसी व्यवसाय के कुछ अथवा सभी कर्मचारी अपने अधियोजकों द्वारा इस अर्थ में "शोषित" (Exploited) किये जा सकते हैं कि उनकी मजदूरी ऊँची होने पर भी, दीर्घ काल में, वे (अधियोजक) उन्हें अधियुक्त रखें। परन्तु इस अर्थ में शोषण सरल कार्य नहीं है। संभव है कि कोई व्यवसाय-संस्था अथवा कुछ व्यवसाय-संस्थाओं का संघ किसी वस्तु का एक मात्र उत्पादक हो फिर भी अपने श्रमियों का शोषण करने में वह असमर्थ हो; क्योंकि यदि उस कोटि के श्रमियों की अधिक मांग अन्य धंधों में हो, जहाँ प्रतियोगिता हो, तो उन्हें उस धंधे में बनाये रखने के लिए वे उनके सीमान्त उत्पादन का पूर्ण अर्घ देने के लिए बाध्य होंगे। जब कोई व्यवसाय-संस्था अथवा व्यवसाय-संस्थाओं का संघ किसी विशेष प्रकार के श्रम का एक मात्र क्रेता होता है तभी वह शोषण करने में समर्थ होता है और उस अवस्था में भी उनकी शोषण-शक्ति की सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि कितनी सरलता

से वे उसी प्रकार की योग्यता अपेक्षित रखने वाले अन्य धंधों में जाकर कार्य कर सकते हैं। वास्तव में ऐसे बहुत कम व्यवसाय हैं जिनके श्रमी केवल एक व्यवसाय-संस्था अथवा संस्थाओं के संघ द्वारा अधियुक्त किये जाते हैं। परन्तु ऐसा हो सकता है कि किसी जिले में किसी एक प्रकार के श्रम का अधियोजक केवल एक ही व्यवसाय-संस्था हो। यदि उसके श्रमी उस जिले को छोड़ने में हिचकते हों, चाहे वे अन्यत्र अधिक अर्जन कर सकें, तो उनका शोषण हो सकता है। फिर भी इस प्रकार के स्थानीय शोषण पर एक प्रकार का प्रबल प्रतिबंध यों लग सकता है कि सस्ते श्रम से आकृष्ट होकर अन्य व्यवसाय-संस्थाएँ उस जिले में कारखाने खोल दें और प्रतियोगिता द्वारा मजदूरी ऊँची कर देंगे। फिर यह भी आशा की जा सकती है कि यदि कोई अधियोजक प्रत्येक श्रमी से अलग-अलग मजदूरी पटाता है तो संभव है कि उसे ऐसे मजदूर भी मिल सकें जो उनकी अपेक्षा कम वेतन लेने को प्रस्तुत हों जो अधिक कुशल न होने पर भी अधिक पा रहे हों। परन्तु इसमें संदेह है कि ऐसा करने से उसे लाभ होगा। ऐसे श्रमी जबतक उसके यहाँ रहेंगे तबतक असंतुष्ट रहेंगे और कभी न कभी अन्यत्र काम ढूँढ़ लेंगे। इस प्रकार का कुछ शोषण वर्तमान काल में घरेलू नौकरों के बाजार में हो सकता है, परन्तु संभवतः अधिकांश गृहिणियों का यह अनुभव है कि नौकरों को जितना वे अन्यत्र अर्जन कर कर सकते हैं उतना देना लाभकर होता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि न्यूनतम वेतन न हो तब भी शोषण प्रचलित न होगा। राज्य द्वारा निर्धारित अथवा मजदूर-संघ द्वारा नियंत्रित न्यूनतम-वेतन से शोषण का विनाश होता ही है अतः इससे श्रमियों का वास्तविक लाभ होता है क्योंकि उनमें से अधिकांश के अनधियुक्त हुए बिना उनका वेतन बढ़ जाता है।

अन्त में हमें अनधियोजन वृत्ति (Unemployment benefit) का भी विचार करना चाहिए। ऐसा कहा जा सकता है कि यदि मजदूरी-दर में वृद्धि होने से श्रमियों के किसी समूह में से बहुतों को अनधियुक्त होना पड़े जिससे पूरे समूह को प्राप्त होनेवाली मजदूरी की कुल रकम में कमी हो जाय तो उस समूह को वेतन-वृद्धि से लाभ नहीं होगा। परन्तु यदि उस समूह के अनधियुक्त सदस्य प्रति सप्ताह लगभग उतनी ही रकम पाने लगें, जितनी पहले उनकी मजदूरी थी, और जिसके दाता अधिकतर उसके भाई-बन्धु श्रमी नहीं वरन् अधिक संपन्न कर-दाता हों तो स्थिति भिन्न हो जायगी। तब न्यूनतम वेतन अपेक्षाकृत संपन्न व्यक्तियों से आय के अन्तर का एक साधन हो जायगा जिससे श्रमियों का वह पूरा समूह पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हो जायगा।

अव हम सबका सारांश दे सकते हैं। पहले प्रचलित दर से ऊँचे स्तर पर निर्धारित न्यूनतम वेतन से उनको स्पष्ट लाभ होगा जो अधियुक्त रह जायँगे। इससे संभवतः कुछ अनधियोजन होगा—कितना होगा यह उन परिस्थितियों पर निर्भर होगा जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। जो अनधियुक्त हो जायँगे, अथवा कम वेतनवाले धंधों में जाने को विवश होंगे, उन्हें हानि होगी; संबद्ध धंधोंमें लाभ की मात्रा कुछ काल के लिए घट जायगी, जिन पदार्थों के मूल्य चढ़ जायँगे उनके उपभोक्ता उस मात्रा में पीड़ित होंगे; और कर-दाताओं तथा अन्य लोगों का अनधियोजन वृत्ति के लिए संभवतः पहले की अपेक्षा अधिक देना पड़ेगा।

अबतक हमने केवल एक या कुछ थोड़े से व्यवसायों में ही न्यूनतम वेतन निर्धारित करने के परिणामों पर विचार किया है। यह विचार करना उपादेय होगा कि यदि सरकार प्रत्येक श्रमों की "वास्तविक" मजदूरी में पर्याप्त वृद्धि करने पर जोर दे तो क्या परिणाम होगा। मान लीजिए कि वह प्रौढ़ पुरुषों के लिए एक "मौलिक" (Basic) न्यूनतम साप्ताहिक वेतन निर्धारित करे और प्रौढ़ स्त्रियों के लिए उससे कम (मान लिया कि पहले के अकुशल श्रमियों के लिए प्रचलित मजदूरी दर से २० प्र. श. अधिक) मजदूरी निर्धारित करे और किसी को उससे कम पर काम करने की अनुमति न दे और सभी व्यवसायों में लगभग २० प्र. श. मजदूरी बढ़ा दें। यह निश्चित करने के लिए कि "वास्तविक" मजदूरी बढ़ाई गई है, निःसंदेह वह द्रव्य के रूप में मजदूरों का निर्वाह-व्यय के अनुसार परिवर्तनीय रखेगी, जिससे यदि भोजन, वस्त्र और वास-स्थान तथा श्रमियों द्वारा क्रय की जानेवाली अन्य वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाय तो उसी अनुपात में उनका द्रव्य के रूप में मिलने वाली मजदूरी भी बढ़ जाय।

इससे वे तीनों त्रुटियां दूर हो जायँगी जो केवल कुछ व्यवसायों के लिए न्यूनतम वेतन निर्धारित करने से उत्पन्न हुई थीं। अपेक्षाकृत अकुशल श्रमी, जो मौलिक वेतन के योग्य भी न होंगे, अन्यत्र कम वेतनवाले धंधों में भी कम काम करने से रोके जायँगे। श्रम का पुनर्वितरण प्रायः नहीं के बराबर होगा; निकाले गये श्रमी अनधियुक्त ही रहेंगे। इसके अतिरिक्त उत्पादन में कमी होने से मूल्य में जो वृद्धि होगी वह लाभ के ह्रास को रोकने में समर्थ न होगी; क्योंकि मूल्य चढ़ने का अर्थ होगा द्रव्य के रूप में मजदूरी में वृद्धि। अन्त में, श्रम की बचत करने वाले यंत्रों तथा अन्य साधनों का मूल्य भी लगभग उतना ही चढ़ेगा जितना व्यय के रूप में मजदूरी। अतः उत्पादन-विधि मे परिवर्तन करके लाभ में होनेवाले ह्रास को रोकने का बहुत कम अवसर मिलेगा। परिणाम यह

हो सकता है कि पूंजी के संग्रह तथा विनियोजन (Investment) पर भारी रुकावट लग जाय; कुछ कालोपरान्त, यंत्र, व्यापार-संबंधी मालों इत्यादि के रूप में व्यक्त देश की संपूर्ण पूंजी का ह्रास हो सकता है। श्रम से सहयोग करनेवाली पूंजी की रकम में ह्रास होने का अर्थ हो सकता है श्रम के सीमान्त उत्पादन का ह्रास। वेतन-निर्धारण की अनुपस्थिति में इसका परिणाम हो सकता है वेतन में कमी; यदि वास्तविक वेतन पूर्ववत् रखा जायगा तो उससे अनधियोजन की वृद्धि होगी।

ऐसी नीति का परिणाम यह होगा कि विद्यमान यंत्रों तथा सज्जा के स्वामी "चूसे" जायँगे। परन्तु हमारे तर्क से यह संकेत होता है कि इससे पर्याप्त अनधियोजन की वृद्धि हो सकती है (यह अनधियोजन अनुपातत: उससे अधिक होगा जितना एक या दो व्यवसायों मेंन्यूनतम वेतन निर्धारित करने से होता) और ज्यों-ज्यों समय बीतेगा त्यों-त्यों अनधियुक्तों की संख्या बढ़ सकती है। ऐसा तब होगा जब लाभ में ह्रास और (अनधियुक्तों को प्रदान करने के लिए) कर में वृद्धि होने से देशकी संपूर्ण पूँजी का ह्रास होगा। औस्ट्रेलिया में (जहाँ वेतन-नियंत्रण का अन्य देशों की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक व्यवहार हुआ है) वेतन-नियंत्रण का इतिहास यह बतलाता है कि इस प्रकार की नीति की आशंकाएँ वास्तविक हैं और वेतन-निर्धारण के अधिकारियों ने उन्हें स्वीकार किया है। मजदूरों के हितों की शुभ कामना रखते हुए भी, अनेक अवसरों पर, प्रयोग द्वारा इसका पता लगाने से उन्हें हिचक हुई है कि उपर्युक्त संचयी असंतुलन (Cumulative disequilibrium) की भयंकरता केवल अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क की उपज है या वास्तविक।

१०. मजदूर-संघ और मजदूरी

यह स्पष्ट है कि जबतक किसी व्यवसाय के अधिकांश मजदूर मजदूर-संघ में सम्मिलित नहीं होते तब तक उसकी शक्ति अधिक नहीं होती। यदि मजदूर-संघ में असम्मिलित मजदूरों की सहायता से, जो हड़तालियों के स्थान पर स्वयं कार्य कर सकते तथा अन्य धंधों से या अनधियुक्त मजदूरों में से मजदूर लाकर कार्य करा सकते हैं,अधियोजक अपना काम चला सकते हैं तो अल्पसंख्यक मजदूरों के द्वारा हड़ताल करने की धमकी से उन्हें कोई विशेष चिन्ता नहीं होगी।[१] यदि मजदूर-संघ किसी जिले के लगभग सभी मजदूरों पर नियंत्रण रखता हो तब भी अधियोजक

१. इसी से मजदूर-संघ केवल संघ के सदस्य मजदूरों को अधियुक्त करने और हड़ताल के समय शान्तिपूर्वक धरना देने (अर्थात् मजदूरों को को मना करने) के अधिकार को बहुत महत्त्व देते हैं।

अन्य जिलों से जहाँ तक असहमत मजदूर (Blacklegs) ला सकते हैं वहाँ तक उसकी शक्ति कुंठित हो जाती है। इसके अतिरिक्त किसी संघ की शक्ति उसके कोष पर निर्भर करती है। उसका प्रधान अस्त्र हड़ताल अथवा हड़ताल की धमकी है। यदि हड़ताली अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर सकते तो उन्हें भूख से व्याकुल होकर हार माननी पड़ती है। इसी से ऐसे कोष का महत्त्व बहुत अधिक है। यदि मजदूर संघ द्वारा नहीं वरन् राज्य द्वारा इतनी पर्याप्त अनधियोजन-वृत्ति पाते हैं कि अधिक कष्ट सहे बिना उससे अपना निर्वाह कर सकते हैं तो संघ की शक्ति अधिक प्रबल हो जाती है और वह न्यूनतम वेतन के लिए अड़ सकता है चाहे वह वेतन इतना ऊँचा ही क्यों न हो जिससे कुछ अनधियोजन बढ़ जाय।

किसी विशेष व्यवसाय में न्यूनतम वेतन निर्धारित करने के परिणामों पर विचार किया जा चुका। इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह न्यूनतम वेतन किसी न्यायालय या मंडली द्वारा निर्धारित किया जाता है जिसका निर्णय विधि (कानून) के समान शक्तिशाली है, अथवा वह केवल किसी मजदूर-संघ द्वारा नियंत्रित है। परन्तु हमारे पूर्व-विवेचन का संबंध अपेक्षाकृत कम वेतनवाले धंधों में निर्धारित न्यूनतम वेतन से रहा है। जिन अवस्थाओं में कोई मजदूर-संघ तुलनीय व्यवसायों में मिलनेवाली मजदूरी से पर्याप्त अधिक दर निर्धारित करने में समर्थ हो सकता है उनपर विचार करना मनोरंजक होगा।

मान लीजिए कि कोई संघ अधियोजकों को ऐसी ऊँची दर पर मजदूरी देने के लिए राजी कर लेता है जो कि अन्यथा नहीं दी जा सकती थी। तो इससे अनधियोजन बढ़ेगा। परन्तु संभव है कि मजदूरी बढ़ जाने पर भी उत्पादन-विधि में परिवर्तन करना लाभकर न हो क्योंकि उस प्रकार के श्रम की लागत उत्पादित पदार्थ की संपूर्ण लागत का एक अल्पांश है और उस पदार्थ की माँग पर्याप्त रूढ़ है। ऐसी अनुकूल अवस्थाओं में अनधियोजन की मात्रा कम हो सकती है।

परन्तु आगे बढ़ने के पूर्व हम यह बतला देना चाहते हैं कि संभव है ऐसी अनुकूल अवस्थाएँ दीर्घकालीन न हों। किसी विशेष प्रकार के श्रम की लागत में वृद्धि होने से भिन्न विधियों, अथवा उसी प्रकार की आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले भिन्न पदार्थों, के आविष्कार को उत्तेजना मिल सकती है जिसमें उस प्रकार के श्रम का कम उपयोग हो। इसके अतिरिक्त अनेक धंधों में अनेक प्रकार के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। किसी एक प्रकार के श्रम की मजदूरी संपूर्ण लागत का एक अल्पांश हो सकती है; परन्तु यदि एक प्रकार के श्रम की मजदूरी में वृद्धि की जाती

है तो दूसरे प्रकार के श्रमी भी उसका अनुसरण करेंगे और उन सबका संपूर्ण लागत पर, और उसके द्वारा अधियोजन पर, पर्याप्त अधिक प्रभाव पड़ सकता है।

यदि यह मान लिया जाय कि अवस्था अनुकूल रहेगी तो क्या वढ़ी हुई मजदूरी दर स्थित रखी जा सकती है? कल्पना (Hypothesis) द्वारा उसी प्रकार की अपेक्षित योग्यतावाले अन्य व्यवसायों में मिलने वाली दर से वह ऊँची है। विद्यालयों से निकलनेवाले वालक अन्य धंधों की अपेक्षा उसी में अधिक प्रवेश करेंगे—तुलनीय व्यवसायों के कुछ कर्मचारी उस व्यवसाय में आने का प्रयत्न करेंगे—विशेषतः उस अवस्था में जव कि उन्हें अपने निवास-स्थान का त्याग नहीं करना पड़ेगा। संभव है कि विचाराधीन कार्य पुरुष का कार्य हो, स्त्री के लिए न हो, परन्तु यदि अधियोजकों को यह विश्वास हो जयगा कि स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम वेतन पर वही कार्य करने के लिए प्रशिक्षित की जा सकती हैं तो पुरुषों को अधियुक्त करने की ओर उनका झुकाव कम होगा। परन्तु नवागन्तुकों की संख्या वढ़ जाने पर संघ के तात्कालिक सदस्यों को अपने लाभ से वंचित होना पड़ेगा। संभव है कि नवागन्तुक संघ का सदस्य होना अस्वीकार कर दें—हो सकता है कि वे अपना पृथक् संघ वनावें—और संघ द्वारा माँग की गई मजदूरी से कम पर कार्य करना स्वीकार कर लें जिससे संघ के सदस्य अनधियुक्त हो जायँ और विवश होकर कम वेतन स्वीकार करने को प्रस्तुत हो जायँ। यदि वे सभी संघ में सम्मिलित हो जायँ और कटौती अस्वीकार कर दें तो अनधियोजन में संगत (Corresponding) वृद्धि होगी जिसमें संघ के पुराने सदस्यों को भी भागी होना पड़ेगा और संभव है कि इससे उनका वेतन-वृद्धि द्वारा होनेवाला लाभ जाता रहे और वे कम वेतन स्वीकार करने को प्रस्तुत हो जायँ।

सारांश यह है कि यदि अन्य सभी वातें अनुकूल मान ली जायँ तो जवतक कोई संघ अपने व्यवसाय में नवागन्तुकों की संख्या पर नियंत्रण न रख सके तवतक इस प्रकार की वेतन-वृद्धि को वनाये रखना उसके लिए संभव नहीं है। और ऐसा करने के लिए सरकारी अनुमति की आवश्यकता है, उदाहरणार्थ, राज्य को ऐसी घोषणा करने के लिए प्रस्तुत किया जाय कि नवागन्तुकों को एक न्यूनतम अवधि तक परिवासिकता (Apprenticeship) करनी अनिवार्य है और प्रत्येक प्रशिक्षक के अधीन शिक्षा ग्रहण करनेवाले परिवासिकों की संख्या भी सीमित कर दी जाय। किसी एकाधिकारी के समान कोई संघ भी पूर्ति पर नियंत्रण रख कर ही अपना मूल्य वढ़ा सकता है।

इतना हम और कह सकते हैं कि पूर्ति को कम करने का एक उपाय यह है कि "धीरे चलो" वाली नीति अपनायी जाय अर्थात् प्रत्येक मनुष्य पहले की अपेक्षा प्रति घंटा कम कार्य करे। यदि किसी व्यवसाय में पर्याप्त अनधियोजन हो तो संघ को यह आशा हो सकती है कि इस नीति से उपलभ्य कार्य का "विस्तार हो जायगा" और उसके अनधियुक्त सदस्यों में से बहुतों के लिए, प्रचलित साप्ताहिक मजदूरी पर, काम मिल जायगा। परन्तु उपलभ्य कार्य की मात्रा निश्चित नहीं होती। "धीरे चलो" वाली नीति उस प्रकार के श्रम का मूल्य बढ़ा देती है जिससे उसकी माँग घट जाती है। यह घटी इतनी अधिक हो सकती है कि पहले से भी कम कर्मचारी अधियुक्त हों। यह घटी कितनी होगी यह उन परिस्थितियों पर निर्भर होगी जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है (जैसे जिस सरलता से उस प्रकार के श्रम के बदले दूसरे साधनों का उपयोग हो सकता हो)। यदि अधिकांश श्रमिकों द्वारा ऐसी नीति का अवलंबन होगा तो संपूर्ण उत्पादन घट जायगा और मूल्य चढ़ जायँगे। इस प्रकार जो संघ अपने सदस्यों के लिए किसी निश्चित मजदूरी-दर पर अधिक अधियोजन प्राप्त करने में सफल हुआ उसे अपनी "धीरे चलो" वाली नीति के फलस्वरूप निर्वाह-व्यय में वृद्धि के रूप में हानि भी उठानी पड़ेगी।

११. अनधियोजन (Unemployment)

अनधियोजन के अनेक "कारण" हैं। सबसे पहले प्रत्येक देश में कुछ अनधियुज्य (Unemployables) व्यक्ति होते हैं जिनकी कुशलता इतनी कम होती है कि वे अधिक कालतक कोई कार्य सँभाल नहीं सकते और भिक्षा-वृत्ति अथवा सार्वजनिक दान पर निर्वाह करने लगते हैं। परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी होती है।[1] फिर कुछ धंधों में—जैसे जहाज पर माल चढ़ाने या उससे उतारने का कार्य (Docking) भवन-निर्माण, ठीका लेना—श्रमिकों की माँग अनिश्चित होती है। किसी एक व्यवसाय-संस्था द्वारा अधियुक्त श्रमिकों की संख्या प्रतिदिन भिन्न-भिन्न हो सकती है जिससे संभव है कि किसी किसी दिन उक्त धंधे से संबद्ध मनुष्यों में से बहुतों को काम न मिले। इसके अतिरिक्त, बहुत से धंधों में पर्याप्त सामयिक परिवर्तन होते हैं जिससे उन धंधों से संबद्ध मनुष्य मंदी के समय अनधियुक्त रहते हैं।

एक साधारण "कारण", जिसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं, है कि बहुत से व्यवसायों में प्रामाणिक मजदूरी-दर अपेक्षाकृत ऊँची

---

१. भारतवर्ष में अपेक्षाकृत बहुत अधिक है—अनुवादक।

रखी जाती है। यह दर (अनधियुज्य व्यक्तियों को छोड़कर) कुछ श्रमी जितना पाने के योग्य होते हैं उससे ऊँची हो सकती है। इस प्रक.र के श्रमी प्रायः अनधियुक्त रहेंगे। यदि प्रामाणिक मजदूरी-दर न्यूनतम है तो जो अधियोजक ऐसे श्रमी की त्रुटि को जान लेता है उसे हटा देगा। और प्रत्येक दशा में यह मार्ग सबसे सरल है; क्योंकि यदि वह उस श्रमी की योग्यता के अनुसार उसे वेतन देना चाहे तो अनेक प्रकार का भ्रम और वितंडावाद खड़ा होने की आशंका रहती है। इसके अतिरिक्त प्रामाणिक दर इतनी ऊँची हो सकती है कि उस व्यवसाय के औसत कुशलतावाले सभी श्रमी काम न पा सकें।

कालान्तर में, विभिन्न पदार्थों की माँग में परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। जिन व्यवसाय-संस्थाओं को माँग के ह्रास का साम.ा करना पड़ता है वे, संभव है, कुछ काल तक अपने सभी कर्मचारियों को अधियुक्त रखें परन्तु यदि माँग में फिर वृद्धि नहीं होती तो वे उन में से कुछ को हटाने को वाध्य होंगे और कुछ व्यवसाय-संस्थाएँ तो विलकुल ही वंद हो जा सकती हैं। मजदूरी में पर्याप्त कमी करके अधिक अनधियोजन रोका जा सकता है, परन्तु वहुत संभव है कि श्रमी अपनी प्रचलित मजदूरी में अधिक कटौती का विरोध करें जो स्वाभाविक है। अव प्रश्न यह उठता है कि क्या अनधियुक्त श्रमी अन्यत्र काम पा सकेंगे? यदि सर्वव्यापी मंदी नहीं है तो कुछ धंधों का तो विस्तार अवश्य ही हो रहा होगा। यदि क्रेता कुछ वस्तुओं पर कम व्यय करते हैं तो अन्य वस्तुओं पर व्यय करने के लिए उनके पास अधिक वचता है। परन्तु संभव है कि वढ़नेवाले धंधे देश के दूसरे भाग में हों और काम से हटाये गये अधिकांश श्रमी जहाँ के तहाँ रह जायँ—विशेषतः यदि वे अनधियोजन-वृत्ति पा रहे हों जो वहुत अपर्याप्त न हो—और पुनः अधियोजन प्राप्त करने की आशा में हों और किसी अपरिचित स्थान पर काम ढूढ़ने के लिए जाना न पसंद करें। फिर, यह भी संभव है कि वढ़नेवाले धंधों में दूसरे प्रकार के श्रम की आवश्यकता हो और अनधियुक्तों में से कुछ इतने अधिक वयस्क हों कि नया व्यवसाय सीखना उनके लिए कठिन हो।

ऊँची मजदूरी के कारण, जैसा कि हम देख चुके हैं, क्रिया-कल्प में परिवर्तन—विशेषतः यांत्रीकरण (Mechanization)—हो सकता है। यदि वह केवल नए आविष्कारों के कारण हो, अथवा ऐसी परिस्थितियों के कारण हो जिससे व्याज-दर गिर जाती है, तो अनधियोजन होना आवश्यक नहीं है। लागत में कमी होने से उत्पादित पदार्थों का मूल्य गिर जायगा और उनकी माँग इतनी लचीली हो सकती है कि वह धंधा पहले के वरावर ही कर्मचारी अधियुक्त कर सके। इसका एक दृष्टान्त

विगत लगभग बीस वर्षों से मोटर का धंधा है। एक मोटर बनाने में अपेक्षित मनुष्यों की संख्या घट गई है परन्तु मोटरों के बनाने में अपेक्षित सम्पूर्ण मनुष्योंकी संख्या इंग्लैंड तथा अन्य देशों में भी बहुत बढ़ गई है।

फिर भी यह मानी हुई बात है कि किसी धंधे में "यांत्रीकरण" (Mechanization) होने से कुछ श्रमी अनधियुक्त हो जाते हैं। परन्तु साथ ही कुछ अन्य धंधों का जिनमें नये यंत्र तथा सज्जा का निर्माण करनेवाले सम्मिलित होंगे, विस्तार भी होता होगा। अतः सब मिलकर अधियोजन में वृद्धि हो सकती है। ऐसा कहना सचमुच ही निरर्थक है कि यांत्रीकरण से अनधियोजन होना अनिवार्य है। अधिकांश औद्योगिक देशों में अनेक वर्षों से यांत्रीकरण होता आ रहा है परन्तु उसके साथ अनधियोजन की वृद्धि नहीं हुई है। इंग्लैंड के उद्योग-धंधों में इधर के कुछ वर्षों में पर्याप्त यांत्रीकरण हुआ है। विभिन्न कालों में अधियुक्त व्यक्तियों की संख्या के तुलनीय आँकड़े देना कठिन है परन्तु "श्रम के आँकड़ों का सारांश" (Abstracts of Labour Statistics) में दिये गये अंकों के आधार पर स्थूल रूप से यह सत्य जान पड़ता है कि बीमा किये हुए अधियुक्त कर्मचारियों की संख्या १९२३ में ९५ लाख के लगभग और १९२९ में १०५ लाख के लगभग थी और १९३७ में १२० लाख से अधिक हो गई थी। यांत्रीकरण की वृद्धि तथा कोयला खोदने आदि के कुछ धंधों में संकोच होने पर भी १९३०-३४ के मंदीवाले वर्षों को छोड़ कर अधियोजन की वृद्धि कार्यशील जनसंख्या के लगभग साथ साथ होती गई है। परन्तु किसी आधुनिक पूँजीवादी देश में अनधियोजन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण व्यापार-चक्र (Trade cycle) है। जब सर्वव्यापी मंदी अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तब अनधियुक्त श्रमियों की संख्या प्रायः उन्नति-काल की अनधियुक्त संख्या की कम से कम दूनी या तिगुनी होती है। व्यापार-चक्र का विवेचन हम अध्याय २०, विभाग ४ में करेंगे परन्तु मन्दी के समय की वेतन-नीति के विषय में हम यहाँ कुछ शब्द कह देना चाहते हैं।

यह बहुत बड़ा विवादास्पद विषय है। कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि उपभोग्य वस्तुओं पर व्यय करने को उत्तेजना देने के लिए; जिससे विनियोजन (Investment) को उत्तेजना मिले, सर्वोत्तम नीति है द्रव्य के रूप में मजदूरी में वृद्धि करना। दूसरों का विश्वास है कि साहसियों की लागत में इस प्रकार की वृद्धि होने से वे और अधिक श्रमियों को काम से हटाएँगी। इसके विपरीत मजदूरी घटाने से (विशेषतः उस समय जब कि सब धंधों में एक साथ मजदूरी न घटकर एक दो में घटाई जायगी) व्यवसाय-संस्थाएँ अधिकाधिक संख्या में श्रमियों को अधियुक्त करने लगेंगी

और वे सज्जा तथा उपादानों आदि की अधिक माँग करेंगी, जिससे विनि-योजन बढ़ेगा। सम्भवतः साहसियों की धारणा और उनकी प्रतिक्रिया पर बहुत कुछ निर्भर होगा। अनेक अर्थशास्त्री सोचते हैं कि अधिकतर न तो द्रव्य रूप में मजदूरी में वृद्धि करने का अधिक प्रभाव पड़ेगा और न उसे घटाने का, और व्यापार-चक्र से लड़ने के लिए दूसरे अस्त्रों का प्रयोग करना होगा।

अठारहवाँ अध्याय

व्याज

१. समाजवाद में व्याज

व्याज की दर किन वातों पर निर्भर होती है यह प्रश्न कठिन और विवादास्पद है। इस विवेचन को सरल करने के लिए हम कुछ गौण वातों को छोड़ देंगे और क्रमशः आगे वढ़ेंगे।

पहले चरण में हम किसी समाजवादी राज्य में व्याज की कार्य-प्रणाली पर विचार करेंगे। सव प्रकार की संपत्ति पर राज्य का स्वामित्व है। व्याज या लाभ या लाभांश (Dividend) या लगान से किसी को कोई आय नहीं होती। केन्द्रीय योजना-समिति यह निर्णय करती है कि सव साधनों का किस प्रकार उपयोग होगा। अनधियोजन कहीं नहीं है।

यह समस्या हमारे सामने पहले भी आ चुकी है। पाठक अध्याय ११ के विभाग ७ को फिर देखकर अपनी स्मृति जागृत कर सकते हैं। वहाँ हम इस वात का विवेचन कर चुके हैं कि कोई आर्थिक अधिनायक (Dictator) किस प्रकार यह निर्णय करेगा कि वह भविष्य के लिए किस सीमा तक और किस रूप में व्यवस्था करे। उस विवेचन को अव थोड़ा आगे वढ़ाने की आवश्यकता है।

समाजवाद में निःसंदेह उत्पादन भविष्य के लिए होगा। रेल-पुल, शक्ति-केन्द्र (Power - stations), इस्पात के कारखाने, यंत्रादि, भवन तथा अन्य टिकाऊ वस्तुओं का निर्माण होगा। कोई योजना-समिति इस प्रकार की समस्या को किस प्रकार सुलझाएगी?

"रेल को एक पहाड़ी पार करनी है। या तो उसका मार्ग खुले में वनाया जा सकता है जिसमें दोनों ओर ढाल होंगे या पहाड़ी काट कर सुरंग के भीतर से उसे ले जा सकते हैं। पहले प्रकार के मार्ग द्वारा कार्य-संचालन का व्यय सर्वदा के लिए वढ़ जायगा; दूसरे मार्ग द्वारा उसके निर्माण के समय अधिक श्रम तथा उपादानों का व्यय होगा। रेल-मार्ग की योजना वनानेवाले अधिकारी कार्य संचालन के वार्षिक अतिरिक्त व्यय और सर्वदा के लिए एक ही वार अतिरिक्त व्यय के वीच किसको अधिक महत्त्व देंगे? यदि निर्माण का अतिरिक्त व्यय कार्य संचालन के वार्षिक अतिरिक्त व्यय का केवल पाँच गुना होगा तो सुरंग वनाना

ही लाभदायक होगा। यदि वह सौगुना अधिक है तो यह निश्चय है कि सुरंग बनाना लाभकर नहीं होगा।"[1]

संभवतः योजना-समिति पहले यह निश्चय करेगी कि समाज की शक्ति और साधनों का कितना अंश भविष्य के लिए—वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के बदले टिकाऊ वस्तुएँ उत्पन्न करने के लिए—लगाया जाना चाहिए। उनका निर्णय अधिकांश में उत्पादकता तथा वास्तविक आय के साधारण स्तर पर निर्भर होगा। यदि स्तर ऊँचा हुआ, जैसा कि संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन में है, तो भविष्य के लिए किए जानेवाले कार्यों का अनुपात अधिक होगा (जैसा कि पूँजीवाद में प्रायः होता ही है); परन्तु यदि स्तर नीचा होगा, जैसा कि भारतवर्ष और इटली में है, तो कम होगा। क्योंकि कुशलता के लिए आवश्यक उपभोग्य वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्रदान करने के लिए उनका उत्पादन आवश्यक है। धनी व्यक्ति के समान धनी देश भी निर्धन की अपेक्षा अधिक बचा कर विनियुक्त कर सकता है और इस प्रकार अधिक संपन्न हो सकता है। धन में ही धन मिलता है।

भविष्य के लिए कितने की व्यवस्था करनी चाहिए इसका निर्णय कर लेने पर अब प्रश्न यह उठता है कि वह व्यवस्था किस प्रकार की जाय। इसका उत्तर एक समाजवादी श्री डिकिंसन इस प्रकार देते हैं।

"आयोजित कार्यों का वर्गीकरण उनके क्रय के लिए अपेक्षित वर्षों की संख्या के अनुसार हो सकता है।" (पहले वाले उद्धरण में ५ वर्ष के क्रय पर सुरंग का निर्माण निश्चय ही लाभकर था परन्तु १०० वर्ष के क्रय पर नहीं।) "यह स्पष्ट है कि समाज को उन कार्यों को हाथ में लेने के पहले, जिनमें कम बचत होती है, ऐसे कार्यों को हाथ में लेना चाहिए जिनमें वर्तमानकाल में अधिक लागत लगाने से बहुत बड़ी वार्षिक बचत होती है। उत्पादन के सभी क्षेत्रों में साधनों का विनियोजन उतने ही वर्षों के क्रय तक करके संतुलन प्राप्त किया जा सकता है। समाज को यह निर्णय करना आवश्यक है कि कितने वर्षों का क्रय (अर्थात् व्याज की दर) आवश्यक होगा; और उसी को कसौटी बनाकर यह देखना चाहिए कि कौन सा कार्य व्यवहार्य होगा और कौन सा अव्यवहार्य।"

इस प्रकार समाजवाद में, यद्यपि कोई भी न तो व्याज लेगा न देगा फिर भी, कलन के लिए व्याज-दर का उपयोग होगा। और दर का निर्धारण एक ओर तो उत्पादन की "संकीर्ण" (Roundabout) अथवा "पूँजीवादीय" विधियों की उत्पादकता द्वारा होगा और दूसरी ओर संयम अथवा मितव्ययता द्वारा। परन्तु संयम या मितव्ययता व्यक्तिगत बचाने-

---

१. एच० डी० डिकिंसन: दी इकनौमिक्स औफ सोशलिज्म, पृ० ८१.

वालों की इच्छा पर न छोड़ कर, आयोजक-समिति द्वारा ऊपर से लादी जायगी। बचत और विनियोजन अर्थात् वर्तमान आवश्यकताओं को व्यवस्था करने के बदले भविष्य की व्यवस्था के लिए साधनों का उपयोग—एक ही वस्तु को देखने के लिए केवल दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं।

२. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता

दूसरे चरण में एक ऐसे पूँजीवादी समाज का विचार करना है, जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण शक्तियों का अभाव है। उसमें अनधियोजन नहीं है, द्रव्य का संचय नहीं होता और प्रतिभूतियों की सट्टेबाजी नहीं होती। बैंक-प्रणाली साख का विस्तार या संकोच नहीं करती और द्रव्य की माँग में परिवर्तन नहीं होता। साहसी उद्योग-धंधों और व्यापार में लगाने के लिए द्रव्य उधार लेते हैं, व्यक्तिगत बचानेवालों द्वारा उन्हें द्रव्य उधार दिया जाता है।

हमारा समाजवादी समाज वास्तविक था जिसका अस्तित्व बड़ी सरलता से संभव था। हमारा माना हुआ पूँजीवादी समाज काल्पनिक है। हमने उसके महत्त्वपूर्ण अंगों की उपेक्षा कर दी है जिनमें से यदि सब नहीं तो कुछ का किसी भी वास्तविक पूँजीवादी समाज में होना अनिवार्य है। हमने उनकी उपेक्षा इसलिए कर दी है कि विषयान्तर अथवा अपवाद बिना कुछ बातें समझाई जा सकें।

साहसी ऋण क्यों लेते हैं? और जो ऋण वे लेते हैं उस पर ब्याज—प्रतिमास अथवा प्रतिवर्ष एक निश्चित प्रतिशत—देने को प्रस्तुत क्यों रहते हैं? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि वे उस ऋण को इस प्रकार उपयोग में लाने की आशा करते हैं कि जो ब्याज वे देते हैं उससे अधिक लाभ की प्राप्ति उन्हें होगी। यदि प्रचलित ब्याज-दर पर कोई साहसी जितना चाहे उतना ऋण प्राप्त कर सकता—वास्तव में प्रायः वह नहीं प्राप्त कर पाता है—तो वह उस सीमा तक ऋण लेता जहाँ सीमान्त लागत सीमान्त आय के तुल्य होती। उदाहरणार्थ प्रत्येक १०० पौंड ऋण पर ५ प्रतिशत की दर से ५ पौंड प्रति वर्ष सीमान्त लागत होगी। उस द्रव्य का व्यवहार करने से उसकी प्राप्ति में जो वृद्धि होगी वही सीमान्त आय होगी। जबतक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होगी तबतक वह ऋण लेकर अपना निस्तुष लाभ बढ़ाएगा।

उसे लाभ क्यों होता है? इसका मुख्य कारण है उत्पादन की "पूँजीवादीय" विधियों की अधिक उत्पादकता। अध्याय १० में हम इसका विवेचन कर चुके हैं। अब हम एक दूसरा उदाहरण लेते हैं। मान लीजिए कि जूतों की माँग-सरणि (Demand schedule) दी हुई है और जूते हाथ से बनाए जाते हैं। कोई साहसी यह अनुभव करता है कि यदि

यंत्रों द्वारा जूते बनाने के लिए वह एक कारखाना स्थापित करे तो वह सस्ते में जूते तैयार कर सकता है। यदि उसके श्रमियों में से कुछ का उपयोग जूते बनानेवाले यंत्रों तथा कारखाने के निर्माण में हो तो श्रमियों की एक निश्चित संख्या से अधिक जूते उत्पादित किए जा सकते हैं। अतः जिस ऋण के द्वारा साहसी ऐसा करने में समर्थ होता है और उससे लाभ प्राप्त कर सकता है उस पर व्याज देने को प्रस्तुत होता है।

ऋणदाता जूते का कारखाना स्वयं स्थापित करके सारा लाभ क्यों नहीं ले लेते? इस प्रश्न पर हम पीछे विचार करेंगे। तबतक के लिए इसका एक आंशिक उत्तर यह है कि सभी लोगों में सफल साहसी के गुण विद्यमान नहीं होते। ऋणदान के द्वारा, उद्योग-धंधों और व्यापार का संगठन और व्यवस्था करने में कम कुशल व्यक्तियों के पास से अधिक कुशल व्यक्तियों के पास द्रव्य का हस्तान्तरण होता है।

द्रव्य के रूप में ही ऋण दिया और लिया जाता है। द्रव्य का अर्थ है साधनों पर अधिकार। ऋण लेनेवाला उसका उपयोग श्रमियों को अधियुक्त करने, उपादानों को क्रय करने इत्यादि के लिए कर सकता है। ऋण दिए हुए द्रव्य को कभी-कभी "मुक्त पूँजी" (Free capital) कहते हैं, उसका उपयोग अधिकतर टिकाऊ माल या कच्चा माल, जिसका उपयोग धंधे में होता है, खरीदने और बनाने के लिए होता है। कभी-कभी इन चीजों को "वास्तविक पूँजी" कहते हैं।

लाभ की प्रत्याशित दर अथवा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता प्रत्येक उद्योग-धंधे और व्यापार के क्षेत्र में प्रायः एक समान होगी। क्योंकि यदि एक क्षेत्र में उन्नति की अधिक आशा दिखाई पड़ती है तो उसमें नवीन व्यवसाय-संस्थाओं का प्रवेश होगा और पहले से विद्यमान व्यवसाय-संस्थाएँ अपना विस्तार करेंगी, मुक्त पूँजी अन्य क्षेत्रों में न जाकर उसीमें प्रवेश करेगी। कुछ ही काल में, इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन में होनेवाली वृद्धि के कारण उस क्षेत्र में उत्पादित वस्तुओं अथवा सेवाओं का मूल्य गिर जायगा। जूते के कारखानों और उनके उत्पादन में वृद्धि होने से जूतों का मूल्य गिर जायगा; जहाजों की संख्या में वृद्धि होनेपर उनका किराया घट जायगा। यह तबतक चलता रहेगा जबतक उस क्षेत्र में प्रत्याशित लाभ की दर अन्यत्र प्रत्याशित दर के बराबर नहीं हो जाती।

यह परिणाम लागत में वृद्धि के द्वारा अधिक शीघ्रता से उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि भवन-निर्माण में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक लाभ की आशा दिखाई पड़ती है। भवनों की संपूर्ण संख्या में प्रतिवर्ष जुड़नेवाली संख्या बहुत अल्प है। जैसे १९३१ में इंगलैंड तथा वेल्स में भवनों की संख्या ९० लाख के ऊपर थी; १९२०

से १९२९ के बीच नवीन निर्मित भवनों की संख्या औसत १॥ लाख प्रतिवर्ष थी। १९३४ से १९३८ के बीच भवन निर्माण की तेजी में यह संख्या दूनी से अधिक हो गई परन्तु ३॥ लाख प्रतिवर्ष से अधिक नहीं हुई। केवल २ या ३ प्र० श० की वृद्धि से कुछ वर्षों तक मकानों के किराए में अधिक कमी नहीं हो सकती। परन्तु यदि भवन-निर्माण की गति दूनी हो जाती है तो उसकी लागत बढ़ जा सकती है। और इस प्रकार इस क्षेत्र में लाभ की दर कुछ ही समय में अन्यत्र प्रचलित दर के बराबर हो जायगी।

उपर्युक्त साधारणीकरण का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद यह है कि एकाधिकार में एकाधिकारी की संपत्ति से प्रचलित लाभ-दर की अपेक्षा अधिक लाभ हो सकता है क्योंकि विनियोजन चाहनेवाली मुक्त पूँजी उस धंधे में प्रवेश नहीं कर सकती।

एक दूसरी बात यह है कि कुछ संपत्तियों—जैसे सोने की नई खानें और एक नए प्रकार का धंधा—से होनेवाली प्रत्याशित आय बहुत अनिश्चित हो सकती है। परन्तु ऐसे क्षेत्रों में विनियोजन करनेवालों को लाभ-हानि के विभिन्न अवसरों की तुलना कर लेने पर यह निश्चय करना पड़ता है, और वे करते ही हैं, कि उस धंधे में अन्ततः उतने ही लाभ की आशा है या नहीं जितने की अन्यत्र है।

यदि, किसी समय, विनियुक्त पूँजी की संपूर्ण मात्रा अधिक हो, तो उसकी सीमान्त उत्पादकता कम होगी। यही कारण है कि विनियोजन चाहनेवाली मुक्त पूँजी की पूर्ति में वृद्धि होने से प्रत्याशित लाभ तथा व्याज की दर गिर जाती है। इसका मूल कारण क्या है? यह समझ लेना सरल है कि उत्पादन के एक क्षेत्र में अधिक पूँजी उत्पादन की मात्रा बढ़ा देगी जिससे उस क्षेत्र के उत्पादित पदार्थों का मूल्य घट जायगा जिसके फलस्वरूप उस क्षेत्र में लाभ की दर भी घट जायगी। परन्तु उपभोक्ताओं के अधिमान के अनुसार सभी क्षेत्रों में वितरित पूँजी की पूर्ति में वृद्धि होने से लाभ की सामान्य दर क्यों घट जाती है? यदि इससे उपभोग्य वस्तुओं का मूल्य घट जाता है—और घटेगा या नहीं यह अपनाई गई मुद्रा-नीति पर निर्भर होगा—तो सब प्रकार की उत्पाद्य वस्तुओं का मूल्य भी घटेगा। हमें इसका कारण बतलाना है कि जब पूँजीकी मात्रा बढ़ती है तब उसकी भौतिक सीमान्त उत्पादकता घट क्यों जाती है। पहले पहल हम ह्रासमान उत्पत्ति नियम (The Law of Diminishing Returns) के द्वारा इसका कारण नहीं बतला सकते। क्योंकि मुक्त पूँजी किसी भी रूप में परिवर्तित की जा सकती है, किसी प्रकार के साधन को क्रय करने या भाड़े पर लेने के लिए उसका उपयोग हो सकता है।

अतः हम किसी ऐसी स्थिति का विवेचन नहीं कर रहे हैं जिसमें उत्पादन के एक साधन की पूर्ति अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि कुछ साधनों में वृद्धि हो ही नहीं सकती अथवा यदि हो भी सकती है तो वर्द्धमान लागत के द्वारा। बहुत उपयुक्त स्थानों की संख्या कम होती है; बहुत से कच्चे पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि तभी हो सकती है जब पूर्ति के दुर्गम अथवा कम उत्पादक स्रोतों तक पहुँचा जाय। कुछ सीमा के पश्चात् विद्यमान भूमि पर अधिक खाद देने से ह्रासमान उत्पत्ति होती है और पर्याप्त उपजाऊ भूमि का क्षेत्रफल सीमित है। और न तो इच्छानुसार यांत्रिक मनुष्य या दास ही गढ़े जा सकते हैं। श्रम की मात्रा सीमित है। अतः उपयोग में आनेवाली पूंजी की मात्रा में वृद्धि होने से विभिन्न साधनों के अनुपातों में परिवर्तन होता ही है और परिवर्तित संयोग उतने लाभदायक नहीं होते जितने वे तब होते जब प्रत्येक साधन समान सरलता से बढ़ाया जा सकता। फलतः किसी समय, पूंजी पर सीमान्त उत्पादन, जिसका माप प्रति १०० पौंड विनियुक्त पूंजी पर लाभ की दर द्वारा होगा, कम पूंजी होने पर अधिक होगा और अधिक पूंजी होने पर कम होगा। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता है, विज्ञान तथा आविष्कारों की प्रगति से पूंजी के उपयोग के नए-नए मार्ग प्रकट होते जाते हैं; अर्थात् उत्पादन की अधिक पूंजीवादीय विधियों द्वारा उत्पादन बढ़ाने के उपाय निकलते जा रहे हैं जिससे ब्याज की दर बढ़ती जा रही है। इस बात का प्रभाव पूंजी के संग्रह के प्रभाव से अधिक भी हो सकता है और कम भी; ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है त्यों-त्यों पूंजी का संग्रह बढ़ता जाता है जिससे ब्याज की दर घटती जाती है।

३. बचत

यह आवश्यक नहीं है कि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अपनी संपूर्ण आय समाप्त कर दे। वह उसमें से कुछ बचा भी सकता है। हमारी प्रस्तुत मान्यता (Assumption) में वह जो कुछ बचाता है उसे ऋण के रूप में देगा। प्रत्येक पौंड जो वह बचाता और ऋण देता है एक एक पौंड अर्घ के साधनों पर अधिकार रखने का द्योतक है। इस अधिकार को वह कुछ काल के लिए छोड़ देता है; वह उसे ऋणी को हस्तांतरित कर देता है। यदि उसने उसे व्यय किया होता तो उतने पौंड अर्घ की वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग किया होता। परन्तु वस्तुस्थिति में ऋणी वास्तविक पूंजी की राशि बढ़ाने के लिए उसके द्वारा श्रमियों को अधियुक्त करता और उपादान क्रय करता है।

हम इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं बना सकते कि जो रकम कोई व्यक्ति बचाता है उसमें उसकी आय अथवा व्याज-दर के अनुसार किस प्रकार परिवर्तन होगा। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। कुछ लोग स्वभाव से ही बड़े मितव्ययी होते हैं और बचाने के लिए "कुशलता के लिए आवश्यक" पदार्थों का भी त्याग कर सकते हैं, इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे व्ययशील स्वभाव के होते हैं कि उनकी आय अधिक हो तब भी वे प्रायः बहुत कम या कुछ भी नहीं बचाते। इसके अतिरिक्त बहुत से लोगों की बचत का आधार उनका भावी अनुमान होता है जिसके द्वारा वे यह निश्चय करते हैं कि भविष्य में उनकी आवश्यकताओं की तुलना में उनकी आय में क्या परिवर्तन होगा। यदि कोई व्यक्ति भविष्य में अपनी आय के बढ़ने की आशा करता है तो वह उससे कम बचाएगा जितना वह अन्यथा बचाता। यदि वह जानता है कि कुछ विशेष आयु के उपरान्त उसकी आय बंद हो जायगी और उसे अवकाश ग्रहण करने को बाध्य होना पड़ेगा तो वह अपने बुढ़ापे के लिए कोई व्यवस्था करने का प्रयत्न करेगा। जिस व्यक्ति को बच्चे होने की आशा है वह इसलिए अधिक बचाएगा कि भविष्य में उनके पालन-पोषण और शिक्षा पर उसका व्यय बढ़ जायगा।

फिर भी अनुभव बतलाता है कि कोई व्यक्ति बड़ी आय में से अधिकतर अधिक और संभवतः अधिक अनुपात में, धन बचाएगा। क्योंकि अपने को जीवित रखने के लिए अपने उपभोग पर उसे केवल एक न्यूनतम द्रव्य की मात्रा व्यय करनी आवश्यक होगी और अपनी कुशलता के लिए संभवतः कुछ अधिक मात्रा की आवश्यकता होगी। अतः यों कहिए कि किसी संपन्न व्यक्ति को, निर्धन की अपेक्षा, बचाने के लिए अधिक अवसर मिलता है। और संयुक्तराज्य (अमेरिका) जैसा देश वास्तव में भारतवर्ष जैसे देश की अपेक्षा, जहाँ के अधिकांश निवासी बहुत निर्धन हैं, प्रतिजन अधिक बचत करता है। यह संभव है कि, यदि किसी देश की संपूर्ण आय का उसके निवासियों में पर्याप्त समान वितरण है तो, वह उससे कम बचाएगा जितना अपनी आय का विषम वितरण होने पर वह बचा सकता। परन्तु इंग्लैंड तथा कुछ अन्य देशों में यह विषय अधिक जटिल इसलिए हो गया है कि वहाँ किसी बड़ी संपत्ति के स्वामी की मृत्यु हो जानेपर मृत्यु-कर लगाया जाता है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इंग्लैंड में सब सम्पन्न व्यक्तियों का विचार करने पर वे अपने जीवनकाल में इतना नहीं बचा पाते कि मृत्यु-कर के बराबर अपनी संपत्ति बढ़ा सकें। परन्तु यह कहना भ्रामक होगा कि अन्ततः संपन्न व्यक्ति अपनी पूँजी का उपभोग करते हैं, क्योंकि, मृत्यु-कर से होने-

वाली आय को मिलाकर, अपनी आय में से राज्य भविष्य के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ करता है।

अनुभव यह भी बतलाता है कि ऊँची ब्याज-दर पर अधिकतर अधिक बचत होती है। निःसंदेह कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो इतने संपन्न होते हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें बचाने की आदत इतना घर कर गई है, कि उनका बचत बहुत कुछ "अपने आप" हो जाती है। चाहे ब्याज की दर पर्याप्त ऊँची हो या नीची वे लगभग उतना ही बचाएँगे (हाँ, यह प्रतिबंध अवश्य है कि ब्याज-दर में परिवर्तन होने से उनकी आय में कमी या वृद्धि नहीं होती जिससे उनके बचाने के सामर्थ्य पर प्रभाव पड़े) कुछ लोग इसलिए बचाते हैं कि उनके पास इतनी पर्याप्त पूँजी हो जाय जिससे उन्हें द्रव्य के रूप में जो आय हो उससे वे अवकाश ग्रहण करने पर अपना निर्वाह कर सकें अथवा वे उसे अपनी संतान को दे सकें अथवा किसी अन्य कार्य के लिए उसका उपयोग कर सकें। यदि उनका उद्देश्य द्रव्य के रूप में प्रतिवर्ष एक निश्चित आय प्राप्त करना है तो ब्याज की दर ऊँची होने पर वे कम बचाएँगे; उदाहरणार्थ, यदि ब्याज-दर दूनी हो जाय तो किसी निश्चित मात्रा में बचत पर ब्याज से आय प्राप्त करने के लिए पहले की आधी रकम आवश्यक होगी। फिर भी ऐसी संभावना है कि बहुत से लोग ऊँची ब्याज-दर पर अधिक और नीची दर पर कम बचाएँगे। उदाहरणार्थ ३ प्र० श० प्राप्त करने के लिए जो व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग में से कुछ रकम का त्याग करने को प्रस्तुत है वह संभवतः ६ प्र० श० प्राप्त करने के लिए पहले से अधिक का त्याग करने को प्रस्तुत होगा। ऐसा मान लेने में कोई भय नहीं है कि अनेक देशों में व्यक्तिगत बचत का पूर्ति-सरणि यदि वक्र के रूप में व्यक्त की जाय, जिसमें ब्याज-दर लंब पर नापी गई हो, तो वह दाहिनी ओर ऊपर की ओर मुड़ेगा यद्यपि संभवतः उसका मोड़ अधिक तीव्र होगा।

बहुत नीची ब्याज-दर से कुछ बूढ़े लोगों में वार्षिक वृत्ति (Annuities) क्रय करने के लिए आय देनेवाली संपत्ति को बेचकर अपनी पूँजी का उपभोग करने की प्रवृत्ति होगी। उदाहरणार्थ, यदि ब्याज-दर केवल २ प्र० श० हो तो ५० वर्ष का एक व्यक्ति, जिसे संपत्ति से आय होती है, अपनी संपत्ति बेचकर और उसकी प्राप्ति से वार्षिक वृत्ति क्रय करके शेष जीवन के लिए अपनी आय को तिगुनी कर सकता है (और मरने के बाद कुछ नहीं छोड़ जायगा)। ब्याज की दर जितनी ही कम होगी, और जितना ही बूढ़ा व्यक्ति होगा, ऐसा करने से, उसकी (उपभुक्त) आय में उतनी ही आनुपातिक वृद्धि होगी। परन्तु बहुत से

लोग ऐसा नहीं करते क्योंकि वे अपनी सन्तान अथवा अन्य उत्तराधिकारियों के लिए व्यवस्था करना चाहते हैं। कम ब्याज-दर पर अधिक संख्या में वार्षिक वृत्तियाँ क्रय होंगी। अतः उपलभ्य नई बचत की मात्रा उतनी कम हो जायगी जितनी रकम वार्षिक जीवन-वृत्ति क्रय करने के इच्छुक संपत्ति बेचनेवालों की संपत्ति लेने में लगेगी और इससे ब्याज-दर की निम्नाभिमुखी गति पर नियंत्रण डालनेवाला प्रभाव पड़ेगा।

आधुनिक पूँजीवादी देशों में संपूर्ण बचत की पर्याप्तमात्रा—संभवतः आधे से अधिक—मिश्रित पूँजीवाली कंपनियों द्वारा एकत्र की जाती है, जो समय-समय पर अपने लाभ की पूरी रकम लाभांश के रूप में हिस्सेदारों में न बाँट कर अपनी संपत्ति की वृद्धि करने के उपयोग में लाती हैं। अधिकांश हिस्सेदार संभवतः ऐसे कार्यों पर आपत्ति नहीं करते। यदि उनका बहुमत इस का विरोध करे तो वे इसे रोक सकते हैं और यदि कोई हिस्सेदार कंपनी की इस नीति को पसंद नहीं करता तो वह अपना हिस्सा बेच सकता है। अतः कंपनियों द्वारा की गई बचत से व्यक्तिगत हिस्सेदारों की इच्छा का पता चलता है।[1] उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य अपनी आय का कुछ अंश सड़कों, भवनों आदि के समान टिकाऊ संपत्ति एवं शिक्षा, अनुसंधान आदि कार्यों पर व्यय करके जो बचत करता है उससे अधिकांश कर-दाता सहमत होते हैं।

बचत का अर्थ हमने उस बचत से लिया है जो विद्यमान पूँजी को अविकल रखने के लिए आवश्यक द्रव्य के अतिरिक्त होती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जिसके पास बेचने योग्य संपत्ति है उसका कुछ अंश बेच कर उसकी प्राप्ति का उपभोग करने के लिए वह स्वतंत्र है। किसी कंपनी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने सतुष (Gross) अर्जन में से पर्याप्त द्रव्य इसलिए पृथक् कर दे कि जब उसकी सब संपत्ति घिस जाय या पुरानी हो जाय तो उसके स्थान पर दूसरी संपत्ति रखी जा सके। कोई सरकार उत्पादक कार्यों पर जितना व्यय करती है, उससे अधिक ऋण ले सकती है। संक्षेप में, लोगों को निरंतर यह निर्णय करते रहना तो आवश्यक है ही कि वे कम बचत करें या अधिक परन्तु यह भी निर्णय करते रहना आवश्यक है कि क्या वे अपनी पूँजी को भी उपभोग में लावें और यदि लावें तो किस सीमा तक? उस पूरी रकम को, जो उपभोग में लाई जाने के बदले संपूर्ण पूँजी की राशि को बनाए रखने और उसकी

---

१. फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि कुछ विद्वान इस विचार से सहमत नहीं हैं। यह प्रश्न बहुत जटिल है जिसका पूरा विवेचन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है।

वृद्धि करने में लगाई जाती है, "सतुष बचत" (Gross saving) कह सकते हैं।

४. वास्तविक बलों द्वारा निर्धारित ब्याज-दर

(The Rate of Interest as determined by Real Forces)

पाठकों ने देखा होगा कि हमारे काल्पनिक पूँजीवादी समाज का, इस अध्याय के प्रथम विभाग में चित्रित समाजवादी समाज से, इस बात में सादृश्य है कि दोनों में समान वास्तविक बलों द्वारा ब्याज-दर का नियंत्रण होता है और उन्हीं के द्वारा उसका कारण स्पष्ट किया जा सकता है।

किसी भी समय पूँजी लगा कर भविष्य में उत्पादन में वृद्धि करने के अनेक उपाय होते हैं। यदि बिना ब्याज के द्रव्य उधार मिल जाय तो हजारों ऐसी योजनाएँ बनाई जा सकती हैं जिनसे लागत से अधिक प्राप्ति हो। रेल चलाने में बिजली का उपयोग हो सकता है, अमुक-अमुक धंधों का यांत्रीकरण हो सकता है, अधिक भवन, सड़कें, जहाज तथा अन्य टिकाऊ वस्तुएँ निर्मित की जा सकती हैं, और सभी लाभ उठाकर। परन्तु श्रम तथा प्राकृतिक साधनों की मात्रा सीमित है, और विद्यमान साधनों का अधिक जटिल विधियों द्वारा उपयोग हो सके इसके लिए जहाँ तक लोग अपने वर्तमान उपभोग को घटाने में समर्थ और उसके लिए प्रस्तुत होते हैं उसकी भी सीमा है। अतः इन सब योजनाओं को व्यवहार में लाना संभव नहीं है; किसी न किसी प्रकार इसका निश्चय करना आवश्यक है कि किन्हें व्यवहार में लाया जाय और किनका त्याग किया जाय। समाजवाद में योजना-समिति (Planning committee) ही निर्णय करती और कलन (Calculation) के लिए किसी ब्याज-दर को आधार मानती है। पूँजीवाद में ब्याज-दर के कारण ऋण की माँग घट कर उपलभ्य मात्रा तक पहुँच जाती है जिससे वे सभी योजनाएँ छोड़ देनी पड़ती हैं जिनमें कम से कम इतना लाभ होने की आशा नहीं रहती जितनी व्यवहार में आनेवाली पूँजी पर ब्याज देना पड़ता है।

समाजवाद में योजना-समिति यह निर्णय करती है कि कितनी बचत की जायगी। हमारे काल्पनिक पूँजीवादी समाज में इसका निर्णय उन सभी व्यक्तियों द्वारा होता है जो बचाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति जैसा उत्तम समझता है वैसा व्यवहार करता है। पूँजी की अधिक सीमान्त उत्पादकता—अतएव अधिक ब्याज-दर—द्वारा अधिक बचत होने की प्रवृत्ति होती है।

समाजवाद में योजना-समिति ही निर्णय करती है कि बचत का विनियोजन किस प्रकार होगा। हमारे काल्पनिक पूँजीवादी समाज में यह निर्णय उन साहसियों द्वारा होता है जो अपने लिए लाभ प्राप्त करने के

इच्छुक हैं। वे मुक्त पूँजी का, जिस रूप में उससे सर्वोत्तम ढंग से माँग पूरी होती है, उसी ढंग से उपयोग कर के ही (एकाधिकार तथा ठगी को छोड़कर) वे लाभ प्राप्त कर सकते हैं। जितना ही कुशल उनका ढंग होगा उतना ही अधिक उनको लाभ होगा।

हमारी वर्तमान मान्यता में व्याज-दर एक प्रकार का मूल्य है। सभी मूल्यों के समान उसका भी निर्धारण माँग और पूर्ति के द्वारा होता है। यह किसी ऋण के लिए दिया गया मूल्य है। ३ प्र० श० दर का अर्थ यह है कि १०० पौंड के किसी ऋण का मूल्य ३ पौंड प्रति वर्ष है। व्याज-दर से ऋण की माँग और पूर्ति में समानता का निश्चय होता है। बचानेवाले अपने उपभोग पर अपनी आय से कम व्यय करके ऐसे साधनों को मुक्त करते हैं जिनसे नए उत्पादक पदार्थ (Capital goods) तैयार किए जा सकते हैं। यह सत्य है कि जो कुछ ऋणदाताओं और ऋणियों के बीच आदान-प्रदान होता है वह द्रव्य ही है परन्तु वह केवल उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन से उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए साधनों के हस्तान्तरण का एक साधन है। यदि किसी आविष्कार से अथवा नए प्रदेशों के उद्घाटन से अथवा नए खनिज पदार्थों की खोज से अथवा जन-संख्या की वृद्धि से पूँजी की लाभदायकता बढ़ जाती है जिससे ऋण की माँग में वृद्धि होने लगती है तो व्याज-दर बढ़ जायगी; यदि समाज अपनी आय का अधिक अनुपात बचाने का निश्चय करता है तो व्याज-दर गिर जायगी। माँग-वक्र अथवा पूर्ति-वक्र यदि हट जाय तो व्याज-दर में परिवर्तन हो जायगा, जबतक कि ऋण की माँग और पूर्ति अथवा, दूसरे शब्दों में, जबतक विनियोजन (अर्थात् नए उत्पादक पदार्थों का अर्घ) और बचत फिर समान न हो जाँय।

केवल साहसी ही ऋण लेनेवाले नहीं होते—इस तथ्य से उपर्युक्त विवरण में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। सरकारें तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाएँ अनेक कार्यों के लिए प्रायः ऋण लिया करती हैं और कभी-कभी बहुत बड़ी मात्रा में ऋण लेती हैं। कुछ लोग इस कारण ऋण लेते हैं कि उनकी वर्तमान आय उनके उपभोग के लिए पर्याप्त नहीं होती। इन सब बातों का विवेचन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। अन्य ऋणियों की माँग उद्योग-धंधों और व्यापार की माँग में जोड़ दी जा सकती है। उसी प्रकार केवल व्यक्ति ही बचानेवाले नहीं होते—अधिकांश बचत, जैसा कि हम देख चुके हैं, कंपनियों द्वारा अपने अवतरित लाभ में से की जाती है—इस तथ्य से हमारे तर्क में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

परन्तु जब हम अन्य मान्यताओं को छोड़ देते हैं और काल्पनिक समाज से वास्तविक समाज की ओर आते हैं, तब संपूर्ण चित्र परिवर्तित हो जाता है। अब हम यही करेंगे।

५. संपत्ति के भेद

(Types of Assets)

किसी वास्तविक पूँजीवादी समाज में ऐसी अनेक प्रकार की संपत्तियाँ हैं जिन्हें कोई व्यक्ति, उपभोग्य वस्तुओं पर न व्यय करके, प्राप्त कर सकता है। सरलता के लिए हम केवल चार मुख्य भेदों का विवेचन करेंगे जिन्हें हम संक्षेप में बौंड (बंध), हिस्से, विपत्र और अवशेष द्रव्य (Money balances) कह सकते हैं। प्रत्येक भेद के गुण-दोष हैं।

दीर्घकालीन स्थिर ब्याज-दरवाली प्रतिभूतियों को बंध (बौंड) कह सकते हैं। उनके स्वामी को द्रव्य के रूप में एक स्थिर आय का अधिकार प्राप्त होता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति अंग्रेजी सरकार को १०० पौंड ऋण देता है जो बदले में उसे ३ पौंड प्रति वर्ष देती है। दीर्घकालीन ब्याज-दर ३ प्र० श० है। ऋण देनेवाले के पास अब १०० पौंड नहीं हैं। वह उसे व्यय कर सकता था; उसे घर में अथवा बंक में रख सकता था। परन्तु ऐसा न करके उसने उसे अंग्रेजी सरकार को दे दिया। उसके बदले उसे ३ पौंड प्रति वर्ष पाने का अधिकार मिल गया। बंट-विनिमय (Stock Exchange) के द्वारा वह जब चाहे तब यह अधिकार किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच सकता है। जबतक वह दर, जिसपर अंग्रेजी सरकार दीर्घकाल के लिए ऋण ले सकती है, ३ प्र० श० रहती है तबतक इस अधिकार का नगद मूल्य १०० पौंड है। यह दर बढ़ भी सकती है। मान लीजिए कि यह बढ़कर ६ प्र० श० हो जाती है और वहीं बने रहने की आशा है। तो १०० पौंड अंकित मूल्य (Face-value) की ३ प्र० श० वाली प्रतिभूति का बाजार-मूल्य गिरकर ५० पौंड हो जायगा। क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जिसके पास ५० पौंड हैं, अपने ५० पौंड को ३ पौंड वार्षिक की स्थिर आय में परिवर्तित कर सकता है। अथवा यह दर गिर सकती है। मान लीजिए कि यह गिर कर २ प्र० श० हो जाती है और वहीं पर उसके बने रहने की आशा है। यदि अंग्रेजी सरकार को इस प्रकार की प्रतिभूति के स्वामी को १०० पौंड अंकित मूल्य दे देने का विकल्प न हो तो इस प्रतिभूति का बाजार-मूल्य १५० पौंड तक चढ़ेगा, क्योंकि ३ पौंड प्रतिवर्ष की स्थायी आय प्राप्त करने के लिए ऋणदाताओं को १५० पौंड देना आवश्यक होगा। परन्तु ब्याज की चालू-दर का, अतः स्थिर ब्याज-दरवाली प्रतिभूतियों का, चाहे जो हो, जिस व्यक्ति के पास ऐसी प्रतिभूतियाँ हैं वह द्रव्यरूप में वही आय प्राप्त करता रहेगा।

अतः दीर्घकालीन ब्याज-दर की परिभाषा हम इस प्रकार करते हैं कि यह वह ब्याज दर है जिस पर अंग्रेजी सरकार दीर्घ काल के लिए

ऋण प्राप्त कर सकती है। इसका माप, किसी भी समय, अंग्रेजी सरकार की दीर्घकालीन प्रतिभूतियों से होनेवाली आय द्वारा होती है जो उनके अर्घ के प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि समाचार पत्रों में प्रकाशित होता है कि २॥ प्र० श० वंटों (Consols) का मूल्य ८० है। तो इसका अर्थ यह है कि सर्वदा के लिए, अंग्रेजी सरकार द्वारा प्रतिश्रुत (Guaranteed) २ पौंड १० शि० प्रति वर्ष का अधिकार बाजार में ८० पौंड को विकता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अंग्रेजी सरकार किसी भी समय ८० पौंड के बदले २ पौंड १० शि० प्रति वर्ष देकर दीर्घकाल के लिए ऋण प्राप्त कर सकती है। २॥ ८० का ३ प्र० श० है। व्याज की चालू दर ३ प्र० श० है।

अन्य प्रकार की स्थिर व्याज-दरवाली प्रतिभूतियों—जैसे विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं द्वारा निष्कासित ऋणपत्र (Debentures)—से होनेवाली आय इससे अधिक होगी। इसका कारण यह है कि अंग्रेजी सरकार द्वारा चुकता न करने की लेशमात्र आशंका की तुलना में उन ऋणियों द्वारा ऋण न चुकाए जाने की आशंका बहुत अधिक होती है। अन्य कारणों से भी आय में भिन्नता होती है, जिन पर हम अभी विचार नहीं करेंगे, जैसे ऋण वापस करने की अवधि, और प्रतिभूति की विक्रेयता (Marketability)।

अतः वंध (पौंड) का लाभ यह है कि इससे द्रव्य के रूप में स्थायी आय होती है। हानि यह है कि संभव है इसका बाजार-मूल्य गिर जाय; दूसरे शब्दों में, संभव है प्रचलित दीर्घकालीन व्याज की दर चढ़ जाय।

अब हम "हिस्सों" पर आते हैं। कुछ पृष्ठ पूर्व हम पूछ चुके हैं कि ऋणदाता सारा लाभ स्वयं क्यों नहीं ले लेते? इसका उत्तर यह है कि वे प्रायः ले लेते हैं। किसी कंपनी में, जिसकी पूँजी १००० "साधारण" हिस्सों में विभक्त है, एक हिस्से का स्वामी उस कंपनी की संपत्ति के हजारवें भाग का स्वामी है और लाभ का हजारवाँ अंश प्राप्त करता है। "ऋणपत्र"—जो कि द्रव्यरूप में स्थिर आय देनेवाला बंध है—के स्वामी के विपरीत उसकी आय घटती बढ़ती रहती है अर्थात् वह लाभ में भागीदार होता है।[1] अधिकतर वह व्यवसाय के प्रबंध में किसी प्रकार का भाग नहीं लेता क्योंकि व्यवस्था का भार एक वैतनिक व्यवस्थापक को सौंप दिया जाता है, परंतु व्यवसाय के "जोखिम" (Risk) और लाभ में वह भागीदार होता है। इन बातों में वह उस मनुष्य के समान है

१. अनेक प्रकार के "वर्णसंकर" हिस्से भी होते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ हिस्सों के स्वामियों को एक स्थिर आय के अतिरिक्त, लाभ अच्छा होने पर, कुछ और भी पाने का अधिकार होता है।

जो अपनी पूंजी अपने ही व्यवसाय—जैसे भवन आदि—में लगाता है। "हिस्सा" (Share) शब्द का प्रयोग हम संक्षेप में लाभ देनेवाली "वास्तविक पूँजी" (Real capital) को व्यक्त करने के लिए कर रहे हैं।

मान लीजिए कि कोई व्यक्ति किसी जूते की कंपनी में १०० पौंड अंकित मूल्य के एक हिस्से का स्वामी है। यदि इसके बदले उसने अंग्रेजी सरकार की प्रतिभूति ली होती तो उसे केवल ३ पौंड प्राप्त होता।[1] (सुरक्षित) बंधों की अपेक्षा हिस्से रखने का लाभ यह है कि उनसे होनेवाली आय के बढ़ने की आशा रहती है। परन्तु साथ ही जोखिम बढ़ने की भी आशंका रहती है। अनेक कारणों—रुचि में परिवर्तन, जनसंख्या में कमी, जूते पर कर, बुरा प्रबंध, नवीन प्रतियोगी व्यवसाय-संस्थाओं का प्रवेश, सस्ते आयात,— में से किसी के कारण उस कंपनी द्वारा निर्मित जूते का मूल्य गिर सकता है। यदि ऐसा होगा तो लाभांश (Dividend) घट जायगा; संभव है कुछ भी लाभांश न मिले। हिस्से का अर्घ गिर जायगा। उसके स्वामी की आय और उसकी पूँजी दोनों घट जायगी।

उद्योग-धंधों और व्यापार में लगी हुई पूँजी पर वार्षिक लाभ की दर, (घिसावट का व्यय घटा देने पर) वह निस्लुष (Net) आय है जो संपत्ति की वर्तमान लागत के प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है। उसकी मूल लागत का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है, वर्तमान में उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। यदि कोई व्यवसाय-संस्था १००० पौंड पर एक यंत्र मोल लेती है और कुछ ही समय बाद उस प्रकार के यंत्रों का मूल्य घट कर ८०० पौंड हो जाता है तो उसके यंत्र का अर्घ ८०० पौंड ही समझना चाहिए और उसीके आधार पर लाभ की दर निकालनी चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि लाभ की दर और ब्याज-दर में बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जहाँ जोखिम (Risk) की आशंका नहीं है वहाँ दोनों समान होंगी। क्योंकि लोगों को लाभ और ब्याज दोनों में से कोई भी लेने का, हिस्से या बंध में से कोई रखने का, विकल्प रहता है। जोखिम के कारण औसत में लाभ की दर बहुत कुछ ब्याज-दर से अधिक हुआ करती है। परन्तु अधिकतर दोनों साथ-साथ चलते हैं। लाभ की दर में वृद्धि होने से उद्योग-धंधों और व्यापार के लिए ऋण की माँग बढ़ने की संभावना रहती है जिससे ब्याज-दर बढ़ जाने की आशा रहती है और इसकी विपरीत दशा में इसका विलोम।

---

१. अब (अर्थात् १९४६ के अंत में) केवल २ पौंड १० शि०। अतः २॥ प्र० श० बंटों (Consols) का मूल्य बढ़ कर १०० पौंड हो गया है।

अल्पकालीन स्थिर व्याजवाली प्रतिभूतियों को विपत्र (Bills) कह सकते हैं। ५००० पौंड का तीन मासवाला कोषागार-विपत्र (Treasury Bill) वास्तव में अंग्रेजी सरकार द्वारा तीन मास के पश्चात् ५००० पौंड देने की प्रतिज्ञा है। विपत्रों पर व्याज की दर ऋणी की साख और विपत्र की परिपक्वता—अर्थात् उसके चुकाने के समय के पूर्व शेष अवधि—पर निर्भर रहती है। अल्पकालीन दर अधिकतर दीर्घकालीन दर से नीची होती है—कभी-कभी तो बहुत ही नीची होती है। जैसे सितंबर १९३७ में, तीन महीनेवाला, कोषागार-विपत्र लगभग ४९९३$\frac{३}{४}$ पौंड पर बिकता था जिसपर केवल $\frac{१७}{३२}$ प्र० श० प्रति वर्ष के बराबर आय होती थी। अल्पकालीन दर दीर्घकालीन दर की अपेक्षा अधिकतर नीची क्यों होती है? इसका मुख्य कारण यह है कि प्रतिभूति का बाजार-मूल्य गिरने से हानि की आशंका कम रहती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि कोई व्यक्ति १०० पौंड का कोषागार-विपत्र ९९ पौंड १० शि० पर खरीदता है। तीन मास के अन्त में वह १०० पौंड हो जायगा। यदि मान लीजिए कि केवल डेढ़ महीने के उपरान्त वह उसे द्रव्य में परिवर्तित करना चाहता है तो कोई बंक उसे खरीद लेगा (अथवा यदि पारिभाषिक शब्द द्वारा व्यक्त करें तो बंक उसे "भुना" देगा)। यदि ऐसे विपत्र पर मितीकाटा (Discount) की दर २ प्र० श० से बढ़ कर १६ प्र० श० हो जाय तो भी उसे ९८ पौंड ही मिलेगा। परन्तु जिस व्यक्ति ने १९३५ के आरंभ में ९४ पौंड का बंट (Consols) खरीदा था और १९३७ के अंत में बेच दिया उसे लगभग ७६ पौंड पर बेचना ही पड़ता।

अतः विपत्र रखने का लाभ यह है कि यदि उसे परिपक्वता के पूर्व भुनाना न पड़े तो पूँजी के जाने का भय बिलकुल नहीं रहता, और उस दशा में भी पूँजी की हानि कम होगी। हानि यह है कि उस पर प्राप्त होनेवाले व्याज की दर बंध की दर से कम होती है।

चौथे प्रकार की संपत्ति द्रव्य—अर्थात् नगद या नगदी शेष (Cash balances) है। द्रव्य रखने का लाभ यह है कि द्रव्य रूप में ऋण चुकाने का एकमात्र साधन द्रव्य ही है। अल्पकाल के लिए ऋण देनेवाले को अपना द्रव्य खोने का बहुत कम भय रहता है। यदि ऋण की अवधि पूरी होने तक वह प्रतीक्षा कर सके तो उसे ठीक-ठीक उतनी रकम मिल जाय जितनी उसने उधार दी थी। परन्तु वह द्रव्य रखने के लाभ को त्याग तो करता ही है। हम अल्पकालीन दर को, "द्रवता" (Liquidity) का त्याग करने के लिए क्षतिपूर्ति के रूप में ऋण देनेवालों को दी गई दर कह सकते हैं। यदि सर्वसाधारण में द्रव रखने की अभिलाषा की वृद्धि होती है तो अल्पकालीन दर बढ़ जायगी। आर्थिक संकटकाल में ऐसा अधि-

कतर होता है। व्यवसाय-संस्थाएँ द्रव्य-संबंधी अपना "देना" चुकता करने और दिवालिया होने से बचने के लिए बड़ी उत्सुक होती हैं।

६. ब्याज-दर और व्यापार-चक्र (Trade Cycle)

जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी ने वास्तविक पूँजीवादी देश में उसी ढंग से ब्याज-दर को समझाने का प्रयत्न नहीं किया है जैसा कि काल्पनिक समाज का विवेचन करते समय हमने किया था। क्योंकि जिन प्रभावों को हमने छोड़ दिया है वे वास्तविक संसार में प्रायः बहुत बड़े महत्त्व के होते हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उनके आगे अन्य प्रभाव दब से जाते हैं। अब हमें उनका परिचय देना चाहिए।

इसका अर्थ यह है कि व्यापार-चक्र और बैंक-प्रणाली का—जिनका विवेचन हम इसी खंड में आगे चलकर करेंगे, परन्तु विस्तारपूर्वक नहीं—उल्लेख करना हमारे लिए आवश्यक है। एक यह भी उपाय है कि यह विवेचन इस खंड के अन्त के लिए छोड़ दिया जाय और हमारा ब्याज संबंधी विवेचन दो भागों में बँट जाय। परन्तु ऐसा करने में मुझे हिचक होती है। पाठक यदि चाहें तो निःसंदेह प्रस्तुत विभाग तथा इसके पश्चात् के विभागों को अभी छोड़ कर पीछे उन पर आ सकते हैं। तबतक हम विषय को जितना सरल हो सकेगा बनाएँगे।

हम देख चुके हैं कि बचत की मात्रा अधिकतर आय के स्तर पर निर्भर करती है। थोड़ी आय की अपेक्षा अधिक आय से लोग, अतः देश भी, अधिक बचत कर सकते हैं। परन्तु किसी देश की आय इसलिए कम हो सकती है कि उसके बहुत से श्रमी तथा साधन अनधियुक्त रहते हैं। यदि वे सभी अधियुक्त किए जा सकते, यदि मंदी तेजी में परिवर्तित हो सकती, तो राष्ट्रीय आय अधिक होती जिससे बचत की मात्रा भी अधिक होती। विनियोजन में वृद्धि के द्वारा तेजी लाई जा सकती है। उद्योग-धंधों और व्यापार के लिए मुक्त पूँजी की अधिक माँग यदि बंकों द्वारा दिए गए द्रव्य की मात्रा में वृद्धि करके पूरी की जा सके तो अधियोजन में वृद्धि होगी जिससे लोगों की आय बढ़ेगी और बचत अधिक होगी। अतः बचत का पूर्ति-वक्र अपने माँग वक्र से स्वतंत्र नहीं है (इससे उस व्यक्ति का स्मरण हो आता है जिसे एक नीलाम में एक तोते के लिए अधिक मूल्य इसलिए देना पड़ा कि वह तोता ही उसके विरुद्ध बोली बोल रहा था)।

इसका एक विपरीत उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि लोग अधिक बचत करने का निश्चय करते हैं। अतः वे व्यय कम कर देते हैं। उपभोग्य वस्तुओं के लिए माँग घट जाती है। यदि साहसी अपना विनियोजन बढ़ाने को प्रस्तुत नहीं होते तो इसका परिणाम होगा अनधियोजन की वृद्धि;

जिससे (आय में कमी होने के कारण) संपूर्ण बचत वास्तव में अधिक नहीं होगी और बहुत संभव है कि पहले से कम भी हो। अधिक बचत करने के प्रयत्न के फलस्वरूप मंदी आ सकती है। उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले धंधों की दशा बुरी हो जायगी और पहले की अपेक्षा कम यंत्रों, सज्जा तथा उपादानों के लिए आदेश (Order) दिए जायँगे।

यह कठिनाई इसलिए उपस्थित होती है कि बचाने का निश्चय एक समूह के लोग करते हैं और विनियोजन का दूसरे समूह के लोग। बचत और विनियोजन एक ही योजना के दो पक्ष मान कर सह-संबद्ध (Co-ordinated) नहीं किए जाते।

हम देख चुके हैं कि व्यापार और उद्योग-धंधों के लिए ऋण की माँग, जिससे वह विनियोजन व्यक्त होता है जो साहसी करने को प्रस्तुत हैं, लाभ की प्रत्याशित दर पर निर्भर होती है। और वह स्वयं व्यापार की उन्नति पर निर्भर होता है। यदि व्यापार की उन्नति की आशा रहती है तो ऐसी संभावना रहती है कि साहसी अधिक ऋण लेंगे। यदि उन्नति की आशा कम है तो कुछ साहसी तो ऋण बिलकुल हो नहीं लेंगे और कुछ को संभव है ऋण इसलिए न मिले कि देनेवालों को संदेह हो कि वे ऋण लौटा सकेंगे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि व्यापार की दशा और अनवि-योजन की मात्रा में पर्याप्त घट-बढ़ होती रहती है तो लाभ की प्रत्याशित दर और विनियोजन तथा बचत की मात्रा पर उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ सकता है।

७. मौद्रिक बलों द्वारा निर्धारित ब्याज-दर

(The Rate of Interest as determined by Monetary Forces)

द्रव्य की माँग केवल उन्हीं ऋणियों द्वारा नहीं होती जो नए उत्पादक पदार्थ तथा अन्य वस्तुएँ क्रय करने के लिए द्रव्य चाहते हैं। उसकी माँग अंशतः उन ऋणियों द्वारा भी होती है जो कुछ द्रव्य बंक में जमा रखना चाहते हैं। ऋण की पूर्ति केवल बचानेवालों द्वारा नहीं होती वरन् उन बंकों द्वारा भी होती है जो द्रव्य उत्पन्न करते हैं और उन व्यक्तियों द्वारा होती है जो अपने पास रखनेवाले द्रव्य की मात्रा घटा देने का निश्चय करते हैं।

हम ऋण के लिए सभी स्रोतों से उपलभ्य संपूर्ण द्रव्य की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त बातों का विचार कर सकते थे। परन्तु ऐसा न करके हम इस विभाग में उस सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय देंगे जिसके अनुसार ब्याज-दर (द्रव्य अर्थात् ऋण नहीं अवशिष्ट द्रव्य) की माँग और उसकी पूर्ति को सम करता है।

अतः हम द्रव्य की माँग से आरंभ करते हैं। बहुत से व्यक्ति और व्यवसाय-संस्थाएँ निरंतर द्रव्य पाती और देती रहती हैं। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यवसाय-संस्था प्रतिदिन औसत कुछ द्रव्य रखती है। परन्तु दैनिक द्रव्य की मात्रा कितनी हो इसका निर्णय वह व्यक्ति या संस्था कैसे करती है?

उस द्रव्य का कुछ अंश दैनिक आदान-प्रदान के लिए रखा जाता है। लोग जानते हैं कि निकट भविष्य में उन्हें द्रव्य के रूप में भुगतान करना है। अपने व्यापारिक कार्यों में संभव है अकस्मात् उन्हें कुछ भुगतान करना पड़ जाय। अतः वे द्रव्य जमा रखते हैं। यदि किसी समाज की मनोवृत्ति और उसका व्यवहार विदित हो तो हम इस संपूर्ण जमा की मात्रा बहुत कुछ निश्चित मान सकते हैं।

यदि इन कार्यों के लिए आवश्यक मात्रा से अधिक द्रव्य जमा रखा जाता है तो क्यों? क्योंकि उसके रखने का अर्थ है कुछ हानि उठाना। उसके बदले उससे प्रतिभूतियाँ क्रय की जा सकती थीं। अर्थात् उससे चालू दर पर व्याज प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु इस अवस्था में उससे कोई आय नहीं प्राप्त होती। यह निष्क्रिय संपत्ति है।

कारण यह है कि लोग डरते हैं कि प्रतिभूतियों का मूल्य गिर जायगा। आज १०० पौंड में खरीदा गया एक बंध संभव है कल ९० पौंड पर बिकने लगे जिससे उसका क्रेता संभवतः ३ पौंड वार्षिक पाने लगे परन्तु जो १०० पौंड उसने बंध के लिए दिया है उसमें से १० पौंड उसे खो देना पड़ेगा। इसके विपरीत द्रव्य के रूप में पूँजी का अर्घ पूर्णतः सुरक्षित रहता है। १०० पौंड सर्वदा १०० पौंड ही रहेगा।

फिर भी, यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों तथा व्यवसाय-संस्थाओं को प्रतिभूतियाँ क्रय करने में हिचक उनकी उस आय के साथ घटती बढ़ती रहेगी जो निष्क्रिय द्रव्य के रूप में संपत्ति रखने से उन्हें खो देनी पड़ती। प्रतिभूतियों की तुलना में द्रव्य के लिए उनकी माँग व्याज-दर से असंबद्ध नहीं हो सकती। व्याज-दर जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक प्रेरणा कम द्रव्य और अधिक प्रतिभूतियाँ रखने के लिए मिलेगी और इसका विलोम भी। अतः हम जमा द्रव्य के लिए एक ऐसा माँग-वक्र प्राप्त करते हैं जो व्याज-दर पर निर्भर रहता है। क्योंकि व्याज द्रव्य के लिए दिया गया मूल्य है। द्रव्य रखने का मूल्य वह व्याज है जो प्रतिभूतियाँ न लेकर द्रव्य जमा रखने के कारण खो देना पड़ता है। यह माँग-वक्र निम्नाभिमुख झुका हुआ होगा और यह व्यक्त करेगा कि व्याज-दर जितनी ही कम होगी उतनी ही अधिक द्रव्य की मात्रा लोग अपने पास जमा रखना चाहेंगे।

अब हम द्रव्य की पूर्ति पर आते हैं। द्रव्य की पूर्ति से हमारा तात्पर्य द्रव्य की उस संपूर्ण मात्रा से है जो मुद्रा, नोट तथा बंक-जमा किसी भी रूप में विद्यमान हो। यह मात्रा महाजनी-प्रणाली द्वारा निर्धारित होती है। और जितना द्रव्य अस्तित्व में है वह सब किसी न किसी के पास रहना चाहिए।

संभव है कि इसमें कुछ उलझन जान पड़ती हो। हमने अभी कहा है कि संपूर्ण समाज की द्रव्य की माँग एक ओर तो उसकी व्यावसायिक प्रवृत्ति पर और दूसरी ओर व्याज-दर तथा प्रतिभूतियों के बदले द्रव्य जमा रखने के अधिमान पर निर्भर होती है। अब हम कहते हैं कि अस्तित्व में रहनेवाले द्रव्य की संपूर्ण मात्रा, जो किसी न किसी के पास रहनी चाहिए, महाजनी-प्रणाली द्वारा निर्धारित होती है।

परन्तु इसमें केवल माँग और पूर्ति संबंधी विश्लेषण की आवश्यकता है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति उसके मूल्य से असंबद्ध है, अर्थात् पूर्णतः रूढ़ है, तो उसकी संपूर्ण मात्रा बिक जायगी। उपभोक्ता बिक्री होनेवाली संपूर्ण मात्रा का निर्धारण नहीं करेंगे क्योंकि वह तो सब की सब बिक ही जायगी, वरन् वे वह मूल्य निर्धारित करेंगे जिस पर संपूर्ण मात्रा बाजार से खरीद ली जायगी। वही बात यहाँ भी लागू होती है। संपूर्ण समाज यह निर्णय नहीं करता कि कितना द्रव्य अस्तित्व में रहे परन्तु निःसंदेह वह यह निर्णय करता है कि किस मल्य पर वह सब द्रव्य रखा जायगा। और यह मूल्य ही, अर्थात् द्रव्य का मूल्य ही, व्याज की दर है।

व्याज-दर बंक-प्रणाली द्वारा निर्धारित द्रव्य की पूर्ति और जनता की मनोवृत्ति तथा द्रवता (Liquidity) के लिए उनके अधिमान द्वारा निर्धारित द्रव्य की माँग को सम करती है। यदि द्रव्य की मात्रा बढ़ती है तो पहले पहल लोग अन्य प्रकार की संपत्ति की अपेक्षा पहले से अधिक द्रव्य रखेंगे। परन्तु पहले द्रव्य रखने से द्रवता की सुविधाएँ ठीक-ठीक व्याज-दर के तुल्य थीं; और अब वे व्याज-दर से कम होंगी। द्रव्य रखने की आपेक्षिक सीमान्त उपयोगिता गिर जायगी क्योंकि अब रखे हुए द्रव्य की मात्रा पहले से अधिक है। अतः संपूर्ण समाज अपने द्रव्य का कुछ अंश प्रतिभूतियों में परिवर्तित करना चाहेगा। निःसंदेह द्रव्य की मात्रा निश्चित है। परन्तु यदि सभी लोग प्रतिभूतियाँ चाहते हैं तो उनका मूल्य चढ़ जायगा; अर्थात् व्याज-दर गिर जायगी। और वह तबतक गिरती जायगी जबतक वह उस सीमा पर नहीं पहुँच जाती जिस पर संपूर्ण समाज अस्तित्व में रहनेवाले संपूर्ण द्रव्य की मात्रा को रखने को प्रस्तुत हो।

फिर, मान लीजिए कि समाज का द्रवताधिमान (Liquidity-preference) बढ़ जाता है। इसका अर्थ यह है कि द्रव्य के लिए लोगों की

माँग बढ़ जाती है। सभी लोग द्रव्य लेकर प्रतिभूतियाँ बेचना चाहेंगे। तब प्रतिभूतियों का मूल्य गिरेगा; अर्थात् व्याज-दर गिरेगी। और वह तब तक गिरेगी जबतक उस सीमा पर नहीं पहुँच जायगी जिस पर लोग अस्तित्व में रहनेवाले द्रव्य से अधिक न रखना चाहेंगे।

ऋणियों द्वारा द्रव्य की माँग और बचानेवालों द्वारा द्रव्य की पूर्ति के व्याज-दर पर पड़नेवाले प्रभाव की यह सिद्धान्त किस प्रकार उपेक्षा करता है? किसी उन्नत समाज में पूँजी-संचयन (Capital accumulation) के लिए ऋण लेना और नया ऋण देना चलता रहता है। उस मत के विषय में क्या कहा जाय जिसके अनुसार व्याज-दर दोनों को समान करती है?

जो इस सिद्धान्त के समर्थक हैं उनका दिया हुआ उत्तर इस प्रकार है। किसी निश्चित अवधि—जैसे एक वर्ष—में ऋणियों द्वारा बिक्री के लिए प्रस्तुत प्रतिभूतियों की मात्रा और बचानेवालों द्वारा माँग की हुई नई प्रतिभूतियों की मात्रा अस्तित्व में रहनेवाली संपूर्ण प्रतिभूतियों की मात्रा से अपेक्षाकृत कम होगी। अतः प्रतिभूतियों की माँग और उनकी पूर्ति में केवल थोड़ी सी वृद्धि होने से उनके मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

ऋणियों की माँग में वृद्धि होने से (ऐसा कहा जाता है कि) कुछ लोग व्याज-दर में परिवर्तन हुए बिना भी अधिक द्रव्य देने को प्रस्तुत होंगे। और विलोमतः, यदि बचत में वृद्धि होती है तो नए ऋणी प्राप्त किए जा सकते हैं। क्योंकि द्रव्य का माँग-वक्र बहुत लचीला होता है; प्रतिभूतियों के मूल्य में विशेष परिवर्तन हुए बिना भी व्याज-दर के संबंध में लोग अपने संचय (Hoard) को घटाने या बढ़ाने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। अतः वास्तविक जगत में, जहाँ संपत्ति के स्वामी प्रतिभूतियाँ रखने के लाभ से द्रव्य रखने के लाभ की तुलना करते हैं, यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि (यदि द्रव्य की मात्रा दी हुई है तो) विनियोजन की लाभदायकता अथवा अधिक बचाने की प्रवृत्ति द्वारा व्याज-दर नहीं निर्धारित होती वरन् "द्रवताधिमान" (Liquidity-preference) द्वारा होती है।

८. व्याज-दर और सट्टेबाजी (Speculation)

इसके पहलेवाले विभाग में एक ऐसे सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण दिया गया है जिसे बहुत से अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं। अब हमें यह बतला देना चाहिए कि इसमें पर्याप्त परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि हम इस साधारण दृष्टिकोण को मान भी लें कि व्याज-दर एक मौद्रिक व्यापार (Monetary Phenomenon) है, जो द्रव्य की मात्रा और द्रवताधिमान पर निर्भर करता है, तो भी हम उपर्युक्त सिद्धान्त को अविकल रूप में मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

यह सिद्धान्त केवल दो प्रकार की संपत्तियों में भेद बतलाता है; वे हैं द्रव्य और प्रतिभूतियाँ। परन्तु, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, संपत्ति के चार भेद होते हैं। अब हम विपत्रों (Bills)—अर्थात् अल्पकालीन व्याज-दर प्रदान करनेवाली अल्पावधि की प्रतिभूतियों—पर विचार करेंगे।

"द्रवता" शब्द अस्पष्ट है। प्राय: ऐसा कहा जाता है कि कुछ प्रकार की संपत्तियाँ दूसरे प्रकार की संपत्तियों से अधिक द्रव इसलिए होती हैं कि वे द्रव्य के विनिमय में बहुत सरलता से बेची जा सकती हैं। दूसरी धारणा यह है कि एक प्रकार की संपत्ति दूसरी से इसलिए अधिक द्रव है कि द्रव्य-रूप में उसका अर्घ घटने की कम संभावना होती है। इस प्रसंग में हमें इस बात पर जोर देना चाहिए कि "द्रव होने" का अर्थ केवल एक ही है और वह है "द्रव्य जमा रखना।"

द्रव्य से व्याज नहीं मिलता। ऐसा कहा गया था कि द्रव्य जमा रखने का विकल्प "प्रतिभूतियाँ"—अर्थात् बंध (बौंड)—रखना है। बंधों से व्याज की प्राप्ति अवश्य होती है फिर भी उनका बाजार-मूल्य गिर सकता है।

परन्तु विपत्र? वे भी तो व्याज देनेवाले होते हैं; और यदि कोई तबतक थोड़ा रुक जाय जबतक वे परिपक्व न हों, तो उनका बाजार मूल्य नहीं गिर सकता। विपत्र रखकर कोई, अपनी पूँजी को संकट में डाले बिना, द्रवता का त्याग करके व्याज प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से डाकघर के "सेविंग बंक" में जमा रकम किसी अपेक्षाकृत निर्धन व्यक्ति को वही सुविधाएँ प्रदान करती हैं जो कोषागार-विपत्र किसी धनवान व्यक्ति को देता है।

अत: द्रव रखने का—अर्थात् द्रव्य रखकर व्याज खो देने का—मूल्य दीर्घकालीन व्याज-दर से नहीं, वरन् अल्पकालीन व्याज-दर से नापा जाता है। जो व्यक्ति अपनी पूँजी का द्रव्य-रूप में मूल्य सुरक्षित रखना चाहता है वह या तो द्रव्य रख कर ऐसा कर सकता है अथवा अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ रखकर। यदि वह प्रतिभूतियाँ रखता है तो उसे अल्पकालीन दरपर व्याज मिलता है परन्तु उसे द्रवता का त्याग करना पड़ता है।

दीर्घकालीन व्याज-दर अल्पकालीन दर से प्राय: ऊँची होती है, परन्तु सर्वदा नहीं। इस अन्तर को, दीर्घ काल में, एक प्रकार की "हानिभय-पूर्ति" (Risk - premium) कह सकते हैं जो बंध (बौंड) के स्वामी इसलिए पाते हैं कि वे मूल्य गिर जाने का जोखिम उठाते हैं।

बंटों (Consols) के मूल्य द्वारा नापी गई दीर्घकालीन व्याज-दर भूतकाल में निरंतर अनेक वर्षों तक बहुत ही स्थिर रही है। आय में पर्याप्त उतार-चढ़ाव हुआ है, द्रवताधिमान बहुत घटा बढ़ा है,

महाजनी (बंक) नीति में परिवर्तन हुए हैं, परन्तु बंटों के मूल्य में अधिक परिवर्तन करने के लिए एक ऐसी क्रान्ति की आवश्यकता पड़ी है जैसी अंग्रेजी सरकार द्वारा १९३२ में और फिर १९४६ में अपनाई हुई "सस्ते द्रव्य" की नीति से उत्पन्न हुई थी।

इसकी विस्तृत व्याख्या आवश्यक है। यदि हम बंकों, बीमा-कंपनियों, विनियोजन-संघों (Investment trusts), मितीकाटा-घरों (Discount houses), तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं को सम्मिलित करने के लिए बहुत सम्मानित अर्थ में "सट्टेबाज" शब्द का प्रयोग करें तो, यह कह सकते हैं कि इसका कारण है सट्टेबाजों का कार्य। बंध खरीदनेवाले अधिकांश व्यक्ति उन्हें रखने के लिए खरीदते हैं। वे बंधों से प्राप्त होनेवाली स्थिर आय चाहते हैं और चाहे उनके बंधों का मूल्य चढ़े या गिरे वह उन्हें मिलती हो है। जब बंधों का मूल्य उस स्तर से नीचे चला जाता है जिसे वे "प्रकृत" (Normal) स्तर मानते हैं तब ये सट्टेबाज अपनी अल्पकालान प्रतिभूतियों में से कुछ बेच कर बंध खरीद लेते हैं। वे जब बंधो का मूल्य अत्यधिक ऊँचा समझते हैं तब इसका उलटा करते हैं।

अत: अल्पकालीन दर ही अधिक महत्त्व रखती है। इसका निर्धारण अधिकतर महाजनी-नीति (Banking policy) द्वारा अर्थात् महाजनी-प्रणाली से उत्पन्न द्रव्य द्वारा ओर अंशत: द्रवताधिमान द्वारा होता है। दीर्घकालीन दर को (दीर्घकाल में) भावी अल्पकालीन दरों की प्रत्याशित औसत तथा "हानिभय-पूर्ति" (Risk-premium) का योग मान सकते हैं। सट्टेबाजी द्वारा, निरंतर अनेक वर्षों तक, दीर्घकालीन दर पर्याप्त स्थिर रखी जा सकती है।

९. निष्कर्ष (Conclusions)

आरंभ में ही हमने पाठकों को चेतावनी दे दी थी कि व्याज का विषय बहुत कठिन और विवादग्रस्त है। व्याज का निर्धारण वास्तविक बलों द्वारा तथा द्रव्यात्मक बलों द्वारा होता है—इन दोनों मतों को उपस्थित कर देना हमने अपना कर्तव्य समझा। मैं समझता हूँ कि कोई इसे अस्वीकार नहीं करेगा कि किसी आधुनिक पूँजीवादी समाज में व्याज-दर का निर्धारण करने में मौद्रिक बलों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। वे वास्तविक बलों की पूर्णत: उपेक्षा कर देते हैं या नहीं यह विषय विवादग्रस्त है।

हमारा अपना मत है कि इंग्लैंड के लिए विगत विभाग में दिया गया कारण पर्याप्त सन्तोषजनक है। परन्तु चार प्रकार की संपत्तियों में से इसमें केवल तीन का समावेश होता है। यह अल्पकालीन व्याज-दर

तथा वंटों के मूल्य का कारण स्पष्ट करता है। परन्तु उद्योग-धंधों और व्यापार में लाभ की दर, जिसका हिस्सों के मूल्य पर वहुत प्रभाव पड़ता है, दीर्घकालीन व्याज-दर की अपेक्षा वहुत अधिक परिवर्तित होती रहती है। प्रायः उसकी दर व्याज-दर से ऊँची रहती है। वहुत वड़ी मंदी के समय वहुत से क्षेत्रों में नई पूँजी पर प्रत्याशित लाभ-दर शून्य अथवा ऋण हो सकती है। संभव है कि द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने से वंटों का मूल्य कुछ चढ़ जाय, वरन् चढ़ ही जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इससे व्यापार तथा उद्योग-धंधों में अधिक विनियोजन हो। जिस व्याज-दर पर व्यवसाय-संस्थाएँ जनता अथवा वंकों से वास्तव में ऋण प्राप्त कर सकती हैं, और जो वही नहीं है जो वंटों की आय है, उसे संभव है कि इसलिए ऋण होना पड़े कि व्यवसाय-संस्थाएँ अधिक वास्तविक पूँजी में विनियोजन करने को प्रस्तुत हों।

पाठकों को यह वात ध्यान में रखनी चाहिये कि व्याज का मौद्रिक सिद्धान्त, जिसकी रूपरेखा हमने ऊपर दी है और फिर जिसको मर्यादित किया है, उस समाज से संवंध रखता है जिसका वाह्य संसार से संवंध नहीं है। किसी देश के भीतर व्याज की दर पर देश के वाहर से ऋण देने का प्रभाव भी पड़ सकता है।

निर्धन देशों में, जो या तो जनातिरिक्त (Over-populated) हैं या अविकसित हैं, व्याज की साधारण दर धनी देशों की दर की अपेक्षा अधिक होती है। इसका कारण वास्तविक वलों द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि वलगेरिया में पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अपेक्षाकृत कम है और लोग इतने संपन्न नहीं हैं कि वचा सकें। तो निःसंदेह वलगेरिया की महाजनी नीति वहाँ की व्याज-दर पर प्रभाव डालने के लिए अवश्य कुछ न कुछ कर सकती है; परन्तु वह वलगेरिया के किसानों या कारखानों को ३ या ४ प्र. श. व्याज दर पर ऋण प्राप्त करने में सहायक नहीं हो सकती।

यदि विनियोजन के लिए महत्त्वपूर्ण नये क्षेत्र उत्पन्न हो जायँ, जैसा कि भूतकाल में रेलों के निर्माण अथवा नई खानों की खोज से हुआ था, तो यह संभव है कि लाभ की दर चढ़ जाय। इंग्लैंड में भी सट्टेवाज अपना मत परिवर्तित कर देंगे और वंटों का "प्रकृत मूल्य" (Normal price) निम्नाभिमुख हो जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

लगान

१. सामान्य अर्थ में लगान

किसी वस्तु का व्यवहार करने के बदले समय-समय पर जो कुछ दिया जाता है उसे साधारण बोलचाल में लगान कहते हैं। जैसे किसी भू-खंड का स्वामी उसे कुछ वर्षों के लिए किसी काश्तकार को देता है जो उसका व्यवहार करने के बदले प्रति वर्ष एक निश्चित रकम देने का वचन देता है। यह निश्चित रकम उस भू-खंड का लगान है।

किसी टिकाऊ वस्तु का स्वामी स्वयं उसका व्यवहार न करके एक सामयिक रकम के बदले उसे किसी दूसरे को किराये पर दे सकता है। अतः किसी भवन, यंत्र या शीतक (Refrigerator) का व्यवहार करने के बदले उसी प्रकार लगान दिया जा सकता है जिस प्रकार भूमि का व्यवहार करने के बदले दिया जाता है। समझौते में यह निश्चित किया जा सकता है कि लगान का हिसाब गेहूँ या किसी अन्य पदार्थ के रूप में किया जायगा; परन्तु अधिकतर लगान द्रव्य के रूप में निर्धारित होता है।

समझौते की अवधि में उस वस्तु का स्वामी उसी स्थिति में होता है जिसमें ब्याज के रूप में स्थिर आय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति होता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि एक जमींदार ने किसी निश्चित वार्षिक लगान पर अपनी भूमि किसी काश्तकार को दे दी है। उन दोनों ने एक समझौता किया है और दोनों को उसका पालन करना आवश्यक है। कालान्तर में अवस्था परिवर्तित होती है। द्रव्य के रूप में भूमि की निस्तुष आय समझौते के समय की प्रत्याशित आय से अधिक हो जाती है। अब यदि जमींदार दूसरा समझौता करने को स्वतंत्र होता तो अधिक लगान प्राप्त कर सकता। परन्तु ऐसा करने के लिए वह स्वतंत्र नहीं है; वह समझौते की शर्तों से बँधा हुआ है। विलोमतः यदि भूमि की निस्तुष द्रव्य-आय प्रत्याशित से कम हो जाती है तब भी काश्तकार को समझौते के अनुसार लगान देते रहना पड़ेगा। जब ठेका समाप्त हो जाता है तब जमींदार चाहे उसी काश्तकार से या किसी दूसरे से निःसंदेह नया समझौता कर सकता है। जब पुराना ठेका दिया गया था उस समय की आय से यदि अब आय बढ़ने की आशा है तो वह उसी अनुपात में अधिक

लगान प्राप्त कर सकता है; यदि घटने की आशंका है तो उसे उसी अनुपात में कम स्वीकार करना पड़ेगा जिससे उसे कोई काश्तकार मिले।

यह स्पष्ट है कि भूमि की निस्तुष द्रव्य-आय में, और साधारणतः (समय की प्रति इकाई में) किसी टिकाऊ वस्तु की प्रदान की हुई सेवा के बाजार-मूल्य में, परिवर्तन होने से भूतकाल में समझौते द्वारा निश्चित लगान, उसी के समान वस्तु के व्यवहार से तत्काल मिलनेवाले लगान की अपेक्षा बढ़ या घट जायगा। इससे कुछ समस्याएँ खड़ी होती हैं, जैसी कि मंदी के समय स्थिर देयों (Fixed charges) के संबंध में होती है, परन्तु यहाँ उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किसी समय किसी टिकाऊ वस्तु पर प्राप्त होनेवाला वार्षिक लगान अधिकतर उसकी सेवा के प्रत्याशित निस्तुष वार्षिक अर्घ के तुल्य होगा।

यदि उसी के समान वस्तुएँ तुरत उत्पन्न की जा सकती हैं तो प्राप्य लगान प्रायः उनकी वर्तमान उत्पत्ति-लागत पर प्रचलित दर से मिलनेवाले व्याज के बराबर होगा। यदि वह अधिक होगा तो लाभ की प्रचलित दर से अधिक अर्जन करने के लिए उस क्षेत्र में स्थिर पूँजी का प्रवेश होगा और ऐसी वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जाने से उनकी सेवाका अर्घ घट जायगा। विलोमतः, यदि वह कम होगा तो मुक्त पूँजी उस क्षेत्र से दूर रहेगी, उस प्रकार की जो वस्तुएँ घिस या नष्ट हो जायँगी उनके स्थान पर वैसी वस्तुएँ नहीं रखी जायँगी और कालान्तर में ऐसी वस्तुओं की सेवा का अर्घ बढ़ता जायगा और तबतक बढ़ेगा जबतक कि फिर उनका उत्पादन करना लाभदायक न हो जाय।

अर्थशास्त्रियों द्वारा लगान शब्द का व्यवहार कभी-कभी उत्पादन के ऐसे विशिष्ट साधनों के अर्जन को व्यक्त करने के लिए होता है जिसकी पूर्ति घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती। इस अर्थ में लगान एक प्रकार का अतिरेक (Surplus) है। इस बात पर विचार करने के पूर्व कि क्या सभी भूमि अथवा कुछ ही, या किसी अन्य प्रकार की टिकाऊ वस्तु, इस अर्थ में सचमुच ही लगान देनेवाली होती है, हम इस विशेष अर्थ को एक काल्पनिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे।

२. अतिरेक के रूप में लगान (Rent as a Surplus)

मान लीजिये कि भूमि का कोई विशेष क्षेत्र केवल गेहूँ उत्पन्न कर सकता है और कुछ नहीं और दूसरा कोई क्षेत्र गेहूँ नहीं उत्पन्न कर सकता। और यह भी मान लीजिए कि यह गेहूँ उत्पन्न करनेवाली भूमि समान है अर्थात् एक एकड़ भूमि दूसरे एकड़ से भिन्न नहीं है। निःसंदेह इस प्रकार की मान्यताएँ यथार्थता से बहुत दूर हैं। परन्तु एक प्रकार के अतिरेक के रूप में "लगान" का विशेष अर्थ स्पष्ट करनेवालों के लिए हम उन्हें मान लेते हैं।

यदि उत्पादन के किसी अन्य साधन के सहयोग बिना ही वह भूमि गेहूँ उत्पन्न करती है तो प्रत्येक एकड़ प्रति वर्ष गेहूँ की एक निश्चित मात्रा उत्पन्न करेगा और उस गेहूँ की मात्रा का अर्घ उसका वार्षिक अर्जन ही होगा। इस प्रकार यदि गेहूँ उत्पन्न करनेवाली भूमि की मात्रा दी हुई है और उस पर उत्पन्न होनेवाले गेहूँ की वार्षिक मात्रा निश्चित है तो उसका अर्जन अर्थात् "लगान" गेहूँ की माँग पर निर्भर होगा। सभी गेहूँ-उत्पादक भूमि बराबर मान ली गई है इसलिए यदि सभी भूमि किसी एकाधिकारी की नहीं है (अथवा सभी भूमिपति संघ बना कर एकाधिकारी का सा व्यवहार नहीं करने लगते) तो संपूर्ण भूमि का उपयोग होगा और प्रति वर्ष होनेवाले गेहूँ की मात्रा निश्चित होगी।

अब मान लीजिए कि गेहूँ का उत्पादन जलवायु के अनुसार प्रति वर्ष घटता बढ़ता रहता है। अनुकूल जलवायु पाने पर गेहूँ अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। गेहूँ-उत्पादक भूमि का स्वामी गेहूँ की अधिक उत्पत्ति से लाभ उठाता है या हानि यह गेहूँ की माँग की लोच पर निर्भर होगा। उसे लाभ भी हो सकता है और हानि भी। इसमें सन्देह नहीं कि अधिक मात्रा में गेहूँ उत्पन्न होने से उपभोक्ताओं को लाभ होता है, और यदि उत्पादकों को हानि भी उठानी पड़े तो भी यह मान लेना तर्कसम्मत है कि उपभोक्ताओं का लाभ उत्पादकों की हानि से अधिक होता है, क्योंकि माल की संपूर्ण पूर्ति में वृद्धि हो जाती है।

परन्तु यथार्थ में केवल भूमि बहुत कम उत्पन्न कर सकती है। उसे अन्य साधनों का सहयोग चाहिए। सरलता के लिए हम मान लेते हैं कि उसे केवल समजात (Homogeneous) श्रम के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह श्रम अधिकांश में अन्य धंधों में अधियुक्त होता है तो गेहूँ उत्पन्न करनेवाली भूमि के स्वामियों को यह श्रम प्राप्त करने के लिए जो मजदूरी देनी पड़ेगी वह बहुत कुछ निश्चित सी है। जो मजदूरी उन्हें देनी पड़ेगी वह अन्य धंधों में उस श्रम की सीमान्त उत्पादकता के तुल्य होगी।

गेहूँ उत्पन्न करनेवाली उस भूमि पर प्रति एकड़—अथवा प्रति सौ एकड़—कितने श्रमी अधियुक्त किए जायँगे? (एक सीमा तक) जितने ही अधिक श्रमी अधियुक्त किए जायँगे गेहूँ का संपूर्ण उत्पादन उतना ही अधिक होगा। परन्तु एक सीमा के पश्चात् किसी निश्चित भूखंड पर ज्यों-ज्यों अधिक श्रमी अधियुक्त किए जायँगे त्यों-त्यों उनका सीमान्त उत्पाद कम होता जायगा।[1] जैसे एक गेहूँ-उत्पादक भूमि का स्वामी,

---

१. दे० चित्र ३२।

जिसके लिए गेहूँ का मूल्य और श्रमियों की मजदूरी दोनों ही बाजार द्वारा निर्धारित हैं, उतने श्रमी अधियुक्त करेगा जितने से उसकी आय अथवा उसकी भूमि से प्राप्त "लगान" अधिकतम होगा। श्रम की यह मात्रा वही होगी जो प्रतिजन निश्चित मजदूरी को श्रम के सीमांत उत्पाद के अर्घ के तुल्य कर देती है।
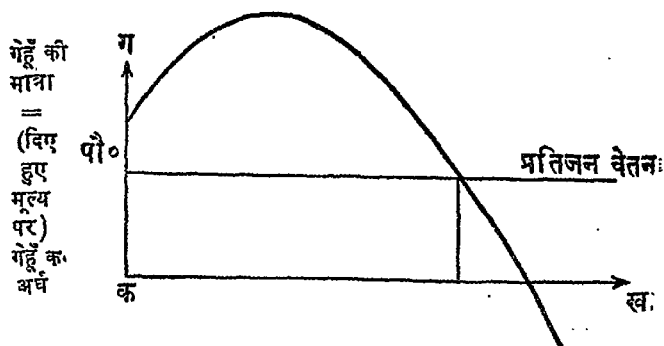
मनुष्यों की संख्या

चित्र ३२

वास्तव में गेहूँ-उत्पादक भूमि पर ज्यों-ज्यों अधिक श्रमी अधियुक्त होंगे, त्यों-त्यों, गेहूँ के धंधे में श्रम की माँग में वृद्धि के कारण, प्रतिजन मजदूरी बढ़ती जायगी। और गेहूँ का उत्पादन बढ़ जाने के कारण उसका प्रति मन मूल्य गिरता जायगा। परन्तु हम यह मान ले सकते हैं कि ऐसा भूतकाल में हुआ है और कुछ वर्षों तक गेहूँ का मूल्य और श्रमी की मजदूरी दोनों ही पर्याप्त स्थिर रही हैं। अतः गेहूँ-उत्पादक भूमि के किसी एक स्वामी के लिए गेहूँ का मूल्य और श्रमी की मजदूरी दोनों ही बाजार द्वारा निश्चित जान पड़ती हैं। यदि गेहूँ की माँग बढ़ती है तो उसका मूल्य चढ़ जायगा और गेहूँ-उत्पादक भूमि के सभी स्वामी अधिक श्रमी अधियुक्त करके अपना उत्पादन बढ़ाएँगे। और यदि गेहूँ की माँग घट जाती है तो इसका विलोम होगा। यदि श्रमियों की मजदूरी घट जाती है तो गेहूँ-उत्पादक भूमि के स्वामी अधिक श्रमी अधियुक्त करेंगे और मजदूरी बढ़ाने पर इसका विलोम। इस प्रकार उपभोक्ताओं का अधिमान मूल्य-प्रणाली के द्वारा अपना प्रभाव व्यक्त करता है।

अतः अर्थशास्त्र की दृष्टि से लगान की परिभाषा इस प्रकार कर सकते

हैं कि यह एक प्रकार का अतिरेक है जो किसी ऐसे विशिष्ट साधन को प्राप्त होता है जिसकी पूर्ति निश्चित है। यदि गेहूँ-उत्पादक भूमि की पूर्ति निश्चित न होती तो गेहूँ का मूल्य गिर जाने पर उसमें से कुछ भूमि का उपयोग अन्य कार्यों के लिए होने लगता और मजदूरी बढ़ जाने पर उसका उपयोग ऐसे कार्यों के लिए होता जिसमें कम श्रम की आवश्यकता पड़ती और गेहूँ का मूल्य चढ़ जाने पर अन्य प्रकार की भूमि भी उसके उत्पादन के लिए व्यवहार में लाई जाती।
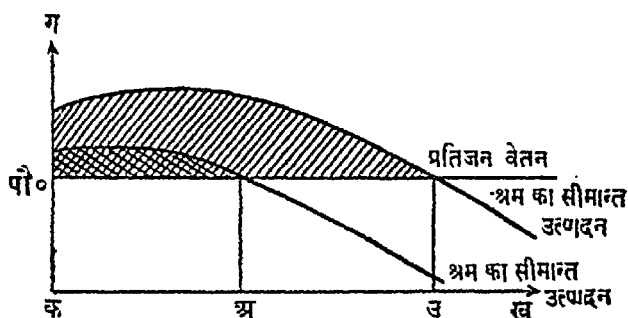
मनुष्यों की संख्या

चित्र ३३

यदि गेहूँ-उत्पादक भूमि की निश्चित पूर्ति समजात नहीं है तो यह समझ लेना सरल है कि अच्छी भूमि का बुरी भूमि की अपेक्षा प्रति एकड़ अधिक अर्जन क्यों होगा। उसका अर्जन अधिक इसलिए होगा कि वह अधिक उत्पन्न करती है। चित्र ३३ में अधिक उर्वरा भूमि पर क उ मनुष्य अवियुक्त होते हैं और रेखांकित भाग उसका लगान व्यक्त करता है; कम उर्वरा क्षेत्र पर क अ मनुष्य अवियुक्त होते हैं और दुहरा रेखांकित भाग उसका लगान व्यक्त करता है।

यह भी समझना सरल है कि कुछ गेहूँ-उत्पादक भूमि क्यों व्यर्थ पड़ी रहती है। यदि उस पर उत्पन्न होनेवाले गेहूँ का अर्घ उस मूल्य से कम है जो सहयोगी साधन श्रम को देना पड़ता है तो वह अव्यवहृत पड़ी रहेगी। जैसे चित्र ३४ में भूमि के स्वामी को, चाहे कितने ही अधिक या कम मनुष्यों को वह अधियुक्त करें, अपने उत्पादन की बिक्री से उससे कम प्राप्ति होगी जितनी उसे मजदूरी देनी पड़ेगी।

३. भूमि और लगान

जिस विशेष अर्थ में लगान को हमने अभी दिखाया है उसका महत्त्व इस कारण है कि लगान उत्पन्न करनेवाला साधन माँग में परिवर्तन के अनुकूल अपने को परिवर्तित नहीं कर सकता। ऐसे साधन का अर्जन
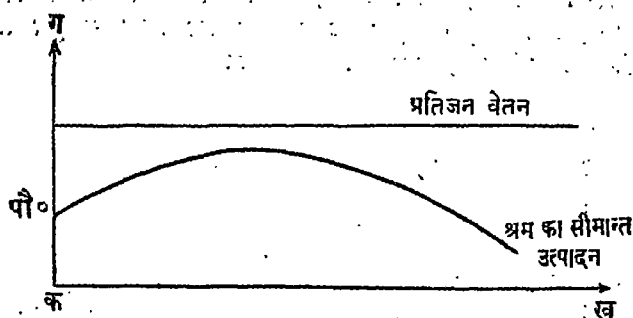
चित्र ३४

चाहे जितना ही कम हो जाय परन्तु उसकी पूर्ति घटेगी नहीं। यदि उसका संपूर्ण अर्जन, अथवा लगान, ले लिया जाय—जैसे कर द्वारा—तब भी उसकी विद्यमान मात्रा में कोई कमी नहीं होगी। और उसकी पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती। उसकी माँग में वृद्धि होने से उसका अर्जन बढ़ जायगा परन्तु उसकी अतिरिक्त मात्रा अस्तित्व में नहीं आयगी जिससे उसकी विद्यमान मात्रा का अर्जन घट कर पूर्व अवस्था में नहीं आ जायगा। उसका अर्जन एक प्रकार का अतिरेक अथवा लगान है और उसमें परिवर्तन होने से साधन की पूर्ति में परिवर्तन नहीं होता।

अब हमें वास्तविक संसार में आकर यथार्थ प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। यदि भूमि से लगान प्राप्त होता है तो किस अर्थ में? क्या और भी किसी साधन से लगान प्राप्त होता है?

इस प्रसंग में भूमि की "पूर्ति" का अर्थ या तो (क) किसी विशेष कार्य के लिए भूमि की पूर्ति हो सकता है, जैसे गेहूँ उत्पन्न करने के लिए या भवन निर्माण के लिए; अथवा (ख) संसार भर की संपूर्ण भूमि का क्षेत्रफल हो सकता है, अथवा (ग) किसी विशेष प्रांत या देश में भूमि का संपूर्ण क्षेत्रफल हो सकता है। किसी विशेष कार्य के लिए भूमि की पूर्ति माँग के अनुसार परिवर्तित हो सकती है। संसार भर की भूमि

का क्षेत्रफल बहुत कुछ निश्चित है परन्तु इसी प्रकार संपूर्ण श्रमिकों की संख्या भी तो निश्चित है; अतः हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से इनमें से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। किसी विशेष प्रान्त में भूमि का संपूर्ण क्षेत्रफल निश्चित है अतः यह बात पर्याप्त महत्त्वपूर्ण समझी जा सकती है क्योंकि अन्य प्रान्तों की भूमि उसका स्थानापन्न नहीं हो सकती।

(क) उत्पादन के साधनों की गतिशीलता का विवेचन करते समय हम पहले ही बतला चुके हैं कि भूमि का अनेक प्रकार से उपयोग हो सकता है और बहुत सी भूमि अनेक प्रकार से उपयोग में लाई जा सकती है। मान लीजिए कि गेहूँ की माँग बढ़ जाती है अतः गेहूँ उत्पन्न करने वाली भूमि की माँग बढ़ेगी। अब जिस भूमि का पहले किसी दूसरे रूप में उपयोग होता था उसका अब गेहूँ उत्पन्न करने के लिए उपयोग हो सकता है। विलोमतः, यदि गेहूँ की माँग घट जाती है तो गेहूँ-उत्पादक भूमि में से कुछ का उपयोग अन्य कार्यों के लिए हो सकता है। गेहूँ-उत्पादक भूमि की पूर्ति लचीली है और माँग में परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। और यह बात अन्य कार्यों के लिए व्यवहार में आनेवाली भूमि की पूर्ति के संबंध में भी सत्य है। अतः केवल गेहूँ-उत्पादक भूमि, या चरागाह या भवन-निर्माण योग्य भूमि ही उस विशेष अर्थ में 'लगान' नहीं देती जिसका अभी हम विवेचन कर चुके हैं।

(ख) संसार भर में भूमि का क्षेत्रफल बहुत कुछ निश्चित है। इसका अर्थ यह है कि जनसंख्या की वृद्धि या अन्य किसी कारण से साधारण रूप से भूमि की माँग में स्थायी वृद्धि होने से भूमिपतियों की आय में स्थायी वृद्धि होगी और उसकी माँग में स्थायी ह्रास होने से उनकी आय में स्थायी ह्रास होगा।

यह सत्य है कि समुद्र से भी भूमि निकाली जा सकती है। हौलैंड ने कई वर्गमील भूमि इस प्रकार प्राप्त की है और केपटाउन भी इसी ढंग से अपना क्षेत्रफल लगभग डेढ़ा करनेवाला है। परन्तु इसकी कम संभावना है कि संसार भर की भूमि का क्षेत्रफल इस ढंग से कुछ प्रतिशत बढ़ाया जा सके। समुद्र से भूमि प्राप्त करने की लागत इतनी अधिक होती है कि जहाँ यह कार्य बहुत सस्ते में हो भी सकता है वहाँ पर भी 'लगान' में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है परन्तु समुद्र से भूमि नहीं प्राप्त की जाती।

यह भी सच है कि भूमि की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है; जैसे खादों के उपयोग द्वारा। इस प्रकार भूमि के उत्पादन की माँग बढ़ जाने पर मुक्त पूँजी का विनियोजन तब तक होता जायगा जब तक सीमान्त पर उस मुक्त पूँजी से आय उस लाभ-दर से अधिक नहीं रह जायगी

जो अन्यत्र प्राप्त होती है। परन्तु "भूमि की उन्नति" से वही अर्थ नहीं सिद्ध होता जो भूमि की वृद्धि से होता है। किसी विशेष भूखंड पर कुछ सीमा के उपरान्त खादों का अथवा किसी अन्य वस्तु का उपयोग करने से ह्रासमान उत्पत्ति होती है। यदि कृषि के उत्पादनों की माँग में वृद्धि होने से विद्यमान भूमि को उन्नत करने के लिए मुक्त पूँजी का उपयोग लाभदायक होता है तो यही इस बात का प्रमाण है कि भूमि के स्वामियों को प्राप्त होनेवाला अतिरेक अथवा लगान बढ़ गया है। हमारे रेखाचित्रों के अनुसार कृषि के उत्पादनों के मूल्य में वृद्धि होने से अर्घ के रूप में सहयोगी साधनों की सीमान्त उत्पादकता व्यक्त करनेवाला वक्र ऊपर उठ गया है। उनकी शारीरिक सीमान्त उत्पादकता व्यक्त करनेवाला वक्र ज्यों का त्यों है; परन्तु उत्पादित पदार्थ के मूल्य में यदि २० प्र० श० की वृद्धि होती है तो किसी भी सीमान्त उत्पाद के अर्घ में २० प्र० श० की वृद्धि हो जायगी। इससे भू-स्वामी को मिलनेवाला अतिरेक बढ़ जाता है और वह सहयोगी साधनों को और अधिक मात्रा में अधियुक्त करने में समर्थ होता है जिससे उसका अतिरेक और भी बढ़ता है।

अतः सब मिल कर भूमि की पूर्ति बहुत कुछ निश्चित सी है और भूमि मात्र की माँग में वृद्धि होने से उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। श्रम के विषय में भी बहुत कुछ यही बात है। उपलब्ध श्रमियों की संख्या बहुत कुछ निश्चित सी रहती है। इसका कुछ भी निश्चय नहीं है कि साधारणतः मजदूरी में वृद्धि होने से संतानों की वृद्धि होगी जिससे कालान्तर में श्रमियों की संख्या बढ़ जायगी। और न तो यही निश्चित है कि मजदूरी में सर्वत्र कमी होने से संतानें कम होने लगेंगी; यद्यपि यह संभव है कि यदि बहुत कमी होती है तो कालान्तर में बहुत से लोग भूखों मर जायँगे और श्रमियों की संख्या निःसंदेह घट जायगी। न तो सभी भूमि ही समजात होती है और न सभी श्रमी। अतः श्रम अथवा भूमि की माँग में व्यापक वृद्धि होने से ऐसे श्रमियों अथवा भू-खंडों का व्यवहार करना भी लाभकर हो सकता है जो पहले लाभकर नहीं थे। श्रम या भूमि की उत्पादकता बढ़ाने और उसकी एक कोटि को दूसरी कोटि में परिवर्तित करने के लिए मुक्त पूँजी का विनियोजन हो सकता है; जैसे कोई अकुशल श्रमी सिखा कर राजगीर बनाया जा सकता है, अथवा किसी चरागाह को बाजार के लिए फल-तरकारियाँ बोने योग्य बना सकते हैं। किसी विशेष उपयोग के लिए भूमि की पूर्ति प्रायः घटाई बढ़ाई जा सकती है।

संभवतः आर्थिक दशा में अधिकांश परिवर्तनों द्वारा कुछ प्रकार के व्यवहार के लिए भूमि की माँग बढ़ जाती है और अन्य उपयोगों के लिए उसकी माँग घट जाती है। संपूर्ण भूमि की मात्रा निश्चित है इस बात का,

हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से, तभी महत्त्व होता है जब भूमि मात्र की माँग में स्थायी परिवर्तन होता है। और, कुछ सीमा तक, श्रम के विषय में भी यह बात लागू होती है। यदि हम यह कहें कि भूमि मात्र पर होनेवाली आय लगान की सी है तो हम श्रम मात्र के विषय में भी यही बात कह सकते हैं।

(ग) फिर भी किसी विशेष भू-खंड की भौगोलिक स्थिति निश्चित होती है और इसका बहुत महत्त्व है। मान लीजिए कि किसी प्रान्त की संपूर्ण भूमि गेहूँ-उत्पादक है। गेहूँ की माँग में वृद्धि का अर्थ यह होगा कि अन्यत्र भी गेहूँ-उत्पादन के लिए भूमि का उपयोग होगा। अतः उस विशेष प्रान्त के भूमिपति संभवतः पहले से बहुत अधिक आय नहीं प्राप्त कर सकेंगे क्योंकि अन्यत्र भी गेहूँ उपजाकर उनकी प्रतियोगिता में बेचा जा सकता है।

परन्तु ऐसा हो सकता है किसी विशेष क्षेत्र में भूमि की माँग बढ़ जाती है और दूसरे प्रान्त की भूमि उस क्षेत्र की बढ़ी हुई माँग की पूर्ति नहीं कर सकती। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण है भवन-निर्माण के लिए किसी विशेष प्रान्त में भूमि की माँग। जैसे लंदन का विस्तार होने से उसके भीतर और आसपास की भूमि का अर्घ बढ़ गया है। वेल्स में भवन-निर्माण के लिए भूमि की माँग घट जाने से लंदन में भूमि का अर्घ बढ़ने में रुकावट नहीं पड़ी है (संभव है कुछ पड़ी भी हो)। संभव है कि यदि मूल्य में अन्तर अधिक हो तो कुछ व्यक्ति अथवा व्यवसाय-संस्थाएँ वृहत्तर लंदन में भूमि न लेकर दक्षिणी वेल्स में लें। परन्तु दक्षिणी वेल्स की भूमि, अधिकांश कार्यों के लिए लंदन के निकटवाली भूमि की स्थानापन्न नहीं हो सकती और भवन-निर्माण के लिए दक्षिणी वेल्स से लंदन को भूमि का स्थानान्तरण नहीं हो सकता। लंदन में भवन-निर्माण के लिए भूमि की पूर्ति सीमित है। उनकी माँग में वृद्धि होने से उनका अर्घ बढ़ जाता है जिससे लगान भी बढ़ जाता है, चाहे अन्य प्रान्तों में भूमि का अर्घ और लगान घट रहे हों। यह सत्य है कि जो लोग लंदन में रहना चाहते हैं वे कुछ दूरी पर भी रहकर लंदन आने जाने में धन और समय का व्यय कर सकते हैं। परन्तु ऐसा वे तभी करेंगे जब कि भवन-निर्माण योग्य भूमि का लगान इतना अधिक बढ़ जाता है कि इतना व्यय करना हानिकर नहीं होता।

एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण इस कारण और भी उपस्थित हो जाता है कि संभव है कोई राष्ट्रीय सरकार कृषि के उत्पादनों का आयात रोक दे। इससे उस देश में कृषि के उत्पादनों का मूल्य बढ़ जायगा जिससे भूमि मात्र का मूल्य और लगान बढ़ जायगा। अन्य देशों की भूमि स्वतंत्र रूप से प्रतियोगिता नहीं कर पाती क्योंकि जब उनका उत्पादन उस

देश में प्रवेश करना चाहता है तब उस पर रुकावट डाली जाती है।

पुराने अंग्रेज अर्थशास्त्री लगान को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है कि हमने इस विषय के लिए एक पूरा अध्याय रखा है। क्योंकि वास्तव में, साधनों की गतिशीलता तथा विशिष्टता (Specificity) के महत्त्व का विवेचन करते समय हम जो कुछ कह चुके हैं उसी की अब दूसरे दृष्टिकोण से आवृत्ति कर रहे हैं। हम तो यह कहने का साहस कर सकते हैं कि पुराने अंग्रेज अर्थशास्त्री दो बातों से बहुत प्रभावित थे। उस समय जमींदारों का वर्ग समाज में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था और जिस समय उन अर्थशास्त्रियों ने लिखा उस समय ये सजीव समस्याएँ उनके सम्मुख उपस्थित थीं कि अन्न पर आयात-कर बढ़ाया जाय या घटाया जाय अथवा बिलकुल हटा दिया जाय।

अभी हमने इस पर विचार नहीं किया है कि क्या भूमि के अतिरिक्त अन्य साधन भी हैं जिनकी पूर्ति, किसी विशेष अर्थ में, निश्चित है और जिनसे लगान प्राप्त होता है। निःसन्देह ऐसे साधन हैं। किसी खनिज गुणवाले झरने का स्वामी जिसमें कोई विशेष और अद्भुत गुण हों, अथवा किसी ऐतिहासिक महत्त्ववाले घर का स्वामी जिसके दर्शकों को कुछ मूल्य देना पड़ता हो, स्याम देश के जुड़वाँ बच्चों के मातापिता, डायवोन के पाँच जुड़वाँ बच्चों के मातापिता, इंटर्नेशनल निकेल कंपनी (जिसका संसार की लगभग संपूर्ण निकेल की खानों पर स्वामित्व है) के स्वामी—ये सभी लगान ही के समान आय प्राप्त करते हैं। और लगान का सिद्धान्त बहुत सी अन्य प्रकार की आय अथवा आय के अंशों पर लागू किया जा सकता है। यह उन साधनों पर भी लागू हो सकता है जो टिकाऊ होते हैं जिससे उनकी आय घट जाने पर उनकी पूर्ति में कमी करने में अधिक समय लगता है। और उनके उत्पादन में भी पर्याप्त समय लगता है जिससे उनकी आय में वृद्धि होने से उनकी पूर्ति में वृद्धि होने के लिए भी पर्याप्त समय लग जाता है। लगानाभास (Quasi-rent) के इस सिद्धान्त का विवेचन हम आगेवाले विभाग में करेंगे। किसी साधन के किसी विशेष अंश द्वारा उसके अन्तरित अर्जन (Transfer earnings) से ऊपर मिलनेवाले अतिरेक (Surplus) पर भी लगान का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है। इसका विवेचन हम अपने अंतिम विभाग में करेंगे।

४. लगानाभास (Quasi-rent)

दीर्घकाल में टिकाऊ वस्तुओं का अर्जन अधिकतर उनकी चालू उत्पत्ति लागत पर, प्रचलित व्याज-दर से, होनेवाले व्याज के तुल्य होगा। यदि उनका अर्जन इससे अधिक होगा तो अधिक मात्रा में उनका उत्पादन

होगा जिससे उनके द्वारा उत्पादित पदार्थों का मूल्य गिर जायगा। यदि उनका अर्जन इससे कम होगा तो घिस जाने पर उनकी पुनःप्रतिष्ठा नहीं होगी—पुनःप्रतिष्ठा के लिए अलग निकाली हुई रकम का किसी दूसरे रूप में विनियोजन होगा—इससे उनके द्वारा उत्पादित पदार्थों का मूल्य चढ़ जायगा।

परन्तु इस प्रकार की वस्तु की पूर्ति को, अपने उत्पादित पदार्थों की माँग में होनेवाले परिवर्तन के अनुसार, सामंजस्य स्थापित करने में बहुत अधिक समय लग सकता है। यदि ऐसा हुआ तो इस प्रकार की वस्तु का अर्जन वास्तव में लगान ही है जिसे लगानाभास कहते हैं।

सब से पहले हम किसी विशेष प्रकार की वस्तु द्वारा उत्पादित पदार्थों की माँग में होनेवाले ह्रास पर विचार करेंगे। उदाहरण के लिए हम एक जहाज लेते हैं। माल रखने के स्थान की माँग घट जाने से जहाजों का अर्जन घट कर साम्य-स्तर (Equilibrium level)—यदि हम उनकी चालू उत्पत्ति लागत पर होनेवाले प्रचलित व्याज-दर के लिए संक्षेप में इस शब्द का प्रयोग करें—के नीचे चला जाता है। यदि जहाजों की संख्या इतनी कम कर देने के लिए, कि जो बच जायँ उनका अर्जन बढ़ कर साम्य-स्तर पर चला जाय, पर्याप्त अधिक समय लगता है तो उसके लिए दो बातों का होना अनिवार्य है। पहले तो जहाजों का दीर्घजीवी होना आवश्यक है जिससे किसी भी वर्ष जो घिस जायँ या डूब जायँ अथवा, किसी न किसी प्रकार जिनका अस्तित्व न रह जाय उनकी संख्या संपूर्ण राशि का अल्पांश हो। उदाहरणार्थ, किसी निश्चित प्रतिशत में जहाजों की अपेक्षा मोटरों की संख्या में जल्दी कमी हो जायगी क्योंकि मोटरों का जीवन-काल अपेक्षाकृत छोटा होता है। दूसरे, जहाजों का पर्याप्त विशिष्ट होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यदि मोटरखानों की माँग बढ़ रही हो और सिनेमा-घर मोटरखानों में परिवर्तित किए जा सकें तो सिनेमा की माँग घट जाने से सिनेमा-घरों की आय बहुत नहीं घटेगी। संभव है कि एक प्रकार के जहाज की माँग में कमी होने से उस प्रकार के जहाज एक दूसरे प्रकार के जहाज के रूप में परिणत किए जा सकें जिसकी माँग बढ़ गई हो। परन्तु यदि जहाज मात्र की माँग घट जाय और अपेक्षाकृत कम लागत पर वे किसी दूसरे कार्य के लिए न परिवर्तित किए जा सकें तो जहाजों के स्वामी विवश हो जायँगे। उनके जहाजों का उपयोग जहाजों के ही रूप में करना अनिवार्य होगा, चाहे उनकी आय घट कर साम्य-स्तर के पर्याप्त नीचे ही क्यों न चली जाय।

निःसंदेह एक विकल्प यह है कि वह वस्तु व्यवहार से हटा ली जाय—चाहे उसे तोड़ कर किसी अन्य कार्य में लगा दिया जाय, या उठा

कर अलग रख दिया जाय अथवा बंद कर दिया जाय। परन्तु यदि किसी टिकाऊ वस्तु द्वारा उत्पादित पदार्थों का अर्घ सहयोगी साधनों के अर्घ से अधिक होता है—अर्थात् 'मुख्य लागत' (Prime cost) या चालू रखने के व्यय (Operating cost) से अधिक होता है—तो उस टिकाऊ वस्तु का व्यवहार करते रहना ही लाभकर होता है। उसका स्वामी कुछ नहीं की अपेक्षा कुछ अर्जन करना अच्छा समझता है। (हम मान लेते हैं कि रद्दी के रूप में उसका अर्घ नगण्य है)। इसके अतिरिक्त गलानेवाली भट्ठियाँ (Blast furnaces) तथा कोयले की खानें आदि ऐसी चीजें हैं जिनको बंद करने और फिर से आरंभ करने में भी व्यय लगता है। अतः उनके स्वामी इस आशा से, कि उनके उत्पादनों की माँग फिर बढ़ेगी, उनका व्यवहार बंद नहीं करते चाहे उनसे होनेवाली आय मुख्य लागत से भी कम क्यों न हो।

फिर भी इतना स्मरण रखना चाहिए कि "पूरक" (Supplementary) तथा "मुख्य" लागत में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं हैं। उनका विभाजन अवधि की सीमा पर निर्भर है। बहुत सी सज्जा के अवयवों का बहुत शीघ्र परिवर्तन आवश्यक होता है; कुछ का अधिक विलंब से और कुछ का बहुत काल के पश्चात्। इसका अर्थ यह हो सकता है कि यद्यपि किसी वस्तु का अर्जन प्रति सप्ताह होनेवाली उसकी लागत से अधिक होता है फिर भी व्यवहार में उसका उपयोग नहीं होता। एक समय आ सकता है जब कि उसके नवीकरण, अनुस्थापन अथवा मरम्मत, के लिए बहुत अधिक व्यय करना पड़ेगा जिससे कि वह अधिक काल तक चल सके और यह उसके स्वामी की इच्छा पर निर्भर है कि वह उस पर कुछ व्यय न करके उसे रद्दी के भाव बेच दे या व्यर्थ पड़ा रहने दे। इसके विपरीत कोई स्वामी इस प्रकार के अनेक छोटे-छोटे व्यय क्रमशः करता जाय जिससे समय पर सुधार हो जाने से वह वस्तु टिकाऊ बनी रहे, यद्यपि यह संभव है कि ऐसे सब व्यय मिल कर उसकी सतुष प्राप्ति (Gross receipts) से अधिक हो जायँ। स्पष्ट है कि यह स्वामी की दूर-दर्शिता तथा इस आशा पर निर्भर करता है कि भविष्य में अवस्था में सुधार होगा या नहीं।

संभव है कि टिकाऊ वस्तुओं (जिसमें भूमि भी सम्मिलित है) के स्वामी ने इन वस्तुओं की जमानत देकर निश्चित व्याज-दर पर ऋण लिया हो। अतः उसके उत्पादन की माँग में ह्रास होने से हो सकता है कि उसके लिए मुख्य लागत तथा स्थिर व्याज चुकाने का भार सहन करना असंभव हो। यदि ऐसी परिस्थिति अधिक काल तक बने रहने की आशंका होगी तो संभवतः किसी न किसी प्रकार का आर्थिक पुनर्गठन होगा जिसके

अनुसार वंधक रखनेवाला अथवा ऋण-पत्र-धारी (Debenture-holder) पूर्व-निश्चित द्रव्य-आय से कम लेना स्वीकार करेगा।

अब हमें किसी विशेष प्रकार की वस्तु के उत्पादन की माँग में होने वाली वृद्धि पर विचार करना चाहिए। यदि इस प्रकार की वस्तु का अर्जन अधिक काल तक साम्य स्तर के ऊपर रहता है तो दो वातों का होना अनिवार्य है। पहले तो ऐसी वस्तु के उत्पादन में अधिक समय लगना चाहिए अथवा उसके वार्षिक उत्पादन में अधिक वृद्धि तभी हो सकती हो जब पर्याप्त अधिक लागत लगे। नहीं तो उस क्षेत्र में नवीन मुक्त पूँजी के प्रवेश से विद्यमान राशि की मात्रा वढ़ जायगी जिससे उसका अर्जन साम्य स्तर के नीचे चला जायगा। दूसरे, अन्य वस्तुओं के स्वामियों के लिए यह संभव न हो कि वे अपनी वस्तुओं को पर्याप्त कम समय में उस प्रकार की वस्तु में परिवर्तित करके अपना अर्जन वढ़ा लें। रवर की खेती ऐसी वस्तु का वड़ा अच्छा उदाहरण है कि जिसकी पूर्ति की वृद्धि में समय लगता है; क्योंकि रवर उत्पन्न करने के लिए रवर के पेड़ों को कम से कम पाँच वर्ष लगते हैं।

हमने पहले जहाज का उदाहरण दिया था; उसके वनाने में भी समय लगता है। विद्यमान जलयान-निर्माण क्षेत्र (Shipyard) की क्षमता सीमित है और अतिरिक्त कुशल श्रमी तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि उनकी मजदूरी वढ़ाई जाय। और अन्य वस्तुएँ जहाज के रूप में परिवर्तित नहीं की जा सकतीं।

अधिकतर जिन वस्तुओं की माँग में कमी होते ही उनकी पूर्ति तत्काल नहीं घटाई जा सकती उनकी माँग में वृद्धि होने पर भी उनकी पूर्ति तत्काल नहीं वढ़ाई जा सकती। यद्यपि तर्क की दृष्टि से इन दोनों वर्गों में अन्तर स्थापित करना चाहिए फिर भी वास्तव में ये दोनों एक से होते हैं। इस प्रकार की टिकाऊ तथा विशिष्ट वस्तुओं का अर्जन लगान के सदृश होता है। लगानाभास शब्द का प्रयोग कभी-कभी केवल वस्तुओं—यंत्रों, भवनों, जहाजों, रवर के वागों इत्यादि—के लिए होता है परन्तु तर्क की दृष्टि से यह ऐसे कर्मचारियों के समूहों पर भी लागू होता है, जैसे डाक्टर, जिनकी पूर्ति तत्काल घटाई या वढ़ाई नहीं जा सकती।

५. अन्तरण-अर्जन (Transfer Earnings)

वहुत सी भूमि, वहुत से श्रमी तथा कुछ उत्पादक वस्तुएँ अनेक धंधों में से किसी में अधियुक्त हो सकती हैं। अपने सर्वोत्तम वैकल्पिक उपयोग से जो वस्तु जितना द्रव्य अर्जन कर सकती है उसे कभी-कभी उसका अन्तरण अर्जन कहते हैं। यदि किसी धंधे विशेष के उत्पादन की माँग घट जाती है तो वह धंधा संकुचित हो जायगा। उसका संकोच इसलिए होगा कि उसमें

लगे हुए साधनों का अर्जन घटने लगेगा जिससे उनकी कुछ इकाइयाँ (जिनमें साहसी भी सम्मिलित होंगे) उस धंधे को छोड़ अन्यत्र चली जायँगी। छोड़नेवाली इकाइयाँ वे होंगी जिनका अन्तरण अर्जन अब उससे अधिक होने की आशा है जितना उस धंधे में रहने पर हो सकता है। विलोमतः किसी धंघ का (दूसरों की तुलना में) तभी विस्तार होता है जब वह ऐसे साधनों को आकर्षित करता है जो उस धंधे में अन्य धंधों की अपेक्षा अधिक अर्जन कर सकते ह।

उदाहरणार्थ, मान लीजिए, कि गेहूँ उत्पन्न करने का धंधा है। सभव है कि कुछ भूमि, जिस पर अभी गेहूँ उत्पन्न किया जाता है, किसी अन्य उपयोग में लाने से, (जैसे जौ उपजाने के लिए) कुछ ही कम आय दे, परन्तु गेहूँ उत्पन्न करनेवाली भूमि की आय में थोड़ी भी कमी होने अथवा उस पर जौ उपजाने से थोड़ी भी अधिक आय होने से, भूमि के स्वामी उस पर गेहूँ न उपजाकर जौ उत्पन्न करने लगेंगे। गेहूँवाली कुछ भूमि संभव है किसी अन्य कार्य में ९० या ९५ प्र० श० अधिक अर्जन कर सके। ऐसी भूमि पर किसी अन्य कार्य में ५या १० प्र० श० की वृद्धि होने पर भी भू-स्वामी उस कार्य में इसका उपयोग करने को प्रस्तुत हो जायँगे। दूसरी सीमा पर कुछ ऐसी भूमि हो सकती है जो गेहूँ उत्पन्न करने के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य के लिए बिलकुल व्यर्थ हो सकती है। ऐसी भूमि पर सर्वदा गेहूँ ही उत्पन्न किया जायगा चाहे उससे होनेवाली आय शून्य ही क्यों न हो जाय। गेहूँ-उत्पादन के धंधे की दृष्टि से ऐसी भूमि की संपूर्ण आय 'लगान' के सदृश है क्योंकि वह आय उस भूमि को इसी धंधे में रहने के लिए प्रेरित नहीं करती। और साधारणतः कोई साधन अपने अन्तरण-अर्जन से ऊपर जो कुछ अर्जित करता है वह लगान के सदृश होता है। फिर भी यदि किसी धंधे में अन्य इकाइयों के साथ (जो उस धंधे में अधियुक्त होने पर अन्य इकाइयों के समान ही होती हैं), जिनका अन्तरण-अर्जन बहुत कम अथवा शून्य है, किसी ऐसे साधन की इकाइयाँ अधियुक्त की जाती हैं जिसका अर्जन अपेक्षाकृत अधिक है, तो पहले प्रकार की इकाइयों की, विशिष्ट होने से, कोई हानि नहीं होती और उनकी आय अधिकतर लगान के सदृश होती है। क्योंकि साधारणतः एक ही धंधे में अधियुक्त एक इकाई उतनी ही आय प्राप्त करेगी, जितनी उसीके समान कुशल इकाई उस धंधे में प्राप्त कर सकती है। और यदि किसी धंधे को किसी साधन विशेष की, जिसके अधियोजन के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र खुला हो, पर्याप्त इकाइयाँ आकर्षित करने के लिए प्रति इकाई कुछ निश्चित मूल्य देना ही पड़ता है, तो उसे विशिष्ट तथा अविशिष्ट दोनों ही इकाइयों के लिए समान रूप से वह मूल्य देना पड़ेगा।

अन्तरण-अर्जन का सिद्धान्त इसलिए उपयोगी है कि किसी धंधे की लागत उसके उत्पादन से कहाँ तक भिन्न हो सकती है इस प्रश्न पर यह प्रकाश डालता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई धंधा केवल कुछ विशेष श्रमियों तथा अन्य साधनों को, जो अन्यत्र पर्याप्त अधिक अर्जन कर रहे हैं, आकर्षित करने से ही, कम से कम अल्प अवधि में, अपना पर्याप्त विस्तार कर सकता है तो उस धंधे को उन्हें अपने यहाँ बुलाने के लिए और भी अधिक देना ही पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि उसके उत्पादन में, कम से कम अल्प अवधि में, कोई विशेष वृद्धि होने के साथ-साथ, उसकी प्रति इकाई पर औसत तथा सीमान्त लागत अधिक होती जायगी, क्योंकि उन नए साधनों को तथा जो पहले से उस धंधे में विद्यमान थे उन्हें भी, अधिक मूल्य देना अनिवार्य हो जाता है।

बीसवाँ अध्याय

आर्थिक प्रगति (Economic Progress)

१. औद्योगिक क्रान्ति और उसके पश्चात्

जब से इंग्लैंड में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तथाकथित "औद्योगिक क्रान्ति" हुई तब से आर्थिक क्रिया की साधारण प्रवृत्ति—कम से कम पश्चिमी तथा पश्चिम का अनुकरण करनेवाले देशों में,—बड़ी तीव्र गति से ऊर्ध्वमुखी हुई है। जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई है; उदाहरणार्थ इंग्लैंड और वेल्स की जनसंख्या १८०५ में केवल ९० लाख थी परन्तु १८४१ में १६० लाख और आज ४ करोड़ से ऊपर हो गई है। परन्तु उत्पादन की मात्रा में इससे भी अधिक वृद्धि हुई है, यद्यपि उसकी ठीक ठीक नाप करना संभव नहीं है क्योंकि निरंतर नए-नए पदार्थों की खोज होती रही है और संपूर्ण औद्योगिक उत्पादनों तथा सेवाओं का अनुपात बढ़ गया है जब कि कृषि के उत्पादनों का अनुपात घट गया है। सर्वोत्तम उपलब्ध अनुमान द्वारा, जो कि अटकल ही कहा जा सकता है, आज इंग्लैंड और वेल्स में प्रतिजन उत्पादन की मात्रा सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा दूनी या तिगुनी है। इससे निर्वाह-स्तर में पर्याप्त वृद्धि हुई है। परन्तु यह भी ठीक-ठीक नापी नहीं जा सकती। परन्तु समसामयिक विवरणों से स्पष्ट पता चलता है कि सौ वर्ष से कम ही व्यतीत हुए जब कि इंग्लैंड के बहुत से श्रमी-परिवार—विशेषतः खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों के परिवार—ऐसी दशा में रहते थे जिसे हम महान् दरिद्रता कह सकते हैं; क्योंकि कभी-कभी उन्हें उपवास की सी अवस्था का सामना करना पड़ता था। इसमें संदेह नहीं कि आज का श्रमी भोजन, निवास, वस्त्र तथा यातायात, शिक्षा और मनोरंजन की सुविधाओं के संबंध में ऐसे निर्वाह-स्तर का उपभोग करता है जो उसके पितामह क्या पिता के निर्वाह-स्तर से भी उच्चतर है। कार्य-सप्ताह का परिमाण, जो निःसंदेह नापा जा सकता है, अवश्य ही घट गया है। उन्नीसवीं शताब्दी का दो-तिहाई समाप्त होने तक कारखानों तथा भवन-निर्माण के मजदूरों का कार्य-सप्ताह साठ के ऊपर था; १९१३ में उनमें से अधिकांश ५४ घंटे काम करते थे; आज वे ४८ या इससे भी कम घंटे काम करते हैं। मृत्यु-संख्या का ह्रास भी नापा जा सकता है। १८७१ से १८८० तक इंग्लैंड एवं

वेल्स में मृत्यु-संख्या २१ प्रति हजार थी; आज यह १२ से नीचे है। भूतकाल की अधिक मृत्यु-संख्या का कारण अंशत: डाक्टरी ज्ञान का अभाव था; परन्तु अधिकांश में यथेष्ट पोषण सामग्री का अभाव था। हमने इंग्लैंड एवं वेल्स के कुछ आँकड़े दिए हैं। परन्तु जनसंख्या, उत्पादन और निर्वाह-स्तर में इसी प्रकार की वृद्धि अधिकांश यूरोपीय देशों में हुई है।

अधिक विस्तार में न जाकर, इस अद्भुत एवं सर्वथा अभूतपूर्व आर्थिक क्रिया के विस्तार के संबंध में हम कुछ सामान्य बातें कह देना चाहते हैं। सब से पहले हम यह बतला देना चाहते हैं कि हम किसी ऐसी वस्तु का विवेचन नहीं कर रहे हैं जो आज तक चलती आई है और अब समाप्त हो गई है। पश्चिमी यूरोप में जनसंख्या की वृद्धि लगभग समाप्त हो रही है परन्तु ऐसा होते हुए भी वृद्धि की ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति आज तक चली आई है और चली जा रही है। कुछ आँकड़ों और घटनाओं से इसका स्पष्टीकरण हो जायगा। गत दो या तीन दशकों में बहुत से ऐसे नए धंधे उत्पन्न हुए हैं जो ऐसे पदार्थ बनाते या उपयोग में लाते हैं—जैसे रबर, पेट्रोल, मोटर, बिजली के सामान और सिनेमा की फिल्में—जो इसके पूर्व या भतो अज्ञात थीं या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। १८०० में कोयले का संसार और का उत्पादन केवल १२० लाख टन था परन्तु १८४० में वह ४५० लाख टन हो गया, १८९० में ५० करोड़ टन और १९१३ में १२० करोड़ टन हो गया। तब से अन्य पदार्थों की अपेक्षा कोयले का उत्पादन कम बढ़ा है। क्योंकि उसका स्थान अंशत: अन्य स्थानापन्नों ने ले लिया है, जैसे तेल। फिर भी १९३६ में संसार भर का कोयले का उत्पादन १३० करोड़ टन था। उधर बिना साफ किए हुए पेट्रोल का उत्पादन १९०० में २ करोड़ टन था परन्तु १९१३ में ५ करोड़ टन और १९३६ में लगभग २३ करोड़ टन हो गया। १८०० में संसार भर का कच्चा लोहे का उत्पादन २ लाख टन से कम था, परन्तु १८७० में १ करोड़ टन, १९०० में ४ करोड़ टन और १९३६ में ९ करोड़ टन हो गया। पुराने माल का अधिकाधिक व्यवहार होने के कारण १९०० के पश्चात् इस्पात का संसार भर का उत्पादन कच्चे लोहे के उत्पादन से बढ़ गया और तब से बढ़ता ही गया है, जिससे १९३३ में १२ करोड़ टन से ऊपर पहुँच गया था। औद्योगिक क्रान्ति एक प्रकार से कोयले और लोहे पर ही निर्भर थी। यंत्रों के निर्माण के लिए लोहे की आवश्यकता थी और पीछे रेल तथा उससे संबंध रखनेवाली वस्तुओं के लिए उसकी आवश्यकता पड़ने लगी और यंत्रों तथा इंजनों को शक्ति प्रदान करने के लिए कोयले की आवश्यकता थी। परन्तु यदि कोयले तथा लोहे का उत्पादन (आजकल इस्पात और पेट्रोल को सम्मिलित करके) "उद्योगीकरण" (Industrialization),

की कसौटी मानी जाय तो उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट पता चलता है कि ज्यों-ज्यों वर्ष पर वर्ष बीतते गए हैं त्यों त्यों उद्योगीकरण की प्रगति तीव्रतर होती गई है।

भाप-शक्ति द्वारा चालित यंत्रों का उपयोग बहुत धीरे-धीरे बढ़ा है। वैट ने अपने भापवाले इंजन का १७७६ में और आवर्तन गति का (Rotary movement), जिसके द्वारा सभी प्रकार के यंत्र भाप द्वारा चालित हुए, १७८२ में आविष्कार किया; परन्तु १८०० में समस्त इंगलैंड में केवल २८९ इंजन थे। १८३५ में यूनाइटेड किंगडम (इंगलैंड, स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड) में केवल १२३ हजार शक्तिचालित कर्घे थे (जहाँ आज लगभग दस लाख हैं) जिनमें से ७ हजार के अतिरिक्त शेष सभी सूती वस्त्र के धंधे में थे। इंगलैंड में १८४० या १८५० तक सूती-वस्त्र के धंधे को छोड़ कर अन्य धंधों में यंत्रों द्वारा उत्पादन व्यापक नहीं हुआ था; अन्य देशों में तो और भी पीछे हुआ है।

अंशतः इसका कारण यह था कि श्रम बहुत गतिशील नहीं था। कुछ देशों में तो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी किसी न किसी प्रकार की दास-प्रथा द्वारा श्रमी भूमि के साथ आबद्ध थे। इंगलैंड में वे इधर उधर जाने के लिए स्वतंत्र थे; परन्तु बहुत से उत्तर की ओर जाने और कारखानों में काम करने से हिचकते थे (क्योंकि अधिकांश जनसंख्या दक्षिण में ही थी)। आरंभिक वर्षों में अधिकतर आयर्लैंड के आप्रवासी (Immigrants) ही कारखानों में मजदूरों का काम करते थे। परन्तु यंत्र द्वारा उत्पादन की मंद गति का मुख्य कारण यह था कि अनेक भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्रों में उन्नति होनी आवश्यक थी। धुनाई और कताई में उन्नति के फलस्वरूप सूत के संभाव्य उत्पादन में जो वृद्धि हुई उसके साथ-साथ शक्तिचालित कर्घों द्वारा कपड़े के उत्पादन में वृद्धि होने के लिए कितने ही दशक लग गए और सँवारने की विधि में उसीके सदृश उन्नति होने के लिए उससे भी अधिक दशक लगे। आरंभिक भाप-इंजन तथा अन्य यंत्र अधिकतर हाथ से ही बनाए जाते थे। वे बहुत दूषित होते और प्रायः जवाब दे देते थे। १८२५ के बाद ही यंत्रों से बने हुए कल-पुर्जों द्वारा यंत्र-निर्माण के धंधे में ऐसी क्रान्ति हुई कि बहुत सूक्ष्म और विश्वस्त कल-पुर्जे बहुत अधिक मात्रा में बनने लगे। यंत्रों को बनाने, उनकी मरम्मत करने और उनका व्यवहार करने के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त यंत्रों का विकास अंशतः कोयला खनने तथा लोहा साफ करने के क्रियाकल्प पर निर्भर रहता है। अतः उत्पादन की इस जटिल कार्य-प्रणाली का अर्थ यह हुआ कि एक क्षेत्र में क्रियाकल्प की उन्नति होने पर भी दूसरे क्षेत्रों की उन्नति के लिए उसे रुकना पड़ता

था। निःसंदेह यह आज के लिए भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार उस समय था। यह भी सत्य है कि एक क्षेत्र में उन्नति होने से दूसरे क्षेत्र में उन्नति के लिए कभी-कभी प्रोत्साहन और कभी सहायता प्राप्त होती है और ऐसा भी हो सकता है कि दूसरे क्षेत्रों की उन्नति से पहले क्षेत्र में और भी अधिक उन्नति हो। जैसे जब सूत कातने के यंत्र में उन्नति हुई तब आविष्कारकों का ध्यान शक्तिचालित करघों के निर्माण की ओर गया। इसी प्रकार कोयले की खानों में से पंप द्वारा पानी बाहर निकालने के लिए भाप-इंजनों का उपयोग होने पर कोयला सस्ता हो गया और सस्ते कोयले से भाप-इंजन बनाने की लागत भी घट गई और उनकी माँग भी बढ़ गई।

विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति के परस्पर संबंध का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त यातायात का विकास है। यदि यातायात के अधिक व्यय के कारण बाजार का क्षेत्र सीमित होगा तो विभिन्न जिलों में विशेषीकरण अधिक सीमा तक नहीं हो सकता। जो जिले कुछ पदार्थ अपने लिए नहीं उत्पन्न कर सकते थे, यदि यातायात के व्यय के कारण उनका मूल्य अधिक बढ़ जाता है तो, उसकी अपेक्षाकृत कम मात्रा आयात करेंगे। अधिकांश जिले जो उत्पन्न कर सकते हैं उत्पन्न करेंगे। क्योंकि कुछ जिलों की तुलनात्मक सुविधाएँ और उनके कारण कम उत्पत्ति-लागत—जिसका कारण कुछ फसलों के लिए विशेष रूप से अनुकूल जलवायु और मिट्टी, अथवा कोयला, असिद्ध लोह या अन्य खनिजों की उपस्थिति अथवा मात्रा की मितव्ययता (Economies of scale) अथवा केन्द्रीकरण होता है—से अधिक उस पदार्थ को दूर तक ले जाने का स्थानान्तरण-व्यय होता जाता है। अठारहवीं शताब्दी में यातायात व्यय बहुत अधिक होता था और केवल बहुत ही बहुमूल्य वस्तुओं का दूर तक स्थानान्तरण ही (विशेषतः स्थल मार्ग से) लाभकर हो सकता था। मैक्ऐडम आदि द्वारा सड़कों के बनाने में उन्नति हुई, नहरें बनाई गई और नदियाँ जहाज चलाने योग्य बनाई गई परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ रेल के निर्माण से। स्टौक्टन ऐंड डार्लिंग्टन रेलवे, जो भाप-इंजन का व्यवहार करनेवाली तथा यात्रियों को ले जानेवाली सबसे प्रथम सार्वजनिक रेलवे थी, १८२५ में खुली थी; परन्तु इंग्लैंड को अपने पूरे क्षेत्रफल में रेलों का जाल बिछाने में उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध बीत गया, और अन्य अग्रगामी देशों में तो इस प्रकार की उन्नति और भी पीछे हुई।

रेलों के द्वारा संपूर्ण महाद्वीपों में आना जाना सुलभ हो गया। अब लोग केवल समुद्रों और नदियों के किनारे केंद्रित न होकर देश के आन्तरिक भागों में भी बस सकते थे। दूर के बाजारों में बेचने के लिए देश के आन्तरिक भागों में फसलें उपजाना और खनिज खनना सुलभ हो गया।

१८४२ में अर्थशास्त्री मैक्कुलोच ने लिखा था कि "हैंबर्ग के आसपास के देशों के अतिरिक्त अन्यत्र से इंग्लैंड में जीवित पशु अथवा नमकमिश्रित मांस का आयात होने की संभावना नहीं है और वहाँ से भी बहुत कम आयात हो सकता है। दक्षिणी अमेरिका से तो एक औंस भी नहीं।" १८४५ में कौब्डन ने लिखा था कि डैंजिग (जर्मनी) से लंदन तक गेहूँ के स्थानान्तरण का जो १० शि० प्रति क्वार्टर (लगभग १४ सेर) व्यय है वह एक प्रकार से, अंग्रेजी किसानों के लिए, संरक्षण-कर है। यातायात के साधनों में तीव्र गति से उन्नति और उनका विकास होने से यह सब बिलकुल परिवर्तित हो गया। अमेरिका तथा अन्य समुद्र पार के देशों में रेल-निर्माण तथा जलयान-निर्माण के क्रियाकल्प में तीव्र विकास होने से १८८० के आसपास समुद्र पार से पश्चिमी यूरोप के देशों में अन्न तथा मांस का अधिक मात्रा में निर्यात करना लाभकर हो गया। स्थानान्तरण व्यय में यही क्रमिक ह्रास इंग्लैंड तथा अन्य औद्योगिक उत्पादनवाले देशों के लिए संसार भर में बाजार खोलने में सहायक हुआ।

लौह-उत्पादन और पीछे इस्पात के भी उत्पादन के क्रियाकल्प में क्रमिक उन्नति होने से रेलों की उन्नति को प्रोत्साहन मिला। रेल की पटरियों, डब्बों आदि के लिए बहुत बड़ी मात्रा में लोहा और इस्पात की आवश्यकता हुई। माँग बढ़ जाने से लोहा और इस्पात के उत्पादन में मात्रा की मितव्ययता संभव हुई जिससे रेल की पटरियों, डब्बों आदि का मूल्य गिरा और वे सस्ते हो गए। यातायात सस्ता होने से औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि हुई जिससे यंत्रों और सज्जा की माँग बढ़ी और उसके फलस्वरूप लोहा और इस्पात की माँग भी बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त अब लोहे और इस्पात के कारखानों को पहले की अपेक्षा कम व्यय पर असिद्ध लौह (पीछे रद्दी और पुराना लोहा) प्राप्त करना सरल हो गया। इस प्रकार लोहे और इस्पात के धंधों का विकास रेल और जलयानों की उन्नति का कारण हुआ और रेल और जलयान उसकी उन्नति के कारण हुए।

२. आर्थिक प्रगति के कारण

विगत लगभग डेढ़ सौ वर्षों के आर्थिक विस्तार का हमारा संक्षिप्त पर्यवेक्षण यह व्यक्त करता है कि सबकी मूल चालक शक्ति थी क्रियाकल्प की प्रगति। यह निष्कर्ष बहुत अंशों में सत्य है परन्तु इसकी कुछ व्याख्या और समीक्षा करना आवश्यक है।

सबसे पहले हम यह कह सकते हैं कि केवल कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कारों को ही क्रियाकल्प की प्रगति नहीं मान लेना चाहिए। इसमें

संदेह नहीं कि सचमुच ही कुछ युगप्रवर्तक आविष्कार हुए, जैसे वैट का भाप-इंजन तथा इस्पात बनाने की बेसेमर-विधि (Bessemer process), परन्तु बड़े से बड़े आविष्कर्ताओं ने भी दूसरों के आविष्कारों को आधार बनाया और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों उनके आविष्कारों में भी पर्याप्त परिवर्तन होते गए। वैट के पूर्व भी भाप-इंजन थे और भाप-इंजनों की कुशलता उसके समय से लेकर आज तक बढ़ती गई है। यही बात इस्पात उत्पन्न करने के क्रियाकल्प के विषय में भी लागू होती है। आर्थिक क्रिया के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिवर्ष हजारों आविष्कार होते और व्यवहार में लाए जाते हैं। एकाकी कोई भी आविष्कार अधिक महत्त्व का नहीं जान पड़ता परन्तु सब मिल कर उत्पादन की विधियों में बहुत परिवर्तन कर देते अथवा बाजार में नए पदार्थ प्रस्तुत कर देते हैं। आजकल अधिकांश अन्वेषण और आविष्कार एकाकी व्यक्तियों द्वारा नहीं वरन् किसी बड़ी व्यवसाय-संस्था अथवा सरकार के लिए कार्य करनेवाले अनुसंधानकर्ताओं के दल द्वारा होते हैं।

केवल औद्योगिक उत्पादन, यातायात और जनहित कार्यों से संबंध रखनेवाली प्रगति को भी क्रियाकल्प की प्रगति नहीं समझना चाहिए। अन्य क्षेत्रों में होनेवाले आविष्कारों का भी बहुत महत्त्व है। उदाहरणार्थ, चेकों का व्यवहार, मिश्रित पूँजी-कंपनियों की व्यवस्था और बही-खाते तथा हिसाब-किताब में उन्नति—सभी के द्वारा उद्योग-धंधों और व्यापार की उन्नति हुई है। फिर चिकित्सा-विज्ञान की निरंतर उन्नति से भी कार्यशील जनता की कुशलता बहुत बढ़ गई है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि किसी देश के विधान और उसकी संस्थाएँ भी उसकी आर्थिक प्रगति में बहुत सहायक या बाधक हो सकती हैं।

इस बात को फिर से कह देना अनुचित न होगा कि उद्योग-धंधों और व्यापार की उन्नति के लिए कृषि के क्रियाकल्प में उन्नति होना आवश्यक था। सबसे बड़ी आवश्यकता भोजन की है। थोड़ी आयवाले परिवार अपनी आय का अधिकांश भोजन पर व्यय करते हैं। जबतक किसी भू-खंड पर एक परिवार के श्रम से केवल उसी परिवार के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न होती थी तबतक जनसंख्या का अधिकांश कृषि-कर्म में लगा रहा। अन्य क्षेत्रों में चाहे कितने भी आविष्कार होते परन्तु कम आवश्यकता वाली वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए बहुत कम व्यक्तियों को कृषि-कर्म से अवकाश मिलता। अतः कृषि-संबंधी क्रियाकल्प में होनेवाले विभिन्न सुधारों द्वारा—जैसे फसल के आवर्तन (Rotation) की खोज और पशुपालन तथा प्रजनन (Breeding) की उन्नत विधियों के साथ-साथ खुली खेती की प्रथा का बंद होना—औद्योगिक क्रान्ति को सफल होने में

बड़ी सहायता मिली। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों कृषि-कर्म के क्रियाकल्प में निरंतर परिवर्तन होता गया। अनेक प्रकार की नई फसलों की खोज हुई है, जो अधिक मात्रा में अथवा जल्दी उत्पन्न होतीं, अथवा रोगों या प्रतिकूल जलवायु से लड़ने में अधिक समर्थ होती ह। पशुओं के पालन-पोषण और प्रजनन में निरंतर उन्नति होती गई है; इसी प्रकार मिट्टी की तैयारी करने और खाद देने में भी बहुत उन्नति की गई है। कृषि-संबंधी यंत्रों—जैसे ट्रैक्टर और "कंबाइन"—में, विशेषतः इधर के कुछ वर्षों में, बहुत उन्नति हुई है। जैसा कि हमने पहले ही संकेत किया है, यातायात में उन्नति होने से समुद्र पार के विस्तृत क्षेत्रों के उत्पाद औद्योगिक जन-संख्या के लिए सुलभ हो गए हैं। हम फिर से दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट कर सकते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में होनेवाली उन्नति किस प्रकार अन्योन्याश्रित है। कृषि में उन्नति होने से श्रमियों का अन्य व्यवसायों में जाना सुलभ हो गया और यंत्रों तथा पेट्रोल एवं रासायनिक खादों के उत्पादन में उन्नति होने से कृषि की कुशलता बढ़ गई। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कृषि-कर्म के क्रियाकल्प में निरंतर होनेवाली उन्नति और साथ-साथ खाद्य की माँग की कम आय-लोच (Income-elasticity) का परिणाम यह हुआ कि कृषि में अधियुक्त होनेवाली जनसंख्या का अनुपात घटता गया है—ऐसे देशों में भी जहाँ पर्याप्त भूमि है, जैसे औस्ट्रेलिया और संयुक्त राज्य (अमेरिका)—और नगरों की ओर जाने की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती रही है।

बहुत से आविष्कारों को व्यवहार में लाने के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। उनका प्रयोग कुछ ऐसे रूपों में होना चाहिए जैसे रेल या जहाज या धातु गलाने की भट्ठी या पाइप और तार या यंत्रादि। यह कथन सत्य नहीं है कि सभी आविष्कारों के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। बहुतों से तो यह प्रकट होता है कि विद्यमान यंत्रों और अन्य उत्पादक वस्तुओं को अधिक कुशल किस प्रकार बना सकते हैं जिससे किसी निश्चित मात्रा में उत्पादन करने के लिए कम पूँजी की आवश्यकता हो। इसी प्रकार सस्ते यातायात का यह अर्थ हो सकता है कि बहुत अनुकूल स्थानों पर स्थित कुछ थोड़े से कारखाने उतना ही उत्पादन कर सकते हैं जितना केवल अपने-अपने जिले की पूर्ति करनेवाले उनसे अधिक संख्या में कारखाने कर सकते हैं। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के समय तथा उसके पश्चात् जो उत्पादन का विस्तार हुआ है वह संभव न होता यदि पूँजी में अधिक वृद्धि न हुई होती; और यह प्रायः सत्य है कि पर्याप्त आर्थिक प्रगति के लिए अधिक विनियोजन आवश्यक है।

भूतकाल में आर्थिक प्रगति के साथ-साथ श्रम-विभाजन में भी उन्नति

होती गई है। अनेक उत्पादन विधियों में हजारों नए व्यवसायों की उत्पत्ति हुई है, जिनमें से प्रायः प्रत्येक में विशिष्ट यंत्रों तथा सज्जा का उपयोग होता है। बाजारों का विस्तार होने से प्रादेशिक श्रम-विभाग की बहुत वृद्धि हुई है अर्थात् भिन्न-भिन्न जिलों में विशेषीकरण हुआ है। यह सत्य है कि कुछ आविष्कारों के कारण एक यंत्र या प्रसाधक (Apparatus) अनेक विशिष्ट यंत्रों तथा श्रमियों को बेकार कर देता है। जैसे आजकल आलपिनें केवल एक यंत्र द्वारा निर्मित होती हैं; अब अठारह पृथक्-पृथक् विधियाँ नहीं हैं। परन्तु अधिकतर आर्थिक प्रगति और विशेषीकरण साथ-साथ चलते हैं।

क्रियाकल्पात्मक उन्नति, विनियोजन, और श्रमविभाजन एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं। आविष्कारों को व्यवहार में लाने के पूर्व प्रायः विनियोजन की आवश्यकता होती है, साथ ही ऐसे कुशल श्रमियों की आवश्यकता पड़ती है जो विशेष व्यवसायों के लिए प्रशिक्षित किए गए हों। उनके प्रयोग के फलस्वरूप होनेवाले अधिक उत्पादन द्वारा अधिक बचत की संभावना होती है। और अनुसंधान करने के लिए विशेषीकरण की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। अधिक बचत द्वारा पूँजी को उत्पादक रूप में व्यवहृत करने के लिए नई-नई विधियों की खोज करने की प्रेरणा मिलती है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, गत सौ वर्षों से अधिक काल से आर्थिक क्रिया की साधारण प्रवृत्ति ऊर्ध्वमुखी रही है। परन्तु अबाधित और क्रमिक विस्तार कभी नहीं हुआ है। ऐसे भी समय आये हैं जब कि ऊर्ध्वमुखी गति मंद रही है और कभी-कभी ऐसा हुआ है कि सर्वथा विपरीत प्रवृत्ति देखने में आई है। तो आर्थिक प्रगति से संघर्ष करनेवाली कौन कौन सी प्रवृत्तियाँ हैं?

बाढ़, अग्नि, भूकंप और अंधड़ जैसी आपत्तियाँ धन-जन की हानि अथवा नाश कर देती हैं। परन्तु सबसे भारी आपदा युद्ध की होती है। युद्ध-काल में अधिकतर मुद्रास्फीति (Monetary inflation) होती है और श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधनों का पूर्ण अधियोजन होता है। परन्तु उत्पादन के उपलभ्य साधनों का अधिकांश युद्ध-संबंधी कार्यों में लग जाता है। अन्य व्यवसायों में से आकृष्ट करके श्रमी जल, स्थल या वायु-सेना में अथवा अस्त्र-शस्त्रों या युद्ध-संबंधी अन्य उपादानों को प्रस्तुत करने में लगा दिये जाते हैं। अतः अपेक्षाकृत कम उपभोग्य वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं और साधारण निर्वाह-स्तर गिर जाता है। यही बात, यद्यपि कुछ कम सीमा तक, विशेष रूप से पुनः—शस्त्रीकरण के समय भी होती है। युद्ध की समाप्ति पर प्रायः लड़नेवाले देशों की शान्ति काल के लिए अपेक्षित वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता पहले की

अपेक्षा बहुत घट जाती है। कार्यशील वय के मनुष्य प्रायः मर चुके अथवा घायल हुए रहते हैं; अतः बूढ़ों और बच्चों की अपेक्षा वयस्कों की संख्या घट गई रहती है। भवन, जलयान तथा अन्य प्रकार की संपत्तियाँ शत्रु द्वारा संभवतः नष्ट हो चुकी रहती हैं। यह तो बहुत कुछ निश्चित रहता है कि मनुष्य और उपादान युद्ध-संबंधी कार्यों में व्यवहृत होने से मुक्ति नहीं पाते जिससे वे शान्ति काल के लिए भवनों तथा अन्य ऐसी संपत्तियों को, जिनको युद्ध के लिए आवश्यकता नहीं पड़ती, मरम्मत करके उपयोगी बनाये रख सकें।

पुराने अंग्रेज अर्थशास्त्री यह समझते थे कि जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक प्रगति के सब लाभ लुप्त हो जायँगे। वे सोचते थे कि उत्पादन की वृद्धि से कुछ काल तक तो जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा परन्तु इससे जन-संख्या की वृद्धि होगी; क्योंकि पोष्य पदार्थों के अभाव से होनेवाली मृत्यु संख्या घट जायगी और जल्दी विवाह होने से जन्म-संख्या भी बढ़ेगी। जन-संख्या में वृद्धि तबतक होती रहेगी जबतक क्रियाकल्पात्मक उन्नति के होते हुए भी, ह्रासमान उत्पत्ति के परिणामस्वरूप, जीवन-स्तर फिर गिर नहीं जायगा।

यह बड़ा जटिल प्रश्न है। हम देख चुके हैं कि विगत सौ वर्षों में पाश्चात्य देशों में जनसंख्या में वृद्धि होते हुए भी वास्तव में जीवन-स्तर पर्याप्त ऊँचा उठा है। हम यह भी जानते हैं कि विशेषतः बहुत दिनों से सन्तान-निरोध होते रहने के कारण अब, पश्चिमी यूरोप की जनसंख्या में वृद्धि रुक जायगी। परन्तु यह केवल अनुमान की बात है कि भविष्य में यदि किसी देश की जन-संख्या कम रहेगी तो उसमें प्रतिजन उत्पादन की मात्रा और उसका जीवन-स्तर बढ़ेगा या नहीं? एक ओर जन-संख्या में अकस्मात् पर्याप्त कमी होने से प्रतिजन भूमि तथा अन्य संपत्ति की मात्रा बढ़ जायगी। दूसरी ओर संभव है कि श्रम-विभाग तथा मात्रा के मितव्यय के लिए कम क्षेत्र रह जायगा। इसके अतिरिक्त उत्पादन के "अविभाज्य" साधन जैसे रेल, पुल, शक्ति के केन्द्र आदि का कम उपयोग होगा। मेरा अपना मत है कि भारत, चीन आदि के समान देशों की, जिनकी जन-संख्या उनके प्राकृतिक साधनों की तुलना में बहुत अधिक है, जन-संख्या यदि घट जाय तो उनका जीवन-स्तर सचमुच ही उच्चतर हो जाय; और यह बात बहुत से अन्यदेशों के संबंध में भी—जैसे औस्ट्रेलिया और कनाडा—सत्य है। जो हो परन्तु यदि यह ठीक भी हो तो एक दूसरी बात यह रह जाती है कि यदि इन देशों की जन-संख्या और भी मन्द गति से बढ़ी होती तो क्या ये देश इससे अच्छी दशा में होते? इसमें और भी संदेह है। क्योंकि उस दशा में संभवतः कम विनियोजन और कम आविष्कार हुए होते। तीव्र गति से

वढ़नेवाली जन-संख्या विनियोजन के हानि-भय को कम करती है क्योंकि कालान्तर में किसी वस्तु विशेष की माँग, चाहे प्रत्याशित से कम ही क्यों न हो, पर वढ़ेगी अवश्य। इससे उद्योगों और व्यवसायों में सामंजस्य की सुविधाएँ वढ़ती हैं, जैसा कि अध्याय १४, विभाग २ में वतलाया गया है।

आर्थिक उन्नति का एक महत्त्वपूर्ण और वार-वार उत्पन्न होनेवाला निरोध, विशेषतः आधुनिक देशों में, व्यापार की व्यापक मंदी द्वारा उपस्थित होता है। १९३० से १९३४ तक रहनेवाली महान् मंदी अभी तक वहुत से लोगों को भूली न होगी। यह भूतकाल की अनेक मंदियों में से सवसे पिछली और सवसे वुरी मंदी थी। इससे प्रायः सभी सहमत हैं कि इन मंदियों और व्यापार-चक्र का, जिसका ये अंग हैं, संवंध विनियोजन की मात्रा में परिवर्तन से है। अतः हमें संक्षेप में ऐसे परिवर्तनों के कारणों और परिणामों पर विचार कर लेना चाहिए।

३. विनियोजन में परिवर्तन (Fluctuations in Investment)

प्रस्तुत प्रसंग में हम विनियोजन की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—यह उत्पाद्य वस्तुओं एवं टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं का संपूर्ण उत्पादन है। इस उत्पादन का कुछ अंश नवीकृत तथा अनुस्थापित वस्तुओं का होता है। पूँजी को अविकल रखने के लिए अपेक्षित धन को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण विनियोजन को निस्तुप विनियोजन कह सकते हैं। इस प्रकार निस्तुप विनियोजन कभी-कभी ऋणात्मक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, व्यवसाय-संस्थाएँ अपने ऋणपरिशोध यथांशों (Amortisation quotas) का कुछ अंश लाभांश देने में व्यय कर सकती हैं, परन्तु सतुप विनियोजन, जिसका हम विचार कर रहे हैं, सर्वदा धनात्मक होता है।

इस उत्पादन की उत्पत्ति में अधियुक्त श्रम, उपादान तथा उत्पादन के अन्य साधनों को देने के लिए व्यवहृत विनियोज्य निधि निम्नलिखित चार में से किसी स्रोत से अथवा चारो से आ सकती है—ऋणपरिशोध यथांश, नवीन वचत, नवीन द्रव्य और पहले निष्क्रिय पड़ा रहने वाला द्रव्यावशेष। नवीन द्रव्य स्वर्ण के अधिक उत्पादन से आ सकता है; परन्तु आधुनिक काल में यह प्रायः महाजनी प्रणाली (Banking system) द्वारा प्रदान किया जाता है। वैंक या तो ऋण अधिक देने लगते हैं या अधिक प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं जिससे उनका निक्षेप (Deposit) वढ़ता है। द्रव्य की मात्रा में इस प्रकार की वृद्धि को मुद्रास्फीति कहते हैं और इससे मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति होती है[1] जिससे अपेक्षाकृत स्थिर आयवालों पर "वलात् वचत" (Forced

---

१. जवतक कि अनधियुक्त मनुष्य और साधन उपलब्ध न हों।

saving) का भार डाला जाता है। निःसंदेह, जब नवीन द्रव्य पाने वाले उसे व्यय कर लेते हैं, तो वह दूसरों के अधिकार में चला जाता है और यदि वे उसमें से कुछ बचाना चाहते हैं तो उनकी बचत स्वेच्छया होती है। "बलात् बचत" पद केवल यही बतलाता है कि स्थायी आयवाले लोग अपना उपभोग घटाने के लिए बाध्य किये गए हैं। जब रोकड़ बाकी अथवा बैंक-निक्षेप (Bank deposit), जो पहले निष्क्रिय पड़ा हुआ था, वस्तु और सेवाएँ क्रय करने के लिए उपयोग में लाया जाता है, तब भी मूल्य चढ़ जाने की प्रवृत्ति होती है।

अधिक बचत अथवा मुद्रास्फीति के कारण विनियोजन में वृद्धि आवश्यक नहीं है। संभव है कि लोग निष्क्रिय रोकड़ के रूप में अपनी बचत रखना चाहें। संभव है कि यदि बैंक अपने ऋण और अध्याहरणों (Overdrafts) पर व्याज की दर घटा दें तब भी साहसी उनसे अधिक ऋण न लें। जैसे १९३२ और १९३३ में ब्रिटेन के बैंकों ने अपनी दर घटा दी थी परन्तु उससे साहसियों को अधिक ऋण लेने की प्रेरणा नहीं हुई। बैंकों ने अधिक प्रतिभूतियाँ खरीदीं जिससे जिन लोगों ने अपनी प्रतिभूतिया उन्हें बेचीं उनका निक्षेप बढ़ गया। इस प्रकार बैंकों के निक्षेप में पर्याप्त वृद्धि हुई। परन्तु इन निक्षेपों का अधिकांश निष्क्रिय पड़ा रहा। उनके स्वामियों ने वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने में उनका उपयोग नहीं किया अर्थात् उनका परिचालन नहीं हुआ। अतः उन दिनों मुद्रास्फीति और "सुलभ द्रव्य" (Cheap money) की नीति विनियोजन और सक्रियता को वांछित प्रेरणा देने में सफल नहीं हो सकी।

तथ्य यह है कि व्याज की नीची दर विनियोजन को प्रेरित करने के लिए स्वयं पर्याप्त नहीं है। सरकार द्वारा सार्वजनिक कार्यों पर किये जाने वाले व्यय को छोड़ कर, जिस पर जान-बूझ कर इस आशा से हानि उठाई जा सकती है कि सक्रियता में व्यापक वृद्धि होगी, विनियोजन तभी होता है जब कुछ लाभ की आशा रहती है। इसमें संदेह नहीं कि व्याज की दर में कमी का अर्थ होता है लागत में कमी और इससे संभावना यह रहती है कि साहसी ऐसी योजनाओं को कार्यान्वित करेंगे जिनमें उस समय पर्याप्त लाभ की आशा नहीं थी जब व्याज की दर ऊँची थी। परन्तु लाभ की प्रत्याशित दर केवल व्याज-दर पर निर्भर नहीं रहती; वरन् वह प्राप्ति और लागत के अन्तर पर निर्भर रहती है। साहसी तभी अपने व्यवसाय का विस्तार करेंगे अथवा नये धंधे स्थापित करेंगे जब उन्हें यह आशा होगी कि उनके उत्पादित पदार्थ की माँग इतनी बढ़ जायगी अथवा उसके बनाने और बेचने की लागत इतनी घट जायगी कि वे पहले की अपेक्षा अधिक माल लाभ उठा कर बेच सकेंगे।

कालान्तर में विनियोजन की मात्रा अल्पजीवी उपयोग्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तित होती है। विगत काल में आर्थिक सक्रियता की जागृति (युद्धकालीन जागृति को छोड़ कर) का संबंध सर्वदा विनियोजन की मात्रा में वृद्धि के साथ जोड़ा गया है। और मंदी के समय उसकी मात्रा में बहुत कमी हुई है। जैसे संयुक्त राज्य में (१९३३ के कुछ आरंभिक मासों में) मंदी की चरम सीमा के समय, उत्पादक वस्तुओं (Producers' goods) की उत्पत्ति १९२९ की अधिकतम उत्पत्ति का केवल तृतीयांश थी, जब कि उपभोग्य वस्तुओं की उत्पत्ति १९२९ की चरम उत्पत्ति से केवल १५ प्र. श. कम थी। इसी प्रकार के अन्तर के अन्य उदाहरण इंग्लैंड तथा अन्य देशों में भी मिलते हैं, परन्तु कम मात्रा में।

टिकाऊ मालों—जैसे भवन और जलयान, तथा सब प्रकार के यंत्र और सज्जा—की उत्पत्ति के संबंध में ये परिवर्तन अधिक स्पष्ट व्यक्त होते हैं। इस प्रकार केवल निर्माणात्मक धंधों तथा उन्हें कच्चे माल की पूर्ति करनेवाले धंधों में ही उत्पादन तथा अधियोजन में अधिक परिवर्तन होते हैं। स्मरण रहे कि इसका एक कारण यह है कि अनुस्थापन के लिए उत्पादित टिकाऊ वस्तुओं की वार्षिक उत्पत्ति उनकी संपूर्ण राशि का एक अल्पांश होती है जो वस्तु के जीवन-काल के साथ-साथ घटती रहती है। अतः अनुस्थापन की माँग में वृद्धि अथवा अपने यंत्र और सज्जा को बढ़ाने या नये कारखाने स्थापित करने के इच्छुक साहसियों द्वारा इस प्रकार की नई वस्तुओं के लिए आदेश मिलने से निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों की क्रिया में पर्याप्त वृद्धि होगी, और अनुस्थापन की माँग के ह्रास अथवा आदेशों में कमी के कारण ह्रास होगा। परन्तु चाहे कुछ भी हो यदि उससे साहसियों को अधिक लाभ की आशा है तो विनियोजन को प्रोत्साहन मिलेगा और यदि किसी वस्तु से उन्हें लाभ घट जाने या हानि होने का भय रहता है तो उससे उनका विनियोजन रुक जायगा। इससे हम व्यापार-चक्र के विषय पर आते हैं।

४. व्यापार-चक्र (Trade Cycle)

व्यापार-चक्र की एक स्थूल परिभाषा यह है कि तेजी के बाद मंदी आने को व्यापार-चक्र कहते हैं। आर्थिक उन्नति का अनियमित होना—कभी-कभी व्यापार का उन्नत होना और कभी अवनत होना—कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु आश्चर्य इसमें है कि मंदी और तेजी इतने अधिक काल तक रहे और इतनी स्पष्ट लक्षित हो। मंदी प्रायः अनेक वर्षों तक, जिनमें श्रमियों और अन्य साधनों का पर्याप्त अनुपात अनधियुक्त रहता है, क्यों बनी रहती है, इसका कुछ कारण बतलाना आवश्यक है।

व्यापार-चक्र के कारणों के विषय में अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। इसके अतिरिक्त भूतकाल के सभी व्यापार-चक्रों की अपनी-अपनी कुछ न कुछ विशेषताएँ रही हैं। अतः हम व्यापार-चक्र की प्रगति और उसके कारणों का बहुत साधारण विवरण ही दे सकते हैं जिसमें उन विशेषताओं पर ही विशेष ध्यान रखा जायगा जो सबमें समान रूप से व्याप्त थीं। उदाहरणार्थ, हम यह मान लेंगे कि तेजी के साथ साथ द्रव्य की माँग में वृद्धि होती है क्योंकि भूतकाल में सर्वदा ऐसा ही हुआ है और रोकड़ बाकी रखने की प्रवृत्ति का ह्रास होता है (जिस पर द्रव्य के परिचलन की गति निर्भर करती है), यद्यपि केवल रोकड़ बाकी ही (उसकी मात्रा में कुछ भी वृद्धि किये बिना) तेजी को सँभालने के लिए पर्याप्त होती है। इसके अतिरिक्त हम यह भी मान लेंगे कि तेजी के समय वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि होती है। यद्यपि १९२५–२९ की तेजी में संयुक्त राज्य में ऐसा नहीं हुआ था फिर भी अल्प परिवर्तनों के साथ हमारा उपर्युक्त निदान अन्य तेजियों के समान ही इस पर भी घटित होता है। क्योंकि क्रियाकल्पात्मक उन्नति में तीव्र गति से वृद्धि होने के कारण लागत घट गई थी परन्तु द्रव्य की मात्रा और उसके परिचलन के वेग में वृद्धि होने से मूल्य का पर्याप्त ह्रास रुक गया था। लाभ की प्रत्याशित दर चढ़ गई थी और विनियोजन को उत्तेजना मिली थी।

उत्पत्ति और अधियोजन की मात्रा में वृद्धि (विशेषतः निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों में) होने से तेजी का समय और उसमें ह्रास होने से मंदी का समय जाना जाता है। इसका यह अर्थ है, जैसा कि हम देख चुके हैं, कि तेजी के समय साहसी प्रचुर और वर्द्धमान लाभ की आशा करते हैं जब कि मंदी के समय उन्हें हानि की आशंका रहती है।

मंदी के समय साधनों के दुरुपयोग को हमें अतिरंजित रूप नहीं देना है। उस समय श्रमियों में प्रायः अनधियोजन की वृद्धि होती है। परन्तु अपनी पूँजी से कार्य करनेवाले कृषक अपना उत्पादन प्रायः पहले के समान रखते अथवा बढ़ा देते हैं। उनकी वास्तविक आय घट जाती है क्योंकि उनके उत्पादनों के मूल्य प्रायः उन वस्तुओं के मूल्यों से अधिक गिर जाते हैं जिनकी पूर्ति पर्याप्त मात्रा में घटा दी जाती है। परन्तु वे अपनी भूमि पर यथाशक्ति पूर्ववत् परिश्रम करते हैं। किसी उद्योग-प्रधान देशमें अनधियोजन का प्रतिशत कुछ काल तक २० या ३० के ऊपर जा सकता है। परन्तु यह अस्थायी वृद्धि होती है। यदि मंदी भर के काल पर विचार करें तो उद्योग-प्रधान देशों में भी अनधियोजन का औसत प्रतिशत १५ के ऊपर विरले ही जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि अच्छे दिनों में भी ५ या इससे अधिक प्रतिशत व्यक्ति अनधियुक्त रहते हैं,

काम से हटाये गये व्यक्ति अधियुक्तों की अपेक्षा कम कुशल होते हैं, यंत्रों तथा अन्य साधनों का अनधियोजन, श्रम के अनवियोजन की अपेक्षा प्रायः कम होता है और उत्पादन तथा अनधियोजन के अधिकांश सूचक (Index) परिवर्तनों का अतिरंजन करते हैं क्योंकि वे निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों को अनुचित महत्त्व देते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मंदी के समय उत्पादन में ह्रास का औसत १० प्र० श. से अधिक विरले ही कभी होता है।

निःसंदेह १० प्र. श. से भी बड़ा अन्तर पड़ता है और अपव्यय अधिक स्पष्ट लक्षित होने के कारण अर्थशास्त्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने मंदी को रोकने और उसे दूर करने के उपाय ढूँढ़ने पर बहुत अधिक ध्यान दिया है। परन्तु हमें मात्रा के औचित्य (Sense of proportion) का ध्यान रखना चाहिए। यदि अधियोजन-निवारण (Unemployment relief) की समुचित व्यवस्था हो तो हानि का अधिकांश भार मजदूरों पर न पड़ कर लाभ और (ऋणियों के ऋण न चुकाने पर) व्याज पानेवालों पर पड़ता है। आजकल मजदूर-संघ मजदूरी में अधिक कटौती को रोकने में सफल हो जाते हैं जिससे मंदी के समय निर्वाह-व्यय में कमी होने से पूर्णतः अधियुक्त रहनेवाले श्रमियों की वास्तविक आय पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त विगत काल में प्रतिजन उत्पत्ति की उन्नतोन्मुख प्रवृत्ति का अर्थ यह रहा है कि प्रत्येक मंदी के समय वास्तविक आयका स्तर पहलेवाली को अपेक्षा उच्चतर रहा है। उदाहरणार्थ, विगत मंदी के समय इंग्लैंड में पूर्णतः अवियुक्त श्रमियों की वास्तविक मजदूरी पूर्व वर्षों की अपेक्षा पर्याप्त अधिक थी और अनधियोजन-वृत्ति (Unemployment benefit) पानेवाले अधिकांश श्रमियों का स्तर ऐसा था कि वांछित स्तर से बहुत नीचा होते हुए भी १९१४ वाले महायुद्ध के पूर्व के अकुशल कर्मचारी की मजदूरी से निःसंदेह अधिक था।

व्यापार-चक्र का अपना संक्षिप्त विवरण हम मंदी दूर होने के पश्चात् आनेवाले संक्रमण काल से आरंभ करेंगे। विगत काल में, किसी न किसी प्रकार के विनियोजन-पुनरुत्थान (Revival of investment) द्वारा तेजी का आरंभ हुआ है; यद्यपि कोई कारण नहीं कि वह उन उपभोग्य वस्तुओं पर होनेवाले संपूर्ण व्यय की वृद्धि से न आरंभ हो जिनसे उन वस्तुओं का उत्पादन करनेवाली व्यवसाय-संस्थाओं को अपनी उत्पाद्य वस्तुओं के लिए, अधिक आदेश देने का प्रोत्साहन मिले और विनियोजन को प्रेरणा प्राप्त हो। विनियोजन का पुनरुत्थान लाभपूर्वक पूँजी लगाने के किसी महत्त्वपूर्ण नये क्षेत्र की खोज होने के कारण हो सकता है। उदाहरणार्थ, रेल-निर्माण, रैंड की सोने की खानों का विकास, विद्युत्-

धारा की उत्पत्ति के लिए यंत्र तथा सज्जा का निर्माण, इन सभी के द्वारा विनियोजन को आकस्मिक प्रेरणा प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार सरकार द्वारा सार्वजनिक कार्य अथवा शस्त्रीकरण या इसी के समान अन्य योजनाओं पर व्यय के कारण भी हो सकता है। यदि व्यय नूतन उत्पादित द्रव्य में से होता है (और कर बढ़ा कर, जिससे कर-दाताओं को अपना व्यय घटाना पड़े अथवा ऋण द्वारा, जिसे अन्यथा ऋणदाताओं ने उद्योगों में विनियुक्त किया होता, उसका व्यय-भार नहीं उठाया जाता), तो संभवतः इससे परिचलन में द्रव्य की मात्रा बढ़ जायगी। सरकार द्वारा अधियुक्त कर्मचारी अपना वेतन उपभोग्य वस्तुओं पर व्यय करेंगे और उपादानों की पूर्ति करनेवाली व्यवसाय-संस्थाएँ अधिक श्रमी नियुक्त करेंगी और सज्जा आदि की पूर्ति करनेवाली संस्थाओं के पास अधिक आदेश देंगी। इस प्रकार अधियोजन और व्यय में वृद्धि हो सकती है। "सुलभ द्रव्य" की नीति द्वारा कुछ काल उपरान्त विनियोजन को उत्तेजना मिल सकती है। विशेषतः जब व्याज-दर नीची रहती है तब मकानों की माँग अधिक होने की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त कोई मंदी बहुत वर्षों तक रह जाने पर ही पुनरुत्थान की प्रवृत्ति होती है। जिन व्यवसाय-संस्थाओं ने अनुस्थापन के लिए आदेश देने में विलंब किया वे अपने पूर्व अनुभव के आधार पर सोचने लगेंगी कि मंदी बहुत अधिक काल तक नहीं रहेगी। अतः वे मूल्य गिरे रहने पर ही आदेश भेज देंगी। अन्य संस्थाएँ अनुस्थापन का आदेश देने या अपना काम बंद कर देने के लिए विवश होंगी। ज्यों-ज्यों मंदी बढ़ती गई थी त्यों-त्यों मजदूरी गिरती गई होगी। कुछ लेखकों का विश्वास है कि मजदूरी में कमी करने से मंदी की दशा और भी बुरी हो जायगी क्योंकि उससे संपूर्ण व्यय घट जाता है। इसके विपरीत मजदूरी में कमी होने से लाभ की आशा बढ़ जाती है और इससे व्यवसाय-संस्थाओं को अधिक श्रमी अधियुक्त करके उनके संयोग में व्यवहृत करने के लिए अधिक उत्पाद्य वस्तुओं के लिए आदेश देने की उत्तेजना मिलती है। सारांश यह है कि मजदूरी में कमी होने से संभवतः सक्रियता में वृद्धि अधिक होती है। यदि उसमें थोड़ी-थोड़ी और समयोपरान्त कमी हो, जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी, तो ऐसा होने की अधिक संभावना होती है परन्तु साथ-साथ होने पर कम। क्योंकि पिछली दशा में (मजदूरी पानेवाले) उपभोक्ताओं की माँग अकस्मात् और अधिक मात्रा में घट जायगी।

एक बार पुनरुत्थान आरंभ होने पर ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों उसका वेग बढ़ता जाता है। विस्तार की क्रिया संचयी (Cumulative) तथा स्वयं बलवर्द्धक होती है। मंदी की समाप्ति के समय

अनेक श्रमी अनधियुक्त रहते हैं, अनेक कारखाने अपनी क्षमता से कम कार्य करते रहते हैं इत्यादि जिससे निर्माणात्मक तथा तत्संबद्ध उद्योग विनियोजन के पुनरुत्थान के समय अधिकतर पहले से निष्क्रिय साधनों और अनधियुक्त श्रमियों को लेकर अपना उत्पादन बढ़ा सकते हैं। वे श्रम, उपादान, इंधन, तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए अधिक मात्रामें द्रव्य देने लगते हैं। इसका अधिकांश नये अधियुक्त श्रमियों द्वारा उपभोग्य वस्तुओं पर व्यय किया जाता है। इससे उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण करनेवाली संस्थाओं को अपनी सज्जा बढ़ाने को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार उसका कुछ अंश निर्माणात्मक उद्योगों की पूर्ति करनेवाली व्यवसाय-संस्थाओं द्वारा यंत्र तथा सज्जा पर व्यय होता है। इस प्रकार उन उद्योगों के उत्पादनों की माँग और भी अधिक बढ़ जाती है; वे और भी अधिक श्रमी अधियुक्त करते और अपनी क्षमता बढ़ाते हैं। जिससे वस्तुओं और सेवाओं की माँग और भी अधिक बढ़ जाती है। अतः यह क्रिया एक प्रकार के गतिशील गेंद की तरह होती है। आर्थिक प्रणाली के एक भागमें उत्पादन की वृद्धि होने से माँग की वृद्धि होती है जिससे अन्य भागों में उत्पादन की वृद्धि होती है जिससे पहले भाग को और भी उत्तेजना मिलती है, इत्यादि।

इसका दृष्टान्त हम इंग्लैंड को आवास-संबंधी तेजी से देते हैं। यह १९३२ के चतुर्थ चरण में, मंदी की चरम सीमाके समय, हुई थी। रहने योग्य घरों के लिए "स्वीकृत योजनाओं" (Plans passed) का अर्घ उस समय लगभग तिहाई बढ़ गया और उसके पश्चात् चढ़ता ही गया। निर्मित भवनों की संख्या १९२९ की अपेक्षा २० प्र. श. अधिक १९३३ में, ४० प्र. श. १९३४ में, और ६० प्र. श. १९३५ में थी। निर्माण-उद्योग में जून १९३२ की अपेक्षा जून १९३५ में २,११,००० श्रमी अधिक अधियुक्त हुए थे। परन्तु नवीन भवनों के निर्माण और सजावट में अधियुक्त श्रमी निर्माण-उद्योग के अतिरिक्त अधियुक्त होते हैं। जैसे कुछ प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। १९३२ और १९३५ में ईंटों और खपड़ों में २१,००० श्रमी अधिक अधियुक्त हुए थे, स्टोव, छड़ आदि में १६,०००; बिजली के तार लगाने और ठेके आदि में १०,०००; लौह-इस्पात की नलियों में ९,०००, बिजली के तार बनाने आदि में २९,०००; उपस्करों (Furniture) के निर्माण में १६,००० और गैस, पानी तथा बिजली की पूर्ति में २५,०००व्यक्ति अधिक बढ़े थे। उक्त वर्षों में अधियोजन में संभवतः एक तिहाई वृद्धि प्रत्यक्षतः आवास की तेजी के कारण थी। पूर्ण अधियोजन का अर्थ यह था कि मजदूरी पानेवालों आदि के पास व्यय करने को अधिक था। इसी

से उपभोग्य वस्तुओं की माँग (जिसमें घरों की माँग सम्मिलित थी) बढ़ गई।

ज्यों-यों मंदी दूर होती जाती है साहसी आदि अधिकाधिक आशा-वादी होते जाते हैं। वे देखते हैं कि माँग बढ़ गई है अतः उन्हें विश्वास हो जाता है कि यह तो बढ़ती ही जायगी। इसका अर्थ यह है कि वे सोचते हैं कि लाभ की संभावना बढ़ गई है और बढ़ती ही जायगी। अब वे बैंकों से तथा जनता से ऋण ले कर अपनी "क्षमता" बढ़ाने में उसका उपयोग करेंगे। उधर जनता भी ऋण देने के लिए अधिक उत्सुक होगी। उनमें फिर से विश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण नगद द्रव्य रखने की प्रवृत्ति घट जायगी और जो द्रव्य पहले निष्क्रिय पड़ा हुआ था वह अब व्यापार तथा उद्योग-धंधों की वृद्धि के लिए दिया जायगा।

द्रव्य की मात्रा तथा उसके परिचलन के वेग में वृद्धि होने से मूल्य बढ़ने लगेंगे। पहले पहल संभव है कि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य कुछ ही बढ़ें क्योंकि अनधियुक्त श्रमी तथा अन्य साधन प्रचलित मूल्य पर प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि विस्तार का क्रम चलता ही जाता है तो एक समय आएगा जब कि लाभपूर्वक व्यवहार में लाने योग्य संपूर्ण श्रम तथा अन्य साधन व्यवहृत हो जायँगे। फिर भी संभव है कि बहुत से श्रमी अनधियुक्त रह जायँ। परन्तु उनमें से बहुत से ऐसे होंगे जो एक काम को छोड़ कर दूसरा ग्रहण करने जा रहे होंगे अथवा वे किसी कारणवश अपना स्थान या व्यवसाय छोड़कर दूसरे स्थान या व्यवसाय में जाने के लिए अनिच्छुक होंगे, अथवा संभव है कि वे अपने व्यवसाय में सब से अधिक अकुशल हों जिससे उस व्यवसाय के प्रामाणिक वेतन के योग्य न समझे जाते हों। एक प्रकार से पारिभाषिक अर्थ में उस समय पूर्ण अधियोजन होगा। द्रव्य की मात्रा अथवा उसके परिचलन के वेग में निरंतर वृद्धि होते रहने से उत्पादन में वृद्धि होने के बदले मूल्य (श्रम, उपादान तथा पक्के माल सभी के मूल्य) चढ़ जायँगे। सच पूछिए तो, क्रियाकल्पात्मक उन्नति अथवा मजदूरों या घंटों की संख्या में वृद्धि को छोड़ कर, उत्पादन में वृद्धि तभी हो सकती है जब श्रम तथा अन्य साधन उपभोग्य वस्तुओं से हटा कर उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में लगा दिए जायँ। उसके पश्चात् उत्पादन में वृद्धि कुछ कालोपरान्त होगी; इस बीच टिकाऊ मालों का भंडार बढ़ जाता है।

तेजी के समय का अन्त करके मंदी का समय लानेवाली कौन कौन सी शक्तियाँ हैं?

कुछ लेखक मौद्रिक प्रभावों को अधिक महत्त्व देते हैं। संभव है तेजी का काल इसलिए समाप्त हो जाय कि जानबूझ कर द्रव्य की मात्रा

में कमी कर दी जाय। हो सकता है कि मुद्राधिकारी चढ़ते हुए मूल्यों पर नियंत्रण लगाने का निश्चय करें, क्योंकि उन्हें भय हो कि यदि वे ऐसा नहीं करते तो दो एक वर्ष के पश्चात् बहुत भयंकर मंदी आ सकती है, अतः वे अभी थोड़ा रोक लगाना अच्छा समझें; अथवा यदि उस देश में स्वर्णमान (Gold standard) है और अन्य देशों की अपेक्षा उसमें मूल्य-वृद्धि अधिक हुई है (जिससे उसके निर्यातों की तुलना में आयात बढ़ गए हैं) तो वे स्वर्ण का निर्गमन रोकने के लिए मुद्रा-संकोच (Deflation) करें। अथवा वाणिज्य-बैंक (Commercial banks) ऋण देना कम कर दें। इस प्रकार वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए द्रव्य की संपूर्ण माँग घट जाती है। साहसियों की आशाओं पर पानी फिर जाता है। प्रत्याशित लाभ की दर बहुत घट जाती है। आशावादिता का स्थान निराशावादिता ले लेती है—विशेषतः उस समय जब कि बहुतों का दिवाला निकला हो। नगद रखने की अभिलाषा बढ़ जाती है। विनियोजन तथा अधियोजन घट जाते हैं।

परन्तु यदि जानबूझ कर मुद्रा-संकोच न भी किया जाय तब भी तेजी के बंद हो जाने की संभावना रहती है। कुछ महत्वपूर्ण टिकाऊ मालों की माँग, जो तेजी के समय बढ़ रही थी, अब घट जा सकती है। उदाहरणार्थ, संभव है कि इतने अधिक भवनों का निर्माण हुआ हो कि अब अधिक भवनों की माँग न हो। यदि भवन-निर्माण अथवा उस पर निर्भर धंधों में लगे हुए श्रमी तथा अन्य साधन, जो अब मुक्त हो जाते हैं, तुरत अन्यत्र अधियुक्त हो जायँ तो इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता परन्तु वास्तव में वे अनधियुक्त रह जाते हैं। बहुत से मजदूर नया व्यवसाय सीखने अथवा नए स्थान पर जाने से हिचकते हैं। अतएव उपभोग्य वस्तुओं की माँग में, और उससे व्युत्पन्न उत्पादक वस्तुओं की माँग में भी, ह्रास हो जाता है। इसके अतिरिक्त संभव है कि कुछ महत्त्वपूर्ण वित्तीय संस्थाओं (Financial firms) ने बिना सोचे विचारे कुछ भवन-निर्माताओं को ऋण दे दिया हो। यदि उनके भवन न बिकें, अथवा किराए पर न उठें, और वे ऋण लौटा न सकें तो उन वित्तीय संस्थाओं में से कुछ का दिवाला निकल जायगा जिसका परिणाम होगा लोगों में अविश्वास की वृद्धि और तब वे अधिक नगद रखने के इच्छुक हो जायँगे। अथवा मान लीजिए कि सरकार ने पुनःशस्त्रीकरण की योजना बनाई है। पहले तो जिन व्यवसाय-संस्थाओं ने सरकार को पूर्ति करने का ठीका लिया है वे निर्माण-संबंधी धंधों को अधिक आदेश देंगे। परन्तु जब उनकी क्षमता पर्याप्त मात्रा में बढ़ चुकेगी तब उनके आदेश घट जायँगे, यद्यपि शस्त्रों के लिए सरकारी माँग बनी रहेगी। उधर

इंजीनियरी, लोहा और इस्पात तथा इसी प्रकार के अन्य धंधों को यह आशा बनी रहेगी कि व्यवसाय-संस्थाओं की माँग ज्यों की त्यों रहेगी। और अब उनकी माँग घट जाने पर उन्हें निराशा होगी। चाहे कुछ भी हो उन्हें अपने कर्मचारियों को काम से हटाना पड़ेगा और संभव है कि वे तुरत अन्यत्र काम न पा सकें।

लागतों में वृद्धि होने के कारण संभव है उद्योग-धंधों का विकास रुक जाय। ज्यों-ज्यों लाभ की दर बढ़ती है त्यों-त्यों ब्याज की दर भी बढ़ती है। मजदूर अधिक मजदूरी की माँग करते हैं और निर्वाह-व्यय के अधिक बढ़ जाने पर उनके वेतन में वृद्धि की भी जाती है। अतः पारिभाषिक अर्थ में "पूर्ण अधियोजन" हो जाने पर विषम स्थिति आती है। कुछ उपादानों अथवा कुछ प्रकार के कुशल श्रमिकों की पूर्ति में शीघ्रता से वृद्धि नहीं हो सकती और संभव है कि माँग में वृद्धि के परिणामस्वरूप उपलभ्य उपादानों या श्रमिकों के मूल्य पर्याप्त चढ़ जायँ। अतः कुछ साहसियों को अब पता चलेगा कि उन्होंने बड़ी ऊँची आशाएँ लगा रखी थीं। उन्होंने यह नहीं अनुमान किया था कि लागतों में इतनी अधिक वृद्धि होगी; अतः उनके प्रत्याशित लाभ घट जाते अथवा हानि में परिणत हो जाते हैं; संभव है कुछ का दिवाला निकल जाय और कुछ अपना उत्पादन घटा दें।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब सभी अनधियुक्त श्रमी तथा अन्य साधन, जो काम में लगाने के योग्य होते हैं; अधियुक्त हो जाते हैं तब उत्पादन के विस्तार की गति में ह्रास होना स्वाभाविक है। परन्तु इस समय तक निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों का उत्पादन संभवतः उससे बहुत अधिक हो चुका रहेगा जितना अनुस्थापन आदि के लिए उनकी आवश्यकता थी। उसका कुछ अंश अन्य धंधों के यंत्रों तथा सज्जा की वृद्धि के उपयोग में जा चुका रहेगा। जब वे धंधे अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकते तब उनकी निर्माण-संबंधी माँग घट जायगी। अतः निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों में क्रियाशीलता की वृद्धि केवल रुक ही नहीं जायगी वरन् वह घट भी जायगी और संभवतः अधिक मात्रा में।

कुछ लेखकों का मत है कि व्यक्ति तथा व्यवसाय-संस्थाएँ बढ़ी हुई आय में से अधिक अनुपात में बचत करती हैं। अतः तेजी के समय आय में वृद्धि होने से संपूर्ण आय का क्रमशः ह्रासमान अनुपात व्यय होता है जिससे उत्पादक वस्तुओं के लिए व्युत्पन्न माँग घट जाती है और विनियोजन में रुकावट पड़ती हैं। यह संभव है, परन्तु इस प्रसंग में हमें यह आशा करनी चाहिए कि तेजी की समाप्ति होते-होते ब्याज की दर घट जायगी। वास्तव में इसके विपरीत ही अधिकतर देखने में आता है।

यह भी कहा जा सकता है कि किसी तेजी के अंतिम चरणों में, जब मजदूरी बढ़ जाती है, साधारण हिस्सों के मूल्य चढ़ जाते हैं, और आशावाद की वृद्धि हो जाती है, व्यय होनेवाली आय का अनुपात फिर बढ़ जायगा। उपभोग्य वस्तुओं के उपादक धंधे निर्माणात्मक तथा उससे संबद्ध धंधों से—जिनमें मजदूरी बढ़ जायगी, व्याज-दर में वृद्धि हो जायगी एवं उनके उत्पादों की माँग घट जायगी—श्रमिकों को आकृष्ट करने लगेंगे। ऐसी परिस्थितियों में संभव है कि तेजी के अंत में इन धंधों में अधिक दिवाले निकलें।[1]

हम अब तक विवादग्रस्त क्षेत्र में विचर रहे थे परन्तु आशा है कि हमने यह प्रदर्शित कर दिया है कि किन-किन ढंगों से तेजी का अन्त हो कर मंदी आ सकती है। जब ऐसा हो जाता है तब संकोचन की क्रिया उसी प्रकार संचयी (Cumulative) तथा आत्मोत्तेजक होने लगती है जिस प्रकार विस्तार की विधि में हुई थी। कुछ धंधों के उत्पादनों में

---

१. सामान्यतः, उत्पादक पदार्थों की मात्रा में वृद्धि होने से उनकी सीमान्त उत्पादकता घट जाती है, जिससे विनियुज्य धन की माँग तथा व्याज-दर घट जाती है। परन्तु यदि विशिष्ट उत्पादक पदार्थ इस आशा से उत्पन्न किए गए हैं कि उनके उत्पादों की माँग जितनी वास्तव में हो रही है उससे अधिक होगी तो इसका परिणाम ठीक उलटा हो सकता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक बृहत् जल-विद्युत् यंत्र की स्थापना हुई है परन्तु विद्युत्-धारा की जितनी माँग की आशा थी उससे बहुत कम होती है। यंत्र की स्थापना तो हो चुकी है; उसके स्वामी उससे अधिक से अधिक आय प्राप्त करना चाहेंगे यद्यपि वे प्रत्याशित लाभ नहीं प्राप्त कर सकते; परन्तु यंत्र को पर्याप्त पूर्ण रूप से व्यस्त रखने के लिए विद्युत्-धारा की दर को बहुत कम कर देना उनके लिए लाभदायक होगा। इससे बिजली के इंजनों तथा अन्य सज्जाओं की, जो बिजली के व्यवहार में आवश्यक होती हैं, माँग बढ़ेगी। इस प्रकार कुछ उत्पादक-पदार्थों का उत्पादन (अधिक आशावादी दृष्टिकोण से) अन्य पदार्थों के उत्पादन को (अर्थात् उन पदार्थों के उत्पादन को जिनको पहले प्रकार के धंधों से निकल कर दूसरे में अंतिम रूप प्राप्त होता है) संभव है प्रोत्साहन दे। यदि अनेक मुख्य मुख्य धंधों में ऐसा होता है तो मुद्रा-संकोच होने पर भी तेजी का अंत पूंजी के अभाव और ऊँची व्याज-दर से हो सकता है।

दे०—Hayek "Investment that raises the Demand for Capital," *Review of Economic Statistics*, Vol. XIX, No. 4, November, 1937.

ह्रास होने के कारण अन्य धंधों में माँग और उत्पादन में ह्रास होता है; निराशावाद बढ़ता और फैलता जाता है। नगद द्रव्य रखने की अभिलाषा बढ़ती जाती है और इतनी बढ़ती है कि लोग व्यय कम करके द्रव्य को निष्क्रिय रूप में रखे रहते हैं। यह तबतक होता रहता है जबतक ऐसा कुछ न हो जाय कि लाभ में वृद्धि होने की आशा दिखाई पड़ने लगे और लोगों को विनियोजन लाभदायक जान पड़ने लगे। उसके पश्चात तो अवस्था में सुधार क्रमशः प्रगतिशील होता जाता है।

चतुर्थ खंड

द्रव्य और महाजनी

इक्कीसवाँ अध्याय
द्रव्य की प्रकृति और कार्य
(The Nature and Functions of Money)

१. प्रस्तावना

आधुनिक आर्थिक संसार का आधार श्रम-विभाजन है। कृषकों को छोड़ कर, ऐसे बहुत कम व्यक्ति होंगे जो अपनी उपभोग्य वस्तुओं का दशांश क्या शतांश भी स्वयं उत्पन्न करते हों। अधिकांश उत्पादन बाजार में बिक्री के लिए होता है; उत्पादित वस्तुएँ बेची जाती हैं और उनसे प्राप्त द्रव्य के द्वारा उत्पादक अपने इच्छानुसार जो चाहते हैं खरीदते हैं—वास्तव में वे अपने उत्पादित पदार्थों का दूसरों से विनिमय करते हैं। इसके अतिरिक्त पदार्थों के उत्पादन तथा उपभोक्ताओं में उनके वितरण की क्रिया अनेक उत्पादन-विधियों की एक लंबी शृंखला होती है और उसमें उत्पादन के भिन्न-भिन्न अंगों का सहयोग आवश्यक होता है। इस ढंग से संगठित कोई समाज द्रव्य का व्यवहार किए बिना टिक नहीं सकता। अतएव किसी आधुनिक समाज की एक काल्पनिक समाज से, जो अन्य सब बातों में उसके समान हो परन्तु जिसमें द्रव्य का व्यवहार न होता हो, तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसे समाज का अस्तित्व ही संभव नहीं है। इसी प्रकार द्रव्य द्वारा किए जानेवाले कुछ कार्यों (Functions) का अन्तर बतलाना तर्कसम्मत नहीं है। द्रव्य के ये तथाकथित "कार्य" इस तथ्य के भिन्न-भिन्न, परन्तु परस्पर संबद्ध, पक्ष हैं कि जटिल श्रम-विभाजन तथा विनिमय पर निर्भर समाज के लिए द्रव्य का उपयोग आवश्यक है।

फिर भी विवेचन के लिए परम्परागत मार्ग का अनुसरण करना सरल होगा। इस विषय के लेखक प्रायः कहते हैं कि द्रव्य के चार कार्य हैं। यह विनिमय का माध्यम, अर्घ का मापक (Measure of value), विलंबित भुगतान का मानदण्ड (Standard for deferred payments) और अर्घ का भंडार (Store of value) है। हम इन्हीं चार शीर्षकों से द्रव्य के कार्य का विवेचन करेंगे; अंतर केवल इतना ही होगा कि "अर्घ का भंडार" पद के स्थान पर हम "द्रव संपत्ति" (Liquid asset) पद का व्यवहार करेंगे। इस विवेचन में साथ ही साथ द्रव्य की प्रकृति को भी समझाने का प्रयत्न किया जायगा क्योंकि "द्रव्य वह है जो द्रव्य का कार्य करे" (Money is that money does) परन्तु प्रस्तुत खंड में एक

ऐसे संकुचित समाज की कल्पना कर ली गई है जिसमें एक ही द्रव्य-प्रणाली (Monetary system) है। अनेक देशों और भिन्न-भिन्न मुद्राओं (Currencies) के कारण उपस्थित होनेवाली समस्याएँ आगेवाले खंड के लिए स्थगित कर दी गई हैं।

२. विनिमय का माध्यम द्रव्य (Money as a Medium of Exchange)

द्रव्य के बिना विनिमय केवल बदला (Barter) द्वारा हो सकता है। बदला में मुख्य कठिनाई यह है कि उसमें "आवश्यकताओं की दुहरी अनुरूपता" (Double coincidence of wants) आवश्यक होती है—किसी व्यक्ति को एक दूसरा व्यक्ति ढूँढ़ना होगा जिसके पास वही है जो पहला चाहता है और जो वही चाहता है जो पहले के पास है। यह पक्के माल के विषय में भी बिरले ही संभव होता है। इस प्रकार अफ्रीका में एक यात्री के विषय में एक कहानी कही जाती है कि वह एक नाव लेना चाहता था। नाव का स्वामी नाव बेचने को तैयार तो था परन्तु उसके विनिमय में हाथी-दाँत चाहता था। यात्री के पास हाथी-दाँत था नहीं। उसे एक दूसरा आदमी मिला जिसके पास हाथी-दाँत था परन्तु वह कपड़ा चाहता था। यात्री के पास कपड़ा तो था नहीं, हाँ, उसके पास तार था। अतएव उसने एक ऐसा आदमी ढूँढ़ निकाला जिसने तार के बदले उसे कपड़ा दिया, तब कपड़ा देकर उसने हाथी-दाँत लिया और अन्त में हाथी-दाँत के बदले नाव खरीदी। यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में व्यापार बहुत ही संकुचित होगा और इतना संकुचित होने के कारण ही स्वीकृत विनिमय-अर्घ (Market values) बहुत ही कम होंगे और मोलभाव करने में बहुत समय लग जायगा। दूसरी बात यह है कि कुछ वस्तुएँ (जैसे नाव) उपयोगिता नष्ट किए बिना खंडों में विभक्त नहीं हो सकतीं। अतएव ऐसी वस्तुओं का स्वामी अपनी वस्तु का एक खंड एक व्यक्ति को और दूसरा दूसरे व्यक्ति को विनिमय में नहीं दे सकता। आधुनिक संसार में अधिकांश विनिमय पक्के माल (Finished goods) का नहीं होता। उदाहरणार्थ, बदला की प्रणाली में मजदूरी कैसे दी जा सकती है? जहाँ संभव है वहाँ अधियोजक मजदूरों द्वारा उत्पादित पदार्थ में से एक अंश मजदूरी के रूप में दे सकता है, जैसे गेहूँ या कोयला या सूत या अन्य कोई पदार्थ, जिसे वे अपनी आवश्यकता के अनुसार जिस वस्तु से चाहें बदल लें। परन्तु यह प्रणाली उन मजदूरों को मजदूरी देने में सहायक नहीं हो सकती जो स्थानान्तरण की सुविधाएँ प्रदान करने या अन्य प्रकार की सेवाओं की पूर्ति में अथवा किसी अविभाज्य (Indivisible) और महार्घ (Valuable) वस्तु (जैसे युद्ध-पोत) के उत्पादन में लगे हों। एक वैकल्पिक योजना यह हो सकती है कि स्वयं

अधियोजक अपने उत्पादित पदार्थ को उन वस्तुओं से बदल सके जो उसके कर्मचारी, हिस्सेदार और कच्चे माल की पूर्ति करनेवाले चाहते हों परन्तु इस विवेचन को अधिक विस्तार देना आवश्यक नहीं है। इसका प्रयोजन केवल यही दिखाना है कि वर्तमान आर्थिक प्रणाली द्रव्य के बिना नहीं चल सकती।

विनिमय के साधारण माध्यम के रूप में अथवा भुगतान का साधन बन कर द्रव्य बदले की कठिनाइयों को दूर कर देता है। द्रव्य वह वस्तु है जिसे सभी लोग वस्तुओं या सेवाओं के विनिमय में ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते हैं। भुगतान में कोई व्यक्ति केवल इस लिए नहीं द्रव्य स्वीकार करता कि उसे संग्रह के लिए द्रव्य चाहिए किन्तु वह जानता है कि जो वस्तुएँ या सेवाएँ वह स्वयं चाहता है उनके विनिमय में दूसरे लोग उससे द्रव्य स्वीकार करेंगे। अतएव द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि "यह साधारणतः स्वीकार्य क्रय-शक्ति" (Generally acceptable purchasing power) है; और जब द्रव्य के इस रूप का विचार किया जाता है तो द्रव्य की इकाई (Monetary unit) को "मुद्रा की इकाई (Unit of currency) कहते हैं, क्योंकि वह हाथोंहाथ "चलता" है। इस प्रकार द्रव्य के व्यवहार से विनिमय में बड़ी सुविधा हो जाती है और स्पर्द्धा की प्रणाली में, बाजार-मूल्य निर्णय करने में सहायता मिलती है जिससे मोलभाव करने में समय नहीं खोना पड़ता। इसके अतिरिक्त, जो कुछ द्रव्य का कार्य करता है वह विभाज्य बनाया जा सकता है; जैसे ग्रेट ब्रिटेन में पौंड के साथ-साथ शिलिंग और पेंस भी हैं (भारतवर्ष में रुपए के साथ-साथ उसके खंड अठन्नियाँ, चवन्नियाँ आदि हैं)।

३. अर्घ का माप द्रव्य (Money as a Measure of Value)

जब कोई वस्तु साधारणतः स्वीकार्य विनिमय का माध्यम बन जाती है तब यह स्वाभाविक है कि उसी के द्वारा अर्घ व्यक्त किए जायँ, ठेके किए जायँ और हिसाब-किताब रखा जाय। इससे एक बड़ा लाभ यह है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य—अर्थात् द्रव्य के रूप में अर्घ—निश्चित हो जाता है और विनिमय में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए उसका भिन्न-भिन्न अर्घ निश्चित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त अर्घ के माप के रूप में द्रव्य के व्यवहार से आर्थिक कलन (Calculation) की सुविधाएँ बहुत बढ़ जाती हैं। द्रव्य के रूप में आय पानेवाले किसी उपभोक्ता के सम्मुख द्रव्य के रूप में अनेक मूल्य उपस्थित होते हैं और उन्हीं के द्वारा यह निर्णय करने में वह समर्थ होता है कि कौन-कौन सी वस्तुएँ और सेवाएँ वह क्रय करना चाहता है। उपभोक्ता की माँग में परिवर्तन का मूल्य पर प्रभाव पड़ता है जिससे साहसियों को प्रेरणा मिलती

है कि जिन वस्तुओं की माँग बढ़ गई है उनकी अधिक मात्रा और जिनकी माँग घट गई है उनकी कम मात्रा उत्पन्न करें। कोई साहसी उत्पादन के प्रत्येक साधन का बाजार-मूल्य जानता है। अतएव वह अपने अधिष्ठान (Establishment) का स्थान, उत्पादन की मात्रा, और उत्पादन की वह विधि, जिससे उसे अधिकतम लाभ हो, निश्चित कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनों का उपयोग उन क्षेत्रों में अधिक होता है जिनमें उत्पादित पदार्थों का अर्घ अधिकतम होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भूखंड पर जौ के बदले गेहूँ बोने से द्रव्य के रूप में अधिक आय होती है तो इसका केवल यही अर्थ नहीं होता कि भूमि के स्वामी को गेहूँ बोने से अधिक लाभ होगा वरन् उपभोक्ता चाहते हैं कि गेहूँ बोने के लिए ही उस भूखंड का उपयोग हो। परन्तु अर्घ और व्यय की तुलना करने के लिए किसी साधारण माप की अनुपस्थिति में इस प्रकार का कलन (Calculation) ठीक-ठीक नहीं हो सकेगा और कठिन भी होगा। ऐसी दशा में "मूल्य-रचना" (Price-mechanism) केवल आनुमानिक कार्य करेगा और उसके द्वारा ठीक-ठीक माप नहीं हो सकेगा। आजकल साहसियों को इस बात की आशंका रहती है कि भविष्य में मूल्य में परिवर्त्तन उनके प्रतिकूल होगा। बदला (Barter) में यह संकट (Risk) और भी अधिक होगा क्योंकि जो वस्तुएँ वे उत्पन्न करते हैं और अन्य अनेक वस्तुएँ जो उनके कर्मचारी और पूर्ति करनेवाले भुगतान (Payment) में चाहते हैं उनके बीच विनिमय-अनुपात (Exchange ratios) का पहले से अनुमान और कलन करना कठिन होगा। अतएव श्रम-विभाजन की सीमा बहुत परिमित हो जायगी।

कलन (Calculation) के लिए द्रव्य की इकाई (Monetary unit) को "लेखा की इकाई" (Unit of account) कहते हैं। साधारणतः मुद्रा की इकाई और लेखा की इकाई दोनों एक ही हैं, क्योंकि विनिमय के माध्यम के रूप में व्यवहृत होने के कारण ही अर्घ के माप के रूप में द्रव्य का उपयोग होता है। परन्तु यदि किसी प्रकार उनमें एक विनिमय-अनुपात स्थापित हो जाय तो दोनों इकाइयाँ भिन्न भी हो सकती हैं। जैसे जर्मनी में १९३३ में जब मूल्य बड़ी तीव्र गति से चढ़े जा रहे थे उस समय ठेके (Contracts) प्रायः स्विस फ्रैंकों अथवा अमेरिकी डालरों में होते थे। जब भुगतान का समय आता था तो मार्कों (Marks) में भुगतान किया जाता था और उस समय उतने ही मार्क दिए जाते थे जितने ठेके में उल्लिखित फ्रैंकों या डालरों के बदले विदेशी विनिमय-बाजार में तात्कालिक भाव (Market rate) से मिल सकते थे। मुद्रा की इकाई (Unit of currency) मार्क ही था, परन्तु लेखा की इकाई (Unit of account) फ्रैंक या डालर होता था।

४. विलंबित भुगतान का मानदंड द्रव्य
(Money as a Standard for Deferred Payments)

ऋण आदि के ठेके (Contracts) प्राय: द्रव्य के ही रूप में होते हैं। इसका कारण यह है कि लोग जानते हैं कि ठेके की अवधि के भीतर द्रव्य के अर्घ अथवा उसकी क्रयशक्ति में परिवर्त्तन होने की कम संभावना है। जब लोगों को इस बात की आशंका होती है कि उनके द्रव्य का अर्घ बहुत परिवर्त्तित हो जायगा तब वे किसी अन्य वस्तु के रूप में ठेका करते हैं जिसका मूल्य, उनकी समझ से, अधिक स्थिर रहेगा। हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि जर्मनी में १९२३ में अनेक ठेके फ्रैंकों या डालरों में होते थे यद्यपि राष्ट्रीय लेखा की इकाई मार्क था। उसके बाद के वर्षों में जर्मनी तथा कई अन्य देशों में जितने ठेके होते थे सब में एक "स्वर्ण-धारा" (Gold clause) रहती थी जिसका उद्देश्य यह था कि यदि मुद्रा का स्वर्णार्घ (Gold value) गिर जाय तो ऋण-दाता की हानि न होने पावे। वास्तव में ऋणी भुगतान के समय द्रव्य की वह रकम (Sum) देना स्वीकार करता था जो ठेके में उल्लिखित स्वर्ण के बराबर हो।

यदि द्रव्य न होता तो, जिस वस्तु के रूप में ऋण दिया जाता उसके अर्घ में पर्याप्त परिवर्त्तन हो जाने के भय से, सभी प्रकार के लेन-देन की मात्रा संकुचित होती। १९३२ से १९३६ के बीच इसका उदाहरण देखने में आया था जब कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम हो गई थी। जैसे, ब्रिटेन के विरले ही विनियोजक (Investors) फ्रांसीसी बंट (French Rentes) खरीदते थे यद्यपि उनसे प्राप्त होने वाला लाभ अंग्रेजी बंट (Consols) के लाभ का लगभग दूना होता था; क्योंकि इस बात का भय था कि कभी-न-कभी फ्रांसीसी फ्रैंक का विनिमय-अर्घ गिर जायगा जैसा कि उस समय सचमुच हुआ जब सितंबर १९३६ में फ्रैंक का अवमूल्यन (Devaluation) किया गया।

अतएव, तर्क की दृष्टि से, द्रव्य के इस "कार्य" (Function) को अर्घमापक (Measure of value) कार्य से पृथक् मानने के लिए कोई आधार नहीं है।

५. द्रव संपत्ति के रूप में द्रव्य (Money as a Liquid Asset)

द्रव्य विनिमय का साधारण माध्यम होने के कारण सब प्रकार का आर्थिक ऋण भुगताने में समर्थ है अतएव प्रत्येक व्यक्ति या व्यवसाय-संस्था (Firm) द्रव्य की कुछ राशि का संग्रह करना आवश्यक समझती है। इस प्रकार का द्रव्य-संग्रह या संचय भुगतान देने से (By payments-out) निरंतर घटता जायगा और प्राप्ति (Receipts) से बढ़ता

जायगा। यदि किसी व्यक्ति को यह पता रहे कि उसे कितने द्रव्य की और किस समय प्राप्ति होगी तो संभवतः वह द्रव्य के रूप में अपने व्यय की एसी व्यवस्था कर सकता है कि ज्यों ही उसे द्रव्य मिले त्यों ही भुगतान कर दे और एक या दो दिन से अधिक समय के लिए द्रव्य की राशि संचित न करे। बहुत से वेतन-भोगी (Wage-earners) बहुत कुछ ऐसा ही करते हैं और वेतन के दिन या उसके कुछ पश्चात् घर का किराया देकर, भोजनादि की सामग्री तथा आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ खरीद लेते हैं; और अपने पास बहुत कम द्रव्य संचित रखते हैं। परन्तु व्यवसाय-संस्थाएँ (Firms), जिनमें बैंक भी सम्मिलित हैं, वेतन-भोगियों के समान अपनी द्रव्य-संपत्ति का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते और बहुत से लोग आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए द्रव्य का कुछ संचय रखते हैं।

द्रव्य को विनियुक्त (Invest) न करके संचय करने का एक दूसरा कारण यह है कि संभव है बंटों और हिस्सों (Stocks and shares) अथवा अन्य संपत्तियों का द्रव्यार्घ (Money value) गिर जाय। अतएव जिसको इस बात की आशंका रहती है कि उसके ऋणदाता (Creditors) निकट भविष्य में उससे द्रव्य में भुगतान चाहेंगे वह संपत्ति खरीदने से हिचकेगा क्योंकि भुगतान के समय शायद उस संपत्ति को घाटे पर बेचना पड़े। कोई संपत्ति अपने तत्काल अर्घ (Present value) से कम में बिके बिना जितनी ही जल्दी द्रव्य में परिवर्त्तित की जा सके वह उतनी ही "द्रव" (Liquid) कही जाती है। अतएव परिभाषानुसार द्रव्य सब प्रकार की संपत्तियों से अधिक द्रव है। द्रव्य की माँग का विवेचन करने के समय हम फिर इस बात पर विचार करेंगे।

६. द्रव्य के भेद

विभिन्न समयों पर, गाय-बैल और चाकू से लेकर कौड़ी तथा शराब तक, तरह-तरह के पदार्थों (Commodities) का द्रव्य के रूप में उपयोग हुआ है। भूतकाल में द्रव्य के रूप में व्यवहृत होनेवाले पदार्थ को लोग उस पदार्थ के रूप में चाहते थे। इतना ही नहीं वरन् द्रव्य के रूप में व्यवहृत होने के कारण उस पदार्थ की माँग बढ़ने से उसका अर्घ भी बढ़ जाता था।

फिर भी यह किसी प्रकार आवश्यक नहीं है कि द्रव्य के रूप में व्यवहृत होनेवाला पदार्थ स्वयं महार्घ (Valuable) हो और उसकी माँग उस वस्तु के रूप में हो। जैसे ग्रेट ब्रिटेन में एक पौंड का नोट जिसके उत्पादन में १ पेनी भी व्यय नहीं होता, द्रव्य के रूप में पर्याप्त

संतोषजनक गिना जाता है और उससे १ पौंड मूल्य की कोई भी वस्तु खरीदी जा सकती है। वे नोट भुगतान में इस लिए स्वीकार किए जाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि अपना ऋण चुकाने और वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने के लिए वह भी उनका उपयोग कर सकता है।

लगभग पाँच हजार वर्षों से सोना और चाँदी का द्रव्य के रूप में व्यवहार होता आ रहा है। यद्यपि द्रव्य के रूप में व्यवहृत न होने पर उनका विनिमय-अर्घ बहुत घट जाता फिर भी सोने, चाँदी को लोग धातु के रूप में पर्याप्त मात्रा में चाहते थे। वे टिकाऊ, विभाज्य (Divisible) और समजात (Homogeneous) हैं और अधिक भारी या अधिक स्थान छेकनेवाले नहीं हैं जिससे विनिमय के माध्यम के रूप में उनका सरलता से व्यवहार हो सकता है। इसके अतिरिक्त खानों से उनकी वार्षिक पूर्ति संसार में विद्यमान संपूर्ण राशि के अल्प अनुपात में होती है अतएव पूर्ति की मात्रा में परिवर्त्तन होने से उनके अर्घ में उन वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम परिवर्तन होने की संभावना रहती है जो नाशवान होती हैं और जिनकी वार्षिक पूर्ति संपूर्ण राशि से अधिक होती है।

पहले सोना-चाँदी मुद्रित हुए बिना भी विनिमय में ली जाती थी। इसका अर्थ यह था कि जो कोई भुगतान में सोना या चाँदी पाता था उसे उसकी तौल और खरेपन को जाँच कर लेनी पड़ती थी। पीछे मुद्रण के आविष्कार से लोग इस कष्ट से बच गए। मुद्रा (Coin) धातु का एक ऐसा टुकड़ा है जिसकी तौल और खरापन मुद्रा बनानेवाले के द्वारा प्रमाणित रहता है। सोने में परिवर्त्तनीय (Convertible) बैंक-नोट उसे निष्कासित (Issue) करनेवाले बैंक द्वारा दिया गया एक प्रकार का प्रतिज्ञा-पत्र है जिसके बदले, माँगने पर, सोने की एक कथित मात्रा (प्रायः स्वर्णमुद्रा के रूप में) मिल सकती है। कभी-कभी द्रव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है :—पदार्थ द्रव्य (Commodity money) धातु-द्रव्य (Metallic money), और प्रतिनिधि द्रव्य (Representative money) जैसे कागजी नोट चाहे वे स्वर्ण में परिवर्त्तनीय हों या न हों।

रेजकारी के रूप में व्यवहृत होनेवाले द्रव्य को कभी-कभी सांकेतिक द्रव्य (Token money) कहते हैं जब कि (जैसा प्रायः होता है) उसके अंतर्गत धातु का अर्घ उसके अंकित अर्घ (Face value) से कम होता है। उदाहरणार्थ, एक शिलिंग में (१९३९ में) २ पेंस से भी कम धातु होती है। यह "चाँदी पर मुद्रित नोट" कहा गया है। ऐसी मुद्राएँ इसलिए चलती हैं कि उन्हें सभी लोग स्वीकार करते हैं। यह स्वाभाविक है कि जो टकसाल उन्हें निष्कासित (Issues) करती है वह कुछ लाभ उठावे जिसे मुद्रा-लाभ (Seigniorage) कहते हैं। कभी-कभी चाँदी

के मूल्य में वृद्धि होने से चाँदी की कुछ मुद्राओं का मूल्य धातु के रूप में मुद्रा से अधिक हो जाता है और वे गलाकर धातु के रूप में बेची जाती हैं जिससे परिचलन (Circulation) से उनका लोप हो जाता है। १९२० में ब्रिटेन में चाँदी की मुद्रा का यही हाल हुआ था। अतः उस वर्ष के मुद्रण-विधान (Coinage Act) ने मुद्रा में चाँदी की मात्रा $\frac{९२५}{१०००}$ से घटाकर $\frac{५००}{१०००}$ कर दिया था।[१]

कभी-कभी यह कहा जाता है कि आधुनिक अवस्थाओं में मुद्रा—विशेषतः कागजी मुद्रा—विनिमय के माध्यम का कार्य इसलिए करती है कि वह वैध ग्राह्य (Legal tender) है। तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि सरकार लोगों को उसे स्वीकार करने को बाध्य करती है इसीसे लोग उसे लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि कर देने के लिए मुद्रा का व्यवहार होता है इसीसे उसे सभी लोग स्वीकार करते हैं परन्तु वैध ग्राह्य न होने पर भी द्रव्य साधारणतः स्वीकार्य हो सका है। उदाहरणार्थ, उत्तरी अफ्रीका के कुछ भागों में बहुत दिनों तक विनिमय का मुख्य माध्यम "मैरिया थेरेसा" का डालर रहा है जिसे लंदन तथा अन्य स्थानों की टकसालें माँगों के अनुसार देती रही हैं और जिस पर सन् १७८० अंकित रहता है। यह डालर कभी वैध ग्राह्य नहीं रहा और इसके भीतर की धातु का मूल्य इसके अंकित मूल्य से बहुत कम रहा है। इसके विपरीत यदि लोगों को इसके मूल्य में पर्याप्त परिवर्तन की आशंका रहती है तो वैध ग्राह्य होने से ही यह अर्घ के माप (Measure of value) के रूप में साधारणतः स्वीकार्य नहीं होता। यद्यपि कोई सबल सरकार आज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को भारी दंड देकर अपनी मुद्रा का व्यवहार करने के लिए अपनी प्रजा को बाध्य कर सकती है। परन्तु जिस मुद्रा पर उनका विश्वास नहीं रहता उसे बलपूर्वक स्वीकार कराना बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। यदि, दंड के बिना किसी अन्य वस्तु का अर्घ के माप के रूप में व्यवहार करना संभव होगा तो किया जायगा, जैसे १९२३ में जर्मनी में हुआ था।

---

१. यह घोषित किया गया है (१९४६ में) कि ग्रेट ब्रिटेन में चाँदी की मुद्राओं के स्थान पर ताँबा-निकेल मुद्राओं का व्यवहार होगा।

बाईसवाँ अध्याय

बैंक

१. बैंक-नोट

बैंक-नोट किसी बैंक के द्वारा दिया गया प्रतिज्ञा-पत्र है जिसमें, माँगने पर, एक कथित द्रव्य देने की प्रतिज्ञा की जाती है। जैसे बैंक औफ इंगलैंड द्वारा निष्कासित किया हुआ ५ पौंड का नोट उसके द्वारा दिया हुआ प्रतिज्ञा-पत्र है जिसमें माँगने पर उसके धारणकर्त्ता (Holder) को ५ पौंड देने की प्रतिज्ञा की गई है। १९१४ के महायुद्ध के पूर्व जो कोई इस प्रकार का नोट बैंक औफ इंगलैंड में उपस्थित करता था वह विनिमय में सोने के ५ सौवरेन (Sovereign) पाने का अधिकारी होता था।

संयुक्त-राज्य (अमेरिका) के कोषागार (Treasury) द्वारा निष्कासित किए हुए स्वर्ण-प्रमाण-पत्र (Gold certificates) वास्तव में उसके पास जमा किए गए स्वर्ण की रसीदें हैं। अन्य बैंक-नोटों से भिन्न उनकी पुष्टि के लिए १०० प्रतिशत सोना रखा जाता है। उसी प्रकार कोई बैंक मुद्रा अथवा सोने-चाँदी के पासे (Bullion) जमा करके, बदले में रसीद दे सकता है। यदि ऐसी रसीदों पर उस रसीद के उपस्थित करनेवाले द्वारा मुद्रा अथवा पासों (Bullion) की कथित मात्रा देने की प्रतिज्ञा रहे तो वे बैंक-नोट होंगी। ये रसीदें या बैंक-नोट जनता में हाथो-हाथ चलेंगे और मुद्रा के समान स्वीकार किए जायँगे। परन्तु यदि अपनी दी हुई रसीदों या नोटों के बदले बैंक अपने कोष में १०० प्र० श० मुद्रा या पासा (Bullion) रखे तो वह एक प्रकार की द्रव्य सुरक्षित रखनेवाली संस्था का कार्य करेगा। और अपना व्यय चलाने के लिए उसे पासा और मुद्रा जमा करनेवालों से कुछ द्रव्य लेना पड़ेगा।

परन्तु यह संभव है, और बैंक प्रायः ऐसा करते हैं, कि जितने अर्घ की धातु या मुद्रा वे रखें उससे बहुत अधिक अर्घ के नोट निष्कासित करें। प्रतिदिन लोग उन नोटों को बैंक में उपस्थित करेंगे और विनिमय में उन पर अंकित अर्घ के पासे या मुद्राएँ ले जाएँगे। परन्तु दूसरे लोग प्रतिदिन पासे या मुद्रा बैंक के पास जमा कर जाते और विनिमय में नोट ले जाते हैं। यदि बैंक अपने पास सर्वदा मुद्रा और पासों को इतनी पर्याप्त राशि रखता है कि दिन भर की प्राप्ति से अधिक भुगतान करना पड़े तो कर सके, तो वह अपने नोटों के किसी धारणकर्त्ता को, नगद

माँगने पर, उनके विनिमय में नगद देने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करता है। उसके नोट जनसाधारण में चलते हैं और जिस किसी के पास उसका नोट है वह बैंक के पास नगद माँगने न जाकर वास्तव में वह रकम बैंक को (बिना ब्याज के) उधार दे रहा है। बैंक अपने पास जमा किए हुए नगद के बदले नोट देकर ही अपने नोटों को परिचलन (Circulation) में नहीं भेज सकता वरन् उधार चाहनेवालों को उधार देकर अथवा प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीदने में उनका उपयोग करके भी उन्हें चालित कर सकता है। इस प्रकार अपने ऋणियों (Borrowers) से प्राप्त होनेवाले तथा खरीदी हुई प्रतिभूतियों पर मिलनेवाले ब्याज से बैंक आय प्राप्त कर सकता है। साथ ही जनसाधारण में हाथोहाथ चलाने वाले और नगद के बदले काम देनेवाले बैंक-नोट देकर वह भुगतान के विद्यमान साधनों में वृद्धि भी करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बैंक इस अर्थ में "साख उत्पन्न कर सकता है" (Create credit) कि वह अपने पास "पुष्टि" (Backing) के रूप में रखी हुई धातु या मुद्रा से अधिक अर्घ के नोटों को परिचालित करता है। विगतकाल में इस प्रकार साख उत्पन्न करने की आज्ञा अनेक बैंकों को दी गई थी। परन्तु बहुत से देशों ने अनेक वर्षों से अपने केन्द्रीय बैंकों (Central banks) को नोट निष्कासन करने का एकाधिकार प्रदान कर रखा है; जैसे इंगलैंड में केवल "बैंक औफ इंगलैंड" ही नोट निष्कासित कर सकता है। उसके नोट वैध ग्राह्य (Legal tender) होते हैं और मुद्रा के साथ-साथ इंगलैंड की "नगद" रकम में गिने जाते हैं। सितंबर १९३१ से बैंक औफ इंगलैंड अपने नोटों के बदले सोना देने के आभार (Obligation) से मुक्त कर दिया गया है और यद्यपि १ पौंडवाले नोट पर यह अंकित रहता है कि उसके धारणकर्ता को बैंक औफ इंगलैंड १ पौंड (मुद्रा या धातु) देने की प्रतिज्ञा करता है फिर भी उसका कोई अर्थ नहीं है। वास्तव में १९३९ में बैंक औफ इंगलैंड द्वारा रखे हुए सोने का तात्कालिक अर्घ (Market value) परिचलन में उसके नोटों के अंकित अर्घ (Face value) से अधिक हो गया था फिर भी वे नोट स्वर्ण में परिवर्त्तनीय नहीं थे। यदि कोई केन्द्रीय बैंक अपने नोटों के विनिमय में माँगे जाने पर सोना देने के लिए बाध्य हो तो भी उसे १०० प्रतिशत स्वर्ण-पुष्टि (Gold backing) रखने की आवश्यकता नहीं है। प्रायः नोटों की पुष्टि के रूप में कुछ प्रतिशत[1]

---

१. बैंक औफ इंगलैंड एक अपवाद है। 'पील' के विधान—१८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट—ने यह नियम बना दिया कि एक अधिकतम और परि-

—जैसे फ्रांस में ३५ प्रतिशत और संयुक्तराज्य में ४० प्र० श०—पासा या स्वर्णमुद्रा रखना विधानतः आवश्यक होता है और यद्यपि यह वैध नतमन्यू (Legal minimum) कभी-कभी अधिक भी हो जाता है फिर भी यह संभव है कि वास्तव में वैध न्यूनतम से बहुत कम प्रतिशत, प्रत्येक नोट प्रस्तुत करनेवाले को देने (अर्थात् सोना देने की प्रतिज्ञा पूरी करने) के लिए, पर्याप्त हो; क्योंकि नोट परिचलन में रहते हैं और मुद्रा के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं। वास्तव में केन्द्रीय बैंक को विदेशों में भुगतान की सुविधा प्रदान करने के लिए स्वर्ण-कोष (Gold reserve) की आवश्यकता होती है क्योंकि उसके नोट तो केवल अपने देश में चलते हैं।

केन्द्रीय बैंकों और उनके स्वर्ण-कोषों पर कही गई उपर्युक्त बातें कुछ विषयांतर (Digression) हो गई हैं; हम पीछे इस विषय पर विचार करेंगे। हमारा मुख्य उद्देश्य यह दिखाना था कि अपने नोटों को परिचलन में भेजकर, मुद्रा की मात्रा और ऋण (Loan) की पूर्ति दोनों में वृद्धि करने के अर्थ में बैंक किस प्रकार साख उत्पन्न कर सकते हैं और विगत काल में उन्होंने किस प्रकार ऐसा किया है। आजकल अधिकांश उन्नत देशों में भुगतान का प्रधान साधन बैंक-नोट नहीं वरन् चेक हैं। ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य में सब प्रकार के भुगतानों का ९० प्र० श० चेकों द्वारा चुकाया जाता है। और दूसरे देशों में जहाँ बैंक का व्यवहार कम है, यद्यपि चेकों द्वारा भुगतानों का प्र० श० ९० नहीं है फिर भी बहुत पर्याप्त है। हमने बैंक के विषय में जो कुछ ऊपर कहा है वह मुख्यतः चेकों के विवेचन की प्रस्तावना के रूप में है।

२. चेक

चेक आदाता (Payee) के रूप में नामांकित व्यक्ति को, अथवा उसके वाहक (Bearer) को द्रव्य की कथित रकम देने के लिए, बैंक को आदेश है। यदि चेक के आहर्ता (Drawer)—अर्थात् जो व्यक्ति उस पर हस्ताक्षर करता है—के नाम पर्याप्त रकम बैंक में जमा है, जिसमें से चेक में अंकित रकम दी जा सकती है, अथवा यदि बैंक ने उसे

मित संख्या को छोड़कर सभी नोटों की, जिसे, "विश्वसनीय निष्कासन" (Fiduciary issue) कहते हैं, पुष्टि के (Backing) रूप में १०० प्रतिशत सोना रखा जाय। तब से इस नियम का पालन होता रहा है। परन्तु १९२८ में विश्वसनीय निष्कासन बहुत बढ़ा दिया गया, जब कि एक पौंड और १० शिलिंग के "कोषागार-नोट" (Treasury Notes) बैंक में अन्तरित कर दिए गए। (दे० पृष्ठ ·····)

उस सीमा तक "अध्याहरण" करने (Overdraw) का अधिकार दिया है, तो वह उस आदेश का पालन करेगा। अन्यथा चेक पर (आहर्ता से पूछिए) R. D. [अर्थात् Refer to Drawer] अथवा (अपर्याप्त निधि) N. S. F. [अर्थात् Not Sufficient Funds] अंकित करके वह उसे प्रस्तुत करनेवाले को लौटा दिया जायगा।

अतः जो कोई अपने द्रव्य पावने के भुगतान में चेक स्वीकार करता है वह अपने ऊपर एक संकट लेता है कि यदि आहर्ता (Drawer) के खाते में चेक पर अंकित रकम देने भर को द्रव्य नहीं है तो आहृत (Drawn) बैंक उसे चेक लौटा देगा। अतएव किसी अपरिचित व्यक्ति के हस्ताक्षरवाले चेक के बदले कोई अपनी वस्तु या सेवा देना नहीं चाहता। वह अपना माल देने या सेवा अर्पित करने के पहले बैंक से चेक भुना लेना पसंद करता है। इसके अतिरिक्त यह भी भय रहता है कि यदि चेक अच्छा भी हो तब भी उसका द्रव्य चुकता करने के पहले ही बैंक डूब जाय। ग्रेट ब्रिटेन में इधर के कुछ दशकों में बहुत कम बैंक डूबे हैं परन्तु कुछ अन्य देशों में, जैसे जर्मनी और औस्ट्रिया में (भारतवर्ष में भी) विगत मंदी में अनेक महत्त्वपूर्ण बैंक डूब गए हैं और संयुक्तराज्य में डूबनेवाले बैंकों की संख्या—उनमें कई बहुत छोटे थे—तो बहुत बड़ी थी।

इससे हम परिभाषा के प्रश्न पर पहुँचते हैं। भुगतान के साधारणतः स्वीकार्य (Acceptable) और अस्वीकार्य साधनों का अन्तर हमें समझ लेना चाहिए। इंगलैंड में केवल बैंक औफ इंगलैंड द्वारा निष्कासित किए हुए नोट और टकसाल द्वारा निष्कासित की हुई चाँदी और ताँबे की मुद्राएँ पहले वर्ग में आती हैं। उन्हें हम "नगद" कहेंगे। जो बैंक जमा लौटाने का भार लेता है वह उसे नगद रूप में लौटाने का भार लेता है। भुगतान के साधनों में चेक से लेकर किसी विद्यालय के जलपान-गृह (Refectory) में स्वीकृत होनेवाले संकेत-पत्र (Paper tokens) तक, नगद के सभी प्रतिनिधि सम्मिलित हैं परन्तु परिमाण की दृष्टि से चेक इतने महत्त्वपूर्ण और नगद के इतने निकटवर्ती स्थानापन्न (Substitutes) ह कि प्रायः "मुद्रा" की परिभाषा करते समय उसे नगद धन (+) चेक (या बैंक में जमा) कहते हैं। यह प्रश्न केवल मौखिक होने के कारण हम प्रचलित प्रणाली का ही अनुसरण करेंगे।

३. बैंक-जमा (Bank Deposits)

बैंक में जमा चालू खाते में (Current account) हो सकता है अथवा स्थायी खाते में (Fixed account)। संयुक्तराज्य में पिछले खाते को "मियादी खाता (Time deposit) कहते हैं और कुछ

देशों में "स्थायी खाता" (Fixed deposit) कहते हैं। इस प्रकार के जमा के बदले ब्याज मिलता है और जमा करनेवाला यदि पहले से बैंक को सूचना देता है तभी उसे निकाल सकता है। इंगलैंड में पहले से सूचना देने की अवधि प्राय: एक सप्ताह है परन्तु अधिकतर बैंक अपने ग्राहकों को सूचना बिना भी रुपया निकालने देते है।[1] मियादी खाते में जमा करनेवाले उन्हें निकट भविष्य में निकालने का संकल्प नहीं रखते। इसलिए मियादी जमा की तुलना में चालू जमा का अनुपात बहुत अधिक रहता है। जैसे, मन्दी के समय, लोग अपना धन विनियुक्त (Invest) करने के लिए कम उत्सुक थे और पहले की अपेक्षा धन को अधिक द्रव (Liquid) रखना चाहते थे, इस प्रकार के जमा का संपूर्ण जमा की तुलना में अनुपात १९२९ में ४५.९ प्र० श० से १९३२ में ५०.५ प्रतिशत तक बढ़ गया था।

जब क किसी दूसरे व्यक्ति ख के नाम चेक काटता है तो ख प्राय: उसे किसी बैंक में अपने खाते में जमा करने को भेज देता है और उसका बैंक उस बैंक से जिस पर चेक दिया गया है, चेक में उल्लिखित द्रव्य वसूल लेता है। इस प्रकार बैंक में क का जमा घट जाता है और ख का उसके बैंक में उतना जमा बढ़ जाता है जितना चेक में अंकित था। परन्तु बैंकों का संपूर्ण जमा ज्यों-का-त्यों रहता है। अतएव भुगतान का साधन बैंक-जमा है, चेक नहीं। चेक आहर्ता का अपने बैंक को आदेश है कि उसमें उल्लिखित रकम के बराबर उसका जमा घटा कर आदाता (Payee) के खाते में बढ़ा दे। किसी अवधि में लोग कितनी तीव्र गति से बैंक-जमा निकालते हैं उसी पर काटे हुए चेकों की मात्रा निर्भर रहती है। लोग चेक के रूप में द्रव्य नहीं रखते वरन् बैंक-जमा के रूप में रखते हैं।

४. बैंक-जमा की मूलोत्पत्ति (Origin of Bank Deposits)

यह स्पष्ट है कि जमा करनेवाले के द्वारा बैंक के पास उतना ही द्रव्य नगद जमा किए जाने पर बैंक-जमा का आरंभ हुआ होगा। जमा करनेवाला यह समझता है कि उसके घर की अपेक्षा बैंक में उसका द्रव्य अधिक सुरक्षित है और वह अपने भुगतानों को चेकों द्वारा चुकाना, नगद चुकता करने की अपेक्षा, अधिक सुविधाजनक समझता है और जो चेक वह स्वयं पाता है उन्हें अपने बैंक में जमा कर देता है जिससे उसे स्वयं द्रव्य वसूल नहीं करना पड़ता। वरन् उसका बैंक वसूल कर उसके खाते में उतना जोड़ देता है।

---

१. हमारे देश में तीन या छ: महीने पहले सूचना देना आवश्यक होता है।

यह अनुमान किया जा सकता है कि कोई बैंक ऐसे भंडार-घर (Cloakroom) का काम करे जिसमें प्रत्येक ग्राहक के लिए एक-एक तिजोरी रखी रहे और जितना नगद वह जमा करे अथवा उसकी ओर से बैंक वसूले उसी तिजोरी में रखता जाय। इस प्रकार लोग चेकों द्वारा एक दूसरे का भुगतान कर और उतना धन बैंक अथवा बैंकों द्वारा एक तिजोरी में से दूसरी में रख दिया जाय।

जो बैंक ऐसा करेगा उसे संभवतः पता चलेगा कि उसके पास सर्वदा बहुत-सा नगद पड़ा रहता है। अपने जमा में से निकालनेवालों को वह सर्वदा भुगतान करता रहेगा और उनकी ओर से अन्य बैंको को, जिनके ग्राहकों को उन्होंने चेक दिए हैं, नगद देता रहेगा। इसके विपरीत वह जमा करनेवालों से निरंतर नए जमा के रूप में नगद और अन्य बैंकों से, जिनके ग्राहकों ने इस बैंक के ग्राहकों को चेक दिए होंगे, नगद प्राप्त करता रहेगा। किसी विशेष तिजोरी में नगद की मात्रा किसी दिन कम किसी दिन अधिक हो सकती है ? परन्तु जब एक ग्राहक के खाते में कम रकम है तो दूसरे के खाते में अधिक हो सकती है। इस प्रकार प्रतिदिन नगद की संपूर्ण मात्रा बहुत अधिक होगी और बहुत परिवर्त्तन नहीं होगा।

इन अवस्थाओं में बहुत संभव है कि महाजनों (Bankers) को यह बात सूझ जाय कि बैंक में रखे हुए नगद का अधिकांश उधार दे दिया जाय। प्रत्येक ग्राहक के लिए पृथक् तिजोरी रखने के बदले वह संपूर्ण नगद इकट्ठा रख सकता है और यद्यपि वह उसका अधिकांश उधार दे देता है फिर भी इतना पर्याप्त रखता है कि माँगने पर (अपने ग्राहकों को या ग्राहकों की ओर से अन्य बैंकों को) जितना नगद उसे देना पड़े, दे सके।

यह ध्यान देने की बात है कि इसके लिए एक आवश्यक प्रतिबंध यह है कि नगद समजात (Homogeneous) हो। यदि कोई जमा करने वाला अपने जमा किए हुए पौंड-नोट का नंबर लिख लेता है और दूसरे दिन वही नोट किसी के हाथ में परिचलन में देखता है तो उसे दुखी नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके महाजन (Banker) के पास दूसरा वैसा ही नोट उसे देने के लिए प्रस्तुत हो सकता है और एक पौंडवाले सभी नोट एक दूसरे के समान होते हैं। दूसरा आवश्यक प्रतिबंध यह है कि एक ही समय संपूर्ण जमा का केवल अल्पांश निकाला जाता हो। मान लीजिए कि अपने पिछले अनुभव के आधार पर महाजन ने निश्चय किया कि संपूर्ण जमा का केवल १० प्र० श० नगद कोष के लिए पर्याप्त है। यदि—संभवतः यह क़िवदन्ती सुनकर कि बैंक डूबनेवाला है—बैंक से रुपया निकालने वालों की बाढ़ आ जाय (Run on the bank) और उसके ग्राहकों

की बहुत बड़ी संख्या नगद भुगतान माँगने लगे तो बैंक में नगद नहीं मिलता। महाजन (Banker) कह सकता है कि वह बिलकुल ठोस साखवाला (Solvent) था और यदि उसे पर्याप्त समय मिलता तो वह अपने पावने वापस माँग लेता और अपने विनियोजनों (Investments) को बेच डालता जिससे उसका ऋण चुक जाता; फिर भी, माँगने पर अपना ऋण चुकता करने में असमर्थ होने के कारण, महाजन (Banker) के रूप में उसकी ख्याति लुप्त हो जायगी।

अपने खातेदारों (Depositors) के द्रव्य को उधार देकर बैंक उससे ब्याज प्राप्त करता है; अतएव वह अपने खातेदारों को (कुछ नीची दर पर) ब्याज दे सकता है। क्योंकि बैंक में जमा द्रव्य, भंडार-घर में (Cloak-room) जमा किए हुए सामान के समान नहीं है और इसे प्रायः सभी जानते हैं कि बैंक उनके जमा को ऋण के रूप में दे डालेगा।

बैंक जो द्रव्य उधार देते हैं वह ऋणियों द्वारा भुगतान करने के उपयोग में आता है। क्षणभर के लिए मान लीजिए कि केवल एक ही बैंक है। जिन लोगों को द्रव्य दिया जाता है वे भी उसी बैंक के ग्राहक हैं और उस द्रव्य को फिर अपने खाते में जमा कर देते हैं। कालान्तर में वही नोट, या मुद्रा, बैंक में एक ग्राहक द्वारा जमा किया जाता है, दूसरे द्वारा निकाला जाता है, फिर तीसरे द्वारा जमा होता है, इत्यादि; इस प्रकार वह बार-बार आता-जाता रहता है। अतएव बैंक का संपूर्ण जमा देशभर की संपूर्ण नगद की रकम से अधिक हो सकता है। परन्तु यदि बैंक नकद माँगनेवालों की माँगों को पूरी करने के लिए नगद की पर्याप्त मात्रा रखता है तो इससे कोई हानि नहीं हो सकती। अपने खातेदारों के देना (Liabilities) के बदले वह कुछ नगद और कुछ अन्य प्रकार के पावने (Assets), जैसे लोगों को दिए हुए ऋण, रखेगा।

वास्तव में जब कोई बैंक ऋण देता है तो प्रायः नगद के रूप में नहीं देता। वरन् वह ऋणी को अपने ऊपर चेक काटने का अधिकार प्रदान करता है। यद्यपि उसने उतना द्रव्य जमा नहीं किया है। उदाहरणार्थ, कोई बैंक अपने खातेदार क को उसके खाते में से १००० पौंड तक अध्याहरण (Overdraw) का अधिकार देता है और क वास्तव में जितना अध्याहरण करता है उस पर ब्याज देना स्वीकार करता है। क अपनी आवश्यकता के लिए खरीदे हुए माल, या सेवाओं के बदले, अथवा यदि ऋण लिया है तो अपने ऋणदाताओं को, चेक देने लगता है और जो लोग चेक पाते हैं वे उन्हें अपने खातों में जमा होने के लिए अपने-अपने बैंकों में भेज देते हैं। इस प्रकार उन लोगों के खातों में वृद्धि होती जाती है और क के अध्याहरण अथवा ऋणदान से किसी का जमा घटता नहीं।

इस प्रकार "ऋण से जमा की उत्पत्ति होती है" (Loans create deposits) । यदि बैंक क को ऋण देने के बदले प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीदता है और अपने चेकों द्वारा उनका मूल्य चुकाता है तो वही बात होती है। प्रतिभूतियों का विक्रेता उन चेकों को जमा कर देता है और अपने बैंक में अपने जमा की वृद्धि करता है चाहे वह बैंक वही हो जिसने चेक दिया था या कोई दूसरा। ब्रिटेन के बैंकों के संपूर्ण जमा में विगत दशकों में होनेवाली अधिकांश वृद्धि बैंकों द्वारा ऋण देने से अथवा प्रतिभूतियों की खरीद से हुई है। अतिरिक्त जमा वास्तव में स्वयं बैंकों द्वारा उत्पन्न किया गया है।

५. बैंकों की साख-उत्पादन-शक्ति की सीमा

(The Limitations on the Power of Banks to Create Credit)

हमने अभी देखा है कि कोई बैंक ग्राहकों को अपने खातों से केवल अध्याहरण की स्वीकृति देकर अथवा प्रतिभूतियाँ खरीदकर तथा उनका भुगतान अपने चेकों द्वारा करके और इस प्रकार संपूर्ण बैंक-जमा में वृद्धि करके, (अर्थात् साख उत्पन्न करके) व्याज प्राप्त कर सकता है। फिर भी अन्य उद्योग-धंधों की अपेक्षा महाजनी (Banking) में लाभ की दर अधिक नहीं है । बैंकों को—भूमि, भवन, सज्जा (Equipment) कर्मचारियों आदि के लिए—व्यय करना पड़ता है और उनकी साख-उत्पादन-शक्ति परिमित है।

अपने खातेदारों द्वारा माँगे जाने पर नगद देने के दायित्व के कारण यह शक्ति परिमित है। इसका अर्थ यह है कि वे जिसे सुरक्षित स्तर (Safe level) समझते हैं उससे नीचे अपना नगद कोष (Cash reserve) नहीं जाने देते । इधर के कुछ वर्षों में ग्रेट-ब्रिटेन के बैंकों ने अनुभव किया है कि उनके जमा का ९ या १० प्रतिशत वह न्यूनतम मात्रा है जिससे नीचे उनका नगद कोष नहीं जाना चाहिए। अतिरिक्त ऋण अथवा प्रतिभूतियों के क्रय से संपूर्ण जमा में वृद्धि होती है, अतएव बैंकों का नगद कोष (यह मान लेने पर कि यह न्यूनतम के निकट है और घटेगा नहीं) इस न्यूनतम प्रतिशत से नीचे चला जाता है ।

अतएव साख का अधिक विस्तार करने के लिए या तो बैंक अपने नगद कोष की पूरी रकम बढ़ाएँ अथवा जमा का जो प्रतिशत वे पहले सुरक्षित न्यूनतम समझते थे उससे उसे कम हो जाने दें।

मान लिया जाय कि देश में केवल एक बैंक है (जिसकी अनेक शाखाएँ हैं) परन्तु वह देश में संपूर्ण नगद की मात्रा में कमी या वृद्धि नहीं कर सकता क्योंकि नगद की पूर्ति पर सरकार का नियंत्रण

है। किसी भी समय, देश का संपूर्ण नगद बैंक और जनता के बीच विभक्त रहता है। जनता को कम नगद रखने के लिए विवश करके बैंक अपना नगद कोष बढ़ा नहीं सकता। कुछ समय के लिए जनता में प्रतिभूतियाँ बेचकर अथवा अपने कुछ ग्राहकों से नगद के रूप में ऋण चुकाने की प्रार्थना करके वह अधिक नगद प्राप्त कर सकता है; परन्तु वह इस अतिरिक्त नगद को रखकर साख के विस्तार के लिए उपयोग में नहीं ला सकता, क्योंकि बैंक की नकेल जनता के हाथ में है और वह अपने नगद की रकम को बैंक से नगद द्रव्य निकाल कर जब चाहे बढ़ा सकती है। इस प्रकार यह मान कर कि देश का संपूर्ण जमा उसके संपूर्ण नगद से अधिक है, जनता जितना चाहे उतना नगद सर्वदा अपने हाथ में रख सकती है। यदि जनता की नगद की माँग पहले की भाँति रहती है, और देश में संपूर्ण नगद की मात्रा में वृद्धि नहीं होती, तो बैंक अपने नगदी कोष में स्थायी वृद्धि करने में असमर्थ होगा।

मान लिया कि देश का संपूर्ण नगद ५००० लाख पौंड है जिसमें से आधा बैंक के हाथ में है और आधा जनता के हाथ में और बैंक का जमा २५००० लाख पौंड है तो बैंक-साख का विस्तार तभी कर सकता और उससे अपना जमा २५०० लाख पौंड अधिक बढ़ा सकता है जब वह अपने २५०० लाख पौंड नगद कोष को अपने संपूर्ण जमा के दसवें भाग से घटा कर ग्यारहवाँ भाग करने को प्रस्तुत हो। परन्तु ऐसा करने में भी शायद वह असमर्थ हो क्योंकि नगद की जो मात्रा जनता अपने पास रखना चाहती है वह मूल्य-स्तर (Price - level) के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। यदि मूल्य में वृद्धि होती है तो व्यक्ति और व्यवसाय-संस्थाओं की प्रवृत्ति अपनी जेबों, पेटियों या तिजोरियों में पहले की अपेक्षा अधिक नगद रखने की होती है। बैंक की साख का विस्तार २५००० लाख पौंड से २७५०० लाख पौंड हो जाने के कारण मूल्य में वृद्धि हो सकती है, जिससे जनता पहले के २५०० लाख पौंड के बदले २७५० लाख पौंड नगद रखने को इच्छुक हो सकती है। इससे बैंक के लिए केवल २२५० लाख पौंड बच जायगा जो संपूर्ण जमा के ८ प्र. श. से कुछ ही अधिक होगा। अतएव यदि वह अपना नगद अनुपात (Cash ratio) ९ प्र. श. तक, परन्तु उससे कम नहीं, घटाने को प्रस्तुत हो तो वह २५०० लाख पौंड की मात्रा में साख का विस्तार नहीं कर सकता।

इस प्रकार बैंक-जमा की संपूर्ण मात्रा तीन चीजों पर निर्भर कही जा सकती है, अर्थात्——

१. देश के संपूर्ण नगद की मात्रा।

२. नगद की वह मात्रा जो जनता अपने पास रखती है।

३. जमा के नगद का वह न्यूनतम प्रतिशत (Minimum percentage of cash) जो बैंक के विचार से सुरक्षित है।

देश में संपूर्ण नगद की मात्रा तभी बढ़ाई जा सकती है जब मुद्राधिकारी (Monetary authority), जो हमने मान लिया है कि सरकार है, उसे बढ़ाने का निश्चय करे। जन-संख्या के ह्रास अथवा जनता की नगद-व्यवहार संबंधी आदत में परिवर्त्तन होने से जनता की नगद की माँग कम हो सकती है; उदाहरणार्थ, वेतन-भोगियों के उन समूहों को, जो पहले नगद वेतन पाते थे, अब चेक द्वारा वेतन दिया जाने लगे और वे स्वयं जो भुगतान पहले नगद रूप में करते थे अब चेक द्वारा करने लगें। साधारण उन्नति और आशावादिता (Optimism) के समय बैंक यह अनुभव कर सकता है कि सर्वदा की अपेक्षा कम प्रतिशत रखने में कोई भय नहीं है। परन्तु यदि इनमें से कोई बात परिवर्तित नहीं होती तो बैंक-साख की संपूर्ण मात्रा में वृद्धि नहीं हो सकती।

किसी देश में एक नहीं अनेक बैंक होते हैं—इस तथ्य से हमारे तर्क में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके प्रभावों का विवेचन अगले विभाग में किया गया है।

हम इतना और कह सकते हैं कि १९१४ के युद्ध के पश्चात् जर्मनी तथा अन्य देशों में मुद्रास्फीति (Inflation) का कारण बैंक-साख में विस्तार था अथवा नोट-निष्कासन (Note issue)—यह तर्क उसी प्रकार का है जिस प्रकार का यह कि पहले मुर्गी हुई या अंडा। वास्तव में बैंक-साख का विस्तार पहले हुआ; परन्तु बैंकों को अपना नगद और जमा का परंपरागत अनुपात (Customary proportion) रखने में समर्थ बनाने के लिए, केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा निष्कासित नोटों के रूप में अतिरिक्त नगद उत्पन्न किये बिना, विस्तृत बैंक-साख की मात्रा बनाये रखना—उसे बढ़ाने की बात तो दूर रही—कठिन था।

६. बैंक-भुगतान (Bank Clearing)

अब एक विशेष बैंक पर विचार किया जाय। मान लीजिये कि वह मिड्लैंड बैंक है। मान लीजिये कि संपूर्ण बैंक-जमा का लगभग पाँचवाँ भाग उसके पास है। उसके ग्राहक प्रतिदिन अपने खाते में चेक जमा करते हैं और संभावना यह है कि इन चेकों के $\frac{4}{5}$ भाग दूसरे बैंकों के ऊपर आहृत (Drawn) होंगे। निःसन्देह मिड्लैंड बैंक दूसरे बैंकों से इन चेकों पर अंकित नगद वसूल करता है। परन्तु अन्य बैंकों

के ग्राहक अपने खाते में चेक जमा करेंगे और इन चेकों का औसत संपूर्ण अर्घ (Total value) मिड्लैंड बैंक में जमा किए गये चेकों के अर्घ का चौगुना होगा और संभावना यह है कि उनका पंचमांश मिड्लैंड के ऊपर आहृत होगा। इस प्रकार मिड्लैंड बैंक दूसरे बैंकों को उतना ही देगा जितना वे इसे देंगे।

अतः सुविधाजनक व्यवस्था यह होगी कि (किसी नगर में) प्रत्येक बैंक एक केन्द्रीय स्थान पर जिसे भुगतान-घर (Clearing house) कहते हैं अपना एक करणिक (Clerk) भेज दे जो अन्य बैंकों से भेजे गये करणिकों से मिले। तब प्रत्येक बैंक मिड्लैंड के ऊपर काटे गये सभी चेक उसे दे सकता है और मिड्लैंड उन लोगों के ऊपर काटे गये चेक उन्हें दे सकता है। इस प्रकार का "भुगतान" होने पर यदि मान लिया कि मिड्लैंड के ऊपर वेस्ट मिस्टर बैंक का पावना देना की अपेक्षा अधिक है तो जितना अंतर है उसे वह नगद द्रव्य में दे सकता है। इस प्रकार के भुगतान प्रति दिन हुआ करते हैं (बड़े बड़े नगरों में दिन में दो या तीन बार) परन्तु जो अन्तर होता है वह नगद में नहीं चुकाया जाता। इंग्लैंड में अधिकांश बड़े बैंकों का खाता बैंक ऑफ इंग्लैंड में रहता है और वे भुगतान के समय देना-पावना का अंतर बैंक ओफ इंग्लैंड के नाम चेक देकर तय कर लेते हैं। जैसे यदि भुगतान के पश्चात् मिड्लैंड के ऊपर वेस्ट मिस्टर का ५०००० पांड पावना है तो वह वेस्ट मिस्टर को बैंक औफ इंग्लैंड के नाम ५०००० पांड का एक चेक दे देता है। बैंक ऑफ इंग्लैंड में मिड्लैंड का जमा ५०००० पौं० कम हो जाता है और वेस्ट मिस्टर का ५०००० पांड बढ़ जाता है। बैंक औफ इंगलैंड के पास जमा को अन्य बैंक नगद के समान ही समझते हैं क्योंकि वे जब चाहें उसे नोट या नगद के रूप में निकाल सकते हैं।

अतएव किसी बैंक के लिए साम्य स्थिति (Equilibrium position) वह है जिसमें भुगतान के समय न तो उसका नगद घटता है न बढ़ता है। यदि उसे बराबर नगद ही मिला करता है तो वह ऋण अधिक देगा अतएव उसपर चेक अधिक काटे जायेंगे। जिससे उसके जमा से नगद का प्रतिशत इतना गिर जायगा जितना सुरक्षित स्थिति के लिए कम से कम आवश्यक है। इसके विपरीत यदि दूसरे बैंकों को देने के कारण उसका नगद बराबर घटता जाता है तो उसे ऋण देना कम करना पड़ेगा जिससे उसके ऊपर चेक कम काटे जायंगे।

यदि सभी बैंक साख के विस्तार का निश्चय करें और परस्पर समान नीति से चलें तो भुगतान-घर में किसी बैंक का नगद खिचकर दूसरे बैंक के पास नहीं जायगा और साख-विस्तार की सीमा केवल वही

होगी जिसका विवेचन हमने पिछले विभाग में किया है, जहाँ यह मान लिया गया था कि केवल एक ही बैंक है।

मान लिया कि केवल एक बैंक, मिड्लैंड, साख का विस्तार करना चाहता है। तो भुगतान-घर में अधिक नगद चुका देने के कारण उसका साख-विस्तार बंद हो जायगा। यदि वह अपना ऋण १० लाख पौंड बढ़ा देता है और संपूर्ण जमा का १/५ उसके पास है, तो संभावना यह है कि उसके नये ऋणी अपने चेकों के ४/५ उन लोगों को देंगे जो बैंक के ग्राहक नहीं हैं जिससे मिड्लैंड बैंक को भुगतान-घर में ८० लाख पौंड नगद दूसरों को देना पड़ेगा। मान लिया कि उसका संपूर्ण जमा ४००० लाख पौंड है और नगद ४०० लाख पौंड (निःसंदेह बैंक औफ इंगलैंड में उसका जमा लेकर) और अन्य सब बैंकों को मिलाकर १६००० लाख पौंड जमा और १६०० पौंड नगद है। मान लिया कि मिड्लैंड अपने रक्षित (Reserve) कोष का अनुपात १० प्र० श० से ९ प्र० श० गिराने को प्रस्तुत है। अन्य सब बैंक मिलकर १० प्र० श० का अनुपात रखना चाहते हैं तो मिड्लैंड इस आशा से कि इससे उसका जमा ४४०० लाख पौंड हो जायगा और नगद ४०० लाख पौंड बच रहेगा, अपना ऋण ४०० लाख पौंड नहीं बढ़ा सकता; क्योंकि परिणाम यह होगा कि उसका जमा ४०८० लाख पौंड तक हो जायगा और नगद घट कर ८० लाख पौंड रह जायगा क्योंकि उसके नये ऋणियों द्वारा दिये गये लगभग ४/५ चेक अन्य बैंकों के हाथ में चले जायँगे। परन्तु क्रमिक विस्तार से उसके जमा की एक साम्य-स्थिति पहुँच जायगी जब वह ४११० लाख पौंड हो जायगा और उसका नगद ३७० लाख पौंड हो जायगा, इधर अन्य बैंकों का संपूर्ण जमा १६३०० लाख पौंड और नगद १६३० लाख पौंड हो जायगा। अन्य बैंकों ने मिड्लैंड से अधिक नगद पाया है इसलिए वे अपने ऋण अथवा साख का विस्तार करेंगे।

इन सबसे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि चूँकि सभी भुगतानों का ९० प्रतिशत चेक द्वारा होता है इसलिए नगद की मात्रा ही अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि जबतक बैंक अपना परंपरागत कोष अनुपात (Reserve ratio) रखना आवश्यक समझते हैं तबतक वे अपना जमा तभी बढ़ा सकते हैं जब कि देश में नगद की मात्रा बढ़ती है अथवा जनता की नगद-संबंधी माँग घटती है।

तेईसवाँ अध्याय

द्रव्य-बाजार और केन्द्रीय-बैंक[1]

(Money Markets and Central Banks)

१. प्रस्तावना

पिछले अध्याय में बैंकों और बैंक-जमा अथवा "बैंक-साख" की मात्रा निर्धारित करनेवाले प्रभावों का सामान्य विवेचन हुआ है। प्रस्तुत अध्याय अधिकांश में वर्णनात्मक है। इसमें मुख्यतः ब्रिटिश बैंकों और लंदन-द्रव्य-बाजार से संबंध रखनेवाले तथ्यों तथा आँकड़ों का उल्लेख है।

ब्रिटेन की महाजनी प्रणाली (Banking system) का परिचय देने के लिए लंदन-द्रव्य-बाजार और बैंक औफ इंगलैंड का कुछ विवेचन आवश्यक है। अल्प-कालीन ऋण के बाजार को द्रव्य-बाजार कहते हैं। लंदन-द्रव्य-बाजार में उधार दिए गए अधिकांश द्रव्य की पूर्त्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन के वाणिज्य बैंकों (Commercial banks) द्वारा होती है। ब्रिटेन की सरकार जितना अल्पकालीन ऋण लेती है उसका अधिकांश कोष-विपत्रों (Treasury bills) के क्रय द्वारा वे ही देते हैं। वे ही, अल्पकालीन ऋण देकर, मितीकाटा-घरों और हुंडी-दलालों को कोष-विपत्र, हुंडियों और राजकीय प्रतिभूतियाँ (Government securities) खरीदने के लिए अपेक्षितअधिकांश द्रव्य प्रदान करते हैं। बैंक द्रव्य-बाजार में दिए गए अपने अल्पकालीन ऋणों और पास में रखे हुए कोष-विपत्रों तथा अन्य हुंडियों को, नगद के बाद, सबसे अधिक द्रव संपत्ति मानते हैं। अतएव मितीकाटा-घरों, हुंडी-दलालों तथा स्वीकारी-गृहों (Accepting houses) का (जो हुंडियों को "स्वीकार" करके—जिसका अर्थ यह है कि वे भुगतान करने का विश्वास दिलाते हैं—उन्हें विस्तृत बाजार में बिकने योग्य बनाते हैं) संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक है; साथ ही कोष-विपत्रों और हुंडियों के विषय में भी कुछ लिखना आवश्यक है।

हमें केन्द्रीय बैंक—बैंक औफ इंगलैंड—का भी विवेचन करना आवश्यक हैं। महाजनी-प्रणाली केन्द्रीय बैंक के बिना भी उन्नत हो सकती है।

---

१. यह अध्याय महायुद्ध के पूर्व लिखा गया था। युद्धोत्तरकालीन घटनाओं तथा आँकड़ों के लिए दे० अध्याय ३१।

परन्तु जहाँ कोई केन्द्रीय बैंक है वहाँ यदि वह चाहे तो, व्यावसायिक वैंकों की उपलभ्य नगद की मात्रा को घटा या बढ़ाकर, बैंक-साख की मात्रा पर नियंत्रण रख सकता है—और साथ ही अल्पकालीन और संभवत: दीर्घकालीन व्याज-दर पर भी प्रभाव डाल सकता है। बैंक औफ इंगलैंड, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, ऐसा करने में समर्थ है।

जब ग्रेट ब्रिटेन में स्वर्ण-मान (Gold Standard) था तब बैंक औफ इंगलैंड का सबसे मुख्य उद्देश्य था पर्याप्त स्वर्ण-कोष (Gold-reserve) रखना और—कम से कम १९१४ के पूर्व—वह स्वर्ण निर्यात (Gold-drain) का भय होने पर अपनी बैंक-दर घटा देता था। परन्तु सितंबर १९३१ से ग्रेट-ब्रिटेन ने स्वर्ण-मान त्याग दिया है और वर्त्तमान अध्याय में हमारा विवेचन उसके पश्चात् की स्थिति का दिग्दर्शन कराता है। स्वर्ण-मान का विवेचन हम एक पृथक् अध्याय में करेंगे। संप्रति हम अन्तर्राष्ट्रीय जटिलताओं को छोड़ देते हैं।

हमारे अधिकांश उदाहरण ब्रिटेन की महाजनी प्रणाली से ही लिए जायँगे। अतएव अन्य प्रणालियों से उसका मुख्य मुख्य अन्तर बतला देना उचित होगा। सबसे पहले, लंदन में कोष-विपत्रों तथा अन्य हुंडियों की मात्रा अन्य केन्द्रों की अपेक्षा अधिक होती है। बैंक इन हुंडियों को अपेक्षाकृत द्रव संपत्ति (Liquid assets) मानते हैं और ये (दलालों को दिए गए अल्पकालीन ऋणों को मिलाकर) उनके नगद-कोष (Cash reserves) की पूर्त्ति करते एवं रक्षा-पंक्ति में दूसरा स्थान रखते हैं। अतएव वैंक, अपने जमा की सुरक्षा के लिए इस प्रकार की द्रव-संपत्ति के अभाव में जितना नगद-कोष रखना पड़ता उससे बहुत कम रख सकते हैं—और रखते भी हैं। जिन देशों में द्रव्य-बाजार कम उन्नत हैं उनमें वैंक-जमा से नगद का अनुपात इंगलैंड की अपेक्षा अधिक रखते हैं।

दूसरे, केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य बैंकों के बीच मितीकाटा-घरों और हुंडी के दलालों का होना इंगलैंड की एक विशेषता है। दूसरे देशों में वाणिज्य बैंक, नगद की आवश्यकता पड़ने पर, सीधे केन्द्रीय बैंक से ऋण लेते हैं। परन्तु इंगलैंड में वे ऐसा कभी नहीं करते; इसके बदले वे अपना अल्पकालीन ऋण लौटा मँगाते हैं जिसको चुकता करने के लिए हुंडी के दलालों को वैंक औफ इंगलैंड से ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है।

तीसरे, इंगलैंड में विकेन्द्रित-महाजनी (Branch banking) का बहुत विकास हो चुका है। कुछ थोड़े से बैंक, अपनी अनेक शाखाओं के साथ, अधिकांश व्यापार करते और संपूर्ण जमा का अधिक भाग रखते हैं। संयुक्त राज्य की महाजनी इसके ठीक विपरीत है। वहाँ विस्तीर्ण विकेन्द्रित महाजनी विधि-वर्जित (Forbidden by law) है और

हजारों स्वतंत्र बैंक वहां काम करते हैं, यद्यपि संघीय कोष (Federal Reserve) प्रणाली (१९१४ में जब इसकी स्थापना हुई तभी से) अपने सदस्य बैंकों के नगदी कोष को "गाँजने" (Pool) और केन्द्रित करने में बहुत सफल हुई है। विकेन्द्रित महाजनी द्वारा कोई बड़ा बैंक अपने नगद-कोष को, भिन्न भिन्न स्थानों में नगद की माँग के अनुसार अपनी शाखाओं में वितरित करके, अधिक सफलतापूर्वक उपयोग में ला सकता है। देश के एक भाग से दूसरे भाग में ऋण का आदान-प्रदान भी इससे सुलभ हो जाता है; ऋण के लिए अपेक्षाकृत कम माँगवाले जिले के जमा का कुछ अंश उन दूसरे जिलों में ऋण के रूप में दिया जा सकता है जहाँ उसकी अधिक माँग हो परन्तु इसके विपरीत सभी प्रकार के छोटे-बड़े ऋण देने के लिए प्रधान कार्यालय की पूर्व अनुज्ञा (Prior sanction) आवश्यक होती है अतएव किसी विकेंद्रित बैंक का स्थानीय व्यवस्थापक अपने विवेक का उस प्रकार उपयोग नहीं कर सकता जिस प्रकार किसी स्वतन्त्र बैंक का व्यवस्थापक कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनेक शाखाओं वाले किसी बड़े बैंक के डूबने से बहुत व्यापक संकट और घबराहट उत्पन्न होती है, परन्तु छोटे छोटे कुछ स्थानीय बैंकों के डूबने का प्रभाव अपने जिले के बाहर शायद ही पड़े।

२. अंग्रेजी वाणिज्य बैंक (The English Commercial Banks)

पाँच सबसे बड़े अंग्रेजी बैंक हैं, मिड्लैंड, बार्क्लेज, ल्वायड्स, वेस्ट-मिंस्टर और नेशनल प्रौविंशल। छः अन्य बैंकों को मिलाकर ये ही लंदन के भुगतान बैंक (London Clearing Banks) कहलाते हैं। क्योंकि केवल ये ही लन्दन-भुगतान-घर के सदस्य हैं, अन्य बैंक अपना भुगतान इन्हीं में से किसी के द्वारा करते हैं। शेष अंग्रेजी बैंक कम महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु अनेक विदेशी और औपनिवेशिक (Dominion) बैंकों के कार्यालय भी लंदन में हैं और स्काटलैंड तथा आयर्लैंड के बैंक भी बहुत बड़ी मात्रा में महाजनी करते हैं।

किसी बैंक के लेखा-विवरण (Statement of accounts) के "देना" (Liabilities) पक्ष की मुख्य मदें (items) चुकती पूंजी (Paid up capital), सुरक्षित कोष (Reserve fund) और जमा (चालू, मियादी तथा अन्य खाते) हैं। अक्तूबर १९३७ में लंदन-भुगतान बैंकों की सम्मिलित पूंजी लगभग ७७० लाख पौंड और उनका (अवितरित लाभ में से संचित) संरक्षित कोष लगभग ५८० लाख पौंड था। यह संपूर्ण धन उनके हिस्सेदारों का था। इसके अतिरिक्त, पर्याप्त मात्रा में "प्रच्छन्न कोष" (Concealed reserves) थे क्योंकि उनकी कुछ संपत्ति (Assets)

—जैसे विनियोजन (Investment) और परिभूमि (Premises) —तत्काल अर्घ (Market value) से कम दिखाई गई थीं; ये सब मिलाकर १००० लाख पौंड के आसपास रही होंगी। उनके साधनों (Resources) का अधिकांश जमा था जिसकी मात्रा २३१२० लाख पौंड के लगभग थी और निःसंदेह यह जमा वालों की संपत्ति थी, हिस्सेदारों की नहीं।

किसी अंग्रेजी वाणिज्य बैंक की नीति को हम तीन परस्पर विरोधी उद्देश्यों में समझौता कह सकते हैं। सबसे पहले, बैंक अपने हिस्सेदारों के लिए यथासंभव अधिक लाभ करना चाहता है। दूसरे, उसके कोष का अधिकांश उसके जमावालों का है; अतएव अधिक लाभ मिलने की संभावना होते हुए भी पर्याप्त प्रतिभूति (Security) के बिना, जोखिम वाले व्यवसायों में विनियुक्त करके, अपनी संपत्ति का कुछ अंश गँवा देना उसके सामर्थ्य के बाहर है। तीसरे, उसने जमावालों को नगद भुगतान करने का भार लिया है अतएव अपनी संपत्ति का कुछ अनुपात नगद अथवा ऐसे रूप में जो अधिक हानि-बिना सरलता से नगद में परिणत किया जा सके, रखना आवश्यक है। उसकी संपत्ति का वितरण इन तीनों उद्देश्यों—लाभ, सुरक्षा (Security) और द्रवणता (Liquidity) —में समझौता व्यक्त करेगा।

अक्तूबर १९३७ में लंदन-भुगतान-बैंकों के सम्मिलित विवरणों (Statements) के "पावना" (Assets) पक्ष की मुख्य* मदें इस प्रकार थीं :—

	लाख पौंड
नगद (Cash)	२३४०
आह्वान अथवा अल्प सूचना देय द्रव्य (Money at call and at short notice)	१६५०
भुनाई हुई हुंडियाँ (Bills discounted)	२९६०
विनियोजन (Investments)	६३९०
ग्राहकों को उधार (Advances to customers)	९८४०

* स्वीकृति (Acceptance), नामांकन (Endorsement) इत्यादि के लिए ग्राहकों के (११६० लाख पौंड) देने (Liabilities) को जो 'देना' पक्ष में समान अर्थ की मदों द्वारा संतुलित हैं, हम छोड़ देते हैं। अन्य बैंकों के पास रोकड़ बाकी (Balances) तथा वसूली के लिए चेक, संक्रमण में मदें (Items in transit), बैंक परिभूमि (Premises) और संबद्ध बैंकों तथा सहायक कंपनियों में विनियोजनों (Investments) को भी हम छोड़ देते हैं।

ये मदें द्रवणता (Liquidity) के क्रम से दी गई हैं। लाभत्व (Profitability) का क्रम ठीक इसके विपरीत है। ग्राहकों को दिए गए ऋण सबसे अधिक लाभदायक हैं, जिनसे (१९३७ में) ४ या ५ प्रतिशत के लगभग आय होती थी जहाँ नगद से बिलकुल ही आय नहीं होती।

परिभाषानुसार, नगद पूर्णतः द्रव है। इस मद में आधे से अधिक मुद्रा और नोट होते हैं; शेष बैंक ऑफ इंगलैंड में जमा "बैंकों का जमा" (Bankers' Deposit) होता है जिसे बैंक मुद्रा और नोट के समान ही द्रव समझते हैं। जमा का नगद प्रतिशत विभिन्न बैंकों और विभिन्न कालों के लिए भिन्न भिन्न होता है; परन्तु सब बैंकों का मिलाकर १० प्रतिशत से कम विरले ही कभी दिखाया जाता है और ११ प्रतिशत के ऊपर भी शायद ही कभी जाता है।

आह्वान और अल्प-सूचना पर लौटाया जानेवाला द्रव्य अधिकतर मितीकाटा-घरों (Discount houses), हुंडी-दलालों और अंशतः वंट-दलालों (Stock - brokers) को दिया जाता है। (बैंक वंट-दलालों को दीर्घ काल के लिए भी उधार देते हैं, परन्तु ये उधार उनके ऋणवाले मद में सम्मिलित कर लिए जाते हैं।) यह मद नगद के बाद, बैंक की संपत्ति का सबसे अधिक द्रव अंश होता है क्योंकि कुछ ऋण तो माँग करते ही लौटाया जा सकता है और शेष कुछ ही दिनों में वसूल हो सकता है। १९३७ में बैंकों ने इस मद में केवल $\frac{1}{2}$ से १ प्र० श० तक प्राप्त किया था जो उनके जमा के लगभग ६ या ७ प्रतिशत के बराबर था।

भुनाई हुई हुंडियों की मियाद पूरी होते ही वे द्रव हो जाती हैं उनमें अधिकांश कोष-विपत्र (Treasury bills) होते हैं क्योंकि वाणि-वाणिज्य-विपत्रों (Commercial bills) की मात्रा इधर के वर्षों में पर्याप्त घट गई है। १९३७ में कोषागार—विपत्रों से $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से कुछ ही अधिक और तीन महीने वाली व्यापारिक हुंडियों (Trade bills) से २ से २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की आय होती थी; परन्तु बैंकों के पास रखे हुए वाणिज्य-विपत्रों में अधिकतर व्यापारिक हुंडियाँ थीं; बैंकीय हुंडियाँ (Bank bills) नहीं। हुंडियाँ प्रायः जमा का १२ से २० प्रतिशत होती हैं।

विनियोजनों में मुख्यतः ब्रिटेन-सरकार की प्रतिभूतियाँ (British Government securities) थीं जिनसे इधर के वर्षों में ३ प्रतिशत से कुछ ही अधिक आय होती रही है और जिनका अर्घ समयानुसार परिवर्त्तित हो सकता है। बैंक अपनी सुरक्षा के उद्देश्य का अनुसरण विनियोजनों को "स्वर्णावृत" प्रतिभूतियों (Gilt - edged securities) तक ही सीमित रखकर करते हैं। वे अपने जमा वालों का द्रव्य

हिस्सों की सट्टेबाजी (Speculative shares) में नहीं लगाते। विगत काल में विनियोजन जमा के १४ से १७ प्रतिशत के बीच रहे हैं। परन्तु युद्धारंभ के चार पाँच वर्ष पहले यह अनुपात बहुत अधिक था; अक्तूबर १९३७ में २७ प्र० श० के ऊपर था।

ऋण या अध्याहरण (Overdraft) के रूप में ग्राहकों को उधार (Advances) सबसे लाभप्रद परन्तु सबसे कम द्रव मद है क्योंकि यद्यपि नियमतः माँग होते ही अध्याहरण लौटा देना अपेक्षित है परन्तु प्रायः अल्प सूचना पर उसकी वसूली कठिन होती है। साधारणतः अँग्रेजी बैंकों का उद्देश्य व्यापार और उद्योगों को केवल चालू-पूँजी देने का होता है और वे छः महीने से अधिक के लिए विरले ही उधार देते हैं। विगत काल में कुछ यूरोपीय बैंकों (Continental banks) ने कुछ विशेष व्यवसाय-संस्थाओं को दीर्घकालीन ऋण भी दिए हैं। परन्तु उन बैंकों के पास अंग्रेजी बैंकों की तुलना में जमा की अपेक्षा पूँजी अधिक थी। अँग्रेजी बैंक विरले ही ऐसा करते हैं; ल्वायड्स बैंक द्वारा १९३२ में स्टूअर्ट्स तथा ल्वायड्स को दिया गया ३० लाख पौंड का दीर्घ-कालीन ऋण सर्वथा अपवाद था। अँग्रेजी बैंक अपने उधारों के लिए पर्याप्त प्रतिभूति (Security) लेकर अपने जमावालों की रक्षा करते हैं। परन्तु कभी कभी कोई प्रतिभूति (Security) जो उस समय पर्याप्त जान पड़ती है, कालान्तर में अर्घ में बहुत घट जाती है; ग्राहक ऋण चुकता नहीं कर पाता और बैंक की संपत्ति "जकड़ी हुई" (frozen) रह जाती है। १९१४–१८ के महायुद्धोत्तर की मंदी में बहुत से बैंकों के ऋणों की यही दशा हुई थी। भूतकाल में उधारों की मात्रा जमा का ५० प्रतिशत रही है। परन्तु इधर कुछ वर्षों में यह अनुपात बहुत नीचे गिर गया है।

अक्तूबर १९३१ से तुलना करना बड़ा मनोरंजक होगा। उस समय लंदन-भुगतान-बैंकों का संपूर्ण जमा केवल १७२४० लाख पौंड था; उनके विनियोजन ३०४० लाख पौंड और उधार ९१०० लाख पौंड थे। तब से बैंक औफ इंगलैंड तथा कोषागार (Treasury) द्वारा अनुसृत (Pursued) "सुलभ मुद्रा" (Cheap money) की नीति के फल-स्वरूप जमा की मात्रा बढ़ गई है परन्तु पावना (Asset) के पक्ष में संगत (Coresponding) परिवर्त्तन विनियोजन में वृद्धि के रूप में हुआ है। इसका कारण था उधारों का जमा से परंपरागत अनुपात बनाए रखने के लिए पर्याप्त सुरक्षित ऋणियों का अभाव।

यह स्मरण रखना चाहिए कि बैंकों के प्रकाशित विवरणों में बहुत कुछ "सजधज" (Window - dressing) रहती है; अर्थात् दिखाए

हुए नगद की मात्रा प्रायः रखी जाने वाली मात्रा से अधिक होती है। बड़े बैंक अपना अपना लेखा (Account) सप्ताह में पृथक् पृथक् दिन प्रस्तुत करते हैं जब वे इस कार्य के लिए अल्पकालीन ऋणों को वापस मँगा लेते हैं। हुंडी-दलाल एक बैंक को दूसरे बैंकों से उधार लेकर देते हैं। वर्ष में दो बार जब सब बैंकों को छमाही लेखा एक ही दिन प्रस्तुत करना पड़ता है तब अन्य उपायों की आवश्यकता पड़ती है। आगे चलकर हम देखेंगे कि ये उपाय क्या हैं।[1]

३. विपत्र (Bills)

"विपत्र" (Bill) शब्द का प्रयोग हम उन सब प्रकार के विनिमयसाध्य लेखों (Negotiable documents) के लिए कर रहे हैं जिनमें ऋणियों द्वारा अल्पकालीन ऋण चुकाने की प्रतिज्ञा की जाती है। इसके मुख्य भेद प्रतिज्ञा अर्थ-पत्र (Promissory notes)— जिनका इंगलैंड में बहुत ही कम व्यवहार होता है—, विनिमय पत्र या हुंडी, (Bills of exchange) और कोषागार-विपत्र (Treasury bills) हैं।

संयुक्तराज्य में बैंक से ऋण लेने वाले किसी व्यक्ति के लिए बैंक को अपना "नोट" दे देना कोई नई बात नहीं है। यह "नोट" उस ग्राहक द्वारा हस्ताक्षरांकित (Signed) प्रतिज्ञा होती है जिसमें वह बैंक को एक लिखित द्रव्य-राशि-उधार लिया हुआ द्रव्य धन-व्याज—किसी निश्चित तिथि को देने की प्रतिज्ञा करता है। इसे प्रतिज्ञा अर्थ-पत्र कहते हैं। अपने नगद कोष को बढ़ाने का इच्छुक बैंक ऐसे अर्थ-पत्रों (Notes) को अपने जिले के फेडरल रिजर्व-बैंक में भुना (Discount) सकता है। तब वे पत्र दुवारा भुनाने वाले बैंक तथा उसके ग्राहकों की प्रतिश्रुति (Guarantee) प्राप्त कर लेते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में, वाणिज्य-बैंकों (Commercial banks) द्वारा दिए गए ऋणों और अध्याहरणों (Overdrafts) की गणना व्यवहार-लेखों (Negotiable documents) में नहीं होती। ऋण देने वाला बैंक ऋण से अधिक अर्घ की ग्राहक की बंट-विनिमय-प्रतिभूतियों (Stock exchange securities) अथवा संपत्ति के अन्य अधिकारों का संरक्षकत्व (Custody)—परन्तु स्वामित्त्व नहीं—ग्रहण करके प्रायः अपनी रक्षा करता है। यदि ग्राहक ऋण वापस नहीं

---

१. १९४६ के अन्त में बैंकों ने "सजधज" की इस नीति का परित्याग कर दिया। अब वे अपने जमा के ठीक ८ प्र० श० के बराबर अपना वास्तविक नगद-कोष प्रदर्शित करते हैं। परन्तु प्रस्तुतीकरण की विधि में इस परिवर्त्तन का व्यवहार में कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

करता तो बैंक को इस आनुषांगिक (Collateral) को बेंच देने का अधिकार है। इस प्रकार वह अपनी क्षतिपूर्ति करके यदि कुछ शेष बचे तो ग्राहक को सौंप दे सकता है। यदि ग्राहक पर्याप्त आनुषांगिक (Collateral) नहीं दे सकता तो प्रायः बैंक एक तीसरे पक्ष की प्रतिश्रुति (Guarantee) माँगता है कि ऋण वापस हो जायगा। परन्तु उस ऋण से विपत्र के समान किसी लेखा (Document) की उत्पत्ति नहीं होती।

विपत्र या हुंडी किसी निश्चित भावी तिथि पर एक व्यक्ति (या व्यवसाय-संस्था) का दूसरे को एक निश्चित द्रव्य की रकम देने के लिए आदेश है। आदेश देने वाला व्यक्ति हुंडी का "आहर्ता" (Drawer) कहलाता है। यदि दूसरा व्यक्ति हुंडी पर हस्ताक्षर करके अपनी स्वीकृति प्रकट करता है तो उसे "सकारना" या स्वीकार (Accept) करना कहते हैं। अब हुंडी विनिमयसाध्य (Negotiable) हो गई, अर्थात् आहर्ता उसे तीसरे पक्ष को हस्तान्तरित कर सकता है जिसे हुंडी की मियाद पूरी होने पर उसमें उल्लिखित द्रव्य प्राप्त करने का अधिकार मिल जाता है। वह उस पर बेचान करके (Endorsing) अर्थात् उसकी पीठ पर हस्ताक्षर करके उसे हस्तान्तरित कर सकता है तब यदि स्वीकर्ता (Acceptor) अपने वचन-पालन से चूक जाता है तो वह उल्लिखित रकम के लिए उत्तरदायी होता है । इसी प्रकार तीसरा पक्ष किसी चौथे को और चौथा पाँचवें को, इत्यादि, हस्तांतरित करता है।

मियाद पूरी होने के पूर्व अर्थात् जब हुंडी के भुगतान का समय आ जाता है तब वह बेची—अथवा पारिभाषिक शब्दावली में भुनाई (Discounted)— जा सकती है। मान लीजिए कि कोई बैंक १००० पौंड अंकितार्घ (Face value) की हुंडी, जिसकी अवधि तीन महीने की और ब्याज दर ४ प्र० श० प्रतिवर्ष है, भुनाता है। अतएव वह हुंडी के बदले ९९० पौंड देता है (क्योंकि वर्ष भर के लिए ४ प्र० श० तीन महीने के लिए १ प्र० श० के तुल्य है)। यह स्पष्ट है कि वह ऋण दे रहा है जो हुंडी की मियाद बीतने पर १० पौंड ब्याज सहित लौटा दिया जायगा। हुंडी का तत्काल अर्घ अंशतः समय की उस अवधि पर निर्भर रहता है जिसमें वह चालू रहती है। उदाहरणार्थ, यदि हम मितिकाटा की दर ४ प्र० श० मान लेते है तो तीन महीने का आधा बीत जाने पर उस हुंडी का मूल्य ९९५ पौंड होगा।

परन्तु किसी हुंडी का तत्काल अर्घ अंशतः उस व्यक्ति अथवा संस्था की साख पर निर्भर रहता है जिसका नाम उस पर अंकित है अर्थात्

जिनके ऊपर उसके भुगतान का उत्तरदायित्व रहता है। जिस हुंडी पर ऐसी संस्था या संस्थाओं के नाम रहते हैं, जिनकी साख बहुत अच्छी नहीं मानी जाती, वह आहर्ता के बैंक द्वारा भुनाई जाती है, जो उसकी मियाद, पूरी होने तक उसे रखता है; ऐसी हुंडी पर अपेक्षाकृत अधिक मितीकाटा लिया जाता है। लंदन-द्रव्य-बाजार में अधिकांश हुंडियों पर, तत्संबंधी संस्थाओं के नामों के अतिरिक्त, किसी प्रसिद्ध बैंक या स्वीकार-गृह (Accepting house) का नाम भी रहता है और वे बैंकीय हुंडियाँ (Bank bills) कहलाती हैं। (अन्य हुंडियाँ —व्यापारिक हुंडी (Trade bills) कही जाती हैं।) इस प्रकार हुंडी को 'स्वीकार' करके, बैंक ने अपनी ओर से विश्वास दिया है कि मियाद पूरी होने पर भुगतान हो जायगा। इससे हुंडी का तत्काल अर्घ बढ़ जाता है अथात् हुंडी पर मितीकाटा अपेक्षाकृत कम दर से लिया जायगा।

अनेक वर्षों से लंदन प्रथम श्रेणी की हुंडियों के लिए सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार रहा है। उसे यह स्थान अंशतः ग्रेट ब्रिटेन के विस्तृत और महान् विदेशी व्यापार के कारण (क्योंकि ये हुंडियाँ अधिकतर विदेशी व्यापार के आदान-प्रदान से उत्पन्न होती हैं) और अंशतः लंदन में महत्त्वपूर्ण विदेशी संबंधवाली अनेक महाजन-संस्थाओं के विद्यमान होने के कारण, प्राप्त है। इन संस्थाओं की— उदाहरणार्थ, बेरिंग्स रौथ्सचाइल्ड, और श्रूडर की—साख बहुत बड़ी थी, और है भी और उनके द्वारा किसी हुंडी के सकारे जाने का अर्थ यह था कि वह लंदन या किसी अन्य विदेशी बाजार में तुरत भुनाई जा सकती थी। अब वे स्वीकारी-गृह (Accepting houses) कहे जाते हैं। कभी कभी वे निष्कासन-गृह (Issue houses) कहे जाते हैं क्योंकि वे विदेशी सरकारों अथवा अन्य महत्त्व-पूर्ण ग्राहकों की ओर से लंदन में अपेक्षाकृत भारी ऋण प्राप्त करते हैं। वे अपने विदेशी ग्राहकों और अँग्रेजी व्यापार-संस्थाओं, दोनों के जमा रखते हैं और उस द्रव्य का उपयोग हुंडी या सरकारी प्रतिभूति खरीदने अथवा अल्पकालीन ऋण देने के लिए करते हैं। वे (प्रायः १ या २ प्र० श०) दस्तूरी लेकर अपने ग्राहकों के लिए हुंडी सकारते हैं और यह विश्वास दिलाते हैं कि मियाद पूरी होने पर उसका भुगतान हो जायगा जिससे उनका तत्काल अर्घ बढ़ जाता है और वे शीघ्रता से भुनाने योग्य हो जाती हैं। वे प्रायः अपनी सुरक्षा के लिए इस प्रकार के लेखों (Documents), जैसे वहन-पत्र (Bills of lading), बीजक (Invoice) और बीमा - पत्र (Insurance policy), को ग्राहकों से ले लेते हैं जिससे माल पर उनका अधिकार रहे अथवा अपने ग्राहकों द्वारा जमा की हुई आनुषंगिक प्रतिभूति (Collateral

security) द्वारा अपनी स्थिति दृढ़ रखते हैं। १९१८ से प्रतिदान साख (Reimbursement credit) की प्रथा भी चल पड़ी है। उदाहरणार्थ कोई स्वीकारी-गृह किसी विदेशी बैंक को ५ लाख पौंड की साख प्रदान करता है। तब वह विदेशी बैंक अपने ग्राहकों को उस स्वीकारी-गृह के ऊपर हुंडियाँ जारी करने का आदेश देता है। विदेशी बैंक उनके भुगतान के लिए उत्तरदायी होता है और स्वीकारी-गृह अपनी सुरक्षा के लिए संभवतः किसी प्रकार की प्रतिभूति विदेशी बैंक से लेकर जमा रखता है। प्रथम महायुद्ध के बाद मुख्य मुख्य अँग्रेजी वाणिज्य बैंकों ने स्वयं सकारने का व्यवसाय उठा लिया है। १९३७ के अंत में उनकी सकारी हुई हुंडी १००० लाख से ऊपर की थी।

उसी अवधिवाले बैंक-ऋण से हुंडी अधिक द्रव होती है। क्योंकि संभव है कि ऋणी अपने बैंक को ऋण न लौटाकर इस आधार पर फिर नया करने का आग्रह करे कि वह तत्काल उसे चुकाने के लिए सरलता से द्रव्य नहीं प्राप्त कर सकता परन्तु कुछ दिनों बाद दे सकेगा। यदि बैंक अस्वीकार करता है तो अपना एक अच्छा ग्राहक खो देता है; और फिर यह भी संभव है कि ऋण की पर्याप्त पुष्टि के लिए आनुषंगिक न हो अथवा ऋण देने के बाद आनुषंगिक का अर्घ घट गया हो जिससे यदि बैंक ग्राहक की प्रार्थना ठुकरा भी दे तो भी अपना पूरा पावना न प्राप्त कर सके। इसके विपरीत हुंडी वास्तव में एक निश्चित भावी तिथि पर ऋण भुगताने की लिखित प्रतिज्ञा है और प्रतिज्ञा का पालन न करने पर सकारने वाले बैंक (अथवा संस्था) की साख नष्ट हो जाती है। अतएव, बहुत ही अपवाद-स्वरूप कुछ परिस्थितियों को छोड़-कर, हुंडियाँ प्रायः सर्वदा चुकता हो जाती हैं; परन्तु ऋण और अध्या-हरण (Overdraft) बैंक के न चाहने पर भी प्रायः फिर से नए किए जाते हैं। ऐसा कहा गया है कि बैंक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हुंडी और बंधक (Mortgage) का अन्तर समझ ले। पहला बहुत द्रव है; इसकी बहुत संभावना है कि मियाद पूरी होने पर द्रव्य लौट आयगा। दूसरा बहुत कम द्रव है; यदि ऐसी स्थिति हुई कि संपत्ति को बेचना पड़ा तो संभव है कि उन्हीं परिस्थितियों के कारण उसी प्रकार की अन्य अनेक संपत्तियाँ बिकनें लगें जिससे बंधक का अर्घ उसके अंकित अर्घ से नीचे गिर जाय।

सरकारें प्रायः अल्पकालीन ऋण लिया करती हैं। उनकी आय, विशेषतः आयकर से, लगभग वर्ष भर परिवर्तित होती रहती है जिससे कभी कभी उन्हें चालू व्यय के लिए भावी आय की आशा में पहले ही ऋण लेने

को विवश होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अल्पकालीन ऋण की व्याज दर भी प्रायः कम होती है और कभी कभी तो दीर्घकालीन की अपेक्षा बहुत कम होती है। कभी कभी अंग्रेजी सरकार के अल्पकालीन अथवा "तरल" (Floating) ऋण का कुछ अंश उधार का होता है जिसे "काम चलाऊ उधार" (Ways and Means advances) कहते हैं और जो बैंक आफ इंगलैंड देता है; परन्तु उसका अधिक भाग कोष-विपत्रों का होता है। ये अंग्रेजी सरकार द्वारा निष्कासित तीन मास वाले विपत्र (५ हजार और १० हजार पौंड के) होते हैं और बैंक आफ इंगलैंड में मियाद के लिए देय होते हैं। ये बहुत ही द्रव विनियोजन होते हैं। मियाद के दिन द्रव्य मिल जायगा इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं रहता, अतएव यदि कोष-विपत्र रखनेवाला मियाद से पहले नगद चाहता है तो वह तुरत उसे भुना सकता है। कोषागार इन विपत्रों को निष्कासित करने के पूर्व उनके लिए उपक्षेप (Tender) माँगता है। बैंक तथा अन्य भावी-क्रेता बतलाते हैं कि वे कितने और किस मूल्य पर विपत्र लेने को प्रस्तुत हैं और तब सबसे अधिक द्रव्य देनेवालों को विपत्र दिए जाते हैं। १९३७ के अंत में लगभग ९००० लाख पौंड के ये विपत्र निष्कासित हुए थे और उनकी औसत मितीकाटा-दर ½ प्र० श० से कुछ ही अधिक थी; अर्थात् एक ५००० पौंड वाले विपत्र का औसत मूल्य ४९९३ पौंड १५ शि० से कुछ कम ही था। इनमें से कुछ विपत्रों के लिए उपक्षेप नहीं माँगे गये थे वरन् वे उन सरकारी विभागों को सीधे दे दिए गए थे जिनके पास अल्पकालीन विनियोजन के लिए बचा हुआ धन था। शेष में से अधिकांश बैंकों द्वारा ले लिए गए थे। प्रति सप्ताह लगभग ४५० लाख पौंड के विपत्र बाजार में निष्कासित होते थे और प्रत्येक सप्ताह में लगभग उतने ही विपत्र भुगतान के लिए तैयार हो जाते थे। प्रथम महायुद्ध के बाद से लंदन-द्रव्य-बाजार में कोष-विपत्रों की मात्रा व्यावसायिक हुंडियों से अधिक रही है और १९३१ के बाद उनका महत्त्व हुंडियों से बहुत अधिक बढ़ गया है।

किसी केन्द्रीय बैंक की बैंक-दर वह न्यूनतम दर है जिस पर वह किसी प्रमुख बैंक अथवा उसी के समान स्थितिवाली एक या अनेक संस्थाओं द्वारा भुगतान के लिए स्वीकृत प्रथम श्रेणी की हुंडियाँ भुनाता है। कोई केन्द्रीय बैंक प्रायः कोष-विपत्र या प्रथम श्रेणी की व्यावसायिक हुंडियाँ ही भुनाता है; दूसरे शब्दों में, वह अधिकतर सामान्य व्यापारिक (Trade) हुंडियों को अस्वीकृत कर देता है। इसके अतिरिक्त बहुत से केन्द्रीय बैंक प्रायः उन्हीं हुंडियों को भुनाते हैं जिनकी मियाद दो महीने से कम की होती है।

४. लंदन-मितीकाटा-बाजार
(London Discount Market)

लंदन के बाजार में हुंडियों का लेनदेन करनेवालों में तीन बड़े मिती-काटा-घर—जिनके नाम हैं, अलेक्जेंडर डिस्काउंट कंपनी, दी नैश्नल डिस्-काउंट कंपनी, और दी यूनियन डिस्काउंट कंपनी—, जिनकी संपूर्ण पूँजी (संरक्षित कोष मिलाकर) लगभग ७५ लाख पौंड है, वीस हुंडी-दलाल, जिनकी संपूर्ण पूँजी ७० लाख के ऊपर है और नौ "फेरी वाले दलाल" (Running brokers) हैं जिनकी अपनी पूँजी नहीं के बराबर होती है और वे केवल हथफेर करने वाले मध्यस्थ होते हैं।

लंदन में मितीकाटा-बाजार अन्य केन्द्रों की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व-पूर्ण है और केन्द्रीय बैंक से उधार न लेकर मितीकाटा-बाजार में ऋण लेने की अंग्रेजी वाणिज्य बैंकों की प्रथा इंग्लैंड की अपनी विशेषता है।

हम समझते हैं कि 'हुंडी-दलाल' शब्द के अन्तर्गत मितीकाटा घरों को भी सम्मिलित कर लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। हुंडी-दलाल अपनी पूँजी से भी हुंडी भुना सकता है। हुंडियों को प्राप्त करके वह किसी बैंक से आह्वान (At call) अथवा अल्प-सूचना पर ऋण लेने के लिए प्रतिभूति के रूप में उनका उपयोग कर सकता है। इस प्रकार ऋण लेकर वह कुछ और हुंडियाँ भुना सकता है और उन हुंडियों के बल पर और भी ऋण ले सकताँ हैं इत्यादि। अतः हुंडी-दलाल की अधिकांश पूँजी किसी बैंक से अल्पकालीन ऋण के रूप में प्राप्त होती है। बहुत से हुंडी-दलाल जमा भी रखते हैं। कुछ हुंडी-दलालों की पूँजी, जो ऋण वे बैंकों से लेते हैं और जो जमा रखते हैं उसका दशांश होती है; परन्तु किसी किसी के पास केवल बीसवाँ या तीसवाँ अंश होती है। वे अपने कोष का कुछ अंश सरकारी प्रतिभूति—विशेषतः अल्पकालीन—ख़रीदने में लगाते हैं।

हुंडी-दलाल अपनी भुनाई हुई सभी हुंडियों को मियाद पूरी होने तक नहीं रखते। कुछ को थोड़ा लाभ लेकर वे बैंकों को बेच देते हैं। ऐसा करने में वे इसलिए समर्थ होते हैं कि प्रायः सभी बैंक अपने पास वाली हुंडियों की ऐसी व्यवस्था करना चाहते हैं कि भुगतान के लिए लगभग एक-सी रकम प्रति दिन आती रहे (बल्कि क़भी कभी, जब वे समझते हैं कि उन्हें देना अधिक पड़ेगा तो, अधिक रकम भुगतान के लिए आवे) और वे यह नहीं चाहते कि एक ही हस्ताक्षर की अनेक हुंडियाँ उनके पास पड़ी रहें। हुंडी-दलाल हुंडी का विशेषज्ञ होता है और हुंडी भुगतान करने की उत्तरदायी विभिन्न संस्थाओं की तात्कालिक साख से परिचित रहता है। फेरीवाले दलालों को छोड़कर, वे स्वयं उन हुंडियों

के भुगतान का उत्तरदायित्व लेते हैं जिन्हें वे बैंकों के हाथ दुबारा बेचते हैं। अतएव बैंक उन्हें दलालों की अपेक्षा १ प्र० श० कम पर भुनाते हैं–अर्थात् जिस मूल्य पर दलाल खरीदते हैं उससे १ प्र० श० अधिक पर वे खरीदते हैं।

इस प्रकार हुंडी-दलाल हुंडियाँ भुनाकर और उन्हें रखकर और संभवतः कुछ सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदकर और रखकर लाभ उठाते हैं। इससे जिस व्याज-दर पर वे बैंकों से और कभी कभी जमावालों से भी ऋण लेते हैं—उससे ऊँची दर पर व्याज पा जाते हैं। वे अपनी कुछ हुंडियों को बैंकों के हाथ बेचकर भी लाभ उठाते हैं।

जब कोई बैंक अपने नगद की मात्रा बढ़ाना चाहता है तो वह मिती-काटा-बाजार में दिए हुए अपने कुछ ऋण वापस मँगा लेता है। हुंडी-दलाल किसी दूसरे बैंक से उधार लेकर दे सकते हैं परन्तु यदि सभी बैंक एक ही समय अपने अल्पकालीन ऋण वापस मँगाने लगें तो यह संभव न होगा। तब हुंडी-दलाल या तो उधार के रूप में (प्रायः बैंक-दर से ½ प्र० श० ऊँची दर पर) या अपनी कुछ हुंडियों को भुनाकर, बैंक आफ इंगलैंड से ऋण लेने को बाध्य होते हैं। ऐसे समय कहा जाता है कि "बाजार बैंक में है।" (The market is in the Bank) परन्तु यह निश्चित है कि बैंक इस उपाय से अपने नगद कोष में स्थायी वृद्धि नहीं कर सकते। यदि बैंक-दर इतनी ऊँची रखी जाय कि हुंडी-दलालों के लिए बैंक आफ इंगलैंड से ऋण लेना लाभ-प्रद न हो तो वे तभी तक उधार लेंगे जबतक उनका काम नहीं चलता। जब वे ऋण वापस करते हैं तो वाणिज्य बैंकों द्वारा जमा बैंक आफ इंगलैंड के पास हस्तान्तरित होता है। इसी प्रकार जब बैंक औफ इंगलैंड द्वारा भुनाई हुई हुंडियों की मियाद पूरी होती है तब जो उसका भुगतान करता है उसका जमा घट जाता है और उसके बैंक द्वारा वह द्रव्य बैंक आफ इंगलैंड को दे दिया जाता है। इस प्रकार बैंक औफ इंगलैंड में बैंकों का जमा फिर घट जाता है।

१९३१ से व्यापारिक हुंडियों की मात्रा बहुत कम हो गई है[1] और मितिकाटा-बाजार में चालू हुंडियों में मुख्यतः कोष-विपत्र हैं। उनसे होने वाली आय बहुत ही कम होती है और अपना व्यवसाय चालू रखने के लिए हुंडी-दलालों को दीर्घ-कालीन प्रतिभूतियों में अपना विनियोजन बढ़ाने को बाध्य होना पड़ा है।

---

१. विदेशों पर की गई (Foreign-drawn) हुंडियाँ १९२९ में लगभग ५००० लाख पौंड की थीं जो १९३६-३७ में १५०० लाख पौंड हो गईं। दे० "दी इकनौमिस्ट", २६ मार्च १९३८, पृ० ६८९.

कोष-विपत्र प्रत्येक शुक्रवार को उपक्षेप (Tender) द्वारा विक्री के लिए प्रस्तुत रहते हैं और उपक्षेप-दाता दूसरे सप्ताह में जो तिथि उस विपत्र पर रखवाना चाहते हैं उसकी सूचना दे सकते हैं। जब छमाही पर "सजधज" (Window dressing) के लिए नगद की रकम बढ़ाने को सभी बैंक अपने ऋण वापस मँगा लेते हैं तब यदि लेखा प्रस्तुत करने का दिन सप्ताह के बीच में पड़ता है तो उनके लिए यह संभव है कि वे ऐसी व्यवस्था करें कि उनके कोष-विपत्रों की मियाद सप्ताह के पूर्वार्द्ध में आवे और जो नए विपत्र वे खरीद रहे हैं उनकी मियाद उत्तरार्द्ध में रखी जाय। इस प्रकार कोषागार बैंक आफ इंगलैंड से ऋण लेने का विवश हो जाता है और द्रव्य-बाजार के द्वारा बैंक आफ इंगलैंड वाणिज्य बैंकों को माँग पूरी करता है, बैंक स्वयं उससे ऋण बहुत कम लेते हैं।

५. केन्द्रीय बैंक

आजकल अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंक होते हैं[1], केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य देश की मुद्रा-नीति का संचालन करना अर्थात् समय-समय पर ऐसी व्यवस्था करना कि उसकी नीति मुद्रा-क्षेत्र में घटना-प्रवाह से यथासंभव अधिक से अधिक मेल खाती रहे। केन्द्रीय बैंक अपने हिस्सेदारों को प्राय: सर्वदा अच्छा लाभांश (Dividend) देता है क्योंकि अधिकतर उसे सरकारी जमा रखने का लाभप्रद विशेषाधिकार प्राप्त रहता है। परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होता। वह देश के लिए सबसे अधिक कल्याणकारी मार्ग का ही अवलंबन करता है, चाहे उसका लाभ घट क्यों न जाय।

साधारणत: किस प्रकार की मुद्रा-नीति का अवलंबन करना चाहिए इस विषय में आजकल प्राय: सरकारों और केन्द्रीय बैंकों में मतैक्य होता है और उसे प्रभावशाली बनाने के लिए दोनों साथ साथ कार्य करते हैं। सरकार अनेक प्रकार से सहायता कर सकती है। उदाहरणार्थ, मंत्रियों के व्याख्यानों की ध्वनि और भाव से व्यवसायी समाज अधिक साहसी (Enterprising) अथवा सशंक हो सकता है; सरकारी ऋण

१. संयुक्त राज्य १२ जिलों में विभाजित है। उनमें से प्रत्येक में एक रिजर्व बैंक है जो केन्द्रीय संरक्षित कोष रखता है और अपने जिले के केन्द्रीय बैंक का कार्य करता है। परन्तु इन बारहो के कार्यों का नियन्त्रण और पारस्परिक-संपर्क (Co-ordination) एक संस्था—फेडरल रिजर्व बोर्ड—द्वारा होता है जो संयुक्त राज्य के कोषागार से सहयोग करता है

लेने, लौटाने या परिवर्तित करने की रकम का व्याज-दर पर प्रभाव पड़ सकता है; सार्वजनिक कार्यों पर व्यय होनेवाली रकम का प्रभाव सक्रियता और अधियोजन पर पड़ सकता है; वस्तुओं का आयात अथवा पूंजी की अन्तर्राष्ट्रीय गति से साधारण-मुद्रा-स्थिति प्रभावित हो सकती है। अतएव समय-समय पर क्या करना चाहिए इस विषय में, सरकार की ओर से केन्द्रीय बैंक के प्रधान शासक (Governor) और संचालकों से वातचीत करने में प्रायः अर्थमंत्री (जो इंगलैंड में मिनिस्टर औफ एक्सचेकर कहलाता है) और उसके विभाग के दो चार स्थायी कर्मचारियों का ही अधिक महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

फिर भी ऐसा हो सकता है कि नीति के विषय में सरकार और केन्द्रीय बैंक एकमत न हों। किसी किसी समय कोषागार के—जो ऋण लेने वाला है अतएव व्याज-दर नीची रखने का इच्छुक है—तात्कालिक हित और केन्द्रीय बैंक के—जो समझता है कि व्याज-दर ज्यों-की-त्यों रखनी अथवा बढ़ा देनी चाहिए—विचारों में विरोध हो सकता है। इसी प्रकार संभव है सरकार केन्द्रीय बैंक से इतना ऋण लेना चाहे जितना वह अवांछनीय समझता है। यदि सरकार अपना निश्चय बदलने को तैयार न हो तो अंत में उसी की इच्छा विजयनी होगी। यदि केन्द्रीय बैंक का प्रधान शासक अपने विरोध पर दृढ़ रहता है तो उसे त्यागपत्र देने को बाध्य होना पड़ेगा और उसके स्थान पर कोई दूसरा अधिक अनुकूल व्यक्ति नियुक्त किया जायगा।

केन्द्रीय बंक और सरकार में गंभीर मतभेद होने पर जिस सरलता और शीघ्रता से सरकार बैंक की इच्छा को दबा सकती है वह एक देश से दूसरे देश में भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, न्यूजीलैंड में केन्द्रीय बैंक सरकार के हाथ की कठपुतली है। कुछ अन्य देशों में यह वांछनीय माना गया है कि केन्द्रीय बैंक जिस नीति को अदूरदर्शी समझता है उसे मानने के पूर्व कुछ विलंब करे अथवा सरकार को विशेष विधान बनाने के लिए बाध्य करे। इस कारण बहुत से केन्द्रीय बैंक सरकार के नहीं होते। सरकार के उसमें कुछ हिस्से हो सकते हैं और प्रायः कुछ संचालकों को नियुक्त करने का अधिकार भी रहता है। परन्तु अधिकतर हिस्सों का अधिक अंश निजी हाथों में ही रहता है।

कोई देश अनेक प्रकार की मुद्रा-नीतियों में से किसी का अनुसरण कर सकता है। वह निश्चय कर सकता है कि उन्नति का सबसे अच्छा उपाय होगा एक अन्तर्राष्ट्रीय मान (Standard)—जैसे स्वर्ण-मान रखना। उस अवस्था में सोने (अथवा चाँदी या विदेशी विनिमय, जो भी मान स्वीकृत हुआ हो) का मुख्य रक्षित कोष (Reserve)

केन्द्रीय बैंक के पास रहता है और उसकी प्रवृत्ति अधिकतर पर्याप्त नगद कोष रखने की ओर होती है। मुख्य वैकल्पिक नीतियाँ ये हैं कि चाहे वस्तुओं के मूल्य अथवा द्रव्य-आय (Money income) का साधारण स्तर यथाशक्ति स्थिर रखा जाय, या सक्रियता और अधियोजन को उत्तेजना देने और मंदी से बचाने के लिए जो भी उपाय समय समय पर अधिक उपयुक्त हों उनका अवलंबन करना। हमारा वर्त्तमान उद्देश्य इन वैकल्पिक नीतियों के गुण-दोषों का विवेचन करना नहीं वरन् यह दिखाना है कि किन उपायों से कोई केन्द्रीय बैंक अपनी निश्चित की हुई नीति को अधिक प्रभावशाली बना सकता है।

जब कोई केन्द्रीय बैंक जानबूझकर सक्रिय नीति का अवलंबन नहीं कर रहा है तब वह अल्पकालीन व्याज-दर गिरने पर अपनी बैंक-दर—वह न्यूनतम दर जिस पर वह प्रथम श्रेणी की हुंडियाँ भुनाता है—गिरा देता है क्योंकि उसे बाजार से ऊँचा रखने में कोई लाभ नहीं और और नगद का निर्यात वह अपनी बैंक-दर चढ़ाकर रोकता है। निर्गम (Drain) बाह्य हो सकता है। यदि देश में स्वर्णमान (Standard) है तो उसकी विनिमय दर गिरने की संभावना है, जिससे केन्द्रीय बंक से स्वर्णाहरण (Withdrawal of gold) होने लगेगा। अथवा निर्गम आन्तरिक हो सकता है। इंगलैंड को छोड़कर अन्य अनेक देशों में वाणिज्य बैंक (Commercial banks) प्रायः केन्द्रीय बैंक से ऋण लेते हैं। यदि वे इतना ऋण लेते हैं कि उसका नगद-कोष सुरक्षित-स्तर से नीचे गिर जाता है तो वह अपनी बैंक-दर बढ़ा देता है जिससे वाणिज्य बैंक कम ऋण लें।

परन्तु हमारा संबंध सक्रिय और विचारपूर्वक अपनाई गति नीति से है। ऐसी नीति का अनुसरण करने में कोई केन्द्रीय बैंक देश में द्रव्य की मात्रा को घटा या बढ़ाकर अपना प्रभाव व्यक्त करता है। द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने से व्याज-दर—विशेषतः अल्पकालीन व्याज-दर—गिर जाती है। यदि वाणिज्य बैंकों द्वारा दिए गए अधिक ऋण तथा अध्याहरण (Overdraft) से परिचलन (Circulation) में अतिरिक्त द्रव्य चला जाता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बैंकों ने साहसियों आदि को ऋण लेने के लिए आकर्षित करने को अपनी बैंक-दर गिरा दी है। साधारणतः यह आशा की जाती है कि अतिरिक्त द्रव्य—चाहे वह बैंक-ऋण द्वारा, या सरकारी व्यय द्वारा अथवा किसी अन्य मार्ग से परिचलन में जाता है—सर्वदा द्रव्य-आय और मूल्यों को बढ़ाने-वाला होता है और इससे आर्थिक क्रिया की प्रगति वेगवान होती है। इसके विपरीत द्रव्य की मात्रा में ह्रास होने पर व्याज-दर प्रायः बढ़

जाती है और द्रव्य-आय तथा मूल्य घट जाते हैं जिससे आर्थिक क्रिया मंद पड़ जाती है।

यह आश्चर्य करने की बात है कि कोई केन्द्रीय बैंक अपने द्रव्य की मात्रा कम क्यों करता है क्योंकि इससे तो व्यापार में मंदी आती और बेकारी बढ़ती है। वह ऐसा इसलिए करता है कि स्वर्ण-कोष को सुरक्षित रखने और देश में स्वर्णमान बनाए रखने के लिए द्रव्य-आय में कमी करना आवश्यक है। वह ऐसा इसलिए भी कर सकता है कि लोगों को मुद्रास्फीति का भय रहता है और लोगों में विश्वास दृढ़ करने के लिए इस प्रकार की क्रिया आवश्यक होती है। अथवा वह तेजी के समय संभवतः ऐसा इसलिए करता है कि वह सोचता है कि यदि अभी तेजी रोकी न जायगी तो आगे चलकर उसका परिणाम होगा भयंकर मंदी।

कोई केन्द्रीय बैंक देश की संपूर्ण द्रव्य की मात्रा को कैसे परिवर्तित कर सकता है ? प्रायः उसे बैंक-नोट-निष्कासन का एकाधिकार रहता है। यदि उसके नोट ही भुगतान के प्रधान साधन होते तो वह द्रव्य की मात्रा का विस्तार करने के लिए अधिक नोट छाप देता (और प्रतिभूतियाँ खरीदकर अथवा हुंडियाँ भुनाकर परिचलन में भेज देता) और मुद्रा-संकोच के लिए (प्रतिभूतियाँ बेचकर अथवा अपने पास हुंडियों की संख्या कम करके) नोटों को आकृष्ट कर लेता। परन्तु अधिकांश आधुनिक देशों में भुगतान का प्रधान साधन वाणिज्य बैंकों का जमा होता है। तो केन्द्रीय बैंक संपूर्ण जमा की रकम को कैसे बदल सकता है ?

वाणिज्य बैंक अपने नगद और जमा का अनुपात बहुत कुछ स्थायी रखते हैं। यदि उनके नगद में केन्द्रीय बैंक द्वारा निष्कासित केवल नोट ही हैं तो उन नोटों की मात्रा में वृद्धि होने से बैंक-जमा की मात्रा में वृद्धि होगी। क्योंकि जनता कुछ समय के लिए संभवतः पहले ही के बराबर नोट रखना चाहेगी जिससे लगभग संपूर्ण निष्कासित नोट वाणिज्य-बैंकों के नगद कोष में जाकर शरण लेंगे और उधर केन्द्रीय बैंक द्वारा परिचलन से नोट आकृष्ट हो जाने के कारण वाणिज्य-बैंकों के जमा उसी अनुपात में कम हो जायँगे। जैसे यदि व्यावसायिक बैंक नगद और जमा का अनुपात १ : १० रखें तो प्रत्येक लाख पौंड के नोट-निष्कासन से बैंक-जमा में १० लाख पौंड का विस्तार होगा और नोट-निष्कासन में प्रत्येक लाख पौंड की कमी से बैंक-जमा में १० लाख पौंड का संकोच होगा।

अधिकांश देशों में वास्तविक स्थिति इससे कुछ अधिक जटिल होती है। बहुत से बैंक अपने नोटों की पुष्टि के लिए सोने (या चाँदी या विदेशी विनिमय) का एक न्यूनतम प्रतिशत रखने के लिए विधि-बद्ध

(Bound by law) हैं। अतएव वे अपने नोट-निष्कासन का विस्तार तभी कर सकते हैं जब वे अधिक सोना प्राप्त करें। फिर भी यदि उनका नोट-निष्कासन अपरिवर्तित रहे तो भी वे बैंक-जमा में बहुत बड़े परिवर्तन कर सकते हैं। क्योंकि वाणिज्य बैंक प्रायः केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त रोकड़ बाकी रखते हैं। कुछ देशो में वाणिज्य बैंक ऐसा करने के लिए विधि-बद्ध (Legally bound) हैं; अन्य देशों में वे परंपरागत व्यवहार से ऐसा करते हैं। यह व्यवहार उनके लिए सुविधा-जनक है क्योंकि भुगतान (Clearing) के समय एक वाणिज्य बैंक का दूसरे के ऊपर देना या पावना चेकों द्वारा निपटाया जा सकता है। वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक के पास रखे हुए अपने जमा को—जिसे हम 'बैंकों का जमा' (Bankers' deposits) कहेंगे—नगद के समान ही समझते हैं। केन्द्रीय बैंक बैंक-जमा की संपूर्ण मात्रा को शीघ्रता से घटा बढ़ा सकता है। जब वह प्रतिभूतियाँ या हुंडियाँ खरीदता है तब वह उनके बदले अपना ही चेक देता है और विक्रेता इन चेकों को अपने बैंकों में जमा करते हैं। इसके विपरीत, जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचता है तब क्रेता अपने बैंकों के नाम उसे चेक देते हैं, इससे उतनी ही मात्रा में बैंक-जमा घट जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा इस प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय, जिसके फल-स्वरूप बैंक-जमा में विस्तार या संकोच (अर्थात् यदि वाणिज्य बैंक अपने नगद और जमा का अनुपात १ : १० रखते हैं, तो बैंक-जमा में दसगुना विस्तार या संकोच) होता है, प्रायः "खुले बाजार में क्रय-विक्रय" (Open-market operations) कहा जाता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में बेचता या खरीदता है।

बहुत से केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर, जिसे वे समय समय पर बदलते रहते हैं, प्रकाशित करते हैं। स्मरण रहे कि यह वह दर है जिस पर वे प्रथम श्रेणी की हुंडियाँ भुनाते हैं। बैंक-दर चढ़ने पर अन्य अल्पकालीन दरों में भी, जिनमें वाणिज्य बैंकों द्वारा ऋणों और अध्याहरणों (Overdrafts), पर ली जानेवाली दर सम्मिलित है, वृद्धि हो जाती है। यदि ऐसा होता है तो बैंक-ऋण में कमी हो जाती है जिससे बैंक-जमा भी घट जाता है। इसी प्रकार बैंक-दर गिरने पर अल्पकालीन दरों में कमी हो जाती है और बैंक-जमा का विस्तार हो जाता है; परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। यदि बैंक-दर में परिवर्तन, ऋण बाजार में माँग या पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन के कारण, ब्याज-दर में किसी प्रकार के परिवर्तन का आभास न दे तो अन्य दरों पर उसका प्रभाव न पड़ेगा। हाँ, यदि बैंक-दर इतनी नीची कर दी जाय कि अन्य महाजनों की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना सस्ता पड़ने लगे तो केन्द्रीय बैंक के पास

ऋण के लिए प्रार्थना-पत्रों के ढेर लग जायँगे और संभवतः वह फिर अपनी दर बढ़ाने को विवश हो जायगा। परन्तु जिस समय अन्य सभी अल्पकालीन दरें (मान लिया जाय कि) ५ प्र० श० के नीचे हों उस समय बैंक दर को ६ प्र० श० से ५ प्र० श० कर देने का, संभव है, कोई प्रभाव न पड़े। और इससे भी प्रबल कारण द्वारा ऐसे समय यदि बैंक-दर ६ प्र० श० से अधिक हो जाय तो भी बाजार पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वास्तविक बात तो यह है कि जब तक बैंक-दर प्रथम श्रेणी की हुंडियों को भुनानेवाली दर से ऊपर रहती है तब तक उसमें चढ़ाव-उतार अन्य दरों में परिवर्त्तन का कारण तभी होगा जब कि महाजन या ऋणी एकाधिकार की स्थिति में हों और अपने इच्छानुसार दर बदलते रहें। परन्तु एक बात और है कि इस प्रकार के ऋणी या महाजन और विशेषतः वाणिज्य-बैंक, बैंक-दर बढ़ जाने पर, संभवतः अपनी दर बढ़ा दें, क्योंकि उन्हें डर रहता है कि निकट भविष्य में उन्हें स्वयं केन्द्रीय बैंक से ऋण न लेना पड़ जाय। केन्द्रीय बैंक अपनी नई दर को अधिक "प्रभावशाली" बनाने के लिए प्रायः अतिरिक्त उपाय करता है। वह "खुले बाजार में क्रय-विक्रय" में लग जाता है और बैंक-दर की अपेक्षा वही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वाणिज्य-बैंक अपने नगद (बैंक-जमा को लेकर) में कमी होने पर अपना ऋण घटाने और दर बढ़ाने को विवश होते हैं; उनके नगद में वृद्धि उन्हें इसके विपरीत आचरण करने को प्रेरित करती है। "खुले बाजार में क्रय-विक्रय" और बैंक-दर में परिवर्त्तन के अतिरिक्त, केन्द्रीय बैंक वित्त-गृहों (Financial houses) को अपनी इच्छा जता कर अपना प्रभाव डाल सकता है। प्रायः उसका बहुत मान रहता है और उसकी इच्छा का महत्त्व दिया जाता है परन्तु उसकी इच्छा की अवहेलना करके पूर्ण वैध उपायों से जो लाभ वे प्राप्त कर सकते हैं उसका त्याग करने के लिए बैंकों तथा अन्य आर्थिक संस्थाओं को प्रस्तुत करने में वह शायद ही समर्थ हो सके।

६. बैंक ऑफ इंग्लैंड

व्यवहारतः बैंक औफ इंग्लैंड को नोट-निष्कासन का एकाधिकार प्राप्त है। प्रथम महायुद्ध के समय कोषागार १ पौंड और १० शिलिंग के नोट निकालता था; परन्तु १९२८ के विधान द्वारा बैंक औफ इंगलैंड के नोट-निष्कासन में उनका एकीकरण हो गया। स्काटलैंड तथा उत्तरी आयर्लैण्ड के कुछ बैंकों को नोट निष्कासन का अधिकार है परन्तु केवल ४३ लाख पौंड के अतिरिक्त उनके सभी नोटों की पुष्टि शतप्रतिशत बैंक औफ इंगलैंड के नोटों से होनी चाहिए। इसलिए उनका अधिक महत्त्व नहीं है। टकसाल चांदी और तांबे की मुद्राएँ प्रदान करता है;

परिचालन में गई हुई मुद्रा का अंकित मूल्य इस समय ५०० लाख पौंड से कुछ अधिक है। इस प्रकार यूनाइटेड किंगडम (इंगलैंड, स्काटलैंड और उत्तरी आयर्लैण्ड) के "नगद" का अधिकांश बैंक औफ इंगलैंड के नोटों का है।

यह बैंक अपने पास रखे हुए स्वर्ण-पिंड (Gold bullion) और स्वर्ण-मुद्रा के अर्घ के बराबर १९३९ के पश्चात् से जिसका अर्घापण (Valuation) चालू बाजार-दर द्वारा होता है—नोट निष्कासित कर सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ और रकम, जिसे "विश्वनीय निष्कासन" (Fiduciary issue) कहते हैं, केवल प्रतिभूतियों से पुष्ट करके निष्कासित कर सकता है।[1] १९२८ के विधान तथा १९३१ के ग्रीष्म के बीच विश्वास निष्कासन की अधिकतम सीमा २६ करोड़ पौंड थी; फिर वह २७.५ करोड़ पौंड तक बढ़ाई गई; और १९३९ में बढ़ाकर ३० करोड़ पौंड कर दी गई। यह बैंक सर्वदा अधिकतम आज्ञप्त (Permitted) अर्घ के ही नोट निष्कासित करता है; जो नोट परिचलन में नहीं जाते वे महाजनी विभाग (Banking Department) में रक्षित कोष के रूप में रखे रहते हैं। इस प्रकार १० नवंबर १९३७ को इसके पास ३२·६ करोड़ पौंड का सोना था इसलिए इसने ५२·६ करोड़ पौंड के नोट निष्कासित किए थे जिनमें से ४८·५ करोड़ पौंड के नोट परिचलन में थे और ४·१ करोड़ पौंड के महाजनी-विभाग में रक्षित कोष के रूप में रखे हुए थे।

कोषागार की आज्ञा से यह बैंक अस्थायी रूप से विश्वसनीय निष्कासन में वृद्धि कर सकता है। पहले ऐसा सोचा गया था कि इस अधिकार का उपयोग तभी किया जायगा जब आर्थिक-आतंक (Financial panic) की स्थिति—जिस समय व्यवसाय-संस्थाएँ अपनी नगद रकम बढ़ाना चाहती हैं—निकट होगी। परन्तु १९३७ में बड़े दिन के अवसर पर नोट-परिचलन के आकस्मिक विस्तार की पूर्ति के लिए २ करोड़ पौंड की अस्थायी वृद्धि का अधिकार प्रदान किया गया था; और ऐसा जान पड़ता है कि विशेष अवसरों पर इस प्रकार के संकटकालीन उपाय का अवलंबन इस बैंक की नियमित कार्य-विधि का एक अंग हो जायगा। यदि केन्द्रीय-बैंक द्रव्य-नीति पर पूरा अधिकार रखना चाहता है तो उसे नोट-निष्कासन पर पूर्ण नियंत्रण रखना आवश्यक है। यदि अन्य बैंक नगद की मात्रा में परिवर्त्तन करने को स्वतंत्र रहें तो केन्द्रीय-बैंक स्थिति को वश में नहीं रख सकता। परन्तु बैंक आफ इंगलैंड नियंत्रण के ऐसे सक्रिय उपायों का अवलंबन करता है—जैसे अपनी

१. अधिकतम अंकित मूल्य ५५ लाख पौंड की चाँदी से भी।

बैंक दर में परिवर्त्तन करना और खुले बाजार में क्रय-विक्रय की नीति को इस प्रकार अपनाना कि नोट-निष्कासन में परिवर्त्तन न करके बैंक-जमा अर्थात् वाणिज्य-बैंकों के संपूर्ण जमा में परिवर्त्तन हो जाय।

वाणिज्य-बैंक जमा से नगद का (बैंक ऑफ इंगलैंड के पास अपने जमा को लेकर) पर्याप्त स्थिर अनुपात रखते हैं। परन्तु बैंक का महाजनी विभाग नगद का केन्द्रीय रक्षित कोष रखता है और स्वयं अपने नगद का जमा से अनुपात बहुत विस्तृत सीमा में परिवर्तित कर सकता है—और करता भी है। उदाहरणार्थ वह बैंकों के जमा को पर्याप्त परिवर्त्तित करने के लिए प्रस्तुत रहता है जब कि उसकी स्वयं नगद रकम ज्यों की ज्यों रहे। इससे वह संपूर्ण जमा में बैंकों के जमा के विस्तार या संकोच का नौगुना या दसगुना विस्तार या संकोच करता है।

"बैंक" के कार्यों का सबसे अच्छा परिचय उसके एक साप्ताहिक परिलेख (Weekly returns) में मिल सकता है। नीचे हम १० नवम्बर १९३७ के सप्ताहान्त का परिलेख दे रहे हैं जिसमें निकटतम करोड़ पौंडों में विभिन्न मदें दी गई हैं, परन्तु निष्कासन विभाग (Issue Department) में विश्वसनीय निष्कासन की प्रतिभूति के रूप में रखी हुई १,३६० पौंड की चांदी की मुद्राएँ छोड़ दी गई हैं।

निष्कासन विभाग

	करोड़ पौंड		करोड़ पौंड
निष्कासित नोट :—		सरकारी ऋण...........	१·१
परिचलन में.....	४८·५	अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ...	१८·८
महाजनी विभाग में...	४·१	अन्य प्रतिभूतियाँ	·१
	५२·६	विश्वस्त निष्कासन की रकम	२०·०
		स्वर्ण मुद्रा और पिंड (bullion)	३२·६
			५२·६

१. २३ अगस्त १९३९ को परिचलन में ५०८० लाख पौंड के और महाजनी विभाग में ३८० लाख पौंड के नोट थे। स्वर्ण-मुद्रा और पिंड २४६० लाख पौंड के थे। (१४८ शि० ६ पें० प्रति औंस खरा- की दर से)। विश्वसनीय निष्कासन ३००० लाख पौंड था, इसकी पुष्टि के लिए रखी हुई "अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ" २८४० लाख पौंड थी और "अन्य प्रतिभूतियाँ" ४० लाख पौंड। अन्य मदें १० नवंबर १९३७ की अपेक्षा अधिक भिन्न नहीं थीं।

महाजनी विभाग

	करोड़ पौंड		करोड़ पौंड
स्वत्वाधिकारियों की पूँजी (Proprietor's Capital)	१·५	सरकारी प्रतिभूतियाँ	१०.४
अन्य	·३	अन्य प्रतिभूतियाँ :—	
सरकारी जमा		मितीकाटा और उधार	·८
(Public Deposits)	३·१	प्रतिभूतियाँ	२·१
			२·९
अन्य जमा :—			
बैंकों का ९·१		नोट	४.१
अन्य खाते ३·६		स्वर्ण और रौप्य मुद्राएँ	·२
	१२·७		१७·६
	१७·६		

निष्कासन विभाग का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। नोट-निष्कासन का शुद्ध लाभ कोषागार में जाता है।

'बैंक' के सभी हिस्से निजी हाथों में हैं।[1] यह रकम १५० लाख पौंड—वास्तव में १४५५३००० पौंड—है जिसे स्वत्वाधिकारियों की पूंजी कहते हैं। "अन्य" (Rest) का अर्थ है अवितरित लाभ में से संचित रक्षित कोष। सरकारी जमा ब्रिटेन सरकार का है। इसमें कोषागार खाता (Exchequer Account), प्रधान वेतनाधिकारी खाता (Paymaster-General's Account), जिसमें से व्यय विभागों की पूर्ति की जाती, और राष्ट्रीय ऋण (National Debt) संबंधी अनेक खाते राजस्व की वसूली (Collection of Taxation) और विभिन्न प्रकार की सरकारी निधियाँ (Funds) सम्मिलित हैं। सरकार द्वारा प्राप्त और व्यय की गई रकम इतनी बड़ी होती है कि यदि 'बैंक' प्रतिकूल क्रिया द्वारा न सँभाले तो उनका द्रव्य-बाजार पर बहुत बड़ा बाधक प्रभाव पड़ सकता है। "बैंकों का जमा" नामक बहुत महत्त्व-पूर्ण मद पहले ही समझाई जा चुकी है। उसमें ब्रिटेन के केवल उन बैंकों का जमा सम्मिलित रहता है जिनका मुख्य व्यवसाय इंगलैंड में होता है। "अन्य खाते" में विदेशी केन्द्रीय

१. १९४६ में "बैंक" का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर इस स्थिति में परिवर्तन हो गया।

बैंकों, उपनिवेश-बैंकों, मुख्यत: विदेशों में कार्य करनेवाले ब्रिटेन के बैंकों, व्यापारी बैंकों (Merchant banks), वित्त-गृहों (Financial houses) और भारत तथा उपनिवेश सरकारों के रोकड़ बाकी सम्मिलित हैं।

इन दायित्वों (Liabilities) के बदले 'बैंक' के पास सरकारी प्रतिभूतियाँ, अन्य प्रतिभूतियाँ और नगद का 'पावना' (Assets) रहता है। प्रतिभूतियों में ब्रिटेन सरकार का केवल प्रत्यक्ष ऋण सम्मिलित रहता है। 'बैंक' द्वारा अपनी ओर से प्राप्त कोष-विपत्र (Treasury bills) जो भुनाने के लिए उपस्थित नहीं किए गए हैं, और कोष को अन्य किसी प्रकार के अस्थायी "काम चलाऊ उधार" (Ways and Means Advances) इसके अंतर्गत आते हैं। अत: यही वह मद है जो, जब 'बैंक' खुले बाजार में क्रय-विक्रय के लिए विस्तारवादी नीति का अवलंबन करता तथा कोष-विपत्र या अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदता है, तब बढ़ता है और जब विपरीत नीति का अवलंबन करता है तब घटता है।

"अन्य प्रतिभूतियों" का मद दो भागों में विभाजित है। मितीकाटा और उधार में 'बैंक' के पास भुनाने के लिए लाए गए कोष-विपत्र तथा अन्य हुंडियाँ हैं और बैंक द्वारा मितीकाटा बाजार तथा अन्य ग्राहकों को दिए गए उधार सम्मिलित हैं। यही वह मद है जो "बाजार बैंक में" रहने पर बढ़ता है। दूसरी मद में जिसे 'प्रतिभूतियाँ' कहते हैं ऐसे बंट (Stocks) सम्मिलित हैं जैसे प्रथम श्रेणी की भारतीय उपनिवेशों की औपनिवेशिक राज्यों (Dominion) की तथा विदेशी प्रतिभूतियाँ और 'बैंक' द्वारा अपनी ओर से खरीदी हुई व्यावसायिक हुंडियाँ।

नोटों का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। "स्वर्ण और रौप्य मुद्राएँ" में लगभग सभी रौप्य मुद्राएँ रहती हैं। 'बैंक' के संपूर्ण जमा से इन दोनों मदों का जो अनुपात होता है उसे प्राय: 'समानुपात' (Proportion) कहते हैं। उपर्युक्त परिलेख (Return) में समानुपात २६·९ प्र० श० है।

जब ब्रिटेन में स्वर्णमान था तब 'बैंक' की नीति अपने स्वर्णकोष की रक्षा करने के पक्ष में थी। सितंबर १९३१ से अब ऐसी बात नहीं है। अब अपने नोटों के बदले स्वर्ण देने को 'बैंक' बाध्य नहीं है और इधर के वर्षों में उसने बहुत बड़ा स्वर्ण-कोष एकत्र कर लिया है।

इधर कुछ वर्षों में 'बैंक' ने जो सुलभ द्रव्य (Cheap money) अथवा विस्तारवादी (Expansionist) नीति का अनुसरण किया है वह ११ नवंबर १९३१ वाले सप्ताहान्त के परिलेख की उपर्युक्त परिलेख से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। १९३१ में बैंक के

महाजनी विभाग

	करोड़ पौंड		करोड़ पौंड
स्वत्वाधिकारियों की पूंजी (Proprietor's Capital)	१·५	सरकारी प्रतिभूतियाँ	१०.४
अन्य	·३	अन्य प्रतिभूतियाँ :—	
सरकारी जमा		मितीकाटा और उधार	·८
(Public Deposits)	३·१	प्रतिभूतियाँ	२·१
अन्य जमा :—			२·९
बैंकों का ९·१		नोट	४.१
अन्य खाते ३·६		स्वर्ण और रौप्य मुद्राएँ	·२
	१२·७		१७·६
	१७·६		

निष्कासन विभाग का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। नोट-निष्कासन का शुद्ध लाभ कोषागार में जाता है।

'बैंक' के सभी हिस्से निजी हाथों में हैं।[1] यह रकम १५० लाख पौंड—वास्तव में १४५५३००० पौंड—है जिसे स्वत्वाधिकारियों की पूंजी कहते हैं। "अन्य" (Rest) का अर्थ है अवितरित लाभ में से संचित रक्षित कोष। सरकारी जमा ब्रिटेन सरकार का है। इसमें कोषागार खाता (Exchequer Account), प्रधान वेतनाधिकारी खाता (Paymaster-General's Account), जिसमें से व्यय विभागों की पूर्ति की जाती, और राष्ट्रीय ऋण (National Debt) संबंधी अनेक खाते राजस्व की वसूली (Collection of Taxation) और विभिन्न प्रकार की सरकारी निधियाँ (Funds) सम्मिलित हैं। सरकार द्वारा प्राप्त और व्यय की गई रकम इतनी बड़ी होती है कि यदि 'बैंक' प्रतिकूल क्रिया द्वारा न सँभाले तो उनका द्रव्य-बाजार पर बहुत बड़ा बाधक प्रभाव पड़ सकता है। "बैंकों का जमा" नामक बहुत महत्त्व-पूर्ण मद पहले ही समझाई जा चुकी है। उसमें ब्रिटेन के केवल उन बैंकों का जमा सम्मिलित रहता है जिनका मुख्य व्यवसाय इंगलैंड में होता है। "अन्य खाते" में विदेशी केन्द्रीय

---

१. १९४६ में "बैंक" का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर इस स्थिति में परिवर्तन हो गया।

बैंकों, उपनिवेश-बैंकों, मुख्यत: विदेशों में कार्य करनेवाले ब्रिटेन के बैंकों, व्यापारी बैंकों (Merchant banks), वित्त-गृहों (Financial houses) और भारत तथा उपनिवेश सरकारों के रोकड़ बाकी सम्मिलित हैं।

इन दायित्वों (Liabilities) के बदले 'बैंक' के पास सरकारी प्रतिभूतियाँ, अन्य प्रतिभूतियाँ और नगद का 'पावना' (Assets) रहता है। प्रतिभूतियों में ब्रिटेन सरकार का केवल प्रत्यक्ष ऋण सम्मिलित रहता है। 'बैंक' द्वारा अपनी ओर से प्राप्त कोष-विपत्र (Treasury bills) जो भुनाने के लिए उपस्थित नहीं किए गए हैं, और कोष को अन्य किसी प्रकार के अस्थायी "काम चलाऊ उधार" (Ways and Means Advances) इसके अंतर्गत आते हैं। अत: यही वह मद है जो, जब 'बैंक' खुले बाजार में क्रय-विक्रय के लिए विस्तारवादी नीति का अवलंबन करता तथा कोष-विपत्र या अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदता है, तब बढ़ता है और जब विपरीत नीति का अवलंबन करता है तब घटता है।

"अन्य प्रतिभूतियों" का मद दो भागों में विभाजित है। मितीकाटा और उधार में 'बैंक' के पास भुनाने के लिए लाए गए कोष-विपत्र तथा अन्य हुंडियाँ हैं और बैंक द्वारा मितीकाटा बाजार तथा अन्य ग्राहकों को दिए गए उधार सम्मिलित हैं। यही वह मद है जो "बाजार बैंक में" रहने पर बढ़ता है। दूसरी मद में जिसे 'प्रतिभूतियाँ' कहते हैं ऐसे बंट (Stocks) सम्मिलित हैं जैसे प्रथम श्रेणी की भारतीय उपनिवेशों की औपनिवेशिक राज्यों (Dominion) की तथा विदेशी प्रतिभूतियाँ और 'बैंक' द्वारा अपनी ओर से खरीदी हुई व्यावसायिक हुंडियाँ।

नोटों का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। "स्वर्ण और रौप्य मुद्राएँ" में लगभग सभी रौप्य मुद्राएँ रहती हैं। 'बैंक' के संपूर्ण जमा से इन दोनों मदों का जो अनुपात होता है उसे प्राय: 'समानुपात' (Proportion) कहते हैं। उपर्युक्त परिलेख (Return) में समानुपात २६·९ प्र० श० है।

जब ब्रिटेन में स्वर्णमान था तब 'बैंक' की नीति अपने स्वर्णकोष की रक्षा करने के पक्ष में थी। सितंबर १९३१ से अब ऐसी बात नहीं है। अब अपने नोटों के बदले स्वर्ण देने को 'बैंक' बाध्य नहीं है और इधर के वर्षों में उसने बहुत बड़ा स्वर्ण-कोष एकत्र कर लिया है।

इधर कुछ वर्षों में 'बैंक' ने जो सुलभ द्रव्य (Cheap money) अथवा विस्तारवादी (Expansionist) नीति का अनुसरण किया है वह ११ नवंबर १९३१ वाले सप्ताहान्त के परिलेख की उपर्युक्त परिलेख से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। १९३१ में बैंक के

पास केवल १२१० लाख पौ० का सोना था, उसका संपूर्ण निष्कासित नोट ३९६० लाख पौंड का था जिसमें से ३५७० लाख पौंड परिचालन में था। उसके पास सरकारी प्रतिभूतियाँ ५५० लाख पौंड की थी और वैंकों का जमा केवल ६०० लाख पौंड था। वैंक-दर ६ प्र० श० धीरे धीरे वह घटा कर १९३२ के ग्रीष्म में २ प्र० श० कर दी गई जो तब से अब तक बनी है।[1] अपने स्वर्ण-कोष में वृद्धि होने से वह नोट परिचालन का विस्तार करने में समर्थ हुआ है; उसके "खुले बाजार में क्रय-विक्रय" से वैंकों के जमा में वृद्धि हुई है, और व्याज की नीची दर के सहयोग से इसका परिणाम यह हुआ है कि वाणिज्य-वैंकों के जमा में वृद्धि हुई है।

सरकारी जमा (Public deposits) में वृद्धि होने से वैंकों के जमा में ह्रास होता है क्योंकि कर-दाता और अन्य लोग सरकार को देने के लिए उसके पक्ष में अपने वंकों को चेक देते हैं। यदि ऐसी वृद्धि का पता पहले से लग जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया की जाती है। उदाहरणार्थ सरकार कम कोष-विपत्र निष्कासित करती है। इस प्रकार की वृद्धि के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होने का उदाहरण सितंबर-अक्तूबर १९३७ में मिलता है। 'वैंक' के जमा के निम्नलिखित आँकड़े अपना स्पष्टीकरण स्वयं करते हैं:—

	८ सितंबर १९३७	२९ अक्टूबर १९३७
	लाख पौंड	लाख पौंड
सरकारी जमा	१२०	३२२
वैंकों का जमा	१०५६	८७७
अन्य खाते	३६३	३६६
योग	१५३९	१५६५

वर्ष के अंत में, जब वाणिज्य वैंक "सजधज" (Window-dressing) की निरर्थक प्रथा का अनुसरण करते हैं और अपने लेखा-परिवृत्त (Statements of accounts) में जितना, नगद कोष प्रायः रखते हैं साधारण अनुपात जमा का लगभग ९ या ९½ प्रतिशत होता है—उससे अधिक दिखाने के लिए—अपने अल्पकालीन ऋण का कुछ अंश वापस मँगा लेते हैं, तब वाजार प्रायः "वैंक में" रहता है। 'वैंक' मितीकाटा-बाजार को प्रायः एक मास से कम के लिए ऋण नहीं देता और उसके 'मितीकाटा और उधार' (Discounts and Advances) मद पर "सजधज" का प्रभाव लुप्त होने में कुछ समय लगता है। जैसे

१. अगस्त १९३९ में युद्ध के भय से अकस्मात् ४ प्र० श० कर दी गई।

२३ दिसम्बर १९३६ को यह मद ६४ लाख पौंड थी (३० दिसंबर को यह बढ़कर १७५ लाख पौंड हो गई)। उसके बाद १० फरवरी को वह अपने साधारण स्तर पर आ गई और ६५ लाख पौंड हो गई।[1]

मुद्रा-नीति की परिसीमा (Limitation) के विषय में कुछ सावधानी पूर्वक निष्कर्ष निकालना चाहिए। खुले बाजार में हुंडियाँ या प्रतिभूतियाँ खरीदकर और अपने समानुपात (Proportion) को गिरने देकर, अल्पकालीन-व्याजदर को घटाना और बैंकों के जमा में वृद्धि, करना और उससे संपूर्ण बैंक-जमा को नौगुना या दसगुना बढ़ाना 'बैंक' के लिए अपेक्षाकृत सरल होता है। परन्तु कहावत है कि आप घोड़े को पानी तक ले जा सकते हैं परन्तु पीने को विवश नहीं कर सकते। नीची व्याज दर पर भी संभव है उद्योग-धंधे और व्यापार वाले अधिक ऋण लेने के इच्छुक न हों। किसी भी दशा में बैंकों को अपना संचालन व्यय तो सँभालना ही पड़ता है और अपनी संपत्ति पर वे बहुत कम या कुछ भी नहीं अर्जन करते। इसीसे वे उधार पर लगभग ४ प्र० श० के न्यूनतम से नीचे व्याजदर घटाने में हिचकते हैं। अतएव बैंकों द्वारा अतिरिक्त विनियोजन (Additional investments) खरीदे जाने पर ही अतिरिक्त द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है, और उसका अधिकांश बेकार पड़ा रह सकता है। १९३१ के बाद ब्रिटेन में बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति थी और अन्त में (अंशतः व्याज की नीची दर के कारण) गृह-निर्माण की तेजी से फिर आर्थिक क्रिया की उत्तेजना मिली। ऐसी परिस्थितियों में अतिरिक्त द्रव्य को परिचलन में डालने के लिए सरकार द्वारा प्रत्यक्ष व्यय की नीति का समर्थन किया जाता है।

फिर भी यह संभव है कि घोड़े को पानी की परिसीमित मात्रा दी जाय। बैंक-दर बढ़ाकर और द्रव्य की मात्रा घटाकर 'बैंक' अपने इच्छानुसार मुद्रा-संकोच कर सकता है। परन्तु इसमें भी कठिनाइयां हैं। मुद्रा-संकोच का अंतिम उद्देश्य द्रव्य-आय और व्यय में कमी करना होता है। यदि अधिकांश कर्मचारियों का संगठन दृढ़ है और वे किसी प्रकार के मजदूरी घटाने का विरोध करते हैं तो द्रव्य-संकोच की दृढ़ नीति से बेकारी बढ़ाकर द्रव्य-आय में निःसंदेह कमी की जा सकती है, परन्तु श्रम के व्यय में नहीं। ऐसी परिस्थिति में, इस प्रकार की द्रव्य-नीति—चाहे दीर्घकाल में वह अच्छी हो या बुरी—जनता द्वारा कड़ा विरोध होने के कारण संभवतः त्याग दी जायगी अथवा पलट दी जायगी।

---

1. 'सजधज' की प्रथा का अब परित्याग कर दिया गया है। दे० पृ० ४१५ की पाद-टिप्पणी।

चौबीसवाँ अध्याय

द्रव्य का अर्घ

(The Value of Money)

१. प्रस्तावना

अब हम इस स्थिति में पहुँच गए हैं कि द्रव्य के अर्घ में अर्थात् परिचलन (Currency) की एक इकाई की साधारणतः सभी वस्तुओं को क्रय करने की शक्ति में—परिवर्त्तन उपस्थित करनेवाले कारणों पर विचार कर सकें। द्रव्य का अर्घ मूल्यों के सामान्य स्तर (General level of prices) का प्रतिरूप (Reciprocal) माना जा सकता है; उदाहरणार्थ, यदि मूल्यों का साधारण स्तर दूना हो जाय तो इसका अर्थ यह है कि द्रव्य का अर्घ आधा हो जायगा। द्रव्य के अर्घ में परिवर्त्तनों के नापने में अनेक कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं। इनका विवेचन हम इस अध्याय के अंतिम विभाग के लिए स्थगित रखते है। इस स्थल पर हमें केवल यही बता देना आवश्यक है कि "विभागीय मूल्य स्तर" (Sectional Price Levels) एक दूसरे की तुलना में प्रायः भिन्न रहते हैं। उदाहरणार्थ; संभव है कि अनेक साधारण हिस्सों (Ordinary Shares) का मूल्य बहुत चढ़ जाय (जैसा कि संयुक्त राज्य में १९२८ और १९२९ में हुआ था) और वस्तुओं का मूल्य पर्याप्त दृढ़ रहे और "निर्वाह-व्यय" (Cost of living) की तुलना में मजदूरी घट या बढ़ जाय।

द्रव्य के अर्घ में पर्याप्त परिवर्त्तन के प्रायः महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं। इनका विवेचन भी हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

अन्य वस्तुओं के समान ही द्रव्य के अर्घ को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ पूर्ति और माँग की दो कोटियों में रखी जा सकती हैं। द्रव्य-संबंधी सिद्धान्त (Monetary theory) और परिमाणवाद (Quantity theory) पर सामान्य रूप से विचार कर लेने के पश्चात् हम द्रव्य की पूर्ति और माँग को प्रभावित करनेवाली शक्तियों के विवेचन पर आवेंगे। ये विभाग अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं क्योंकि अधिक अंशों में, जो कुछ पहले कहा जा चुका है उसी की वे आवृत्ति और साधरणीकरण (Generalisation) हैं। किसी देश में द्रव्य की पूर्ति उसकी द्रव्य और महाजनी (Banking) प्रणाली पर निर्भर रहती है। पिछले अध्याय में ब्रिटेन की द्रव्य और महाजनी प्रणाली का कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन हो चुका है और इधर

कुछ वर्षों में ब्रिटेन में द्रव्य की पूर्ति पर प्रभाव डालनेवाली शक्तियों का उल्लेख भी हो चुका है। जब कोई देश स्वर्णमान (Gold Standard) अथवा इसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-प्रणाली का एक अंग बन जाता है उस स्थिति का विवेचन अट्ठाइसवें अध्याय में होगा। अन्य वस्तुओं के समान ही द्रव्य की माँग भी उपलभ्य विकल्पों पर निर्भर रहती है। द्रव्य रखने का मुख्य विकल्प उसका विनियोजन (Investment) है। इसका विवेचन हम व्याज वाले अध्याय में कर चुके हैं। निःसंदेह किसी समय द्रव्य की संपूर्ण विद्यमान राशि विभिन्न व्यवसाय संस्थाओं (Firms) और व्यक्तियों के हाथ में रहती है। परन्तु संपूर्ण देश या जाति अपनी द्रव्य-राशि को अपनी संपूर्ण संपत्ति के कम या अधिक अनुपात में जैसे चाहे रख सकती है। क्योंकि द्रव्य की माँग में वृद्धि का परिणाम अन्य प्रकार की संपत्तियों के अर्घ में ह्रास के रूप में दिखाई पड़ता है और इसी प्रकार इसके विपरीत भी।

२. द्रव्य-संबंधी सिद्धान्त (Monetary Theories)

द्रव्य-सिद्धान्त के विद्यार्थी को शीघ्र पता चलता है कि द्रव्य का अर्घ निर्धारित करनेवाली शक्तियों के विषय में अनेक सिद्धान्त हैं। परन्तु अर्थशास्त्रियों का यह मतभेद केवल काल्पनिक है वास्तविक नहीं। अधिकांश अर्थशास्त्री द्रव्य के अर्घ में होनेवाले किसी विशेष परिवर्त्तनों के कारणों के संबंध में संभवतः एकमत होते हैं। परन्तु कुछ तो उन कारणों को एक प्रकार से व्यक्त करते हैं और दूसरे उससे भिन्न ढंग से। उनमें अन्तर केवल उनकी व्याख्या के ढंग और पदावली की भिन्नता में होता है, विश्लेषण में कोई मौलिक अंतर नहीं होता।

इसका एक उत्तम दृष्टांत मतभेद का वह आभास है जो द्रव्य के परिचलन (Circulation) के वेग (Velocity) का उल्लेख करनेवालों और द्रव्य की माँग का उल्लेख करनेवालों के बीच देखा जाता है। परिचलन के वेग में वृद्धि का अर्थात् उस शीघ्रता का जिसमें परिचलन की इकाई (Units of currency) एक हाथ से दूसरे हाथ जाती है—यह अर्थ है कि लोग पहले की अपेक्षा द्रव्य रखने के बदले व्यय करने अथवा विनियोजन करने के लिए अधिक उत्सुक हैं। परन्तु इसका अर्थ यह है कि द्रव्य को पास में रखने की उनकी माँग घट गई है। अतएव जो पहली पदावली का व्यवहार करते हैं वे ठीक उसी का विवेचन करते हैं जिसका दूसरी पदावली वाले।

हमने 'द्रव्य' शब्द के अंतर्गत बैंक-जमा (Bank deposits) और नगद दोनों को सम्मिलित करने का निश्चय किया है। कुछ लेखक बैंक-

जमा को सम्मिलित न करके उसे केवल द्रव्य का स्थानापन्न (Substitute) मानने के पक्षपाती हैं। अतः हम बैंक-जमा में वृद्धि को द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि मानेंगे परन्तु वे इसे ठीक उसी प्रकार द्रव्य की माँग में ह्रास की प्रवृत्ति कहेंगे जिस प्रकार किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं में वृद्धि होने से उसकी माँग घट जाती है। परन्तु हम सब इस विषय पर एकमत हैं कि दोनों का परिणाम होगा द्रव्य के अर्घ में ह्रास की प्रवृत्ति।

कुछ लेखक द्रव्य के अर्घ का अर्थ केवल सामान्य वस्तुओं अथवा उपभोग्य वस्तुओं तथा सेवाओं के ऊपर उसकी क्रय-शक्ति समझते हैं--और जिन वस्तुओं से द्रव्य का विनिमय होता है उन सभी को सम्मिलित करने के बदले उसकी परिभाषा "पदार्थ-मूल्य" (Commodity prices) का "सामान्य-स्तर" अथवा "निर्वाह-व्यय" (Cost of living) का प्रतिरूप कहकर करते हैं। हम जानते हैं कि भुगतान होनेवाले द्रव्य का केवल अल्पांश ही उपभोग्य वस्तुओं से विनिमय करने के लिए व्यवहृत होता है। अतएव द्रव्य का परिमाण और उसके परिचलन के वेग दोनों ही बढ़ सकते हैं—जैसा कि संयुक्त राज्य में १९२५ से १९२९ के बीच हुआ था और उसका परिणाम हो सकता है बंट-विनिमय प्रतिभूतियों (Stock exchange securities) के मूल्य में वृद्धि अथवा वस्तुओं के मूल्य या निर्वाह-व्यय में वृद्धि हुए बिना उत्पादन के साधनों में पर्याप्त वृद्धि। परन्तु जो लेखक उपर्युक्त प्रथा का अनुसरण करते हैं वे इसे भलीभाँति जानते हैं और बराबर ध्यान में रखते हैं कि वे एक विभागीय मूल्य-स्तर (Sectional price-level) का विवेचन कर रहे हैं। उनमें से कुछ यह कहते हैं कि "वित्तीय परिचलन" (Financial circulation) अर्थात् बंट, हिस्से तथा इसी प्रकार के अन्य कागजी अधिकारों के विनिमय में द्रव्य भुगतान की धारा—और "औद्योगिक परिचलन" (Industrial circulation) में अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है।

दूसरा विवादग्रस्त विषय "द्रव्य के परिमाण" की कल्पना (Concept) है। इसे प्रायः सभी मानते हैं कि द्रव्य के परिमाण में वृद्धि होने से मूल्य में वृद्धि की और उसके ह्रास से ह्रास की प्रवृत्ति होती है परन्तु मान लीजिए कि केन्द्रीय बैंक ने अधिक नोट छापने का निश्चय किया और ये अतिरिक्त नोट बैंक की तिजोरी में बेकार पड़े रहते हैं जिससे उनके द्वारा किसी के कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव इन अतिरिक्त नोटों का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। तब हम या तो यह कह सकते हैं कि द्रव्य के प्रभावशाली परिमाण में परिवर्तन नहीं हुआ या यह कि द्रव्य की अतिरिक्त पूर्ति के बराबर ही केन्द्रीय बैंक द्वारा उसकी माँग हो गई। संभवतः दूसरा ही कथन अधिक उपयुक्त है

क्योंकि संभव है कि बैंक प्रतिभूतियाँ खरीद कर अपने जमा में वृद्धि कर दें और अतिरिक्त जमा बेकार पड़ा रहे अथवा केन्द्रीय बैंक "परिचालन में" नोटों की संख्या बढ़ा दे फिर भी अतिरिक्त नोट वास्तव में परिचलन में न जायँ; वे गाड़ कर रख दिए जायँ। गाड़े हुए द्रव्य की अनुमानित मात्रा को घटाकर शेष को प्रभावशाली द्रव्य (Effecting money) कहने की अपेक्षा संपूर्ण विद्यमान द्रव्य को अपना एक निर्दिष्ट (Data) मान लेना सरल है और तब फिर विचार करना चाहिए कि उसका कौन सा अनुपात गाड़कर रख दिया गया है (Hoarded), परन्तु यह स्पष्ट है कि दोनों विधियों से परिणाम एक ही निकलेगा।

३. द्रव्य का परिमाणवाद (Quantity Theory of Money)

द्रव्य के अर्घ का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त "परिमाणवाद" है जिसके अनुसार द्रव्य का अर्घ उसके परिमाण पर निर्भर रहता है। स्थूल रूप से इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य के परिमाण में किसी निश्चित प्रतिशत में वृद्धि या ह्रास होने से मूल्यों के सामान्य स्तर (General level of prices) में उसी प्रतिशत में वृद्धि या ह्रास होगा।

यह निष्कर्ष इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि द्रव्य केवल एक प्रकार का टिकट है जो विनिमय के माध्यम का कार्य करता है; अतएव यदि कामभर को पर्याप्त द्रव्य है तो द्रव्य की ठीक ठीक मात्रा का कोई महत्त्व नहीं। यह सिद्धान्त मान लेता है कि यदि किसी देश में दूना द्रव्य हो जाय तो सभी वस्तुओं के मूल्य दूने हो जायँगे, इत्यादि, अतएव संपूर्ण द्रव्य की मात्रा की क्रयशक्ति सर्वदा एक सी रहेगी। दूसरे शब्दों में यह मान लेता है कि अन्य वस्तुओं की तुलना में, द्रव्य के माँग की लोच सर्वदा एक रहती है और द्रव्य का "माँग-वक्र" अपरिवर्तित रहता है।

परन्तु ऐसा मानना विरले ही सत्य होता है। द्रव्य की माँग प्रायः परिवर्तित होती रहती है जिससे उसका परिमाण अचल रहने पर भी मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन हो सकता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के परिमाण में कोई विशेष परिवर्तन होने से उसकी माँग में—अर्थात् संपूर्ण द्रव्य की पूरी क्रयशक्ति में—परिवर्त्तन की संभावना रहती है।

उदाहरणार्थ, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की मुद्रास्फीति के दिनों में द्रव्य की मात्रा तीव्र गति से बढ़ रही थी और मूल्य भी चढ़ रहा था। लोग आशा करते थे कि यह प्रगति बनी रहेगी अतएव उसके परिमाण-स्वरूप द्रव्य की माँग घट गई थी। वे पतनोन्मुख (Depriciating) मार्क या उसे पाने के अधिकार को संचित रखने के इच्छुक नहीं थे और अपने मार्कों को तुरत वस्तुओं, हिस्सों या विदेशी विनिमयों में परिवर्तित

कर लेना चाहते थे। कुछ लेखकों के शब्दों में मार्क के परिचलन के वेग में बहुत वृद्धि हो गई थी। परिमाण यह हुआ कि सब के यह आशा करने के कारण कि मूल्य में वृद्धि का क्रम बना रहेगा, वास्तव में द्रव्य के परिमाण में जिस गति से वृद्धि हुई उसकी अपेक्षा अधिक तीव्र गति से मूल्य में वृद्धि हुई। इस प्रकार नोट-निष्कासन की मात्रा ८१ अरब कागजी मार्क (दिसंबर १९२०) से बढ़कर अगस्त १९२३ में ११६००० अरब कागजी मार्क हो गई परन्तु स्वर्ण-मार्क में उसका मूल्य ४८० करोड़ से गिरकर ११·६ करोड़ हो गया।

किसी भी सामान्य व्यापारीय मंदी (Trade depression) को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल्य में पर्याप्त ह्रास द्रव्य की माँग में वृद्धि के कारण होती है न कि उसकी पूर्ति में कमी के कारण। ब्रिटेन में १९३१ के बाद नगद की रकम और बैंक-जमा की मात्रा दोनों ही में पर्याप्त वृद्धि कर दी गई थी फिर भी कुछ वर्षों तक अधिकांश वस्तुओं के मूल्य मंदी के पूर्व के स्तर से भी नीचे थे। इसका कारण यह था कि कुछ समय तक जनता में भय था कि मंदी जारी रहेगी। अतएव लोग अधिक व्यय करने से अथवा उद्योग-धंधों में विनियुक्त करने से हाथ रोकते थे। दूसरे शब्दों में मंदी के पूर्व जितनी मुद्रा की उनकी माँग थी उससे अब अधिक हो गई थी अतएव द्रव्य के परिमाण में वृद्धि होने पर भी वस्तुओं के मूल्य गिरे हुए थे।

आज कोई भी 'परिमाणवाद' को उसके स्थूल रूप में नहीं मानता। परन्तु बहुत से लेखक कुछ अधिक लचीले (Flexible) रूप में उसे व्यक्त करते हैं जिसमें द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन के अतिरिक्त अन्य प्रभावकों में परिवर्तन का भी ध्यान रखा जाता है। प्रोफेसर इरविंग फिशर का कथन इतना प्रसिद्ध है कि हम उसका केवल संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

किसी अवधि में, अनेक ऐसे आदान-प्रदान होते हैं जिनमें द्रव्य का अन्य वस्तुओं से विनिमय होता है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिए; मान लीजिए कि इन आदान-प्रदानों में ६ पेंस प्रति रोटी की दर से ४००० रोटियाँ, १ पौंड प्रति हिस्से की दर से १०० हिस्से और १०० मनुष्यों की ३ पौंड प्रति जन की दर से एक सप्ताह की सेवा का विक्रय होता है। इस अवधि में द्रव्य का संपूर्ण भुगतान द्रव्य से विनिमय होने वाली वस्तुओं के संपूर्ण अर्घ इस प्रसंग में १००० पौंड रोटियों का, १०० पौंड हिस्सों का और ३०० पौंड मजदूरी का जिसका योग १४०० पौंड होता है —के बराबर होना चाहिए। प्रोफेसर फिशर द्रव्य से विनिमय होने वाली वस्तुओं के परिमाण को—आदान-प्रदान की मात्रा को (Value of transaction)–T चिन्ह द्वारा व्यक्त करते हैं और P चिन्ह

को इस प्रकार परिभाषा करते हैं कि P को T से गुणा करने से आदान-प्रदान का संपूर्ण योग प्राप्त होता है। इस प्रकार P मूल्यों का वह सामान्य स्तर है जिस पर ये आदान-प्रदान किए जाते हैं; $\frac{1}{P}$ द्रव्य का अर्घ है।

हम देख चुके हैं कि इन आदान-प्रदानों का संपूर्ण अर्घ, TP, संपूर्ण भुगताए हुए द्रव्य के बराबर होना चाहिए। परन्तु संभव है कि पूरी अवधि में, द्रव्य की कुछ इकाइयों का किसी वस्तु से विनिमय न हुआ हो और कुछ इकाइयाँ अनेक बार आदान-प्रदान में एक हाथ से दूसरे हाथ चली गई हों।

संपूर्ण विद्यमान द्रव्य के परिमाण को M कह सकते हैं और किसी अवधि में द्रव्य की कोई इकाई किसी वस्तु के मूल्य के भुगतान में एक हाथ से दूसरे हाथ जाने की औसत संख्या को द्रव्य के परिचलन का वेग (Velocity of circulation of money) कह सकते हैं और उसे V द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार भुगतान किए जाने वाले द्रव्य का संपूर्ण अर्घ M और V का गुणनफल है। इससे हम "विनिमय का समीकरण" (Equation of exchange) प्राप्त करते हैं अर्थात्

$$MV = PT$$

यह समीकरण (Equation) संभवतः यह प्रदर्शित करने के लिए है कि यदि द्रव्य का परिमाण बढ़ा दिया जाय और V तथा T अपरिवर्तित रहें (अथवा $V \div T$ अचल रहे) तो मूल्यों का सामान्य स्तर ठीक उतने प्रतिशत से बढ़ना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि द्रव्य की दूनी धारा दूसरी वस्तुओं की उसी धारा से मिलती है जिससे उसका विनिमय होता है, तो उन दूसरी वस्तुओं का मूल्य दूना होना आवश्यक है।

परन्तु वास्तव में, जैसा हम पहले कह चुके हैं, M में परिवर्तन होने से V और T में परिवर्त्तन होना प्रायः अनिवार्य है और कुछ द्रव्य तथा महाजनी प्रणाली में P में परिवर्तन M में परिवर्तन का कारण हो सकता है। समीकरण के चारो अंग (Elements) परस्पर संबद्ध हैं; यह कहना सत्य नहीं है कि केवल M ही परिवर्तन होगा और P में संगत (Corresponding) परिवर्तन उपस्थित करेगा।

इसके अतिरिक्त, द्रव्य के अर्घ का विवेचन करने में "परिचलन के वेग" (Velocity of circulation) की कल्पना करके, अर्घ के सामान्य सिद्धांन्त से पृथक् जाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। द्रव्य के परिचलन के वेग में वृद्धि या ह्रास का उल्लेख करने की अपेक्षा हम द्रव्य की माँग में वृद्धि या ह्रास कह सकते हैं।

अतएव हम पहले द्रव्य की पूर्ति का निर्णय करने वाली उन शक्तियों का विचार करेंगे जो विचाराधीन देश की मौद्रिक और महाजनी प्रणाली के अनुसार भिन्न होगी और तब द्रव्य की माँग का निर्णय करने वाली शक्तियों पर विचार करेंगे।

४. द्रव्य की पूर्ति

जिस ढंग से भुगतान के साधन अस्तित्व में आते और फिर लुप्त हो जाते हैं और अवस्था में परिवर्तन होने पर जिस सीमा तक उनकी पूर्ति में परिवर्तन होगा वह द्रव्य और महाजनी प्रणाली तथा उनका नियंत्रण करने वालों की नीति पर निर्भर रहती है। यदि किसी देश में स्वर्णमान प्रचलित है (अथवा कोई दूसरा अन्तर्राष्ट्रीयमान है) तो उसे अपने मूल्य-स्तर को उसी मान वाले अन्य देशों के मूल्य-स्तर के समान रखना आवश्यक है। इस विषय पर हम पीछे विचार करेंगे। पहले हम एक एकाकी देश का विचार कर लें।

मान लिया जाय कि वह देश द्रव्य के रूप में स्वर्ण का व्यवहार करता है; और यह भी मान लिया जाय कि वहाँ स्वर्ण-मुद्रा ही एकमात्र मुद्रा (Coin) है। खानों से स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन की अपेक्षा विद्यमान स्वर्ण की राशि (Stock) अधिक होगी अतएव थोड़ी अवधि में मौद्रिक स्वर्ण (Monetary gold) की संपूर्ण राशि में अधिक परिवर्तन की बहुत कम संभावना होगी। संभव है कि स्वर्ण की मौद्रिक माँग के साथ साथ औद्योगिक माँग भी हो। यदि ऐसा होगा तो विद्यमान स्वर्ण की कुछ मात्रा और वार्षिक उत्पादन का कुछ अंश द्रव्य संबंधी कार्य के लिए उपलभ्य नहीं होगा। वास्तव में स्वर्ण की मौद्रिक माँग औद्योगिक माँग की अपेक्षा बहुत महत्वपूर्ण है और यदि इनमें से पहली माँग न रहे तो स्वर्ण का अर्घ बहुत गिर जाय।

यदि स्वर्ण का उपयोग मुद्रा के रूप में होता है तो एक औंस (आधा छटाँक) स्वर्ण का 'मूल्य' (Price) निश्चित होता है, और यदि सोने की खानें प्रतिस्पर्द्धापूर्वक कार्य कर रही हैं तो स्वर्ण-उत्पादन का सीमान्त व्यय उसके मूल्य के बराबर होगा। खान से सोना निकालने के क्रिया-कल्प में उन्नति होने अथवा नए निचायों (Deposits) की खोज से, जिनमें से सरलता से सोना निकाला जा सके, स्वर्ण-उत्पादन का सीमान्त व्यय घट जायगा और स्वर्ण के उत्पादन में उस सीमा तक वृद्धि होगी, जहाँ जाकर सीमान्त व्यय फिर उसके मूल्य के बराबर हो जायगा। इसके विपरीत अच्छे निचायों (Deposits) के रिक्त होने से सीमान्त व्यय बढ़ जायगा और उत्पादन घट जायगा।

यदि कोई केन्द्रीय बैंक एक निश्चित मूल्य पर सोना लेवे और खरीदे और १० प्रतिशत स्वर्ण द्वारा पुष्ट नोट निष्कासित करे तब भी स्थिति वही रहेगी। स्वर्ण मुद्राओं को निश्चित संख्या परिचलन में रहने के बदले उतने ही कागजी नोट परिचलन में हो जायेंगे।

परन्तु यदि बैंक अपनी तिजोरी में रखे हुए सोने से अधिक अर्थ के कागजी नोट निष्कासित कर सके तो स्थिति में तत्वतः अन्तर पड़ जायगा। तब खान से केवल नया सोना निकलने और नोटों से उनका विनिमय होने पर ही नया द्रव्य परिचलन में नहीं आयगा वरन् केन्द्रीय बैंक के (अतिरिक्त सोना न पाने पर भी) अधिक नोट छापने से और कुछ खरीदने या उद्योगों को, जो उसे व्यय करेंगे, उधार देने से भी आएगा। संभव है केन्द्रीय बैंक में प्रत्येक नोट स्वर्ण में परिवर्तनीय हो फिर भी लोग नोटों को बदलकर सोना लेने के बदले इतने अधिक नोट अपने पास रखें जितने स्वर्ण द्वारा पुष्ट न हों। इन अवस्थाओं में परिचलन में नोटों की मात्रा (विस्तृत सीमा में) केन्द्रीय बैंक के विवेक पर निर्भर रहेगी। यदि स्वर्ण का उत्पादन बढ़ जाने पर भी बैंक द्रव्य की पूर्ति बढ़ाना उचित न समझे तो वह प्रतिभूतियाँ बेचकर और इस प्रकार सोना खरीदने के के कारण उसे जितने नोट परिचलन में भेजने पड़े थे उतने परिचलन से खींचकर अपने नोटों की मात्रा स्थिर रख सकता है। फिर स्वर्ण का उत्पादन उतना रहने या घट जाने पर भी वह अपना नोट-निष्कासन बढ़ा सकता तथा अतिरिक्त नोटों को परिचलन में भेज सकता है। यदि जनता नोटों के बदले सोना न लेकर उन्हें स्वीकार करती जाय तो जब तक कि बैंक को स्वर्ण द्वारा पुष्ट न किए हुए नोटों की एक निश्चित संख्या से अधिक नोट निकालने को वर्जित करके विधि (Law) द्वारा एक सीमा न बाँध दी जाय अथवा उसे अपने नोटों के बदले एक न्यूनतम प्रतिशत स्वर्णकोष रखने को बाध्य न किया जाय तब तक द्रव्य के परिमाण की कोई सीमा न होगी।

अब मान लीजिए कि जमा रखने वाले अन्य बैंक भी हैं, और उसके लिए वे चेक दे सकते हैं। आधुनिक देशों में वास्तव में यही स्थिति होती है। अब भुगतान के साधनों में बैंक-जमा भी है। "बैंक अपने जमा की पुष्टि के लिए "नगद" का कोष रखते हैं जिसमें, (केन्द्रीय बैंक के) नोट और केन्द्रीय बैंक में जमा सम्मिलित रहता है। अपने दिए हुए ऋण को बढ़ाकर वे अपना जमा बढ़ा सकते हैं और उधार देने में कम उदार बनकर अपना जमा घटा सकते हैं। जब कोई नया ऋण दिया जाता है तब उतनी ही मात्रा में जमा बढ़ जाता है और जब कोई पुराना ऋण चुकाया जाता है तब उतनी ही मात्रा में जमा घट

जाता है। कोई कारण नहीं कि बैंक जमा का एक स्थिर प्रतिशत नगद रखे (यद्यपि ब्रिटेन में वे प्रायः ऐसा करते हैं) जब व्यापार का भविष्य उज्वल दिखाई पड़ता है और साधारण लोगों का आशावादी दृष्टिकोण होता है तब बैंक अधिक उदारता से ऋण देते हैं जिससे उनके नगद का प्रतिशत कोष घट जाता है और जब भविष्य अंधकारमय दिखाई पड़ता है तब वे प्रायः इसकी विपरीत नीति का अनुसरण करते हैं। यदि वे नगद कोष का स्थायी प्रतिशत रखें भी तो केन्द्रीय बैंक को अधिकार है कि वह उनके रखे हुए नगद को घटा या बढ़ा सकता है और उससे उनको अपने ऋण और जमा का विस्तार या संकोच करने को प्रेरित कर सकता है।

इस प्रकार ऐसे समय आ सकते हैं जब कि संपूर्ण महाजनी प्रणाली (Banking system) द्रव्य की पूर्त्ति बढ़ाना चाहे। वह प्रतिभूतियाँ खरीदकर जब चाहे ऐसा कर सकती है। इन प्रतिभूतियों के विक्रेताओं का जमा बढ़ जाता है। परन्तु यदि वह अतिरिक्त जमा बेकार छोड़ दिया जाय तो केवल प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ जायगा। अन्य वस्तुओं के मूल्य बढ़ाने के लिए, बैंकों को आवश्यक है कि ऋण लेनेवालों को अधिक ऋण लेने और उस द्रव्य को अपने व्यवसाय का विस्तार करने में लगाने को उत्साहित करें।

यदि प्रत्याशित लाभ की दर, ऋणियों से बैंक द्वारा ली जानेवाली व्याज-दर से अधिक होगी तो ऋणार्थियों को ऋण लेने के लिए प्रस्तुत करने के उद्देश्य से बैंक को अपनी व्याज-दर घटानी पड़ेगी। यदि साहसी आदि सोंचते हैं कि व्यापार का भविष्य निराशाजनक है तो, मूल्य-स्तर में पर्याप्त वृद्धि उत्पन्न करने के लिए, पर्याप्त संख्या में अतिरिक्त ऋणी (जो यथेष्ठ प्रतिभूति दे सकते हैं) मिलने की कम संभावना रहेगी। संभव है कि बैंक उधार की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि करने के लिए बैंकों द्वारा ली जाने वाली व्याज-दर को ऋणात्मक करना पड़े। ऐसे समय संभव है कि महाजनी-प्रणाली द्रव्य की पूर्ति बढ़ाने का यथाशक्ति प्रयत्न करे परन्तु उसका सारा प्रयत्न निष्फल हो सकता है; हाँ वह (प्रति-भूतियाँ खरीदकर) पूर्ति में वृद्धि कर सकती है परन्तु, जनता द्वारा संगत मात्रा में द्रव्य की माँग होने के कारण, वह पूर्ति प्रतिरुद्ध (Offset) हो सकती है। कुछ लेखकों का कथन है कि इस प्रकार की मन्दी के समय सरकारों को सार्वजनिक कार्यों, अनधियोजन-निवारण (Unemployment relief) इत्यादि पर अधिक व्यय करके अथवा कर घटा कर और आय-व्ययक (बजट) में कमी लाकर द्रव्य की पूर्ति में प्रभावोत्पादक वृद्धि करनी चाहिए। परन्तु संभव है इस प्रकार की नीति भी मूल्य-स्तर को बढ़ाने में सफल न हो—यदि जनता का उस पर अविश्वास होगा तो

वह द्रव्य के लिए अपनी माँग बढ़ाकर सरकार के प्रयत्न को व्यर्थ कर सकती है। कुछ अन्य लेखकों का विश्वास है कि व्यय को घटाकर प्रत्याशित लाभ की दर बढ़ा देना उससे अच्छा उपाय है। इसके विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि कुछ व्ययों का और विशेषतः मजदूरी का—घटाना कठिन है। हम इस विवाद पर इस समय अपना कोई मत नहीं प्रकट करते। हमारा उद्देश्य तो केवल यह दिखाना था कि द्रव्य की पूर्ति का निर्णय करने वाली शक्तियाँ कौन कौन सी हैं।

५. द्रव्य की माँग

द्रव्य की माँग की कल्पना (Concept) का उल्लेख पहले हो चुका है।[1] यदि किसी देश की संपूर्ण द्रव्य की मात्रा दी हुई है तो किसी भी समय लोगों की जेब, तिजोरी, बैंक के तहखाने इत्यादि उसके रहने के स्थान होंगे। द्रव्य की संपूर्ण मात्रा, न कम न अधिक, की माँग अवश्य होनी चाहिए, अर्थात् उसकी संपूर्ण मात्रा किसी न किसी के पास अवश्य होनी चहिए। परन्तु इस मात्रा का अर्घ अथवा क्रय-शक्ति—अर्थात् अन्य वस्तुओं के रूप में द्रव्य की माँग—परिवर्तित हो सकती है।

मकानों की माँग में (उनकी संख्या निश्चित रहने पर) वृद्धि उनके अर्घ में वृद्धि के द्वारा सूचित होती है। इसी प्रकार द्रव्य की माँग में वृद्धि द्रव्य के अर्घ में वृद्धि द्वारा—अर्थात् मूल्यों में साधारण ह्रास द्वारा जैसा मंदी के समय होता है,—सूचित होती है। मंदी के समय द्रव्य की माँग बढ़ जाती है; इसीसे मूल्य-स्तर गिर जाता है यद्यपि द्रव्य के परिमाण में वृद्धि हो सकती है। क्योंकि द्रव्य की माँग का अर्थ है अन्य प्रकार की संपत्ति के बदले द्रव्य रखने की माँग।

बहुत से लोग और व्यवसाय-संस्थाएँ (जिनमें बैंक भी हैं) सर्वदा द्रव्य लेते और देते रहते हैं। धन संचय करने वालों को छोड़कर विभिन्न समयों पर लोग विभिन्न मात्रा में द्रव्य रखते हैं। शुक्रवार को साप्ताहिक वेतन पानेवालों के पास वृहस्पतिवार की संध्या की अपेक्षा शुक्रवार की संध्या को अधिक द्रव्य रहता है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति या संस्था प्रतिदिन द्रव्य की कुछ मात्रा अवश्य रखती है। परन्तु वे कितना द्रव्य औसत रूप में रखना चाहते हैं इसका निर्णय कैसे हो सकता है?

यदि वे द्रव्य न रखें तो या तो उसे व्यय करें या विनियुक्त कर सकते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि लोग वस्तुओं की वृहत् राशि (जिसके बिगड़ जाने की आशंका रहती है) के बदले द्रव्य रखना क्यों पसंद करते हैं। प्रश्न यह है कि जबतक उस द्रव्य को व्यय करने का समय

---

१. अध्याय १८ विभाग ७ और अध्याय २१ विभाग ५.

नहीं आता तबतक वे उसे विनियुक्त क्यों नहीं करते जिससे उस पर उन्हें ब्याज मिले? इसका एक कारण यह है कि छोटी राशियों को अल्प समय के लिए विनियुक्त करना व्यय-साध्य तथा असुविधाजनक होता है। दूसरा कारण यह है कि लोग यह निश्चय नहीं कर पाते कि निकट भविष्य में उन्हें कितने नगद की आवश्यकता होगी और संभाव्य अप्रत्याशित अवसरों के लिए कुछ नगद या बैंक-जमा द्रव-कोष (Liquid reserve) के रूप में रखना चाहते हैं। अन्तिम कारण यह है कि उन्हें आशंका रहती है कि संभव है प्रतिभूतियों का मूल्य गिर जाय। इस प्रकार व्यक्ति और संस्थाएँ प्रायः अपनी संपत्ति का कुछ अंश द्रव्य के रूप में रखती हैं। पंजी-निदेश (Book-entry) की क्रिया द्वारा क से प्राप्य ख के ऋण को ख से प्राप्य क के ऋण का भुगतान करने की प्रथा में (जब एक ही पक्के माल को उसकी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में उत्पादित करने वाली अनेक संस्थाएँ मिलित (Amalgamate) हो जाती है तब इस प्रथा का व्यवहार पराकाष्ठा को पहुँच जाता है) वृद्धि होने से द्रव्य की माँग घट जायगी। यदि वेतन-भोगियों का भुगतान चेक द्वारा किया जाय तो वे अपने द्रव्य का कुछ भाग नगद न रखकर बंक-जमा के रूप में रखेंगे, इससे बंक अपने नगद कोष आदि का प्रतिशत घटाए बिना अपने संपूर्ण जमा का विस्तार कर सकेंगे।

अब मान लीजिए कि लोग सोचते हैं कि लाभ की दर बढ़ रही है। तब वे अपनी संपत्ति का अल्पांश द्रव्य के रूप में रखना पसंद करेंगे क्योंकि अब पहले की अपेक्षा विनियोजन (Investment) अधिक लाभदायक है और द्रव-रूप में द्रव्य की आवश्यकता अधिक नहीं है। विनियोजन में वृद्धि होगी। नई पूँजी पर अधिकार पानेवाले साहसियों आदि द्वारा क्रय बढ़ेगा जिससे मूल्य में भी वृद्धि की प्रवृत्ति होगी। अतएव द्रव्य के रूप में अपनी संपत्ति का अल्पांश रखने की जनता की इच्छा पूरी हो जायगी। संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास पहले ही के बराबर हो फिर भी उसका अर्घ कम होगा। इसी प्रकार यदि लोग सोचते हैं कि मूल्य में वृद्धि होने वाली है तो वे अधिक पदार्थ और कम द्रव्य रखने का प्रयत्न करेंगे और पदार्थों के क्रय में वृद्धि होने से उनके मूल्य बढ़ जायँगे और द्रव्य की किसी निश्चित मात्रा का अर्घ घट जायगा।

दूसरे शब्दों में, जब लोग समझते हैं कि विनियोजन अधिक लाभदायक है और मूल्यों में वृद्धि होनेवाली है तब उनका "द्रवताधिमान" (Liquidity-preference) घट जाता है; वे अपनी संपूर्ण संपत्ति का अपेक्षाकृत अल्पांश द्रव्य के रूप में रखना चाहते हैं। जब वे इसके विपरीत सोचते हैं तब उनका द्रवताधिमान बढ़ जाता है; मियादी खाते का चालू खाते से अनुपात बढ़ने लगता है। तब द्रव्य की माँग का निर्णय

इनके द्रवताधिमान द्वारा और साथ ही ऐसी चीजों द्वारा होता है जैसे कारबारों में घनिष्ठता की मात्रा पंजी-साख (Book credit) के उपयोग की सीमा, चेकों के व्यवहार की सीमा—अर्थात् ऐसी चीजें जो अल्पकाल में अधिक परिवर्तित नहीं होतीं। परन्तु यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि विभागीय मूल्य तरों में (Sectional price-levels) भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्त्तन देखने में आ सकते हैं; शीघ्रता से होने वाले परिवर्त्तनों के दिनों में।[1]

६. द्रव्य के अर्घ में परिवर्तन के प्रभाव

(The Effects of Changes in the Value of Money)

यद्यपि हम द्रव्य के अर्थ में होने वाले परिवर्त्तनों की ठीक ठीक माप नहीं कर सकते फिर भी वे परिवर्तन ऐसे स्पष्ट होते हैं कि बहुधा उनमें शंका के लिए स्थान नहीं होता। हम जानते हैं कि वे हुए हैं और स्थूल रूप से यह भी जानते हैं कि वे कितने बड़े थे।

कभी कभी तो वे सचमुच बहुत बड़े हुए हैं। प्रथम महायुद्ध के दिनों में, और उसके पश्चात् भी, यूरोपीय देशों के मूल्य-स्तर में पर्याप्त वृद्धि हुई थी। जर्मनी में वह वृद्धि चरम सीमा पर पहुँच गई थी। १९२३ के ग्रीष्मकाल में जर्मनी के कागजी मार्क में बहुत से मूल्य पिछले कई वर्षों के मूल्य से कई लाख गुना अधिक हो गए थे।

---

१. अध्याय १८ में हम देख चुके हैं कि एक विचारक-संप्रदाय (School of thought) के अनुसार द्रव्य की माँग और पूर्ति ब्याज-दर का निर्णय करती है। अब हम यह कह रहे हैं कि वे मूल्य-स्तर का निर्णय करती है। जो लोग पहले मत में विश्वास करते हैं वे पिछले मत के भी समर्थक हो सकते हैं, और दोनों के विरोधाभास को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। वे कह सकते हैं कि ब्याज-दर द्रव्य के परिमाण और मूल्य-स्तर में संबंध स्थापित करने वाली कड़ी है। द्रव्य के परिमाण और मूल्य में कोई सीधा संबंध नहीं है, मूल्य को प्रभावित करने वाला द्रव्य का परिमाण (M) नहीं है वरन् संपूर्ण व्यय (M.V.) है। और संपूर्ण व्यय साधारणतः तभी बढ़ेगा जब कि नए उत्पादक पदार्थों में, या तो इस कारण से कि साहसी समझते हैं कि पूँजी की लाभदायकता बढ़ गई है अथवा इस कारण कि कुछ ब्याज-दर गिर गई है, वृद्धि होगी। उदाहरणार्थ द्रव्य के परिमाण में वृद्धि, कुछ परिस्थितियों में, ब्याज-दर घटा देगी जिससे विनियोजन अधिक हो जायगा और मूल्यों का सामान्य स्तर बढ़ जायगा। इस प्रकार द्रव्य की माँग और पूर्ति ब्याज-दर और मूल्यों का सामान्य स्तर दोनों का निर्णय करती है।

फिर १९३० के आसपास की "बड़ी मंदी" के कारण मूल्य के सामान्य-स्तर का पर्याप्त पतन हुआ था। इस परिवर्त्तन की सीमा विभिन्न देशों में भिन्न भिन्न थी। कुछ देशों ने अपने द्रव्य की तुलना में मल्य के पतन को कम करने के लिए स्वर्णमान को छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त व्याज-दर में पतन "विश्वसनीय" (Safe) ऋणियों द्वारा निष्कासित स्थिर व्याजवाली प्रतिभूतियों के मूल्य में वृद्धि के रूप में, व्यक्त हुआ था। फिर भी, यह निश्चित है कि १९२८ और १९३२ के बीच स्वर्ण की तुलना में सामान्य मूल्य-स्तर गिरकर आधे और तिहाई के बीच तक चला गया था। इस प्रकार के महान् परिवर्त्तनों के बड़े महत्त्व-पूर्ण परिणाम होते हैं।

मान लीजिए कि द्रव्य का अर्घ गिर रहा है अथवा, यों कहें कि मूल्य का सामान्य स्तर चढ़ रहा है। तो कुछ मूल्य दूसरों की अपेक्षा अधिक वेग से चढ़ेंगे। अधिकतर वस्तुओं के मूल्य मजदूरी—अर्थात् श्रम-सेवा के मूल्य—की अपेक्षा अधिक वेग से चढ़ेंगे। इससे सभी प्रकार के श्रमों के सीमान्त उत्पाद का मूल्य चढ़ जायगा। यदि पहले कुछ श्रमी अनधियुक्त रहे होंगे तो उनमें से बहुतों को काम मिल जायगा और संभव है अधिसमय (Overtime) कार्य भी करना पड़े। लाभ बढ़ जायँगे। साधारण हिस्सों और उत्पादक पदार्थों के मूल्य भी बढ़ने लगेंगे। निश्चित व्याज-दर पर ऋण लेने वाले यदि उस द्रव्य का उपयोग ऐसी वस्तुएँ खरीदने में करेंगे, जिन्हें मूल्य में वृद्धि होते रहने के कारण लाभ पर वेच सकें, अथवा ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करने में करेंगे जिनका मूल्य चढ़ गया है परन्तु जो ऐसे साधनों से उत्पन्न की जाती है जिनका मूल्य अपेक्षाकृत कम चढ़ा है; तो लाभ में रहेंगे। जो निश्चित व्याज पर ऋण देंगे वे घाटे में रहेंगे क्योंकि जब उसका द्रव्य लौटाया जायगा तब पहले की अपेक्षा उसकी क्रय-शक्ति घट जायगी। लाभ की बढ़ी हुई दर जहाँ साधारण हिस्सों का मूल्य बढ़ा देगी वहाँ निश्चित व्याज उत्पन्न करने वाली प्रतिभूतियों का मूल्य गिरा देगी। साहसियों के ऊपर "स्थिर शुल्कों का भार" (Burden of fixed charges) घट जायगा क्योंकि यद्यपि द्रव्य के रूप में शुल्क वही रहेगा फिर भी साहसियों की प्राप्ति बढ़ जायगी। द्रव्य के अर्घ में पतन के कारण द्रव्य रखने वाले अथवा द्रव्य की निश्चित राशि का अधिकार रखने वाले स्पष्ट ही घाटे में रहेंगे; इसके अन्तर्गत स्थिर आयवाले सभी आते हैं।

उत्पादन के स्वरूप (Structure) पर भी प्रभाव पड़ेगा जैसा कि व्यापार-चक्र का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं। यदि मूल्य में वृद्धि, साहसियों द्वारा व्यय किए गए द्रव्य से बढ़ी हुई पूर्ति के कारण हुई

हैं तो उपभोग्य वस्तुओं की तुलना में उत्पादक की वस्तुओं (Producers' goods) की माँग अधिक होगी और उत्पादन का स्वरूप अधिक "पूँजीवादीय" हो जायगा।

द्रव्य के अर्घ में पर्याप्त पतन के सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ; इंगलैंड में १६वीं और १७वीं शताब्दियों में राजा के हाथ से पार्लमेंट के हाथ में अधिकार के अन्तरण (Transference) में मूल्य-स्तर में वृद्धि का बहुत बड़ा भाग रहा है। शासक की आय लगभग स्थिर थी परन्तु उसका व्यय मूल्य में वृद्धि के साथ साथ बढ़ता गया जिससे कर बढ़ाना आवश्यक हो गया और शासक को अधिक द्रव्य देने के बदले पार्लमेंट उससे सुविधाएँ प्राप्त करने में सफल हुई। फिर, बहुत से निरीक्षकों का कथन है कि जर्मनी में युद्धोत्तर कालीन मुद्रास्फीति (Postwar inflation) ने "मध्यम श्रेणी" को नष्ट कर दिया जिससे राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो गया।

जब द्रव्य का अर्घ चढ़ता रहता है तो अभी जो हमने वर्णन किए हैं उसके ठीक विपरीत प्रभाव पड़ते हैं। विशेषतः यदि मजदूरी की दर कुछ भी "अड़ीली" (Sticky) है (और वह प्रायः होती है) तो श्रम के सीमान्त उत्पादन का अर्घ घट जायगा और अनधियोजन बढ़ेगा। बड़ी मन्दी (The Great Depression) में अधिकतम मंदी के समय मुख्य मुख्य औद्योगिक देशों में अनधियुक्त श्रमियों की संख्या ३ करोड़ से ऊपर थी।

७. द्रव्य के अर्थ में परिवर्त्तनों का माप
(The Measurement of Changes in the Value of Money)

यदि चीनी ४ आ० सेर बिकती है तो सेर चीनी के माप से १ रु० का मूल्य ४ हैं। यदि चीनी का मूल्य ४ आ० से ८ आ० सेर हो जाता है तो सेर चीनी में रुपए का मूल्य गिर कर २ हो जाता है। इस परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए चाहे हम यह कहें कि चीनी का मूल्य १०० प्र० श० चढ़ गया है या यह कहें कि चीनी की तुलना में रुपए का मूल्य ५० प्र० श० गिर गया है। चूंकि द्रव्य अर्घ के सामान्य माप का कार्य करता है इसीसे हम लोग द्रव्य के अर्घ में परिवर्त्तन की कल्पना पदार्थ के रूप में नहीं करते वरन् पदार्थ के अर्घ में परिवर्त्तन को द्रव्य में व्यक्त करते हैं जिसे मूल्य कहते हैं।

दो तिथियों के बीच, द्रव्य के अर्घ में परिवर्त्तन को हम कुछ पदार्थों के समूह (जैसे खाद्य पदार्थ) द्वारा नाप सकते हैं। मान लिया कि हम हर प्रकार के खाद्य पदार्थ का दोनों तिथियों पर फुटकर मूल्य जानते हैं।

तो इन आँकड़ों को कई प्रकार से संक्षिप्त करके एक अंक में व्यक्त कर सकते हैं जो दोनों तिथियों के बीच "खाद्य पदार्थों के मूल्य-स्तर" (Price-level of foodstuffs) में प्रतिशत परिवर्तन व्यक्त करेगा, और भिन्न भिन्न विधियों से भिन्न भिन्न परिणाम निकलेंगे। चाय और रोटी दो वस्तुओं के 'समूह' को लेकर संक्षेप में हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं। मान लिया कि रोटी का मूल्य गिरकर ६$\frac{1}{4}$ पेंस से ६ पेंस हो गया है और चाय का मूल्य २ शि० प्रति पौंड से घटकर २॥ शि० प्रति पौंड हो गया है। तो उस समूह के मूल्य-स्तर में परिवर्तन को नापने का एक ढंग यह है कि सभी प्रतिशत परिवर्तनों को जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग दे दिया जाय। इस प्रसंग में, ४ प्रतिशत ऋण और २५ प्र० श० धन को जोड़ कर वस्तुओं की संख्या से भाग देने पर १०·५ प्र० श० वृद्धि होगी। परन्तु इस विधि से प्रत्येक वस्तु को समान "महत्त्व" (Weight) मिलता है। मान लिया कि पहली तिथि को प्रत्येक पौंड चाय के साथ ३० रोटियाँ उपभोग में लाई गईं। तो हम ३० रोटियों और १ पौंड चाय के समूह के अर्घ में होनेवाले परिवर्तन को नाप सकते हैं। इस प्रकार के समूह का व्यय पहली तिथि को १७ शि० ७$\frac{1}{2}$ पेंस था और दूसरी तिथि को १७ शि० ६ पें०; इस प्रकार इस महत्त्व देने (Weighting) की विधि से ७ प्र० श० का ह्रास होता है। यह भी संभव है कि पहली तिथि को प्रत्येक पौंड चाय के साथ २० रोटियों का उपभोग हुआ हो। तब इस समूह का मूल्य १२ शि० ५ पें० से बढ़कर १२ शि० ६ पें० हो गया। अतएव हमारा फल 'महत्त्व' (Weight) देने के अनुसार बदल सकता है।

१९३७ के प्रारंभ में धातुओं के मूल्य में जो अस्थायी परन्तु प्रेक्षणीय (Spectacular) वृद्धि हुई थी उसका विचार करके हम इस बात को और भी स्पष्ट कर सकते हैं। निम्नलिखित तालिका में तीनों तिथियों पर प्रति टन मूल्य दिया गया है।

	११ मार्च १९३६	१० फरवरी १९३७	१० मार्च १९३७
	पौं०	पौं०	पौं०
इस्पात (छड़)	१०	१०·५	१२
ताँबा (बिजली के तार वाला)	४०	६१	७७
सीसा (कच्चा)	१९	२९	३७·५
जस्ता	१६	२३	३६
टिन (ढले हुए टुकड़े)	२१५	२३७	३०१

११ मार्च १९३६ की तुलना में १० फरवरी १९३७ को इस्पात के मूल्य में प्रतिशत वृद्धि ५, ताँबे में ५२, सीसे में ५३, जस्ते में ४४ और टिन में १० थी। यदि हम इन सब को जोड़ दें और ५ से भाग दें तो हमें पता चलेगा कि औसत वृद्धि ३३ प्रतिशत हुई। ११ मार्च १९३६ की तुलना में १० मार्च १९३७ को इस्पात के मूल्य में प्र० श० वृद्धि २०, ताँबे में ९२, सीसे में ९७, जस्ते में १२५, और टिन में ४० थी। यदि इन सब को जोड़कर ५ से भाग दें तो पता चलेगा कि औसत वृद्धि ७५ प्र० श० हुई। ये फल इस प्रकार से सूचकांकों (Index numbers) की अवलि (Series) रूप में व्यक्त किए जा सकते हैं—

धातु-मूल्यों का सूचकांक

११ मार्च,	१९३६	....	१००
१० फरवरी,	१९३७	....	१३३
१० मार्च,	१९३७	....	१७५

परन्तु इन पाँचों धातुओं का आपेक्षिक महत्त्व एक सा नहीं है। १९३५ में संसार भर का टिन उत्पादन केवल १४५००० मीटरीय टन था; इस्पात का १००० लाख मीटरीय टन के ऊपर था—लगभग ७०० गुना अधिक; और शेष तीनों में से प्रत्येक का लगभग १० गुना था। इन तीनों तिथियों पर ७०० टन इस्पात, १० टन ताँबा, १० टन सीसा, १० टन जस्ता और १ टन टिन के एक समूह का मूल्य कलन (Calculate) करके हम इन 'महत्त्वों' (Weights) को प्रयुक्त कर सकते हैं। ११ मार्च, १९३६ को उसका मूल्य ७९६५ पौंड था, १० फरवरी, १९३७ को ८७१७ पौंड हो गया अर्थात् ९ प्र० श० बढ़ गया; और १० मार्च, १९३७ को १०२०६ पौंड हो गया अर्थात् २८ प्र० श० बढ़ गया। अतएव इस प्रकार सूचक अंक (Index number) बनाने पर ऊपर दिए हुए सूचक अंक से कम वृद्धि व्यक्त करेगा और वह इस प्रकार का होगा।

धातु मूल्यों का सूचकांक

११ मार्च,	१९३६	....	१००
१० फरवरी,	१९३७	....	१०९
१० मार्च,	१९३७	....	१२८

परन्तु भिन्न प्रकार से जैसे किसी दूसरे वर्ष के उत्पादन अथवा किसी विशेष देश के उपभोग्य के अनुसार—महत्त्व दिए हुए (Weighted) सूचकांक के फल भिन्न होंगे।

यह स्पष्ट है कि, चाहे जिस विधि से अधिक उपयुक्त जान पड़े, सब प्रकार के 'विभागीय मूल्य-स्तरों' (Sectional price levels) में कालान्तर में होनेवाले, परिवर्त्तनों को नापना संभव है। इस प्रकार हम कालान्तर में कच्चे माल या खनिज पदार्थ, या पक्के माल, या निर्यात होनेवाली वस्तुओं, या थोक मूल्य पर बिकनेवाली वस्तुओं, या फुटकर बेची जानेवाली वस्तुओं के समूह के मूल्य में परिवर्त्तन को नाप सकते हैं। समूहों को हम एक साथ भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ **"दी इकौनोमिस्ट"** का ब्रिटेन के थोक मूल्यों का सूचकांक यह व्यक्त करता है कि २१ सितम्बर १९३१ को, जब ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग किया अन्नों (Cereals) और मांस का मूल्य-स्तर (Price-level) उनके १९२७ वाले स्तर का ६४·५ प्र० श० था, अन्य खाद्यों का ६२·२ प्र० श०, वस्त्रों का ४३·७ प्र० श०, खनिजों का ६७·४ प्र० श० और फुटकर वस्तुओं का ६५·८ प्र० श० था। इन सब समूहों का संयुक्त मूल्य-स्तर १९२७ के मूल्य-स्तर का ६०·४ प्र० श० था। हमारी सीमा केवल पदार्थों तक ही बद्ध नहीं है। हम उन सभी वस्तुओं का समूह बना सकते हैं जो द्रव्य द्वारा खरीदी जा सकती हैं। जैसे हम बंट और हिस्सों (Stocks and shares) या मकान-भाड़ों के मूल्य-स्तर में कालान्तर में होने वाले परिवर्तनों को नाप सकते हैं, और "मजदूरी की दरों के सामान्य-स्तर" (The general level of wage-rates) में परिवर्तन को नापने के लिए विभिन्न प्रकार की मजदूरी की दरों में होने वाले परिवर्त्तनों को संयुक्त कर सकते हैं। तुलना की सुविधा के लिए प्रायः उनके फल को सूचकांकों में दिखाते हैं। किसी तिथि पर, जिसे "आधार" तिथि" (Base date) कहते हैं, उस समूह का मूल्य सूचक अंक १०० के द्वारा व्यक्त किया जाता है और दूसरी तिथियों पर मूल्यों को आधार वर्ष के मूल्य के प्रतिशत के रूप में व्यक्त करते हैं। जैसे खाद्य पदार्थों के फुटकर मूल्य-स्तर में होनेवाले परिवर्तनों में नापने के लिए ब्रिटेन के श्रम-विभाग द्वारा उपयोग में लाया जाने वाला खाद्य पदार्थों के समूह का मूल्य आधार वर्ष जुलाई १९१४, में २२३·८ पेंस था और १ जनवरी १९२९ को ३५४·६ पेंस था। अतएव पहली तिथि का सूचक अंक १०० हुआ और दूसरी तिथि का १५९ क्योंकि $\frac{३५४·६}{२२३·८} = \frac{१५९}{१००}$ भिन्न भिन्न स्थानों के बीच द्रव्य के अर्घ में होने वाले अन्तर को नापने के लिए यही विधि उपयोग में लाई जा सकती है।

वस्तुओं के एक समूह की तुलना में द्रव्य का अर्घ वस्तुओं के दूसरे समूह की तुलना में उसके अर्घ से भिन्न प्रकार से गतिशील हो सकता है, और प्रायः होता ही है। उदाहरणार्थ निर्वाह-स्तर (Cost of living) (फुटकर खाद्य-पदार्थ, मकान-भाड़ा, कपड़े इत्यादि), मजदूरी के सामान्य

स्तर की अपेक्षा गिर या चढ़ सकता है; बंट और हिस्सों का मूल्य-स्तर थोक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा चढ़ सकता है, निर्यात का मूल्य आयात की अपेक्षा चढ़ या गिर सकता है। इस प्रकार की विभिन्नताएँ प्रायः महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्त्तनों की द्योतक होती हैं, और जो भी प्रचलित समस्याओं के अध्ययन में आर्थिक विश्लेपण का प्रयोग करना चाहता है उसे इनका जानना और इनके महत्व को सराहना आवश्यक है। वास्तव में ये विभागीय मूल्य-स्तर, और उनकी प्रगतियों में परिवर्त्तन, सब को सम्मिलित करने वाले सूचकांक (Index number) की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिसका उद्देश्य, उन सभी वस्तुओं के द्वारा जिनसे द्रव्य का विनिमय होता है, द्रव्य के अर्घ में होने वाले परिवर्त्तनों को नापना है। मेरे विचार से इस प्रकार का सूचकाक ऐसा गड़बड़ सड़बड़ होगा कि वह निरर्थक होगा, यद्यपि तर्क की दृष्टि से यही एक साधन है जिसके द्वारा "वस्तुमात्र" (Things in general) की तुलना में द्रव्य के अर्घ में परिवर्त्तन नापे जा सकते हैं।

केवल विभागीय मूल्य-स्तर का यथेष्ट और ठीक सूचकांक संपादित करने में एक व्यावहारिक कठिनाई यह हो सकती है कि मूल्यों के आँकड़े एकत्र करना व्ययसाध्य है। यह कार्य प्रायः सरकारों द्वारा होता है परन्तु उन हजारों भिन्न भिन्न चीजों के विषय में, जो प्रतिदिन द्रव्य के विनिमय में वेची जाती हैं, कोई सरकार आँकड़े एकत्र करने का प्रयत्न नहीं करती। जिन वस्तुओं का संगठित वाजार में आदान-प्रदान होता है उनके मूल्यों का पता लगाना सरल है; परन्तु फुटकर वेची जाने वाली चीजों के संबंध में संतोपजनक आंकड़े एकत्र करना वहुत कठिन है। इस प्रकार जो सूचकांक निर्वाह-व्यय (Cost of living) में हाने वाले परिवर्त्तनों को नापने का प्रयत्न करता है वह या तो इसलिए दूपित है कि जो वस्तुएँ सम्मिलित की जाती हैं उनकी अपेक्षा जो नहीं की जातीं उनके मूल्यों में अधिक विभिन्नता होती है या इसलिए कि जिन मूल्यों का संग्रह किया जाता है वे वही मूल्य नहीं होते जिन पर वस्तुएँ वास्तव में विकती हैं। परन्तु यह कठिनाई अपेक्षाकृत साधारण है और अधिकांश विद्यमान सूचकांकों को विश्वसनीय मानने में अधिक वाधक नहीं होती।

सूचकांक के विषय में वास्तविक कठिनाई को प्रायः "सूचकांक समस्या" (The index-number problem) कहते हैं, और उसको सुलझाने का कोई उपाय नहीं संभव जान पडता। वह कठिनाई इस वात का निर्णय करने में है कि कौन कौन-सी वस्तुएँ सम्मिलित करनी चाहिएँ और उनको किस प्रकार महत्त्व (Weight) देना चाहिए। इस कठिनाई को हम तीन शीर्षकों में उपस्थित करेंगे; परन्तु ये तीनों वास्तव में एक ही समस्या से संबंध रखती हैं।

सबसे पहले, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के पास भिन्न भिन्न परिणाम में संपत्ति होती है और वे भिन्न भिन्न वस्तुएँ खरीदते हैं। अतएव मूल्यों में कोई परिवर्त्तन होने पर एक व्यक्ति पर दूसरे से भिन्न प्रभाव पड़ेगा। जैसे संभव है कि किसी विशेष समय के प्रतिनिधि (Typical) श्रम-वर्गीय (Working-class) परिवारों के उपभोग के आधार पर संपादित किया हुआ निर्वाह-व्यय सूचकांक (Cost-of-living index number) का मध्य-वर्गीय (Middle-class) परिवारों से, अथवा उन श्रम-वर्गीय परिवारों से जिनका उपभोग "प्रतिनिधि" परिवारों के उपभोग से बहुत भिन्न होता हो, कोई संबंध न हो। इसके अतिरिक्त, ज्यों-ज्यों समय वीतता जाता है, वही व्यक्ति अपने धन या रुचि में परिवर्त्तन के कारण अपनी आदतें बदल सकता है। ब्रिटेन के सरकारी श्रम-विभाग (British Ministry of Labour) द्वारा प्रस्तुत किया हुआ निर्वाह-व्यय-सूचकांक १९०४ में प्रतिनिधि श्रम-वर्गीय परिवार के उपभोग के आधार पर बना है। १९३८ तक वह दीनातीत (Out of date) स्वीकार कर लिया गया था। वर्तमान उपभोग के आधार पर एक नया सूचकांक संपादित किया जाने वाला है। परन्तु १९०४ के निर्वाह-व्यय और १९३८ के निर्वाह-व्यय में सचमुच सन्तोष-जनक तुलना करने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि इस अवधि में उपभोग की आदतों में वहुत अंतर पड़ गया है।

दूसरी बात यह है कि एक वस्तु एक समय या एक स्थान पर बिकती है, और दूसरे समय या स्थान पर नहीं बिकती अतएव उसके आँकड़े सम्मिलित नहीं करने चाहिएँ। इस प्रकार बहुत-सी नई चीजों का जैसे मोटर, रेडियो, कृत्रिम रेशम और विद्युतीय-प्रसाधक (Electrical apparatus) और सिनेमा देखना आदि का, कुछ विगत दशकों में विनि-मय के क्षेत्र में प्रवेश हो गया है। किसी वस्तु का नाम चाहे वही हो फिर भी उसके ढंग और कोटि में भिन्नता हो सकती है। कृत्रिम रेशम के मोजे वही नहीं हैं जो ऊनी मोजे; १९३८ की मोटरें वही नहीं हैं जो १९२८ की थीं; इत्यादि। उष्ण कटिबन्धों के देशों के वस्त्र और भवन वही नहीं हैं जो समशीतोष्ण भागों के। इसका अर्थ यह है कि उन स्थानों और कालों की तुलना का, जिनमें द्रव्य के विनिमय में विकने वाली वस्तुओं के समूह एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं, कोई महत्त्व नहीं है। अल्प अवधि में भी वही कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि कुछ वस्तुएँ केवल विशेष ऋतुओं में अधिक व्यापक रूप में विकती हैं। यही कारण है कि ब्रिटेन का सरकारी श्रम-विभाग वाध्य होकर अपने निर्वाह-व्यय-सूचकांक से फलों और आलू के अतिरिक्त अन्य तरकारियों को पृथक् कर देता है।

तीसरे, आपेक्षिक मूल्य और विक्री के लिए प्रस्तुत होनेवाली विभिन्न

वस्तुओं के आपेक्षिक परिमाणों में तुलना के विभिन्न कालों और स्थानों पर अन्तर पड़ सकता है। यदि एक समय या स्थान पर प्रत्येक पृथक् वस्तु का मूल्य दूसरे समय या स्थान की अपेक्षा १० प्रतिशत अधिक हो तो हम कह सकते हैं कि मूल्यों का सामान्य-स्तर १० प्र० श० ऊँचा था क्योंकि वस्तुओं का कोई भी समूह उसी मूल्य पर विकेगा। इसी प्रकार यदि विभिन्न वस्तुओं के आपेक्षिक परिमाण ठीक एक से हों तो कुछ निश्चित अनुपातों में सम्मिलित विभिन्न वस्तुओं की मात्राओं को हम अपने सूचकांक का आधार बना सकते हैं परन्तु अधिकतर आपेक्षिक मूल्यों की गति बेचे गए आपेक्षिक परिमाणों की अपेक्षा भिन्न होती है। ज्यों ज्यों समय बीतता है अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। संकुचित अर्थ में रुचि में परिवर्त्तन हो सकता है; उदाहरणार्थ, अंग्रेज लोग सामान्य शराब (Beer and spirit) पीते हैं और स्त्रियाँ अब श्रृंगार-कक्षों (Beauty-parlours) में अधिक समय और धन व्यय करती हैं। जन-संख्या की वय-रचना (Age-composition) में परिवर्त्तन हो सकता है: ब्रिटेन में बच्चों के ह्रासमान अनुपात के कारण बच्चों की गाड़ियों और शिशु-खाद्यों की बिक्री बहुत घट गई है। जन-संख्या की वास्तविक आय अथवा लोगों में उसका वितरण परिवर्तित हो सकता है, वास्तविक आय में वृद्धि, जैसी कि इधर वे कुछ वर्षों में अधिकांश देशों में हुई है, लोगों को ऐसी वस्तुएँ खरीदने को प्रेरित करेगी जो विलासिता की वस्तुएँ [जैसे मोटर, रेडियो, शीतक (Refrigerators), धूलि-शोषक (Vacuum cleaners), फल और मक्खन] समझी जाती थीं और वे ऐसी वस्तुएँ कम खरीदेंगे जैसे रोटी और मोटे खाद्य-पदार्थ, वस्त्र, इत्यादि। क्रियाकल्पात्मक उन्नति से कुछ वस्तुओं का मूल्य घट जा सकता है जिसके फलस्वरूप लोग उसे अधिक मात्रा में खरीदने लगेंगे। मंदी के समय, 'स्वर्णावृत्त' प्रतिभूतियों (Gilt-edged securities) की माँग बढ़ने लगती है और साधारण हिस्सों की माँग घटने लगती है, और तेजी के समय इसका विपरीत होता है।

यदि स्थानों के बीच तुलना की जाती है तो भी वही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी के नगरों में निर्वाह-व्यय के विषय में ब्रिटेन की जाँच, जो प्रथम महायुद्ध के पूर्व हुई थी, यह निष्कर्ष निकाला था कि जर्मनी के श्रमियों द्वारा अधिकतर उपयुक्त (Consumed) वस्तुओं और सेवाओं का इंगलैंड में मूल्य जर्मनी की अपेक्षा १० प्रतिशत अधिक है उधर अंग्रेजी श्रमिकों द्वारा अधिकतर उपयुक्त वस्तुओं और सेवाओं का जर्मनी में मूल्य इंगलैंड की अपेक्षा २० प्रतिशत अधिक है।

इस कठिनाई का अर्थ यह है कि 'महत्त्वों' (Weights) का एक

गुच्छ (Set) दूसरे की अपेक्षा सर्वथा भिन्न परिणाम उपस्थित करता है, जैसा कि हमने अपने रोटी और चाय तथा धातुओं वाले उदाहरणों में देखा है। अनेक प्रकार के समझौते संभव हैं। उदाहरणार्थ, महत्त्वों के विभिन्न गुच्छों से प्राप्त फलों का औसत निकाल सकते हैं अथवा हम 'सममानों' (Equivalents) की एक तालिका प्रस्तुत कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, हम मान ले सकते हैं कि ५० लिटर (१००० घन फीट= १ लिटर) सामान्य मदिरा (जो फ्रांस के श्रमियों का मुख्य पेय है) और १ पौंड चाय (जो अंग्रेज श्रमियों का मुख्य पेय है) सममान हैं, अथवा १ पौंड मक्खन (जिसका उपयोग इधर के कुछ वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में बढ़ गया है) २ पौंड वनस्पति घी का सममान है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का कोई भी समझौता पूर्णतः संतोषजनक नहीं होगा और हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि विभिन्न कालों और स्थानों के बीच द्रव्य के मूल्य की भिन्नता का कोई भी माप न्यूनाधिक मात्रा में अशुद्ध और मनमाना अवश्य होगा।

पंचम खंड

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पचीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

१. प्रस्तावना

अब हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि संसार अनेक देशों में बँटा हुआ है जिनके बीच व्यापार, विनियोजन और निष्क्रमण (Migration) हो सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि जिस निष्कर्ष पर हम पहले पहुँच चुके हैं उसे यह तथ्य उलट नहीं देता। उदाहरणार्थ, ह्रासमान उत्पत्ति नियम (Law of Diminishing Returns), अथवा यह तथ्य कि कुछ सीमा तक अधिक विशेषीकरण के द्वारा या अधिक पूंजीवादीय विधियों द्वारा या क्रियाकल्प में उन्नति द्वारा उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, सर्वदा सत्य है, चाहे संसार में कम देश हों या अधिक। इसी प्रकार यह तथ्य कि मूल्य माँग और पूर्ति को सम करता है अथवा यह कि किसी साधन का मूल्य स्पर्द्धा में प्रायः उस साधन के सीमान्त उत्पादन के अर्थ के बराबर होता है—ये सब सामान्य तथ्य (Propositions) हैं जो उन सभी स्थानों पर लागू होते हैं जहाँ पूंजीवाद है; ये फ्रांस, जापान या किसी अन्य देश में भी समान रूप से लागू होते हैं। तब हम, आर्थिक विश्लेषण के लिए, राष्ट्रीय सीमाओं का विचार क्यों करें?

संभवतः इसका मुख्य कारण यह है कि पूंजी और श्रम स्वदेश में जितने अधिक गतिशील होते हैं उसकी अपेक्षा एक देश से दूसरे देश में जाने में कम गतिशील होते हैं। अधिक वेतन का आकर्षण होने पर भी श्रमी प्रायः अन्य देशों में जाने से हिचकते हैं; विशेषतः जब भाषा और रहन-सहन का ढंग भिन्न होता है। पूंजीवाले प्रायः सोचते हैं कि स्वदेश की अपेक्षा विदेश में विनियोजन अधिक संकटापन्न है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय सरकारें प्रायः श्रम और पूंजी को देश की सीमा के बाहर जाने में बाधा डालती हैं। इस प्रकार आजकल बहुत सी सरकारें श्रमियों के आप्रवासन (Immigration) और पूंजी के निर्यात दोनों पर नियंत्रण रखती हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि एक ही देश में उत्पादन के साधनों का एक जिले से दूसरे में जाना सर्वदा सरल नहीं होता; परन्तु एक देश से दूसरे देश में गमनागमन (Movement) इतना कठिन है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक विशेष सिद्धान्त प्रतिपादित करना युक्तिसंगत

माना गया है। इसके अतिरिक्त कोई राष्ट्रीय सरकार अपनी राष्ट्रीय आर्थिक नीति का अनुसरण करने के लिए बहुत प्रकार के उपाय कर सकती है। जैसे वह आयात पर कर अथवा यथांश (Quota) का प्रतिबंध लगा सकती है अथवा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण लगा सकती है। प्रस्तुत खंड में इस प्रकार के उपायों के आर्थिक प्रभावों का कुछ अध्ययन किया जायगा। इसमें पृथक् राष्ट्रीय मुद्राओं (National currency) और महाजनी प्रणाली के कारण उत्पन्न होनेवाली मुख्य मुख्य समस्याओं पर भी विचार किया जायगा।

२. उद्योग की स्थिति (The Location of Industry)

देशों के बीच व्यापार प्रान्तों (Regions) के बीच होने वाले व्यापार का ही एक विशेष उदाहरण है। उदाहरणार्थ क्वींसलेंड न्यूसाउथ-वेल्स को केले देता है। १९०१ के पहले भी वह ऐसा करता था जब कि दोनों पृथक् देश थे और उनका व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहलाता था। १९०१ में आस्ट्रेलिया के राज्यों का संघ बन जाने से केले के उत्पादन में क्वींसलेंड के आपेक्षिक लाभों में कोई अन्तर नहीं पड़ा। १९१४ के पूर्व लोरेन रूर को असिद्ध लौह (Iron ore) देता था जब कि दोनों ही जिले जर्मनी के भाग थे। लोरेन फ्रांस को मिल जाने के कारण यह व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय हो गया परन्तु इससे असिद्ध लौह के उत्पादन में लोरेन को जो तुलनात्मक लाभ था उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ[1]। आर्थिक भूगोल की दृष्टि से राष्ट्रीय सीमाएँ मनमानी हैं। परन्तु व्यवहार में कोई राष्ट्रीय सरकार किसी दूसरे देश से अपने देश में माल के आने जाने पर रोक लगा सकती है जहां कि वह अपने ही देश में एक जिले से दूसरे ज़िले में माल ले जाने पर कोई रोक नहीं लगाती[2]। अतएव आरंभ में हमें उद्योग की स्थिति के सिद्धान्त की आवश्यकता है। विभिन्न जिले विशेष वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में विशेषता क्यों प्राप्त करते हैं? किसी साहसी को (कोई विशेष पदार्थ उत्पन्न करने के लिए) किसी धंधे को एक स्थान पर न स्थापित करके दूसरे स्थान पर स्थापित करने में किन किन प्रतिबंधों (Conditions) का ध्यान रखना चाहिए?

---

१. हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के जूट का उदाहरण भी इसी प्रकार का है। —अनुवादक

२. द्वितीय महायुद्ध के समय से नियंत्रण की प्रथा ने इसे भी आरंभ कर दिया है। हमारे देश में कुछ वस्तुओं का एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों में और कभी कभी एक जिले से दूसरे ज़िले में भी गमनागमन रोक दिया गया था। —अनुवादक

विभिन्न जिले विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता इसलिए प्राप्त करते हैं कि पृथ्वी पर उत्पादन के साधनों का बहुत असमान वितरण हुआ है। जो साधन भूमि अथवा प्रकृत साधनों के अंतर्गत गिने जाते हैं उनके विषय में ऐसा होना स्पष्ट है। उदाहरणार्थ कुछ जिलों का जलवायु किसी विशेष पदार्थ के उत्पादन के लिए विशेष उपयुक्त होता है; कुछ जिलों में ऐसे खनिज हैं जो अन्य स्थानों पर नहीं पाये जाते अथवा और कहीं उतने सुगम नहीं हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि इटली जंभीरादि (नीबू की जाति के) फलों (Citrus fruits) का निर्यात क्यों करता है, कनाडा रोयाँ (Fur) बाहर क्यों भेजता है और ग्रेट ब्रिटेन से कोयले का निर्यात क्यों होता है?

विभिन्न प्रकार के श्रम भी अन्य साधनों की अपेक्षा असमान रूप से वितरित हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी में प्रशिक्षित रासायनिकों की बहुलता है इसी से जर्मनी से रासायनिक द्रव्यों का निर्यात होता है। इसी प्रकार जापान और आस्ट्रेलिया की विभिन्नताओं पर विचार कीजिए। जापान का क्षेत्रफल केवल १,४७,००० वर्गमील है जिसमें से आधा जंगल है और पाँचवें भाग से कम पर खेती हो सकती है परन्तु उसकी जनसंख्या ७ करोड़ है। आस्ट्रेलिया का क्षेत्रफल तीस लाख वर्गमील है, जिसका अधिक भाग (यद्यपि बंजर है) चराई के लिए उपयुक्त है, परन्तु उसकी जनसंख्या ७० लाख से भी कम है। जापान में खेती बहुत गहन होती है—प्रति वर्ग-मील संख्या अधिक है—और मुख्य उपज चावल और रेशम है। वहाँ का मुख्य निर्मित पदार्थ (Manufactured products) वस्त्र है जिसका उत्पादन अधिकतर स्वयंचालित (Automatic) यंत्रों और अपेक्षाकृत अकुशल स्त्रियों के श्रम द्वारा होता है। आस्ट्रेलिया में खेती विस्तीर्ण होती है, और उसकी मुख्य उपज ऊन है जिसके लिए श्रम की अपेक्षा भूमि का अनुपात अधिक होना चाहिए।

व्यय की दृष्टि से हमारे सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि जो साधन किसी जिले में अपेक्षाकृत बहुल है वह वहाँ अपेक्षाकृत सस्ता होगा। अतएव जिन पदार्थों के उत्पादन में उस साधन का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग होता होगा वे उस जिले में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सस्ते में उत्पन्न किये जा सकेंगे।

हमें इसकी जाँच करने की आवश्यकता नहीं है कि उत्पादन के साधनों का वितरण भिन्न भिन्न स्थानों में इस प्रकार क्यों है; यह प्रश्न आर्थिक भूगोल और आर्थिक इतिहास के अंतर्गत आता है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा; स्टैफर्डशायर के पाँच नगर मिट्टी के वर्तन बनाने में विशेषता प्राप्त किए हुए हैं परन्तु उनकी मिट्टी कोर्नवाल से आती है। इसका

कारण यह है कि १८वीं शताब्दी में स्टैफर्डशायर में उपयुक्त मिट्टी थी; धंधे का खूब विस्तार हुआ, स्टैफर्डशायर की मिट्टी उसकी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए अपर्याप्त हो गई परन्तु सभी कुशल कर्मचारी स्टैफर्डशायर में थे इससे धंधा वहीं बना रहा और आवश्यकता के लिए मिट्टी कोर्नवाल तथा अन्य स्थानों से आने लगी।

किसी विशेष प्रकार के श्रम उन जिलों में क्यों नहीं जाते, जहाँ उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, जिससे वे अधिक अर्जन कर सकें—इस प्रश्न का विवेचन पहले हो चुका है। यह विदित है कि जलवायु गतिशील नहीं है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ वस्तुएँ क्यों कुछ जिलों में दूसरे जिलों की अपेक्षा अधिक सस्ते में उत्पन्न की जा सकती हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई साहसी एक स्थान पर कारखाना स्थापित करना दूसरे स्थानों की अपेक्षा अधिक सस्ता और सुविधा-जनक क्यों समझता है।

किसी धन्धे की स्थिति के लिए मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी पर उत्पादन के साधन असमान अनुपात में वितरित हैं। आस्ट्रेलिया ऊन इसलिए सस्ता उत्पन्न कर सकता है कि ऊन के उत्पादन के लिए श्रम की अपेक्षा भूमि का अधिक अनुपात चाहिए और वहाँ भूमि अपेक्षाकृत अधिक, अतः सस्ती है; उधर श्रम अपेक्षाकृत दुर्लभ अतः महँगा है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न जिलों में एक ही वस्तु की उत्पादन विधि में विभिन्नता का कारण भी यही है। उदाहरणार्थ, इंगलैंड में नए देशों की तुलना में श्रम की अपेक्षा भूमि दुर्लभ है, इसी से खेती अधिक गहन होती है। समुद्रपार देशों की अपेक्षा इंगलैंड में प्रति एकड़ अधिक गेहूँ उत्पन्न होता है, परन्तु प्रति जन उत्पादन कम होता है। इसी प्रकार सूती कपड़े के धंधे में कुशल श्रमिकों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा इंगलैंड में अधिक है, इसी से वहाँ भारत तथा जापान की अपेक्षा अधिक महीन सूत काता जाता है। और मिस्र की लंबे रेशेवाली रूई का अधिक व्यवहार होता है।

उद्योग की स्थिति (Location of industry) के विषय में कुछ और बातें हैं जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। सबसे पहले, वितरण की अवस्था निश्चित होने पर, जनता की क्रयशक्ति तथा खरीदने की आदत और विक्रय-व्यय का विचार करना आवश्यक है। संभव है कि क जिले में ख जिले की अपेक्षा कोई वस्तु अधिक सस्ती उत्पन्न की जा सकती हो, परन्तु क से ख तक स्थानान्तरण-व्यय अधिक होने के कारण क का माल ख के बाजार में वहाँ के उत्पादकों की स्पर्द्धा में न बिक सके। स्थानान्तरण-व्यय दूरी के अनुसार नहीं घटता बढ़ता। जल द्वारा स्थानान्तरण स्थल की अपेक्षा सस्ता पड़ता है। इसीसे निर्यात करने वाले धंधे बंदरगाहों के निकट स्थित होते हैं।

दूसरी बात यह है कि उत्पादन में कुछ वस्तुओं का भार कम हो जाता है अतएव जहाँ कच्चा माल मिलता है उसके पास ही उसका उत्पादन करने से स्थानान्तरण व्यय में बचत होती है। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण कोयला है जो इंधन के रूप में व्यवहृत होने पर अपना सारा भार खो देता है। कोयले को खान के पास व्यवहार करने से स्थानान्तरण की बचत होती है क्योंकि उसकी सहायता से जो पदार्थ तैयार होता है उसके भार में कोयले के कारण कोई वृद्धि नहीं होती। जब विभिन्न स्थानों पर स्थित बहुत से कच्चे माल होते हैं तो कारखाना वहीं पर स्थापित करना लाभदायक होता है जहाँ पर उन सब को लाने का स्थानान्तरण व्यय सबसे कम होता है। इस प्रकार यदि असिद्ध लौह में लोहे की मात्रा कम हो तो लोहा गलाने की भट्ठिओं का कोयले की खान के पास न होकर लोहे की खान के पास—जैसे लोरेन तथा इंग्लैंड के मध्य भाग में—स्थित होना अधिक संभाव्य है। क्योंकि यदि मान लीजिए कि लोहे की मात्रा तिहाई है तो १ टन कच्चा लोहा तैयार करने के लिए ३ टन असिद्ध लौह तथा १½ टन कोयला लगेगा। मान लिया जाय कि बाजार कोयले और लोहे दोनों की खानों से समान दूरी पर है; तो भट्ठी लोहे की खान के पास स्थापित करने से, प्रत्येक टन कच्चा लोहा उत्पन्न करने के लिए १½ अ टन-मील स्थानान्तरण (अ मीलों में कोयले और लोहे की खानों की दूरी है) की बचत होगी।

तीसरे, अनुकलन (Integration) से आर्थिक लाभ हो सकते हैं।

चौथे, अविभाज्य विशिष्ट सज्जा (Specialized equipment) का उपयोग करने से, जिससे पूर्णतया लाभ उठाने के लिए उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है, लाभ हो सकता है। मोटरों के अधिक मात्रा में उत्पादन के लिए व्यवहृत होने वाली वाहक-प्रणाली (Conveyer-system) अथवा भारी इस्पात के भागों को बनाने में व्यवहृत विशिष्ट सज्जा से पूरा लाभ उठाने के लिए दक्षिणी अफ्रीका या न्यूजीलैंड जैसे देश में पर्याप्त विस्तृत बाजार नहीं मिल सकता। अतएव ऐसे माल अधिकतर विस्तृत बाजारों के पास, जैसे पश्चिमी यूरोप या संयुक्त राज्य में, तैयार करके निर्यात किए जाते हैं।

पाँचवें, किसी धंधे को किसी विशेष क्षेत्र में केन्द्रित करने से लाभ होता है। इसका एक मुख्य उदाहरण है लंकाशायर का सूती वस्त्र का उद्योग। वहाँ कुशल श्रमी निरंतर उपलब्ध होते रहते हैं, सहायक धंधे पास ही होते हैं अतएव यंत्रों का जीर्णोद्धार या अनुस्थापन शीघ्र हो सकता है; बैंक रूई के आयात और वस्त्रोत्पादन के लिए वित्तदान करने की समस्याओं से परिचित होते हैं; स्थानान्तरण की ऐसी व्यवस्था हो

जाती है कि एक केंद्रित धंधे की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, इत्यादि। ये सब लाभ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि सज्जा की अविभाज्य इकाइयाँ अपेक्षाकृत कम होती हैं।

३. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ
(The gain from International Trade)

यदि सारा संसार एक देश होता तो यह समझने में कठिनाई न होती कि भिन्न भिन्न भागों में वस्तुएँ उत्पन्न करने से उपभोक्ताओं को किस प्रकार लाभ होता है। हम देख चुके हैं कि प्रतिस्पर्द्धा में वस्तुएँ वहाँ उत्पन्न की जाती हैं जहाँ उनका उत्पादन-व्यय तथा विक्रय-लागत कम से कम है। इससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है क्योंकि किसी अन्य व्यवस्था से उत्पादन-व्यय बढ़ जाता, अतः मूल्य भी अधिक हो जाता।

परन्तु वास्तव में संसार अनेक देशों में विभक्त है जिसमें भिन्न भिन्न सरकारें और भिन्न भिन्न मुद्राएँ (Currencies) हैं। इससे हमारे तर्क में कोई अंतर नहीं पड़ता, परन्तु इसके कारण समस्या को एक दूसरे रूप में व्यक्त करना आवश्यक जान पड़ता है। हमें यह दिखाना है कि कोई देश जिन वस्तुओं को उत्पन्न कर सकता है उनके आयात से वह किस प्रकार लाभ उठा सकता है।

हम समस्या को सरल करने के लिए मान लेते हैं कि केवल दो ही देश हैं क और ख और उत्पादन के साधन एक देश से दूसरे देश में नहीं जा सकते, केवल माल जा सकता है।

(१) मान लिया क चाय उत्पन्न कर सकता है परन्तु कपड़ा नहीं निर्मित कर सकता। ख कपड़ा निर्मित कर सकता है परन्तु चाय नहीं उत्पन्न कर सकता। यहाँ व्यापार द्वारा दोनों देशों को ऐसी वस्तुओं के व्यवहार का अवसर मिल जाता है जिसे वे अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकते थे। कोई व्यापारी चाय लेकर क से ख में जा सकता है और कपड़े से विनिमय करके वह कपड़ा लाकर क में बेचकर इतनी प्राप्ति कर सकता है जिससे उसकी चाय की लागत, ख तक आने जाने का व्यय और कुछ लाभ प्राप्त हो जाय। इससे क में चाय के उत्पादकों की कोई हानि नहीं होती, वे पहले के बराबर चाय उत्पन्न करते हैं, उसमें से केवल कुछ चाय विदेश में चली जाती है। यही बात ख में कपड़ा निर्माण करने वालों के संबंध में भी है। क देश के उपभोक्ताओं को इसलिए लाभ होता है कि वे कुछ कपड़ा और कम चाय खरीदना पसंद करते हैं और ख देशवाले उपभोक्ता इसलिए लाभान्वित होते हैं कि वे कुछ चाय और कुछ कपड़ा खरीदना पसंद करते हैं।

(२) अब मान लीजिए कि दोनों ही देश चाय तथा कपड़ा उत्पन्न कर सकते हैं; परन्तु जलवायु और मिट्टी में भिन्नता के कारण क में ख की अपेक्षा चाय अधिक सस्ती उत्पन्न की जा सकती है और ख में कपड़ा क की अपेक्षा अधिक सस्ता निर्मित हो सकता है। उदाहरणार्थ—

अ साधन क में	१००	चाय
	५०	कपड़ा उत्पन्न करते हैं।
अ साधन ख में	५०	चाय
	१००	कपड़ा उत्पन्न करते हैं।

मान लिया कि दोनों में व्यापार आरंभ होता है क चाय के उत्पादन में और ख कपड़े के निर्माण में विशेषता प्राप्त करता है। क में २अ साधन २०० चाय उत्पन्न करते हैं। ख में २अ साधन २०० कपड़ा निर्माण करते हैं। इन ४अ साधनों का संपूर्ण उत्पादन अब २०० चाय + २०० कपड़ा है जहाँ पहले केवल १५० चाय + १५० कपड़ा था। क और ख दोनों के बीच यह लाभ किस प्रकार विभक्त होगा यह व्यापार की शर्तों पर निर्भर होगा—अर्थात् उस दर पर निर्भर होगा जिस पर चाय और कपड़े का विनिमय होगा। एक सरल दृष्टान्त लीजिए; माना कि यह दर है १ इकाई चाय बराबर १ इकाई कपड़ा के। वास्तव में १ चाय बराबर २ कपड़ा तथा १ चाय बराबर $\frac{1}{2}$ कपड़ा के बीच की कोई भी दर दोनों के लिए लाभदायक होगी, यद्यपि एक इकाई चाय के बदले जितना ही अधिक कपड़ा मिले क के लिए उतना ही अधिक लाभदायक होगा; तब संभव है क ८० चाय ८० कपड़ा के बदले विनिमय करे। अतएव अब क के पास १२० चाय और ८० कपड़ा तथा ख के पास ८० चाय और १२० कपड़ा होगा।

(३) अब मान लीजिए कि ख की अपेक्षा क चाय और कपड़ा दोनों सस्ता उत्पन्न कर सकता है परन्तु चाय के उत्पादन में उससे आपेक्षिक सुविधाएँ अधिक हैं। क में कुछ निश्चित श्रमी, जलवायु तथा अन्य साधनों की सहायता से या तो २०० इकाई चाय या २०० इकाई कपड़ा अथवा १०० चाय + १०० कपड़ा उत्पन्न कर सकते हैं, चाय की एक अतिरिक्त इकाई की लागत १ इकाई कपड़ा है। वास्तव में क स्वावलंबी होने पर—१५० चाय तथा ५० कपड़ा उत्पन्न कर सकता है।

ख देश में साधनों की उतनी ही मात्रा से या तो ८० चाय या १८० कपड़ा या ४० चाय + ८० कपड़ा, इत्यादि उत्पन्न हो सकता है जिसमें प्रत्येक अतिरिक्त इकाई चाय की लागत २ इकाई कपड़ा है। वास्तव में ख—स्वावलंबी होने पर—४० चाय + ८० कपड़ा उत्पन्न करता है।

अब मान लीजिए कि व्यापार होने लगता है और क चाय के उत्पादन में तथा ख कपड़े के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ क ६० कपड़ा के बदले ४५ चाय देता है। अतएव क के पास १५५ चाय+६० कपड़ा और ख के पास ४५ चाय+१०० कपड़ा हो जाता है। स्पष्ट है कि विशेषीकरण तथा विनिमय के द्वारा दोनों देशों को लाभ हुआ।

४. तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
(The Principle of Comparative Costs)

हमारे प्रथम दो उदाहरणों में क देश को ख की तुलना में चाय के उत्पादन के लिए बहुत अधिक सुविधाएँ हैं। पहले उदाहरण में यह सुविधा इतनी अधिक है कि इसका कोई माप नहीं हो सकता, क्योंकि यह मान लिया गया है कि ख देश चाय के उत्पादन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरे उदाहरण में ख देश चाय उत्पन्न करने योग्य तो है परन्तु क देश में एक इकाई चाय के उत्पादन के लिए ख की अपेक्षा उत्पादन के कम साधनों की आवश्यकता पड़ती है। दोनों ही उदाहरणों में, कपड़े के उत्पादन के लिए क की अपेक्षा ख देश को बहुत अधिक सुविधाएँ हैं। हमारे तीसरे उदाहरण में क देश को चाय और कपड़ा दोनों के उत्पादन में ख की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। परन्तु चाय के उत्पादन में कपड़े के उत्पादन की अपेक्षा यह सुविधा अधिक है। ख देश की दृष्टि से यदि इसे देखें तो उसे दोनों ही वस्तुएँ उत्पन्न करने में बहुत असुविधाएँ थीं, परन्तु (क की तुलना में) उसकी असुविधा चाय की अपेक्षा कपड़े में कम थी। अतएव दोनों देशों ने एक दूसरे से व्यापार करके लाभ उठाया; क ने चाय के उत्पादन में और ख ने कपड़े के उत्पादन में विशेषता प्राप्त की।

ये तीनों उदाहरण एक सामान्य सिद्धान्त के अंतर्गत आते हैं जिसे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Principle of comparative costs) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई देश उन वस्तुओं का जिसमें उसे तुलनात्मक लागत की सुविधा अधिक है (अथवा जिसमें तुलनात्मक लागत की असुविधा कम है) उत्पादन और फिर उनका निर्यात करके उनके विनिमय में वे वस्तुएँ, जिनके उत्पादन में उसके तुलनात्मक लागत की सुविधाएँ कम हैं अथवा उसके तुलनात्मक लागत की सुविधाएँ अधिक हैं, मँगाकर लाभ उठा सकता है।

वास्तव में किसी निर्यात करनेवाले देश में किसी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष द्रव्य-लागत (Absolute money cost) आयात करनेवाले देश की अपेक्षा कम होता है। तब फिर हम इस तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की चिन्ता क्यों करते हैं? हम केवल यह क्यों नहीं कहते कि जहाँ

द्रव्य के रूप में उत्पादन-व्यय (और विक्रय-लागत) सबसे कम होगा वहीं वस्तुओं का उत्पादन होगा ?

इसका कारण यह है कि यद्यपि यह कथन सत्य है फिर भी अनावश्यक है। द्रव्य के रूप में उत्पादन-व्यय वह मूल्य है जो विभिन्न साधनों

चित्र ३५
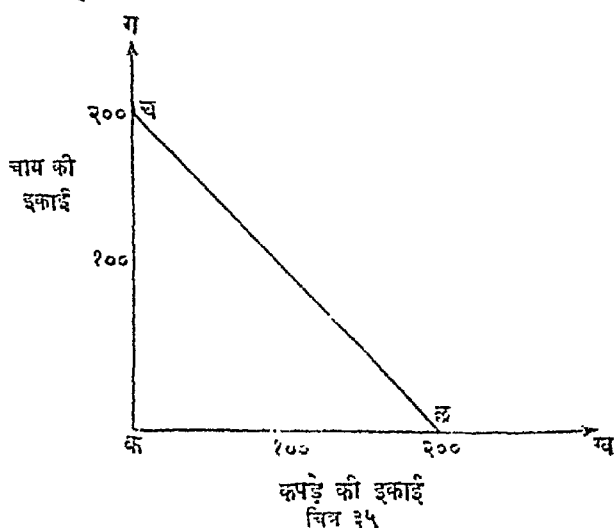
को दिया गया है। ये मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में जो होते उससे अब भिन्न हैं। किसी देश में विद्यमान साधन-मूल्य, अतएव विद्यमान द्रव्य-लागत, अंशतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिणाम होता है। तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व्यापार क्यों होता है इसका मौलिक कारण बतलाना है।

इस सिद्धान्त में जिस 'लागत' का उल्लेख है वह द्रव्य के रूप में लागत नहीं है। जिस ढंग से हमने यह तर्क उपस्थित किया है उससे जान पड़ता है कि लागत शब्द का संबंध साधनों की उस मात्रा से है जो कपड़े की एक इकाई उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है परन्तु वास्तव में हम इस शब्द का प्रयोग अवसर-लागत (Opportunity-costs) के अर्थ में करते रहे हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक देश को यह निर्णय करना आवश्यक है कि अपने उपलभ्य उत्पादन के साधनों द्वारा वह कौन कौन सी वस्तुएँ उत्पन्न करे। यदि वह एक वस्तु की अधिक मात्रा उत्पन्न करने का निश्चय करता है तो उसे उत्पादन के अधिक साधनों को उस धंधे

में लगाना होगा अतएव अन्य वस्तुओं की मात्रा पहले की अपेक्षा कम उत्पन्न करनी होगी। अधिक चाय उत्पन्न करने के लिए कम कपड़ा उत्पन्न करना होगा और इसी प्रकार इसके विपरीत भी।

अब हम फिर अपने तीसरे उदाहरण पर आते हैं। क देश में एक इकाई चाय उत्पन्न करने की अवसर-लागत एक कपड़ा है। यदि क देश
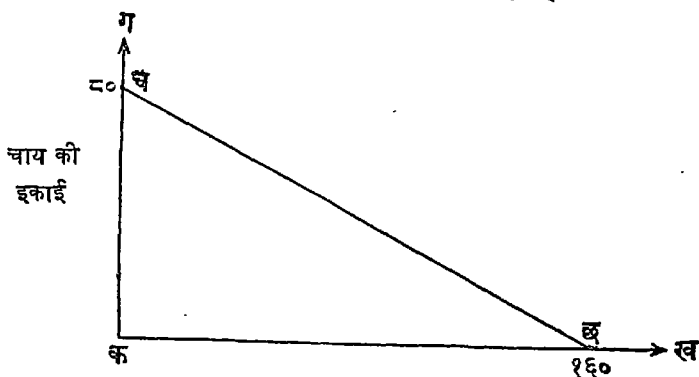
कपड़े की इकाई
चित्र ३६

चाय और कपड़ा दोनों उत्पन्न करता है और चाय की एक और इकाई उत्पन्न करना चाहता है तो उसे कपड़े की एक इकाई कम करनी पड़ेगी; और इसी प्रकार इसके विपरीत भी। चित्र ३५ में च छ रेखा कपड़े और चाय के उन सभी संयोगों को व्यक्त करती है जो क देश में उसके उपलभ्य साधनों द्वारा उत्पन्न किए जा सकते हैं। वह (समय की प्रति इकाई में) या तो केवल २०० इकाई चाय या केवल २०० इकाई कपड़ा उत्पन्न कर सकता है अथवा वह कपड़ा और चाय दोनों ही जिस अनुपात में चाहें उत्पन्न कर सकता है। ख देश में १ इकाई चाय उत्पन्न करने की अवसर-लागत २ इकाई कपड़ा है, अथवा दूसरे शब्दों में उसे यों कह सकते हैं कि, एक इकाई कपड़ा उत्पन्न करने की अवसर-लागत आधी इकाई चाय है। ख देश चाय और कपड़े का कोई भी संयोग, जो, चित्र ३६ में च छ रेखा पर पड़ेगा, उत्पन्न कर सकता है।

अतएव स्पष्ट है कि अवसर-लागत के अनुपात (जो च छ के झुकाव द्वारा दोनों चित्रों में दिखाए गए हैं) दोनों देशों में भिन्न भिन्न हैं, और केवल यही कारण है कोई दूसरा नहीं, जिससे दोनों देश एक-एक वस्तु के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करके व्यापार करते हैं। क में एक इकाई

कपड़ा उत्पन्न करने के लिए चाहे जितनी अधिक या कम साधनों की आवश्यकता हो, वे ही साधन विकल्प से १ इकाई चाय उत्पन्न करने में आवश्यक होंगे। और (स्थानान्तरण-व्यय को छोड़कर) ख देश १ इकाई चाय के विनिमय में २ इकाई कपड़ा के नीचे कुछ भी देने को प्रस्तुत होगा क्योंकि अपने लिए १ इकाई चाय उत्पन्न करने के लिए ख देश को उतने साधनों की आवश्यकता होती है जितने उसे २ इकाई कपड़ा के उत्पादन में लगते हैं। अतएव १ इकाई चाय के लिए १ इकाई कपड़ा और १ इकाई चाय के लिए २ इकाई कपड़ा इन दोनों के बीच किसी अनुपात में व्यापार दोनों देशों के लिए लाभदायक हो सकता है; जैसे १ इकाई चाय के लिए १$\frac{१}{२}$ इकाई कपड़ा। इस अनुपात में क देश कुछ निश्चित साधनों की मात्रा द्वारा स्वयं कपड़ा न उत्पन्न करके, वरन् चाय उत्पन्न कर और उसे कपड़े के विनिमय में निर्यात करके, ५० प्रतिशत अधिक कपड़ा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ख देश साधनों की एक निश्चित मात्रा द्वारा स्वयं चाय न उत्पन्न कर वरन् केवल कपड़ा उत्पन्न करके और चाय के विनिमय में उसका निर्यात कर ३३$\frac{१}{३}$ प्रतिशत अधिक चाय प्राप्त कर सकता है। कपड़े की प्रत्येक तीन इकाइयों के बदले जो वे उत्पन्न करते हैं १$\frac{१}{२}$ इकाइयाँ चाय उत्पन्न कर सकते थे; परन्तु वे विनिमय में २ इकाई चाय प्राप्त करते हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि बहुत से देश जिन वस्तुओं का आयात करते हैं उन्हें स्वयं भी क्यों उत्पन्न करते हैं। यदि तुलनात्मक लागत की स्थिति के कारण उन्हें किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा आयात करने में सुविधा होती है तो उस वस्तु की जितनी मात्रा उन्हें चाहिए, उसमें से कुछ स्वयं उत्पन्न करने के बदले सम्पूर्ण मात्रा बाहर से मँगाना उनके लिए लाभदायक क्यों नहीं होता?

इसका मुख्य उत्तर यह है कि हमने विषय को सरल बनाने के लिए जो यह मान लिया था कि किसी देशमें अवसर-लागत अनुपात (Opportunity-cost ratio) अचल होता है वह संभव है ठीक न हो। उदाहरणार्थ संभव है कि क देश में कुछ मिट्टी और जलवायु (सन के उत्पादन की तुलना में) चाय के उत्पादन के लिए कम उपयुक्त हो। अतएव, कुछ सीमा के बाद, चाय के उत्पादन में अधिक विस्तार करने में संभव है त्याग किए हुए वस्त्रोपादन की तुलना में वर्धमान लागत लगे। चित्र में व्यक्त करने पर च छ एक सरल रेखा न होकर उन्नतोदर वक्र (Humped curve) हो सकता है, जैसा कि चित्र ३७ में है। उस अवस्था में चाय का उत्पादन केवल उसी सीमा तक बढ़ाया जायगा जहाँ अधिक साधन (सीमान्त पर असुविधापूर्ण दशा में) चाय उत्पन्न करके कपड़े

से विनिमय करने में जितना कपड़ा पा सकेंगे उसकी अपेक्षा स्वयं कपड़ा उत्पन्न करके उसकी अधिक मात्रा उपलब्ध कर सकेंगे।

इस प्रकार क देश, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में, संभव है क ट कपड़ा उत्पन्न करे। हम मान लेते हैं कि स्थानान्तरण व्यय कुछ नहीं है। तो मू पर वक्र का झुकाव चाय और कपड़े का परस्पर विनिमय-अनुपात व्यक्त करेगा। मान लीजिए कि वह देश एक इकाई चाय का उत्पादन
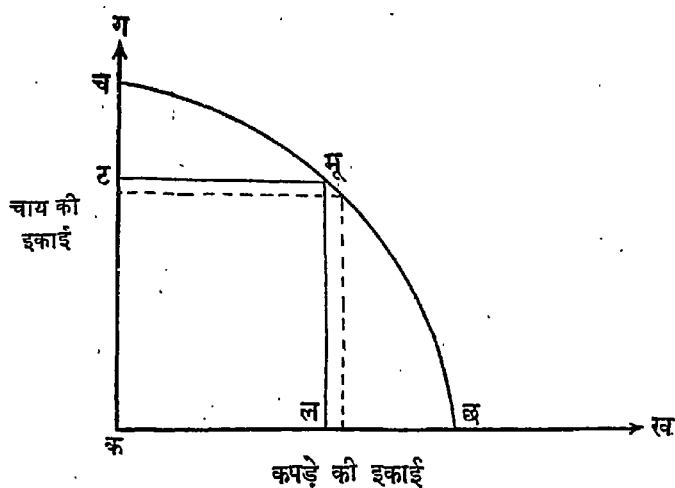
चित्र ३७

छोड़कर १½ अतिरिक्त इकाई कपड़ा उत्पन्न कर सकता है। (यह विन्दु-रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है।) अतएव एक इकाई चाय कम से कम १½ इकाई कपड़े के विनिमय में अवश्य दी जायगी (नहीं तो क देश क ल से अधिक कपड़ा उत्पन्न करने लगेगा) परन्तु १½ इकाई से अधिक नहीं (अन्यथा क देश क ट से अधिक चाय उत्पन्न करने लगेगा)। ख देश के लिए संगत चित्र यह प्रदर्शित करेगा कि संगत बिन्दु मू पर झुकाव वही है जो क देश के लिए—साम्य में अवसर-लागत-अनुपात चाय और कपड़े के बीच विनिमय-अनुपात के बराबर और दोनों देशों में समान होता है।

एक गौण बात यह है कि स्थानान्तरण के आपेक्षिक व्यय के कारण देश के एक भाग के लिए उस वस्तु का आयात करना लाभदायक हो जाता है जो दूसरा भाग निर्यात कर रहा है। जैसे हैंबर्ग इंग्लैंड से कोयला आयात करता है परन्तु रूर केवल अपने उपभोग के लिए ही नहीं वरन् निर्यात के लिए कोयला उत्पन्न करता है। इंग्लैंड से हैंबर्ग तक समुद्र

द्वारा कोयला ले जाने का व्यय रूर से हैंवर्ग ले जाने के व्यय से बहुत कम पड़ता है। इसके अतिरिक्त आयात की जानेवाली वस्तु देश में उत्पन्न वस्तु से भिन्न हो सकती है, यद्यपि साधारण बोलचाल में दोनों का नाम एक ही हो सकता है। जैसे फ्रांस जितनी शराब निर्यात करता है उससे कहीं अधिक मात्रा में आयात करता है; परन्तु जो मद्य वहाँ से निर्यात होता है वह आयात होने वाले मद्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का होता है। फिर, संभव है कि कोई देश यह निर्णय करके कि कुछ वस्तुएँ देश में उत्पन्न करना "वांछनीय" (Desirable) है, यद्यपि विदेशों से वह सस्ती मिल सकती है। जैसे इंग्लैंड में चुकंदर की चीनी के उत्पादन के लिए सरकारी सहायता दी जाती है यद्यपि वह अन्य देशों से बहुत सस्ती चीनी प्राप्त कर सकता है, और करता भी है।

अब यदि हम फिर अपने दृष्टान्त पर आते हैं तो एक और संभावना यह है कि दोनों देशों में से एक यद्यपि केवल एक वस्तु के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करता है, फिर भी वह उस वस्तु की इतनी कम मात्रा निर्यात करता है कि दूसरे देश की आवश्यकता पूरी नहीं होती। उदाहरणार्थ, ख देश में संभव है क की अपेक्षा श्रम तथा उत्पादन के अन्य साधन कम हों। संभव है ख देश केवल कपड़े के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करता हो फिर भी क देश ख द्वारा निर्यात होने वाले कपड़े के बराबर आयात करके स्वयं भी अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए कपड़ा उत्पन्न कर सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण वास्तविक संसार पर लागू होता है यद्यपि संसार में केवल दो ही वस्तुएँ नहीं हैं वरन् जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आदान-प्रदान होता है अनेक हैं और देश भी दो ही नहीं अनेक हैं। हमारे उदाहरण में चाय क से निर्यात होने वाली सभी वस्तुओं की प्रतिनिधि है और कपड़ा क में आयात होनेवाली सभी वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है। आयात और निर्यात होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त क देश वास्तव में अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करेगा जैसे रोटी और सेवाएँ (जैसे आन्तरिक स्थानान्तरण सेवाएँ) जो इस अर्थ में घरेलू हैं कि न तो उनका निर्यात होता है न आयात। इन सभी वस्तुओं को इस क्रम से रखना संभव है कि पहले वे वस्तुएँ रखी जायँ जिनके उत्पादन के लिए क को तुलनात्मक सुविधाएँ सबसे अधिक हैं; फिर वे वस्तुएँ रखी जायँ जिनके उत्पादन के लिए शेष वस्तुओं में सबसे अधिक तुलनात्मक सुविधा हो, इत्यादि और अन्त में वह वस्तु रखी जाय जिसके उत्पादन में क को सबसे कम तुलनात्मक सुविधाएँ (अथवा सबसे अधिक तुलनात्मक असुविधाएँ) हों। यदि स्थानान्तरण व्यय का भी विचार किया जाय तो विभिन्न निर्यात-वस्तुएँ क्रमानुसार सबसे पहले आयँगी, फिर घरेलू वस्तुएँ

और अन्त में आयात वस्तुएँ। विभाजक रेखा ठीक कहाँ पड़ेगी और ठीक ठीक कितनी वस्तुएँ क आयात या निर्यात करेगा। यह विभिन्न वस्तुओं के लिए संसार की माँग तथा उनकी तुलनात्मक लागत पर निर्भर होगा। इसी प्रकार जब दो से अधिक देश होंगे तो तुलनात्मक लागत की स्थिति तथा विभिन्न वस्तुओं की संपूर्ण मात्रा जाने बिना हम यह ठीक ठीक नहीं बता सकते कि क किन किन वस्तुओं का निर्यात और किन किन का आयात करेगा; फिर भी हम इतना निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि जिस वस्तु को क निर्यात करता है उसके उत्पादन में उसे उन वस्तुओं की अपेक्षा तुलनात्मक सुविधाएँ अधिक होंगी जिनको वह आयात करता है। अतएव विशेषीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा उससे अधिक वास्तविक आय प्राप्त कर सकता है जितना वह सभी वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न कर स्वावलम्बी होकर प्राप्त कर सकता है और निःसन्देह यह तथ्य केवल क पर ही नहीं वरन् सभी देशों पर लागू होता है।

उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड अपने उत्पादन के कुछ साधनों को कोयला और यंत्र तथा सूती वस्त्र उत्पन्न करके निर्यात करने में लगाकर उससे बहुत अधिक परिमाण में खाद्य पदार्थ (जैसे गेहूँ) तथा कच्चा माल (जैसे अन्न, रुई, लकड़ी इत्यादि) प्राप्त कर लेता है जो वह इन साधनों को अपनी आवश्यकता के अनुसार गेहूँ, ऊन, रुई इत्यादि के उत्पादन में लगा कर प्राप्त कर सकता। उसके निर्यात ऐसे ही खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल के विनिमय में दिए जाते हैं, जिनके उत्पादन में उन देशों को, जो इन्हें उत्पन्न करते हैं, इङ्गलैंड की अपेक्षा तुलनात्मक सुविधाएँ अधिक हैं।

५. व्यापार-पण (The Terms of Trade)

जो देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेता है वह ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ उत्पन्न करता है जिनमें से कुछ का उपयोग देश में ही होता है और शेष को निर्यात करता है। मान लिया कि पहली कोटि को हम द कहते हैं और दूसरी को न। अपने निर्यात के बदले वह आयात करता है जिसे हम आ कहेंगे। वह वस्तुओं के द+आ संकलन को अन्य सभी वस्तुओं के संकलनों से, जिन्हें वह उत्पन्न कर सकता है, अधिक पसंद करता है। हमारे गणितीय उदाहरण से, जो यह प्रदर्शित करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेकर वह प्रत्येक वस्तु की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकता है, यही निष्कर्ष निकलता है। और इस कथन से भी कि जो व्यवसाय संस्था आयात-निर्यात का कार्य करती है वह निर्यात वस्तुओं को विदेशों में बेचकर उसकी प्राप्ति से अन्य वस्तुएँ आयात करके और उन्हें देश में बेच कर जो लाभ प्राप्त करती है वह अपने देश की उत्पादित वस्तुओं को देश में ही बेचकर नहीं प्राप्त कर सकती—यही

निष्कर्ष निकलता है। देशी उपभोक्ता निर्यात की अपेक्षा आयात को अधिक पसंद करते हैं अतएव उसके लिए अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत रहते हैं। यदि "निर्यात" (अर्थात् निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ) देश में ही बेच दिए जाते तो उनके मूल्य देश में और भी कम होते और यदि आयात न होता तो स्वदेश में उत्पादित उनकी स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य और भी अधिक होते।

परन्तु जिस सीमा तक क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ उठाता है वह व्यापार-पण (Terms of trade) के अनुसार अर्थात् उस दर के अनुसार जिस पर उसके निर्यात का उसके आयात से विनिमय होता है, परिवर्तित हो सकता है।

एक बार फिर हम अपने तीसरे उदाहरण पर जाते हैं। क देश के लिए १ इकाई कपड़ा उत्पन्न करने की अवसर-लागत १ इकाई चाय है। अतएव वह किसी भी दर पर जिससे उसे प्रति इकाई चाय के निर्यात के बदले १ इकाई से अधिक कपड़ा मिल सके, कुछ कपड़े के विनिमय में कुछ चाय देने को प्रस्तुत होगा। ख देश के लिए १ इकाई चाय उत्पन्न करने की अवसर-लागत २ इकाई कपड़ा है। अतएव वह, किसी भी दर पर, जिससे उसे २ इकाई से कम कपड़े के बदले १ इकाई चाय मिल सके, कुछ चाय के बदले कुछ कपड़ा देने को प्रस्तुत होगा। इसका अर्थ यह है कि दोनों देशों के बीच व्यापार का पण, दोनों में प्रत्येक की अवसर-लागत के अनुपात के बीच में कहीं होगा। अर्थात् एक इकाई चाय का एक इकाई से अधिक परन्तु दो इकाई से कम कपड़े से विनिमय होगा। वह अनुपात इन दोनों सीमाओं के बीच में ठीक ठीक कहाँ पर पड़ेगा यह उन दोनों देशों की चाय के बदले कपड़े की आपेक्षिक माँग के ऊपर निर्भर होगा।

कालान्तर में व्यापार-पण में परिवर्तन हो सकता है। निम्नलिखित तालिका का अन्तिम स्तम्भ यह प्रदर्शित करता है कि ग्रेट ब्रिटेन का व्यापार-पण १९२४ से किस प्रकार परिवर्तित हुआ है। उदाहरणार्थ, १९३३ में ब्रिटेन के आयात का मूल्य-स्तर १९२४ की अपेक्षा केवल ५५ प्र० श० अधिक था। अंग्रेजी निर्यात का मूल्य-स्तर भी १९२४ की अपेक्षा कम था परन्तु केवल ३३ प्र० श० कम। अतएव १९३३ में अंग्रेजी निर्यात की एक निश्चित मात्रा का १९२४ की अपेक्षा लगभग २३ प्र० श० अधिक आयात से विनिमय होता था। परन्तु पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि "सूचकांक की कठिनाई" के कारण इस प्रकार की किसी तालिका से व्यापार-पण में होने वाले परिवर्तनों की ठीक ठीक नाप नहीं हो सकती; आयात और निर्यात दोनों ही की रचना में कालान्तर में परिवर्त्तन हो जाता है।[1]

---

१. व्यापार-मंडली (Boad of Trade) द्वारा प्रकाशित आँकड़ों के आधार पर यह तालिका तैयार की गई है, परन्तु मंडली ने सावधानी

औसत स्टर्लिंग मूल्य: १९२४=१००

	(१) आयात (निष्तुष)	(२) निर्यात	(३) (२)÷(१)
१९१३	६२	५२·५	८५
१९२४	१००	१००	१००
१९२५	९९	९७	९८
१९२६	९०	९२	१०२
१९२७	८७	८७	१००
१९२८	८८	८६	९९
१९२९	८४	८४	१००
१९३०	७६	८३	१०८
१९३१	६२	७४	११९
१९३२	५८	६९	११९
१९३३	५५	६७	१२३
१९३४	५६	६८	१२१
१९३५	५७	६८	११९
१९३६	६०	६९	११५
१९३७	६९	७५	१०९
१९३८	६४	७६	११९

यदि माँग में परिवर्तन के कारण व्यापार-पण में परिवर्तन होता है तो जिस देश के निर्यात की अधिक माँग होगी उसे लाभ होगा। दृष्टान्त के लिए आस्ट्रेलिया को ले लीजिए। आस्ट्रेलिया अधिकांश में ऊन और गेहूँ का निर्यात करता है। यदि ऊन और गेहूँ की माँग बढ़ती है, जैसा कि इधर के वर्षों में हुआ है, और जो वस्तुएँ आस्ट्रेलिया में आयात होती हैं उनका मूल्य कम चढ़ता है अथवा बिलकुल ही नहीं चढ़ता, तब यह स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया ऊन और गेहूँ के एक निश्चित परिमाण के विनिमय में, पहले की अपेक्षा अधिक आयात प्राप्त कर सकता है। महान् मंदी के आरंभिक वर्षों में बहुत से खाद्य पदार्थों और कच्चे माल के मूल्यों में होने वाली भारी कमी का प्रभाव १९२९ के पश्चात् ब्रिटेन के आयात

पूर्वक, अपने आधार-वर्ष दो बार बदले, पहले १९३० को लिया फिर १९३५ को। हमने आदि से अन्त तक १९२४ को आधार-वर्ष माना है। इससे हमें तुलना करने में सहायता मिलती है परन्तु भूलचूक की सीमा बढ़ जाती है, १९४६ में आयात-मूल्य युद्ध-पूर्व के मूल्य के दूने के आसपास और निर्यात-मूल्य दूने से कुछ ही कम थे।

के मूल्य-स्तर में पर्याप्त पतन के रूप में व्यक्त होता है। अन्य कारणों से बढ़ कर यही कारण था कि इंगलैंड की अधिकांश जनता मंदी के दिनों में पहले की अपेक्षा उच्चतर जीवन स्तर वनाए रखने में समर्थ हुई थी; यद्यपि साथ ही उसके निर्यात-धंधों से संवंध रखने वाले श्रमियों में अन-धियोजन (वेकारी) वहुत वढ़ गया था। परन्तु इसके विपरीत समुद्रपार के देशों के लिए, जो खाद्य पदार्थ तथा कच्चे माल का निर्यात करते थे, ये वर्ष वहुत ही कठिनाई के थे।

व्यापार-पण में परिवर्तन से संवद्ध लागत की स्थिति में परिवर्तन के परिणाम इतने स्पष्ट नहीं होते। जैसे, यदि ग्रेट व्रिटेन के कोयला-निचायों (Coal deposits) से कोयला निकालना इसलिए कठिन हो जाय कि सरलता से पाने योग्य कोयला निकाला जा चुका है तो ग्रेट व्रिटेन के लोगों की दशा उससे वुरी होगी जो कोयला समाप्त न होने पर होती, फिर भी संभव है कि ग्रेट व्रिटेन को अपने कोयले के लिए संसार के वाजार में पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य मिले। इसके विपरीत, मान लीजिए कि मोटर-उत्पादन के धंधे में क्रियाकल्पात्मक (Technical) उन्नति के कारण उत्पादन के साधनों की कुछ निश्चित मात्रा द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक मोटरें उत्पन्न होने लगें तो संभवतः परिणाम यह होगा कि मोटर उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने और उसे निर्यात करने वाले देश की वास्तविक आय में वृद्धि होगी, यद्यपि उस देश को अपनी मोटरों के लिए पहले की अपेक्षा नीचा मूल्य मिलेगा।

अन्त में व्यापार-पण में परिवर्तन का महत्त्व अपेक्षाकृत कम अनुपात में अपना उत्पादन निर्यात करने वाले देश की अपेक्षा, अपेक्षाकृत अधिक अनुपात में निर्यात करने वाले देश के लिए, अधिक होगा। प्रायः एक छोटे देश के लिए बड़े देश की अपेक्षा अपने उत्पादन का अधिक अनुपात निर्यात करने की संभावना रहती है क्योंकि छोटे देश में जलवायु, मिट्टी, खनिज तथा अन्य साधनों की विविधता की कम संभावना रहती है।

६. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और मूल्य

अब हमें यह देखना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों के मूल्य किस प्रकार प्रभावित होते हैं। जिन वस्तुओं का प्रवेश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होता है उनका वाजार संसार भर में होता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी वस्तुओं का आयात करने वाले देश में उसका मूल्य निर्यात करने वाले देश में उसके मूल्य, तथा स्थानान्तरण-व्यय और आयातक (Imposter) का लाभ, और यदि उस पर आयात-कर लगता है तो, कर, के वरावर होगा। उदाहरणार्थ,

मान लीजिए कि संयुक्त राज्य के डालर और अंग्रेजी पौंड में विनिमय की दर ५ डालर प्रति पौंड है। तब यदि किसी वस्तु का मूल्य ग्रेट ब्रिटेन में १ पौंड है और वह संयुक्त राज्य को निर्यात होती है तो संयुक्त राज्य में उसका मूल्य ५ डालर धन स्थानान्तरण-व्यय तथा अन्य व्यय होगा; इसके विपरीत संयुक्त राज्य से निर्यात होनेवाली वस्तु का, जिसका मूल्य वहाँ ५ डालर है, ग्रट ब्रिटेन में मूल्य १ पौंड धन स्थानान्तरण-व्यय इत्यादि होगा।

परन्तु साधन-मूल्य (Factor-prices) ?

अच्छा, विशेषतः श्रम का विचार कर लिया जाय। हम देख चुके हैं कि जापान में आस्ट्रेलिया की अपेक्षा भूमि की तुलना में श्रमी अधिक हैं। अतएव आस्ट्रेलिया की अपेक्षा जापान में (समान कुशलता वाले श्रमियों की) मजदूरी समान कोटिवाली भूमि के लगान की अपेक्षा कम होगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनुपस्थिति में ये अपेक्षिक अंतर और भी अधिक होंगे। अनुमान (Hypothesis) द्वारा श्रमी जापान से आस्ट्रेलिया नहीं जा सकते। परन्तु जिन वस्तुओं में भूमि की अपेक्षा श्रम का अनुपात अधिक होगा वे जापान से आस्ट्रेलिया और अन्यत्र जा सकती हैं, और जाती हैं। इससे जापान में श्रम की अधिकता उससे कम होगी जो जापान के स्वावलंबी होने पर होती, क्योंकि जापानी निर्यात के लिए विदेशी माँग, उसकी श्रम की माँग को उसकी भूमि की माँग की अपेक्षा अधिक, बढ़ा देती है। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया से ऊन और गेहूँ और मांस के निर्यात के कारण वहाँ श्रम की अपेक्षा भूमि के अधिक सस्ती होने की संभावना है। अतएव अन्य देशों द्वारा जापान के निर्यात पर लगाए गए नियंत्रणों से जापान में, अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण से होनेवाला लाभ तो घटेगा ही मजदूरी भी घटाने की प्रवृत्ति होगी। मनुष्यता के सच्चे प्रेमी, जापान में निम्नकोटि के निर्वाह-स्तर पर द्रवित होकर, यदि अन्य देशों को यह कहकर जापानी माल खरीदने से विमुख करें कि वहाँ का श्रमिक वर्ग "शोषित" (Sweated) है तो वे जापानी श्रमियों का बड़ा अपकार करेंगे। वे जापानी श्रमियों की सबसे अधिक सहायता तब करेंगे जब वे जापानी माल को स्वच्छंदतापूर्वक आने दें और जिन देशों में श्रम अपेक्षाकृत कम है वहाँ जापानी मजदूरों को आप्रवासन (Immigration) की स्वीकृति दे दें। आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों में जहाँ श्रम अपेक्षाकृत दुर्लभ है जापानी माल का प्रवेश होने से श्रम की अपेक्षा भूमि का मूल्य बढ़ जायगा। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाग से, जैसा कि हम देख चुके हैं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेनेवाले सभी देशों की संपूर्ण वास्तविक आय बढ़ जाती है, और वह वृद्धि—एकाकीपन की अवस्था की

तुलना में—प्रायः बहुत पर्याप्त होती है। बहुत संभव है कि इस वृद्धि का अधिक अंश श्रमियों को न मिले; यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऐसे श्रमियों के विशेष समूहों की हानि होगी जिनकी कुशलता मुख्यतः ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न करने में है जिनका स्थान जापान से आयात होनेवाली स्थानापन्न वस्तुएँ ग्रहण कर लेती हैं। परन्तु कर्मचारियों अथवा संपत्ति-स्वामियों के कुछ दल आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन होने से कष्ट में पड़ेंगे, चाहे वह परिवर्त्तन समाजमात्र के लिए बहुत हितकर ही क्यों न हो।

अब हमें दृष्टान्त के लिए तीसरे उदाहरण का उपयोग करके और मजदूरी का विचार करते हुए साधन-मूल्यों की निरपेक्ष ऊँचाई (Absolute height) पर विचार करना चाहिए। क देश ख की अपेक्षा सभी बातों में अधिक कुशल है। परन्तु सभी अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्य, स्थानान्तरण-व्यय आदि को छोड़कर, दोनों देशों में एक हैं। कुशलता का अन्तर क देश में साधन-मूल्यों के उच्चतर स्तर में व्यक्त होता है। दृष्टान्त को सरल करने के लिए हम केवल श्रम का विचार करते हैं। मान लीजिए कि दोनों देश एक ही मुद्रा (Currency) का व्यवहार करते हैं और जब उनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्थापित हो गया है तब ख में दैनिक मजदूरी १० शि० हो जाती है। हमने मान लिया है कि क में कोई कर्मचारी ख के कर्मचारी की अपेक्षा २००/१६० या २५ प्र० श० अधिक कपड़ा उत्पन्न कर सकता है अथवा २००/८० या १५० प्र० श० अधिक चाय उत्पन्न कर सकता है। अतएव उसका दैनिक वेतन १२ शि० ६ पें० और २५ शि० के बीच में होगा। उसकी ठीक ठीक दर व्यापार-पण पर निर्भर होगी। पहले की भाँति मान लिया कि क ६० इकाई कपड़े के विनिमय में ४५ इकाई चाय निर्यात करता है और मान लिया कि ख में १ इकाई कपड़ा उत्पन्न करने में १ दिन का श्रम लगता है। तब एक इकाई कपड़े का मूल्य १० शि० होगा और ६० इकाई कपड़े (३० पौंड) के विनिमय में ४५ इकाई चाय मिलती है इसलिए १ इकाई चाय का मूल्य ३०/४५ या १३ शि० ४ पेंस होगा। हमारे उदाहरण में यह मान लिया गया है कि ख में १६० इकाई कपड़ा उत्पन्न करने में जो श्रम लगेगा उससे क में २०० इकाई चाय उत्पन्न की जा सकती है। अतएव अचल अवसर-लागत द्वारा, यदि ख में १ दिन का श्रम १ इकाई कपड़ा उत्पन्न करता है और १० शि० अर्जन करता है तो क में एक दिन का श्रम २०/१६० या १$\frac{1}{4}$ इकाई चाय उत्पन्न करेगा और १३ शि० ४ पेंस का १$\frac{1}{4}$ गुना अर्थात् १६ शि० ८ पेंस अर्जन करेगा। दोनों देशों की मजदूरियों में अन्तर इस बात का परिणाम है कि

अन्य साधन, जैसे अनुकूल जलवायु, ख की अपेक्षा क में बहुत पर्याप्त मात्रा में हैं अतएव कोई श्रमी ख की अपेक्षा क में अधिक उत्पादन कर सकता है। यदि क और ख एक ही देश के भिन्न भिन्न जिले हों तो ऐसी आशा की जायगी कि, अधिक वेतन से आकर्षित होकर श्रमी कम अनुकूल जिलों से अधिक अनुकूल जिलों में जाने लगेंगे। परन्तु अनुमान (Hypothesis) द्वारा क और ख पृथक् पृथक् देश हैं और उत्पादन के साधन एक से दूसरे में गतिशील नहीं हैं।

दोनों देशों के द्रव्य-वेतनों में इस प्रकार का अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिणाम है, कारण नहीं। यदि प्रत्येक देश स्वावलंबी होता तो वह जितना चाहता उतना द्रव्य मजदूरी के रूप में दे सकता था। परन्तु ख में एक दिन की मजदूरी १ इकाई कपड़ा या १/२ इकाई चाय से अधिक खरीदने में असमर्थ होगी क्योंकि ख में १ दिन के श्रम से या तो १ इकाई कपड़ा या १/२ इकाई चाय उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार क में एक दिन के श्रम की मजदूरी द्वारा या तो १ १/४ इकाई कपड़ा या १ १/४ इकाई चाय खरीदी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनों देशों में वास्तविक मजदूरी बढ़ गई है। ख में एक दिन के श्रम का १० शि० मिलता है जिससे १ इकाई कपड़ा या ३/४ इकाई चाय खरीदी जा सकती है। क में एक दिन के श्रम का १६ शि० ८ पेंस प्राप्त होता है जिससे या तो १ १/३ इकाई कपड़ा या १ १/४ इकाई चाय खरीदी जा सकती है। अतएव यदि क देश के श्रमी इस आधार पर ख से कपड़े के आयात का विरोध करें कि वह सस्ते श्रम से उत्पन्न किया गया है, तो यह उनकी मूर्खता होगी। निःसंदेह क की अपेक्षा ख में कपड़े के उत्पादन का द्रव्य के रूप में व्यय कम है। ख में लागत केवल १० शि० है, परन्तु क में १ १/४ इकाइयों के लिए १९६ शि० ८ पें० है अर्थात् १ इकाई के लिए १३ शि० ४ पें०, परन्तु यदि आयात वर्जित हो जाय तो क के श्रमी घाटे में रहेंगे क्योंकि—जैसा हम पहले ही दिखा चुके हैं—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से क देश की वास्तविक आय बढ़ गई है।[1]

---

१. यह संभव है कि यदि बहिष्कृत वस्तुएँ ऐसी वस्तुओं से प्रतियोगिता करती हैं, जिनके उत्पादन में श्रम का अधिक भाग है और जिनका उपभोग अधिकतर भूमिपतियों और पूँजीपतियों द्वारा होता है, तो उनके आयात पर कर लगाने से श्रमियों को लाभ हो। परन्तु इसका व्यावहारिक महत्त्व नहीं के बराबर है।

७. एक देश से दूसरे देश में साधनों का गमनागमन
(Movement of Factors between Countries)

तुलनात्मक लागत-संबंधी हमारे विवेचन में यह मान लिया गया था कि उत्पादन के साधन एक देश से दूसरे देश में नहीं आते जाते। परन्तु वास्तव में कुछ श्रमी तो देश के बाहर जाते ही हैं और कुछ पूंजी भी विदेशों में विनियुक्त होती है। अतएव ऐसे गमनागमन (Movements) के मुख्य परिणामों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

यदि द्रव्य के रूप में मूल्य न होते और श्रम के निष्क्रमण (Migration) में कोई अन्य प्रकार की बाधा न होती तो कम मजदूरी वाले जिलों से कर्मचारी अधिक मजदूरी वाले जिलों में जाने लगते और तब तक जाते रहते जब तक संसार भर में किसी विशेष व्यवसाय में समान कुशलता वाले कर्मचारियों के लिए निस्तुप (Net) सुविधाएँ एक सी न हो जातीं। हम "निस्तुप सुविधाएँ" (Net advantages) इसलिए कहते हैं कि विभिन्न देशों के निर्वाह-व्यय में अथवा कार्य वाले सप्ताह के विस्तार में, अथवा कार्य करने की अन्य अवस्थाओं में, अन्तर न होता तो उस अन्तर की क्षतिपूर्ति के लिए द्रव्य के रूप में दी जाने वाली मजदूरी में अन्तर होता। निःसंदेह फिर भी कुछ श्रमी दूसरों की अपेक्षा अधिक अर्जन करते। परन्तु ऐसा इसलिए होता कि अपनी स्वाभाविक रुचि, प्रशिक्षा (Training), पूंजी, प्रभाव या भाग्य के कारण वे अच्छे वेतन वाले धंधों में अधियुक्त थे या इसलिए कि उसी कार्य में वे दूसरे की अपेक्षा अधिक कुशल थे। ऐसा इस कारण नहीं होता कि वे विभिन्न देशों में रहते थे।

इसी प्रकार, यदि पूंजी स्वतंत्रतापूर्वक एक देश से दूसरे देश में जा सकती तो विभिन्न देशों में किसी विशेष अवधि के लिए, लिए गए ऋण की व्याज-दर में (ऋण-वसूल न होने के भय का विचार छोडकर) अन्तर न होता। पूंजी के स्वतन्त्र गमनागमन से विभिन्न देशों में मजदूरी की असमानता भी कम हो जाती। क्योंकि जहाँ कुलशता के लिए कम वेतन मिलता उन देशों में पूंजी अधिक जाती। इससे उन देशों में श्रम का सीमान्त उत्पाद बढ़ जाता; परन्तु जिन देशों से पूंजी निर्यात होती उनमें श्रम का सीमान्त उत्पाद उसकी अपेक्षा कम होता जो पूंजी को स्वदेश में विनियुक्त करने पर होता।

परन्तु स्थान-संबंधी श्रम की गतिशीलता (Territorial mobility of labour) की वर्तमान बाधाएँ यदि दूर न की जायँगी तो विभिन्न देशों की मजदूरी में पर्याप्त भिन्नता बनी रहेगी। क्योंकि कुछ देशों में

अन्य देशों की तुलना में भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों की अपेक्षा श्रम की मात्रा अधिक होगी। ऐसा मानना कोरी कल्पना है कि भूमि, जलवायु और खनिज पदार्थ जैसे प्रकृत साधन एक देश से दूसरे देश में स्वतन्त्रता पूर्वक स्थानान्तरित किए जा सकते हैं। यदि ऐसा होता और पूंजी भी पूर्ण रूप से गतिशील होती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लगभग लुप्त हो जाता। वह केवल इसलिए चालू रहता कि कुछ देशों में जब संख्या कम होने और दूसरे बाजारों से उसके दूर होने के कारण वहाँ अन्य देशों से—जहाँ बहुमूल्य अविभाज्य यंत्रों या सज्जा की सहायता से महामात्रा में वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं—माल मँगाना लाभदायक होता। माल का गमनागमन एक प्रकार से साधनों के गमनागमन का ही दूसरा रूप है। यदि उत्पादन के साधन स्वतन्त्रता से गतिमान हो सकते तो वस्तुओं के गतिमान होने की आवश्यकता न पड़ती और प्रत्येक देश अपनी वास्तविक आय घटाए बिना स्वावलंबी हो सकता। परन्तु प्रकृत साधन गतिमान नहीं हो सकते। अतएव यदि श्रम और पूंजी पूर्णतः गतिशील होती तब भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होता। उष्ण कटिबंधीय (Tropical) देश उष्ण कटिबंधीय पदार्थ निर्यात करते, विशेष खनिज पदार्थों में सम्पन्न देश उन खनिज पदार्थों का निर्यात करते, इत्यादि।

वास्तव में एक देश से दूसरे देश में श्रमियों की गति (Movement) किसी वर्ष १ व्यक्ति प्रति हजार से अधिक बिरले ही हुई है। निष्क्रमण का व्यय, किसी अपरिचित देश में जाने में श्रमियों की हिचकिचाहट, विदेशों की दशा के विषय में उनका अज्ञान और कुछ सरकारों द्वारा, विशेषतः इधर के कुछ वर्षों में, आप्रवासन (Immigration) पर लगाए गए नियंत्रण आदि ऐसी बाधाएँ हैं जिनसे उनकी गतिशीलता में रुकावट पड़ती है। बहुत अल्प अवधि में विभिन्न देशों के बीच श्रम को पूर्णतः गतिशील मान लेने की अपेक्षा उसे सर्वथा अगतिशील मानना सत्य के अधिक निकट होगा।

पूर्वीय देशों की सघन जन-संख्या पर उत्प्रवास (Emigration) का बहुत कम प्रभाव पड़ा है, यद्यपि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् चीनियों का मंचूरिया में गमन कभी कभी १० लाख प्रति वर्ष के लगभग हो जाता था। पाश्चात्य देशों की अपेक्षा, प्रकृत साधनों की तुलना में उनकी जन-संख्या बहुत अधिक है और संभवतः यही मुख्य कारण है कि उनका जीवन-स्तर इतना निम्न है।

"पुराने" देशों में एक दूसरे के बीच पर्याप्त गमनागमन (Movement) हुआ है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व प्रायः प्रतिवर्ष कुछ महीनों के लिए पोलैंड तथा अन्य देशों के श्रमी चुकंदर और आलू की फसल

काटे जाने के समय जर्मनी में जाया करते थे। इसी प्रकार इटली और स्पेन के मजदूर फ्रांस में अंगूर तोड़ने के समय जाकर सहायता किया करते थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विशेषतः पोलैंड, इटली, वेल्जियम और स्पेन से फ्रांस में जाने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। फ्रांस में विदेशियों की संख्या १९२० में १५ लाख के लगभग थी परन्तु १९३० में वह बढ़कर ३० लाख हो गई थी। अतएव फ्रांस ने उनमें से बहुतों को मंदी के समय अपने अपने देशों को लौटा दिया। परन्तु सौ वर्ष से अधिक हुए कि यूरोप से समुद्रपार के "नए" देशों में जाने की प्रवृत्ति अधिक रही है। इन उत्प्रवा-वासियों में से अधिकांश—१८२१ और १९२० के बीच ३४० लाख के लगभग—संयुक्त राज्य में गए हैं, यद्यपि कभी कभी अन्य देशों में जाने वालों की गति बहुत अधिक रही है। उदाहरणार्थ, १९०३ और १९१४ के बीच लगभग २५ लाख व्यक्ति कनाडा में प्रवृष्ट हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में इनमें से अधिकांश इंगलैंड, जर्मनी और पश्चिमोत्तर योरोप के अन्य देशों से गए, परन्तु प्रथम महायुद्ध के दस बीस वर्ष पहले दक्षिणी और पूर्वीय योरोप से अधिकाधिक संख्या में लोग गए, केवल इटली से जाने वालों की संख्या चार लाख प्रतिवर्ष के लगभग थी। फिर भी हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि आयरलैंड ही एक ऐसा देश था जिसकी जनसंख्या पर उत्प्रवास का बहुत पर्याप्त प्रभाव पड़ा; वहाँ की जनसंख्या १८१४ में ८० लाख थी परन्तु १९०० में घटकर ४५ लाख हो गई थी। १९१४ के युद्ध के ठीक पूर्व, जब कि उत्प्रवास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था, योरोप के संपूर्ण उत्प्रवासियों की संख्या प्रतिवर्ष दस लाख के कुछ ही ऊपर थी। युद्ध के बाद से, संयुक्त राज्य तथा कुछ अन्य देशों में प्रवेश निषिद्ध होने के कारण, जनसंख्या का गमनागमन बहुत घट गया है और मंदी के दिनों में कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे "नए" देशों से बाहर जाने की प्रवृत्ति भी बढ़ गई थी।

आयरलैंड से १८४५ और १८५५ के बीच आलू के अकाल के कारण उत्प्रवास की लहर को छोड़कर जो एक अपवाद थी अधिकतर उत्प्रवास तब बढ़ा है जब आकर्षक देशों की दशा उन्नतिशील रही है न कि जब उत्प्रवासियों के स्वदेश की दशा बुरी रही है और अधिकांश आप्रवासी अपेक्षाकृत अकुशल व्यवसाइयों में प्रवृष्ट हुए हैं और उन देशों के श्रमी अधिक कुशल व्यवसायों में चले गए हैं।

वर्तमान काल में कुछ देशों में जैसे आस्ट्रिया और आर्जेन्टाइन में, अन्य देशों की अपेक्षा विरल बस्ती है। परन्तु ऐसे देश, अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से, अपनी संख्या बढ़ाकर लाभ उठायेंगे या नहीं यह एक पृथक् प्रश्न है। आप्रवास से भूमि का मूल्य बढ़ जायगा परन्तु ऐसे कर्मचारियों

की, जिनसे आप्रवासियों की प्रतियोगिता होगी, मजदूरी घट जायगी।

यदि किसी आप्रवासी और उत्प्रवासी देश की संयुक्त वास्तविक आय ज्यों की त्यों रहे तो प्रव्रजन निष्क्रमण से मजदूरी में समानता आ जायगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घट जायगा। परन्तु समुद्रपार देशों के अधिक विस्तार के समय यह बात नहीं देखी गयी। प्रायः श्रम के निष्क्रमण के साथ साथ पूँजी का भी निष्क्रमण हुआ है; नये देशों की उन्नति से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई है और प्रकृत साधनों की तुलना में श्रम और पूँजी का श्रेष्ठतर वितरण होने से उत्प्रवास होने वाले देशों तथा समुद्रपार के देशों में वास्तविक आय, जिसमें मजदूरी सम्मिलित है, बढ़ गई है। इसके अतिरिक्त समुद्र पार देशों के विकास के कारण खाद्य पदार्थ और कच्चा माल अधिक मात्रा में और सस्ता उत्पन्न होने लगा है, जिनकी उन देशों को आवश्यकता थी जहाँ से उत्प्रवासी गये हैं, और उनके द्वारा निर्मित पदार्थों के लिए विस्तृत बाजार भी मिल गए हैं, अर्थात् इससे व्यापार-पण (Terms of trade) पुराने देशों के अनुकूल हो गया है।

विगत काल में एक देश से दूसरे देश में पूँजी का गमनागमन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हुआ है। समुद्रपार के "नए" देश कुछ तो पश्चिमी योरोप के देशों से और इधर के वर्षों में संयुक्त राज्य से प्राप्त ऋण के द्वारा विकसित हुए हैं और इन ऋणों से ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य ऋणदाता देशों के निर्यात को उत्तेजना मिली है। १९२५ से १९२९ के बीच अनेक ऋणी देशों ने, जिनमें जर्मनी भी था, संयुक्त राज्य तथा अन्य ऋणदाता देशों से ऋण लेकर व्यापार की तेजी का अनुभव किया था। फिर भी पृथक् पृथक् राष्ट्रीय-राज्य होने के कारण पूँजी की गति में पर्याप्त बाधाएँ उपस्थित होती हैं और संसार के सब देशों के बीच इस प्रकार की गति जितनी प्रायः अनुमान की जाती है उससे कम हुई है। अनजान देश में पूँजी लगाने की पूँजीपतियों की अनिच्छा और पूँजी के मारे जाने अथवा छीने जाने के भय के कारण विदेशों में उसका विनियोजन बहुत कम हुआ। और १९३९ में ब्रिटेन का विदेशी विनियोजन चार करोड़ पौंड के लगभग अर्थात् १९१३ के विनियोजन के बराबर था। परन्तु यह संसार भर के अन्य सभी देशों की विदेशों में विनियुक्त पूँजी से अधिक था, यद्यपि केवल इंगलैंड में विनियुक्त पूँजी का यह लगभग पाँचवाँ भाग था। इधर के वर्षों में अनेक योरोपीय देशों में पूँजी का आयात निषिद्ध कर दिया गया है और पर्याप्त मात्रा में "शरणार्थी" (Refugee) पूँजी, ऊँची व्याज-दर की अपेक्षा सुरक्षा की खोज में, एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में भटकती फिरी है। उदाहरणार्थ, फ्रांस की बहुत-सी पूँजी लंदन इसलिए अंतरित कर दी गई थी कि उसके स्वामियों को भय था कि फ्रैंक

(फ्रांसीसी मुद्रा) का अर्घ गिर जायगा। १९३२–३७ के बीच बैंक औफ इंगलैंड को नोट-निष्कासन (Note issue) में वृद्धि करने की स्वीकृति अंशतः इसलिए दी गई थी कि फ्रांसीसियों तथा अन्य देश वालों ने नोटों को अपने पास रख लिया था और उसकी पूर्ति करना आवश्यक था।

छब्बीसवाँ अध्याय

भुगतानों का आधिक्य

(Balances of Payments)

१. भुगतानों के आधिक्य का अर्थ

जब किसी विशेष अवधि (प्रायः एक वर्ष) में किसी देश के आयात का अर्घ उसके निर्यात के अर्घ से अधिक होता है तब उस देश का "व्यापाराधिक्य" (Balance of trade) विरुद्ध या प्रतिकूल या निष्क्रिय कहा जाता है। उसकी प्रतिकूलता का विस्तार "आयात के आधिक्य" (Excess of imports) द्वारा नापा जाता है। परन्तु इस आधिक्य की मात्रा अंशतः उन वस्तुओं पर निर्भर होगी जो, इस संबंध में, आयात और निर्यात में सम्मिलित की गई होंगी और अंशतः अर्घापण (Valuation) की विधि पर। जो देश सोना और चाँदी उत्पन्न और निर्यात करते हैं वे प्रायः उन्हें अपने अभिलिखित (Recorded) निर्यात (और आयात) में सम्मिलित करते हैं, परन्तु अन्य देश सोने की गति—और कभी कभी चाँदी की भी—प्रायः पृथक दिखाते हैं, अतएव उनके "आयात" और "निर्यात" का संबंध केवल माल या माल तथा चाँदी से रहता है। और कुछ देश—विशेषतः संयुक्तराज्य, कनाडा और दक्षिणी अफ्रीका—अपने आयात का अर्घापण निःशुल्क (f. o. b.) —अर्थात् जिस देश से माल आता है उसे छोड़ते समय उसका जो मूल्य होता है उसके अनुसार करते हैं। बहुत से अन्य देश अपने आयात का अर्घापण सशुल्क (c. i. f.), अर्थात् देश में पहुँचने पर उनके मूल्य के अनुसार करते हैं। यह स्पष्ट है कि दूसरी की अपेक्षा पहली विधि निर्यात का आधिक्य अधिक अथवा आयात का आधिक्य कम दिखाया जाता है।

जब किसी देश का निर्यात अधिक होता है तो उसका व्यापाराधिक्य उस मात्रा में अनुकूल अथवा सक्रिय कहा जाता है। "अनुकूल" और "प्रतिकूल" अथवा "विरुद्ध" (Adverse) शब्द उस समय से चले आ रहे हैं जब किसी देश के लिए सोना संचय करना वांछनीय समझा जाता था। अनुकूल आधिक्य (अर्थात् शेष) को इस बात का लक्षण मानते थे कि सोने का आयात होगा और प्रतिकूल आधिक्य की पूर्ति के लिए (ऐसा समझा जाता था कि) संभवतः सोना बाहर भेजना पड़ेगा। वास्तव में बढ़ता हुआ व्यापाराधिक्य कभी कभी उन्नति का लक्षण होता

है। उदाहरणार्थ, जब कोई पुराना देश, जैसे ग्रेट ब्रिटेन, अपने आयात से अधिक निर्यात करता जाता है तब इसका यह अर्थ हो सकता है कि स्वदेश में अधिक सक्रियता के कारण वह बाहर से अधिक सामग्री खरीद रहा है और निकट भविष्य में, जो देश अभी उसे कच्चा माल तथा अन्य सामग्री दे रहे हैं, उसके निर्यात के लिये अपनी माँगें बढ़ायेंगे।

किसी भी दशा में, व्यापाराधिक्य द्वारा सब बातों का पूरा पता नहीं चलता। अनेक वर्षों तक इंगलैंड का आयात बहुत अधिक रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसके निवासियों में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने समुद्र पार विनियोजनों पर ब्याज या लाभांश (Dividends) के रूप में पर्याप्त रकम पाने के अधिकारी हैं और अंग्रेजी व्यापार-संस्थाएँ विदेशियों को जहाजी, बीमा-संबंधी, महाजनी तथा अन्य प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती हैं। व्यवहार में ये भुगतान माल के रूप में होते हैं, इसीसे इंगलैंड का आयात अधिक होता है। स्पष्ट है कि सब बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें केवल उन्हीं वस्तुओं का लेखा नहीं लेना चाहिए जो आयात और निर्यात के अभिलिखित अनुमान में सम्मिलित हैं वरन् सभी आदान-प्रदानों की गणना करनी चाहिए।

किसी देश के व्यापाराधिक्य में, यदि वह पूर्ण और ठीक ठीक है तो, उस अवधि में विदेशियों द्वारा उस देश के निवासियों को किए गए सभी भुगतान—ऐसे भुगतानों को "पावना" (Credit) कहते हैं—और उस अवधि में देशवासियों द्वारा विदेशियों को किए गए सभी भुगतान—जिन्हें "देना" (Debits) कहते हैं—सम्मिलित होंगे। "देशवासियों" शब्द में उस देश में रहनेवाले (केवल बसनेवाले नहीं) सभी व्यक्ति, सरकार, व्यवसाय-संस्थाएँ, अन्य संस्थाएँ, इत्यादि सभी सम्मिलित हैं, चाहे वे किसी देश या जाति के हों। इसी प्रकार "विदेशी" शब्द से अभिप्राय उन सभी व्यक्तियों से है जो देश के बाहर हैं, चाहे वे किसी देश या जाति के हों।

इस बात का कारण जानने की उत्कंठा हो सकती है कि भुगतानों का आधिक्य (Balance of payments) तैयार करने के लिए अधिकतर किसी देश को ही क्यों उपयुक्त क्षेत्र चुनते हैं। कई देशों के समूह, जैसे स्कैंडिनेविया (नार्वे और स्वीडन) या किसी जिले को, जैसे कौर्नवाल, क्यों नहीं चुनते? इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकतर प्रत्येक देश की अपनी पृथक् मुद्रा-प्रणाली या महाजनी-प्रणाली होती है। अतएव जब कोई विदेशी किसी अन्य देश में किसी व्यक्ति को भुगतान करना चाहता है तो वह अपने देश की मुद्रा या अपना चेक (Cheque) भेज कर भुगतान नहीं कर सकता क्योंकि यह मानी हुई बात है कि उसकी मुद्रा विदेश में

स्वीकृत नहीं होगी। अतएव उसे विदेश की मुद्रा प्राप्त करनी पड़ेगी अथवा वह अपने बैंक को अपनी मुद्रा देकर उससे यह कार्य करा सकता है। देशवासियों द्वारा विदेशियों का भुगतान करने में इसकी विपरीत क्रिया लागू होगी। मुक्त-विनिमय-दर (Free exchange rates) के अन्तर्गत, किसी मुद्रा (Currency) का विनिमय अर्घ प्रायः ऐसा होता है कि विदेशी-विनिमय बाजार में माँग की हुई रकम, पूर्ति की जाने वाली रकम के बराबर होती है, अचल-विनिमय-दर (Fixed exchange rates) के अन्तर्गत, भुगतानों के आधिक्य में परिवर्तनों का, द्रव्य-आय-स्तर (Level of money incomes) और उस देश में व्याज की दर पर, प्रायः प्रभाव पड़ता है। हम इन बातों पर पीछे विचार करेंगे। उनका अभी उल्लेख हम यह दिखाने के लिए कर रहे हैं कि भुगतानों का आधिक्य क्यों महत्त्वपूर्ण है।

बहुत कम देश ऐसे हैं जो अपने भुगतानों के आधिक्य का पूर्ण और विस्तृत अनुमान देते हैं। संभवतः सबसे पूर्ण संयुक्त राज्य (अमेरिका) का होता है, जिसका नमूना हम नीचे दूसरे विभाग में दे रहे हैं, साथ ही इंगलैंड का भी नमूना दिया जा रहा है।

२. संयुक्त राज्य तथा इंगलैंड (यूनाइटेड किंगडम) के अनुमान

संयुक्त राज्य के भुगतानों के आधिक्य (१९३६) का सरकारी अनुमान निम्नलिखित है। यह करोड़ डालरों में है।

मद	"निर्यात" (पावना) Credits के बदले विदेशियों से प्राप्ति (Receipts).	"आयात" (देना) Debits के बदले विदेशियों को भुगतान	निस्तुष (Net) पावना(+) या देना(–
व्यापार और सेवा की मदें—			
वाणिज्य (Merchandise)	२४५·६	२४२·२	+३·४
वाणिज्य का सामंजस्य (Merchandise adjustments)	६·६	४·१	+२·५
भाड़ा (जहाज का)	६·८	१२·९	– ६·१
यात्रियों का व्यय	१२·५	४९·७	–३७·२
आप्रवासियों के प्रेषण (Immigrant Remittances)	·५	११·५	–१·०

मद	"निर्यात" (पावना) Credits के बदले विदेशियोंसे प्राप्ति (Receipts)	"आयात (देना) Debits के बदले विदेशियों को भुगतान	निस्तुष (Net) पावना(+) देना(−)
दातव्य (Charitable), शिक्षात्मक तथा अन्य अंश दान (Contributions)		३·२	−३·२
व्याज और लाभांश	५६·८	२३·८	+३३·०
युद्ध-ऋण की प्राप्ति	·१		+·१
सरकारी व्यवहार (Transactions) (युद्ध-ऋण की प्राप्ति के अतिरिक्त)	३·०	९·६	−६·६
विविध सेवाएँ	१६·४	६·६	+९·८
व्यापार और सेवाओं की मदों का योग	३४८·३	३६३·६	−१५·३
सोना और चाँदी—			
स्वर्ण निर्यात और आयात	२·८	११४·४	−१११·६
स्वर्ण-पृथक्करण क्रिया (Gold earmarking operations) निस्तुष (net)			+८·६
स्वर्ण गमनागमन (Goldmovements) (निस्तुष)			−१०३·०
चाँदी का निर्यात-आयात	·३	१८·३	−१८·०
सोने और चाँदी के गमनागमन का योग (निस्तुष)			−१२१·०
पूँजी की मदें (Capital items)			
दीर्घकालीन पूँजी का गमनागमन	३४७·५	२७१·७	+७५·८
अल्पकालीन महाजनी निधियों (Banking funds) का गमनागमन			+४०·४
विविध पूँजी-मदें (निस्तुष)			−१·२
कागजी मुद्रा का गमनागमन (Paper currency movements)	५·७	३·५	+२·२
पूँजी की मदों का योग (निस्तुष)			+११७·२
शेष मदें (निस्तुष)			+१९·१

इनमें से अधिकांश मदें स्वयं स्पष्ट हैं। "वाणिज्य का सामंजस्य" में ऐसी वस्तुओं का क्रय-विक्रय सम्मिलित है—जैसे जहाज और जहाजी इंधन (Bunker fuel), चोरी से माल ले जाना और कम या अधिक

अर्पण का अनुमान। आप्रवासियों के प्रेषण का विकलन पक्ष (Debit side) में संयुक्त राज्य के आप्रवासियों द्वारा अपने देश में प्रेषित धन सम्मिलित है; जैसे १३५ लाख डालर यूनान भेजा गया था और ८२ लाख डालर इटली भेजा गया था। "विविध सेवाओं" के अन्तर्गत आकलन पक्ष (Credit side) में ११ करोड़ डालर चल-चित्रों (Motion pictures) के लिए विदेशियों से प्राप्त होनेवाली रायल्टी (Royalty) है, उधर ६० लाख डालर विदेशी चित्रों के व्यवहार के लिए दिया गया है, २ करोड़ डालर कर, शुल्क और अमेरिकी प्रतिभूतियों (Securities) के व्यवहार के संबंध में विदेशियों द्वारा दी गई दस्तूरी (Commission) और बीमा-संबंधी सेवाओं के लिए देना लेना है। सोने का अत्यधिक आयात ध्यान देने योग्य है। जब विदेशियों द्वारा (जैसे चीन के केन्द्रीय बैंक द्वारा, जिसका भुगतान उसके द्वारा संयुक्त राज्य को चाँदी का निर्यात करके किया गया) संयुक्त राज्य में सोना खरीदा जाता है, और इसलिए वह उनकी संपत्ति के रूप में "पृथक्कृत" (Earmarked) किया जाता है तो वह स्वर्ण-निर्यात के तुल्य गिना जाता है, यद्यपि वह सोना संयुक्त राज्य में ही रहता है, क्योंकि वह विदेशियों के हाथ बेचा जा चुका है। "कागजी मुद्रा गमनागमन" का वही अर्थ है जो इस शब्द से व्यक्त होता है। १९३६ में संयुक्त राज्य से डालर-नोटों का निस्तुष (Net) निर्यात हुआ था।

इंगलैंड (यूनाइटेड किंगडम) का अनुमान केवल आधिक्य (Balances) व्यक्त करता है और पूंजी का गमनागमन नहीं व्यक्त करता। निम्नलिखित आँकड़े २५ फरवरी, सन् १९३७, के "बोर्ड ऑफ ट्रेड जर्नल" से लिए गये हैं।

	१९३६ (करोड़ पौंड)
वाणिज्य और चाँदी पिंड (Bullion) तथा स्वर्णमुद्रा (Specie[1]) का आधिक्य ...	३४·७
समुद्रपार किए गए सरकारी भुगतानों का अनुमानित आधिक्य ...	·२
	३४·९ पौंड

---

१. आयात

	लाख पौंड	निर्यात	लाख पौंड
वाणिज्य	८४८९	वाणिज्य	५०११
चाँदी पिंड तथा स्वर्णमुद्रा	१७१	चाँदी पिंड तथा स्वर्णमुद्रा	१८१
	८६६० पौंड		५१९२ पौंड

राष्ट्रीय जहाजों से अनुमानित निस्तुप (Net) आय	...	९·५
समुद्रपार के विनियोजनों (Overseas investments) से अनुमानित निस्तुप आय	...	१९·५
दस्तूरी आदि से अनुमानित निस्तुप प्राप्ति	...	३·०
अन्य प्रकार से होने वाली अनुमानित निस्तुप प्राप्ति	...	१·०
		३३·० पौंड
उपर्युक्त मदों पर अनुमानित संपूर्ण विकलन (Debit)		१·९

सरकारी आदान-प्रदान में, सरकारों के बीच ऋण के आदान-प्रदान (जैसे १९३४ में दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने ७५ लाख पौंड युद्ध-ऋण लौटाया था) और जल-सेना विभाग तथा सार्वजनिक विभागों की समुद्रपार की क्रियाओं के संबंध में प्राप्ति और भुगतान सम्मिलित हैं। "जहाजों से आय" का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मान लीजिए कि इंगलैंड में अंग्रेजी जहाजों पर माल लाया जाता है। भाड़े का भुगतान आन्तरिक भुगतान है क्योंकि वह एक अंग्रेजी आयातक संस्था द्वारा एक अंग्रेजी जहाजी कंपनी को दिया गया है। परन्तु माल का अर्पण भाड़ा सहित (c. i. f.) होता है, अतएव भाड़े का भुगतान आकलन पक्ष (Credit side) में दिखाया जाना चाहिए जिससे कि भाड़े की रकम, जो आयात के अर्घ में सम्मिलित की जाती है, परन्तु होनी नहीं चाहिए, संतुलित हो जाय अतएव समुद्रपार के आदान-प्रदान से होने वाली अंग्रेजी जहाजी कंपनियों की संपूर्ण आय इसी मद में सम्मिलित है; इसके अतिरिक्त विदेशी जहाजों द्वारा इंगलैंड में किया जाने वाला (जहाजी इंधन, भंडार, बंदरगाह के भाड़े आदि के संबंध में देना, दस्तूरी इत्यादि के लिए व्यय) व्यय सम्मिलित किया जाता है और अंग्रेजी जहाजों द्वारा विदेशी बंदरगाहों में किया जानेवाला व्यय घटा दिया जाता है।

"समुद्रपार के विनियोजनों से आय" (Income from overseas investments) के अन्तर्गत विदेशों में दीर्घकालीन विनियोजनों से होनेवाली आय है जिसमें से इंगलैंड में विदेशियों के दीर्घकालीन विनियोजनों पर आय के रूप मे दी गई रकम घटा दी गई है। युद्ध-ऋण का भुगतान इसमें सम्मिलित नहीं है। लगभग १० करोड़ पौंड आय स्टर्लिंग में निश्चित व्याज का भुगतान है। शेष मुख्यतया लाभांश (Dividend) है। जब इंगलैंड में विदेशी ऋण प्राप्त किया जाता है तो वह विकलन (Debit) पक्ष में दिखाया जाता है क्योंकि उतने मूल्य का स्टर्लिंग ऋण लेने वालों के लिए उपलब्ध रखा जाता है जो उसका उपयोग माल या दूसरे देशों के विदेशी विनिमय खरीदने में करते हैं। व्याज का भुगतान तथा पूंजी का प्रतिदान (Repayment) निःसंदेह आकलन पक्ष में गिने जाते हैं।

यदि कोई देश प्रतिवर्ष लगभग उतनी ही रकम उधार लेता है, और मान लिया कि ५ प्र० श० व्याज देता है, तो २० वर्ष के बाद उसका बाह्य व्याज भुगतान उसके नए विदेशी ऋण से अधिक हो जाता है। बहुत से देश इसी अवस्था में हैं।

"दस्तूरी आदि से निस्तुष प्राप्ति" (Net receipts from commissions, etc.) के अन्तर्गत सकारने का शुल्क (Charges in respect of acceptance credits), विदेशी हुंडियों पर मितीकाटा, बैंकों का व्याज, दस्तूरी तथा समुद्रपार के ऋणियों द्वारा नए ऋणों पर दिए गये शुल्क (Charges), समुद्रपार के उत्पादनों पर व्यापारिक दस्तूरी, विदेशों से बीमे के संबंध में प्रेषित धन, और विनिमय द्वारा अर्जित द्रव्य सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार इसके अन्तर्गत अधिक अंशों में लंदन नगर के विदेशी लेन-देन से होनेवाली प्राप्ति सम्मिलित रहती है ।

"अन्य स्रोतों से प्राप्ति" (Receipts from other sources) में ऐसी मदें सम्मिलित रहती हैं जैसे यात्रियों के व्यय (लगभग २० लाख पौंड का निस्तुष विकलन), चित्रों (फिल्मों) से होनेवाली आय (५० लाख पौंड का निस्तुष विकलन), पुराने जहाजों की विक्री, उत्प्रवासियों के भेजे हुए धन और विदेशी सरकारों द्वारा दूत-कार्यों के लिए इंगलैंड में किया जानेवाला व्यय।

३. ऐसे अनुमानों के दोष

अधिकांश देशों के अनुमान अपूर्ण होते हैं। ऊपर उल्लिखित ब्रिटेन के अनुमान में स्वर्ण-गमनागमन (Gold movements) के कारण होनेवाले निस्तुष विकलन को जोड़ सकते हैं परन्तु बोर्ड आफ ट्रेड जर्नल (पत्रिका) हमें सावधान करता है कि स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पिंड का निर्यात से आयात का उल्लिखित आधिक्य---२२७५ लाख पौंड---एक ऐसी संख्या है जिसको कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए; क्योंकि उसमें पृथक्करण (Earmarking) की क्रिया का विचार नहीं किया जाता। पूंजी के गमनागमन के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञात रहता है। १९३६ में लंदन के बाजार में लिए गए विदेशी नए ऋण का अर्घ मिड्लैंड बैंक द्वारा २६० लाख पौंड आँका गया था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का व्यापार-विभाग, १९३६ में संयुक्त राज्य की प्रतिभूतियों (Securities) के आदान-प्रदान के संबंध में इंगलैंड से निधियों (Funds) का निस्तुष आयात २१८० लाख डालर देता है। लार्ड किंडर्सली, १९३६ में, इंगलैंड को लौटाए गए ऋण तथा निधियों का अनुमान लगभग १०७० लाख पौंड लगाते हैं। परन्तु पूंजी का गमनागमन---उदाहरणार्थ शरणार्थी पूंजी का

इंगलैंड में आना अथवा इंगलैंड से जाना— जो अज्ञात है, इतना अधिक हो सकता है कि व्यापार-मंडली (Board of Trade) सब पूँजी की गति को अपने अनुमान से पृथक् रखने में बुद्धिमत्ता प्रकट करती है। फिर भी हमें इसका अर्थ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि संपूर्ण आदान-प्रदान पर निस्तुष आकलन या विकलन के सूचक के रूप में प्रकाशित अनुमान निरर्थक है।

पूर्ण तथा सावधानी से प्रस्तुत अनुमान में भी, जैसे संयुक्त राज्य के अनुमान में, भूल की पर्याप्त मात्रा स्वीकार की गई है; क्योंकि यात्रियों के व्यय आदि का ठीक ठीक अनुमान करना और पूँजी के विविध प्रकार के आदान-प्रदान की गति-विधि का ज्ञान रखना कठिन है।

कभी कभी वस्तुओं का अर्घ ठीक-ठीक नहीं आँका जाता। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया ब्रिटेन के बाजार में चीनी "खेपता" (Dumps) है। कई वर्षों तक, आस्ट्रेलिया में प्रचलित मूल्य के आधे पर, उसने इंगलैंड के बाजार में चीनी बेची है। परन्तु वह उसका अर्घापण (Valuation) उस मूल्य से नहीं करता जो पाता है वरन् उस मूल्य से करता है जो स्वदेश में प्रचलित है।

कुछ मद तो भूल से सम्मिलित किये जा सकते हैं, क्योंकि उनमें द्रव्य का अन्तरण (Transfer) नहीं होता। जैसे संयुक्त राज्य में आप्रवासियों (Immigrants) द्वारा लाई गई गृहस्थी की वस्तुएँ आयात में सम्मिलित की जाती हैं। उसी प्रकार "विदेशों में कार्य करनेवाली अमेरिकी व्यापारिक संस्थाएँ (Corporations) प्रायः अपने उद्योगों का उत्पादन (Produce) आयात करती हैं और अपनी आय की पूरी रकम अथवा उसका अधिकांश अपने स्वदेश-स्थित कार्यालयों के प्रबंध आदि में व्यय करती हैं।" जैसा कि संयुक्त राज्य की रिपोर्ट (पृष्ठ १६) में कहा गया है, इस प्रकार के आयात—ताँबा, चीनी, पेट्रोल, इत्यादि के—या तो आयात में सम्मिलित ही नहीं किए जाने चाहिए, क्योंकि उनका मूल्य नहीं चुकाया जाता, अथवा "ब्याज और लाभांश" के आकलन मद में संगत वृद्धि द्वारा प्रतिरुद्ध (Offset) कर देना चाहिए; क्योंकि वे अमेरिका के विदेशी विनियोजन पर प्रत्यक्ष आय व्यक्त करते हैं।

अन्त में यह ध्यान में रखना चाहिए कि अधिकतर अनुमानों का संबंध अभिलिखित आदान-प्रदान से होता है, किए गए भुगतानों से नहीं। जैसे १९३६ में देश में प्रवेश करने वाला आयात १९३६ के अनुमान में सम्मिलित किया जायगा, यद्यपि उसका भुगतान, संभव है, १९३६ के पहले ही कर दिया गया हो अथवा १९३६ के बाद तक न हुआ हो।

४. भुगतानों का आधिक्य किस प्रकार संतुलित होता है ?
(How does a Balance of Payments Balance. ?)

विनिमय में सर्वदा दो पक्ष होते हैं। विदेशी मुद्रा की खरीदी हुई प्रत्येक रकम किसी न किसी के द्वारा अवश्य वेची गई होगी। किसी अवधि में, चाहे वह कितनी भी थोड़ी हो, विदेशी-विनिमय-बाजार में वेचे गये पौंड (स्टर्लिंग) की संपूर्ण रकम संपूर्ण खरीदी गई रकम के बराबर होती है। इस अर्थ में भुगतानों का आधिक्य सर्वदा संतुलित रहता है। परन्तु इस अर्थ से हमारा काम नहीं चलता।

विविध प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय आदानप्रदान निरंतर होते रहते हैं। उनसे संबंध रखने वाले अधिकांश लोगों को भुगतानों के आधिक्य का ज्ञान नहीं होता और वे उसकी चिन्ता भी नहीं करते। व्यवसाय-संस्थाएँ उस सीमातक आयात या निर्यात करती हैं जो उनके लिए लाभदायक सिद्ध होता है; विनियोजक सब प्रकार के जोखिमों और प्रत्याशित आय का विचार करते हुए, यदि विदेश में विनियोजन करने से अधिक आय की आशा करते हैं तो स्वदेश में विनियोजन न करके विदेश में करते हैं; लोग जब चाहते हैं तब छुट्टी विताने के लिए विदेशों में जाते हैं और जितना चाहते हैं व्यय करते हैं; व्यवसाय-संस्थाएँ यदि विदेशी जहाजों या बीमा-कंपनियों को सस्ती और अच्छी सेवा प्रदान करनेवाली समझती हैं तो उन्हीं को अधियुक्त करती हैं; इत्यादि। यह आवश्यक नहीं है कि किसी देश द्वारा एक वर्ष में प्राप्त संपूर्ण "आकलन" भुगतान उस संपूर्ण "विकलन" भुगतान के बराबर हो जो उसे देना है।

अतः मान लीजिए कि एक वर्ष में किसी देश द्वारा वास्तव में किया गया भुगतान उससे अधिक होता है जो वह वास्तव में प्राप्त करता है। कल्पना (Hypothesis) से ये अतिरिक्त भुगतान किए जाते हैं, और विदेशी मुद्रा में किए जाते हैं। परन्तु वे कैसे किए जाते हैं ?

मान लीजिए कि आस्ट्रेलिया के विषय में ऐसा हुआ है। आस्ट्रेलिया के वैंक लंदन में पर्याप्त पौंड पावना (Sterling balances) रखते हैं। आस्ट्रेलियावासियों द्वारा विदेशों में किए गए भुगतानों से यह पावना घटता है और विदेशियों द्वारा आस्ट्रेलियावासियों को भुगतान होने से बढ़ता है—(हम यह मान लेते हैं कि इस प्रकार के सभी भुगतान आस्ट्रेलिया के वैंकों द्वारा किए जाते हैं)। इस प्रकार प्राप्ति से अधिक भुगतान होने का परिणाम यह होगा कि आस्ट्रेलिया के वैंकों द्वारा लंदन में रखे हुए पौंड पावने की रकम में उतनी ही कमी होगी।

क्या होता है इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। जब कोई आस्ट्रेलियावासी किसी आन्तरिक लेन-देन का भुगतान करने के लिए चेक

काटता है तो जो आस्ट्रेलियावासी उसे पाता है वह अपने बैंक में जमा कर देता है; और आस्ट्रेलिया में जमा की संपूर्ण रकम ज्यों की त्यों रहती है। जब कोई आस्ट्रेलियावासी विदेशों में भुगतान करता है तो अपने बैंक के नाम चेक काटता है और उसका बैंक उस रकम की पौंडों में संगत मात्रा (Corresponding amount) लंदन में देता है। इस प्रकार आस्ट्रेलिया में संपूर्ण बैंक-जमा घट जाता है और आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में रखे हुए पौंड की रकम संगत मात्रा में कम हो जाती है। संभव है कि प्रत्येक आस्ट्रेलियावासी को अपना पूरा पावना मिल गया हो। फिर भी एक प्रकार से आस्ट्रेलिया को विदेशों से मिलनेवाले चालू पावने (Current receipts) से उसके द्वारा विदेशों में होनेवाला भुगतान अधिक हो। समस्त आस्ट्रेलियावासियों के ऊपर शेष अतिरिक्त द्रव्य वास्तव में आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में रखे गए पौंड पावने में से व्यय होता है।

आस्ट्रेलिया को हमने इस लिए चुना है कि उसका लगभग संपूर्ण "विदेशी पावना" (Foreign balance) आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में पौंड पावने के रूप में रखा जाता है। यही बात समुद्रपार के अन्य अनेक देशों के विषय में भी लागू होती है, फिर भी, ग्रेट ब्रिटेन (और कुछ सीमा तक कुछ अन्य देश भी, जैसे संयुक्त राज्य और फ्रांस) एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक केन्द्र हैं। अतएव अंग्रेजी बैंक विदेशी मुद्रा के रूप में अपेक्षाकृत कम संपत्ति (Assets) रखते हैं। अतएव भुगतानों के आधिक्य में निस्तुष, विकलन आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों के बैंकों द्वारा लंदन में रखे हुए पौंड पावने में वृद्धि के रूप में व्यक्त होता है—क्योंकि इंगलैंड के निस्तुष विकलन का स्पष्ट अर्थ होता है किसी अन्य देश या देशों का निस्तुष आकलन।

यह स्पष्ट है कि यदि सभी बातें पूर्ण रूप से ज्ञात हों तो इस प्रकार का निस्तुष विकलन, वहीखाते (Book-keeping) के लिए, संतुलित करनेवाली मद (Balancing item) के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। आस्ट्रेलिया के संबंध में यह मद इस प्रकार व्यक्त हो सकती है:- "आस्ट्रेलिया द्वारा अल्पकालीन देने (Lending) में ह्रास अर्थात् आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में रखे हुए पौंड पावने में कमी।" इंगलैंड के संबंध में वह इस प्रकार व्यक्त हो सकता है: "इंगलैंड की अल्पकालीन ऋणग्रस्तता (Indebtedness) में वृद्धि—अर्थात् विदेशी बैंकों आदि द्वारा लंदन में रखे हुए पौंड पावनों में वृद्धि।" इस प्रकार किसी देश के भुगतानों का आधिक्य, कागज पर, सर्वदा संतुलित दिखाया जा सकता है।

५. प्रतिकूल भुगतान-आधिक्य को ठीक करने के उपाय
(Methods of Correcting an Adverse Balance of Payments)

यदि किसी देश का निरंतर निस्तुष विकलन ही होता रहता है तो उसके भुगतानों का आधिक्य कागज पर, संतुलित दिखाया जा सकता है, परन्तु यह स्थिति असाम्य (Disequilibrium) की होगी—अर्थात् अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में रखे गए पौंड पावने घट कर शून्य हो सकते हैं। अतएव हमें इस पर विचार करना है कि ऐसी स्थिति को रोकने के लिए क्या उपाय होना चाहिए और किसके द्वारा ?

हम आस्ट्रेलिया के ही उदाहरण को लेकर चलते हैं। ऐसी स्थिति को बहुत दूर तक जाने से रोकना आस्ट्रेलिया के बैंकों के हित में अच्छा होगा। क्योंकि यदि उनके पौंड पावने नहीं रहेंगे तो वे अपना विदेशी विनिमय का व्यवसाय नहीं कर सकेंगे, और यदि वे अपने पौंड पावनों को "नगद" समझते हैं तो उनकी नगद की स्थिति (Cash position)—अर्थात् नगद का जमा से अनुपात—बुरी हो जायगी।

इसका सबसे सरल उपाय यह है कि वे लंदन के लिए दिए गए ड्राफ्टों के लिए आस्ट्रेलिया की मुद्रा में अधिक मूल्य लें। इससे आस्ट्रेलिया का आयात घटेगा क्योंकि आयातकों (Importers) को अब उसी विदेशी माल के लिए पहले की अपेक्षा अधिक आस्ट्रेलिया की मुद्रा देनी पड़ेगी। उसी प्रकार आस्ट्रेलिया के यात्रियों द्वारा विदेशों में व्यय करने की प्रवृत्ति भी कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलियावासियों द्वारा विदेशों में विनियोजन घटेगा और कुछ अन्य विकलन की मदें भी कम हो जाएँगी। दूसरी ओर इससे आस्ट्रेलिया के निर्यात को उत्तेजना मिलेगी; क्योंकि विदेशों से मिलने वाले प्रत्येक पौंड या डालर के लिए आस्ट्रेलिया के निर्यातक (Exporters) अपने देश की मुद्रा में पहले की अपेक्षा अधिक रकम पायेंगे; इससे कुछ अन्य आकलन की मदों को भी उत्तेजना मिलेगी। इस प्रकार आस्ट्रेलिया के बैंकों द्वारा लंदन में रखे गए पौंड-पावने में पौंड का आगमन बढ़ेगा और उनमें से पौंड का निर्गमन (बाहर जाना) घटेगा।

इसी विधि से विनिमय दर को गिरने दिया जाता है। कुछ असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर, भुगतानों के आधिक्य का पूर्ण सामंजस्य केवल इसी उपाय से हो सकता है। देश में द्रव्य-आय (Money incomes) को कम करने की कोई आवश्यकता नहीं है—यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि यदि उसे कम किया जाय तो अपेक्षित विनिमय-क्षय (Exchange depreciation) उतना नहीं होगा जितना अन्यथा होता।

अब मान लीजिए कि आस्ट्रेलिया का केन्द्रीय बैंक पौंड के साथ विनिमय-दर को किसी स्तर पर स्थिर रखना चाहता है। जो देश स्वर्णमान रखना चाहता है उस पर भी वही तर्क लागू होगा क्योंकि उसका अर्थ है स्वर्णमान रखनेवाले सभी देशों के साथ अपनी विनिमय-दर को स्थिर रखना।

अब केन्द्रीय बैंक को कुछ करना आवश्यक है। उसे आस्ट्रेलिया की मुद्रा में जिसका मूल्य वह बनाए रखना चाहता है, निश्चित मूल्य पर पौंड (अथवा सोना) देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। परन्तु वह अपने पौंड-कोष (Sterling reserves) अथवा स्वर्ण-कोष (Gold reserves) को शून्य तक पहुँचने से कैसे रोक सकता है? आस्ट्रेलिया की संपूर्ण द्रव्य-आय को कम करके और उसके द्वारा आस्ट्रेलिया में आयात के लिए मुद्रा की माँग को घटाकर। यदि आय के घटाने से लागत में कमी होती है, जिसकी बहुत संभावना है, तो उससे निर्यात को उत्तेजना मिलेगी। द्रव्य-आय कई प्रकार से घटायी जा सकती है। साधारणतः, उसकी विधि यह है कि बैंकों का "नगद" घटा दिया जाय, जिससे वे व्याज-दर बढ़ाकर अथवा नियंत्रित ऋण देकर उधार देना कम कर दें। प्रायः स्वयं केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक-दर बढ़ा देता है और ऐसे उपाय करता है कि उसकी वृद्धि प्रभावोत्पादक हो। किसी देश की द्रव्य-आय को मौद्रिक और महाजनी (Monetary and banking) उपायों से घटाने की इस विधि को मुद्रा-संकोच (Deflation) कहते हैं।

हमें यह भी जान लेना चाहिए कि निरंतर प्रतिकूल रहने वाले भुगतान-आधिक्य को ठीक करने के लिए अपेक्षित विनिमय-पात (Exchange depreciation) अथवा मुद्रा-संकोच की मात्रा विचाराधीन देश की आयात-विषयक सीमान्त प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Import) पर निर्भर होगी। यदि मान लीजिए कि, (अन्य बातें ज्यों की त्यों रहने पर) आयात को १० प्र० श० घटाना आवश्यक है तो ऐसा करने के लिए संभव है कि विनिमय-दर अथवा देश की संपूर्ण द्रव्य-आय में बहुत थोड़ी कमी करने की आवश्यकता हो। ऐसा होने की संभावना तब होती है जब कि आयात का अधिक अनुपात बहुत कुछ विलासिता की वस्तुओं का होता है। दूसरी ओर बहुत अधिक कमी—१० प्र० श० से बहुत अधिक—की आवश्यकता हो सकती है। ऐसा होने की संभावना तब होती है जब आयात में अधिकांश आवश्यक खाद्य-पदार्थ तथा कच्चा माल होता है, जैसा कि इंगलैंड तथा पश्चिमी यूरोप के बहुत से दूसरे देशों के संबंध में है।

हमें यह भी जान लेना चाहिए कि ऐसा कहा जाता है कि श्रमी-वर्ग निर्वाह-व्यय-वृद्धि की अपेक्षा द्रव्य के रूप में मजदूरी घटाने का अधिक

विरोध करते हैं। यदि ऐसा है तो जिस देश में श्रमी-वर्ग का अनुपात अधिक होगा वह यदि मुद्रा-संकोच के मार्ग का अवलंबन करना चाहता है तो उसे द्रव्य के रूप में मजदूरी घटाना कठिन होगा। परिणाम यह होगा कि उस देश के संपूर्ण द्रव्य-आय में कमी अंशतः अनधियोजन के द्वारा की जायगी। साधारणतः पोलैंड जैसे देशों में, जहाँ कृषि के श्रमी अधिक अनुपात में और मजदूरी पानेवाले कम अनुपात में हैं, औद्योगिक देशों की अपेक्षा मुद्रा-संकोच सरलता से हो सकता है फिर भी लॉर्ड कीन्स (Lord Keynes) तथा अन्य विद्वानों का यह मत सर्वथा सत्य नहीं हो सकता कि वेतन-भोगी द्रव्य के रूप में मजदूरी बढ़ाने की माँग किए बिना निर्वाह-व्यय में पर्याप्त वृद्धि स्वीकार कर लेंगे परन्तु द्रव्य के रूप में अपनी मजदूरी घटाने के सभी प्रयत्नों का विरोध करेंगे। यह बड़े मजे की बात है कि जिस देश में—जैसे आस्ट्रेलिया में—श्रमी वर्ग संभवतः सबसे अधिक संगठित हैं, वहाँ प्रजातंत्र-मध्यस्थता-न्यायालय (Commonwealth Arbitration Court) द्वारा की गई द्रव्य-भृत्ति (Money-wage) में लगभग २६ प्र० श० की कटौती, प्रायः बिना किसी भुनभुनाहट के स्वीकार कर ली गई थी।

हमने दो उपायों का उल्लेख किया है—विनिमय-पात (Exchange depreciation) तथा मुद्रा-संकोच (Deflation)। परन्तु अन्य उपाय भी संभव हैं जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण ये हैं—(१) अवमूल्यन (Devaluation), अर्थात् स्वर्ण-मान रखते हुए निम्नतर समता (Lower parity स्वीकार करना, (२) आयात-कर (Import tariff) अर्थात् आयात यथांश (Quotas) और निषेध (Prohibition) तथा अन्य उपायों द्वारा आयात पर नियंत्रण लगाना और निर्यात-वृत्ति (Bounties) तथा अन्य उपायों द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन देना, और (३) विदेशी-विनिमय-नियंत्रण (Foreign exchange control)। आगामी अध्यायों में इन पाँचों विधियों का विवेचन किया गया है। इनमें से कुछ का उपयोग एक साथ हो सकता है और हुआ है। उदाहरणार्थ विनिमय-पात के साथ साथ कुछ मुद्रा-संकोच, कुछ विनिमय-नियंत्रण और कुछ आयात-नियंत्रण का उपयोग हो सकता है। परन्तु यह असंभव है कि विनिमय-दर को गिरने भी दिया जाय और उसे स्थिर भी रखा जाय। यदि कोई देश अपनी विनिमय-दर को विनिमय-नियंत्रण द्वारा नाममात्र के लिए स्थिर रखकर, परन्तु वास्तव में उसको गिरने देकर, द्विविधा (Dilemma) से बच नहीं जाता तो उसके लिए दो में से एक को चुनना आवश्यक हो जाता है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

मुक्त विनिमय-दर
(Free Exchange Rates)

१. प्रस्तावना

अब जिस प्रश्न पर हमें विचार करना है वह यह है कि वे कौन सी शक्तियाँ हैं जो किसी ऐसी मुद्रा (Currency) का विनिमय-अर्घ (Exchange value) निर्धारित करती हैं जिसकी विनिमय-दर परिवर्तित होने के लिए स्वतंत्र है। इसमें सन्देह नहीं कि परिभाषानुसार ऐसी मुद्रा स्वर्ण-मान अथवा किसी अन्य मान से संबद्ध नहीं होगी। मान लिया जाय कि उस मुद्रा में केवल अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा है। २१ सितंबर १९३१ से पौंड बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति में है, परन्तु जब से विनिमय-समक-निधि (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना हुई है तब से वह परिवर्तित होने के लिए सर्वथा स्वतंत्र नहीं है, और फ्रांस, संयुक्त राज्य आदि के साथ अक्तूबर १९३६ में किए गए मौद्रिक समझौते (Currency Agreement) के प्रभाव से उसमें स्थिरता आई है।

यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों इस प्रकार की मुद्रा कुछ विदेशी मुद्राओं की तुलना में गिर सकती और कुछ की तुलना में चढ़ सकती है; जैसे १९३२ में येन (जापानी मुद्रा) की तुलना में पौंड चढ़ गया था परन्तु स्वर्ण-मान मुद्राओं (Gold-standard currencies) की तुलना में गिर गया था। विवेचन के लिए हम मान लेते हैं कि अन्य सभी मुद्राएँ एक दूसरे की तुलना में स्थिर रहती हैं। तो हम किसी एक देश को (मान लीजिए कि वह फ्रांस है) शेष संसार का प्रतिनिधि मान सकते हैं।

(यदि पौंड को विचाराधीन अपरिवर्तनशील मुद्रा मान लें तो) फ्रैंक रूप में पौंड का अर्घ, फ्रैंक प्राप्त करने के लिए पौंड देनेवाले लोगों से होनेवाली उसकी पूर्ति की तुलना में पौंड पाने के लिए फ्रैंक देनेवाले लोगों से होनेवाली पौंड की माँग पर, निर्भर होगा। पौंड-फ्रैंक दर संभवतः वह होगी जो पौंड की पूर्ति और उसकी माँग को बराबर कर दे।

परन्तु किसी मुद्रा की (विदेशी विनिमय-बाजार में उसकी पूर्ति की तुलना में) विदेशी माँग को प्रभावित करनेवाली शक्तियों का विवेचन करने के पहले हमें संक्षेप में क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त (Purchasing

Power Parity Theory) पर विचार कर लेना चाहिए । क्योंकि इस सिद्धान्त द्वारा यह दिखाया जाता है कि दो देशों के बीच विनिमय-दर उनकी क्रय-शक्ति के अनुसार बदलती रहती है। यदि मान लिया जाय कि विनिमय-दर माँग और पूर्ति को बराबर रखती है तो—ऐसा कहा जाता है कि—वह उन दोनों की मुद्राओं के बीच क्रय-शक्ति-समता को भी बराबर रखेगी ।

२. क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त

(The Purchasing Power Parity Theory)

इस सिद्धान्त के दो मुख्य रूप हैं—

(१) अपने संकुचित रूप में यह सिद्धान्त केवल यह व्यक्त करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यवहृत होनेवाली वस्तुओं का मूल्य, स्थानान्तरण-व्यय को छोड़कर, सर्वत्र एक ही होगा; वास्तव में इन वस्तुओं का बाजार संसारव्यापी होता है। यह एक साधारण तथ्य है। लिवरपूल, ला हावरे (Le Havre), ब्रिमेन, जेनोआ इत्यादि में रुई का मूल्य एक-सा होता है। हाँ, किसी एक देश में (बन्दरगाह से भिन्न स्थानों पर) आयात-कर के कारण मूल्य अधिक हो सकता है। मान लीजिए कि स्थानान्तरण-व्यय का विचार छोड़ दिया जाता है तब यदि रूई की एक गाँठ का मूल्य लिवरपूल में १० पौंड और ला हावरे में १००० फ्रैंक है तो १ पौंड = १००० फ्रैंक। यदि इन तीन तथ्यों में से कोई दो ज्ञात हों तो साधारण गणित से हम तीसरा निकाल सकते हैं। यदि तीसरा तथ्य हमारे निकाले हुए निष्कर्ष से भिन्न होता है तो किसी के लिए लाभ उठाने का अवसर उपस्थित हो जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि लिवरपूल में १ गाँठ रूई का मूल्य १० पौंड और ला हावरे में १००० फ्रैंक हैं और १ पौंड = १२० फ्रैंक। तब ला हावरे में एक गाँठ रूई के लिए १००० फ्रैंक देकर और उस गाँठ को १० पौंड में लिवरपूल में बेंच कर कोई भी उसे १२०० फ्रैंकों से विनिमय कर सकता है जिससे उसे २०० फ्रैंकों का लाभ होगा। यदि ये तीनों तथ्य पहले से दिए हुए हैं तो—

१ गाँठ = १० पौंड
१ गाँठ = १००० फ्रैंक
१ पौंड = १२० फ्रैंक

(और यह मानते हुए कि स्थानान्तरण-व्यय छोड़ दिया गया है) हम जानते हैं कि ऐसी स्थिति अधिक काल तक बनी नहीं रह सकती; परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि मुख्यतः इंग्लैंड में रूई के मूल्य में ह्रास द्वारा इसका सामंजस्य होगा—

१ गाँठ = ८$\frac{1}{3}$ पौंड
१ गाँठ = १००० फ्रैंक
१ पौंड = १२० फ्रैंक

अथवा मुख्यत: फ्रांस में रूई के मूल्य में वृद्धि द्वारा—

१ गाँठ = १० पौंड
१ गाँठ = १२०० फ्रैंक
१ पौंड = १२० फ्रैंक

अथवा मुख्यत: फ्रैंक के विनिमय-अर्घ (Exchange value) में वृद्धि द्वारा—

१ गाँठ = १० पौंड
१ गाँठ = १००० फ्रैंक
१ पौंड = १०० फ्रैंक

वास्तव में इस प्रकार के अल्प लाभ के भी वहुत कम अवसर होते हैं। निर्यात करनेवाले केन्द्रों के विक्रेता जहाँ कहीं थोड़ा भी अधिक मूल्य देखते हैं वहाँ वेचते हैं; चालू विनिमय-दर के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में तुरत सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

अत: यह साधारण तथ्य कि कुछ वस्तुओं का वाजार संसारव्यापी होता है—विनिमय-दरों के परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश नहीं डालता।

(२) अपने व्यापक रूप में क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त का संभवत: सब से स्पष्ट कथन कैसल (Cassel) द्वारा हुआ है। यों तो इसका मूल रिकार्डो के लेखों में मिलता है परन्तु कैसल द्वारा प्रथम महायुद्ध के उपरान्त इसका प्रचार हुआ। वह लिखता है—

विदेशी मुद्रा के लिए कोई मूल्य देने को हम क्यों प्रस्तुत होते हैं इसका मुख्य और वास्तविक कारण यह है कि उस मुद्रा में उस देश की वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने की शक्ति रहती है। इसके विपरीत जब हम अपनी मुद्रा की कुछ मात्रा प्रदान करते हैं तो वास्तव में हम अपने देश में वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने के लिए क्रय-शक्ति प्रदान करते हैं। अतएव अपनी मुद्रा के द्वारा किसी विदेशी मुद्रा का हमारा अर्घापण (Valuatian) मुख्यतः दोनों देशों की मुद्राओं की अपने अपने देश में क्रय-शक्ति पर निर्भर होता है।

किसी देश की मुद्रा की (जैसे इंगलैंड के पौंड की) क्रय-शक्ति की किसी दूसरे देश की मुद्रा की (जैसे फ्रांस के फ्रैंक की) क्रय-शक्ति से तुलना करना वहुत कठिन होता है। किसी एक देश में खरीदी और उपभोग की जानेवाली वस्तुओं का संकलन (Assortment) किसी दूसरे देश में खरीदी और उपभोग की जानेवाली वस्तुओं के संकलन से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, फ्रांस का श्रमी मद्य पीता है, परन्तु ग्रेट ब्रिटेन का चाय, फ्रांसीसी अधिकतर वछड़े के मांस (Veal) का व्यवहार करते हैं और अंग्रेज भेड़-वकरी के मांस का। यदि हम केवल

ऐसी वस्तुएँ लें जिनका दोनों देशों में उपभोग होता है तो उनमें से कुछ का (प्रचलित विनिमय-दर से) फ्रांस में अधिक मूल्य होगा और कुछ का इंगलैंड में अधिक। यह भिन्नता स्थानान्तरण-व्यय, आयात-निर्यात-कर (Tariffs), राजस्व (Taxation), इत्यादि के कारण उत्पन्न होती है। और कोई कारण नहीं है कि एक दूसरे से चुकता हो कर लुप्त हो जायँ। साधारणतः जिस देश में आयात-निर्यात-कर अधिक होगा उसमें मूल्य-स्तर उस देश की अपेक्षा, जिसमें ऐसा कर कम होगा, ऊँचा होगा।

इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धांत मूल्यों के निरपेक्ष-स्तर (Absolute levels of prices) पर लागू नहीं होता; परन्तु यह मूल्य-स्तर में होनेवाले परिवर्तनों पर लागू हो सकता है, और हुआ है। कैसल आदि ने इसे इसी प्रकार लागू किया है। एक सरल उदाहरण लीजिए; यदि फ्रांस में मुद्रा स्फीति के कारण, किसी विशेष अवधि में, मूल्य-स्तर दूना हो जाता है, और इंगलैंड का मूल्य-स्तर ज्यों का त्यों रहता है तो एक पौंड की क्रय-शक्ति-समता पहले की अपेक्षा दूने फ्रैंक के तुल्य हो जाती है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि अन्य सभी बातें—अर्थात् स्थानान्तरण के सापेक्ष व्यय (Relative costs), आयात-निर्यात-कर और राजस्व—ज्यों की त्यों रहती हैं।

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त प्रथम महायुद्ध के उपरान्त कैसल आदि के द्वारा यह प्रदर्शित करने के लिए उपयोग में लाया गया था कि जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैंड, आदि की मुद्राओं के विनिमय-अर्घ का ह्रास मुख्यतः उन देशों में मुद्रा-स्फीति के कारण हुआ था। उस समय, निःसंदेह, यह प्रदर्शन उपादेय था क्योंकि अनेक उत्तरदायी व्यक्ति इस पर विश्वास नहीं करते थे कि मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य चढ़ते जा रहे थे और विनिमय-दरें नीचे गिरती जा रही थीं। कैसल लिखता है—

जब दो मुद्राओं की स्फीति होती है तो प्रकृत (Normal) विनिमय दर पुरानी दर और दोनों देशों में मुद्रा-स्फीति की मात्रा के भागफल के गुणनफल के बराबर होगी···। उदाहरणार्थ, यदि क में ३२०:१०० के अनुपात में और ख में २४०:१०० के अनुपात में मुद्रा-स्फीति होती है तो [क की मुद्रा का ख की मुद्रा में उल्लेख (Quotation) करते हुए] नवीन विनिमय-दर पुरानी दर का $\frac{3}{4}$ होगी।

उपर्युक्त विधि से निकाली हुई दर को दोनों मुद्राओं के बीच नई समता (Parity) अर्थात संतुलन का वह विन्दु (Point of balance) मानना चाहिए जिसके आसपास रहने की विनिमय दर की (अनेक अस्थायी परिवर्तनों के होते हुए भी) प्रवृति होगी।

कीन्स के 'ट्रैक्ट औन मौनेटरी रिफौर्म" (मौद्रिक सुधार पर पुस्तिका) से हम एक दृष्टांत लेते हैं। १९१३ को १०० मानकर मई १९२३ में "इकनौमिस्ट" का मूल्य-सूचक-अंक (Price index number) १६४ था

और संयुक्त राज्य के श्रम-कार्यालय (Bureau of Labour) का सूचक-अंक १५६ था। $\frac{१५६}{१६४} = \frac{९५.१}{१००}$। अतएव पौंड की क्रय-शक्ति-समता ४·८६६ डौलर का ९५·१ प्र० श० थी। वास्तविक दर भी लगभग ठीक इतनी ही थी।

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त के विवेचन से ही हम किसी मुद्रा की आन्तरिक और बाह्य क्रय-शक्ति के संभाव्य अन्तर की कल्पना (Concept) पर पहुँचते हैं। उदाहरणार्थ, जब कि फ्रैंक का वास्तविक विनिमय-अर्घ (अथवा बाह्य क्रय-शक्ति) उसकी क्रय-शक्ति-समता से कम था तब फ्रांस से निर्यात को उत्तेजना मिलती थी। यदि दोनों बराबर होते तो कोई असाधारण उत्तेजना न मिलती; क्योंकि यद्यपि फ्रांस के निर्यातिक निर्यात किए हुए माल के लिए प्रत्येक पौंड के बदले पहले की अपेक्षा अधिक फ्रैंक प्राप्त करते फिर भी उनकी लागत उसी अनुपात में बढ़ गई होती।

परन्तु सचमुच में, वास्तविक विनिमय-दर उपर्युक्त विधि से निकाली हुई क्रय-शक्ति-समता से प्रायः बहुत भिन्न होती है। कैसल, कींस आदि की पुस्तकों में दिए हुए आँकड़ों और ग्राफों को देखने से यह तुरत जाना जा सकता है। क्रय-शक्ति-समता का विगत इतिहास देखने से वह बहुत संदिग्ध पथ-प्रदर्शक जान पड़ती है। मैं समझता हूँ कि यदि किसी को दोनों देशों की आन्तरिक क्रय-शक्ति में परिवर्तन का ही ज्ञान हो तो उसके लिए विगत कुछ वर्षों में पौंड-डौलर विनिमय-दर ठीक ठीक निकालना कठिन कार्य होगा। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित आँकड़ों पर विचार कीजिए—

निर्वाह-व्यय सूचकांक (Cost of Living Index Number)
(१९२४ = १००)

तिथि	ग्रेट ब्रिटेन	संयुक्त राज्य	प्रति पौंड डौलर
दिसंबर १९३०	८७	९०	४·८६
,, १९३१	८४	८०	३·३७
,, १९३२	८१	७४	३·२८
,, १९३३	८१	७६	५·१२
,, १९३४	८१	८०	४·९५
,, १९३५	८४	८३	४·९३
,, १९३६	८७	८५	४·९१

किसी भी विशेष दशा में क्रय-शक्ति-समता और वास्तविक दर में अन्तर केवल अल्पकालीन हो सकता है (उदाहरणार्थ सट्टेबाजी के कारण) और दोनों में समानता ही साम्य (Equilibrium) हो सकती है। फिर भी, हम पहले से यह नहीं कह सकते कि यह समानता (Equality) क देश के

मूल्य-स्तर में गति द्वारा प्राप्त की जा सकती है अथवा ख देश के मूल्य-स्तर में या विनिमय-दर में। क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त के समर्थकों का तात्पर्य प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि (यदि दोनों में से कोई भी देश मुद्रास्फीति या मुद्रा-संकोच नहीं कर रहा है) वह अंतिम होगा। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है और प्रायः होता भी नहीं। इसके अतिरिक्त क्रय-शक्ति-समता और वास्तविक दर में समानता ही प्रायः वास्तविक साम्य नहीं होता। क्योंकि संभव है कि स्थानान्तरण-व्यय, आयात-निर्यात-कर (Tariffs) इत्यादि में परिवर्तन हुए हों और संभव है कि व्यापार-पण (Terms of trade) में परिवर्तन हुआ हो।

३. विनिमय-दर को प्रभावित करनेवाली शक्तियाँ
(Influences affecting Exchange Rates)

विदेशी विनिमय-दर में होनेवाली गति को समझाने के लिए संभवतः सब से अच्छा ढंग यह कथन है कि मुक्त विनिमय-दर विदेशी विनिमय-बाजार में किसी मुद्रा की पूर्ति और माँग को सर्वदा समान रखने का प्रयत्न करेगी और साथ ही यह भी कहना चाहिए कि पूर्ति और माँग पर प्रभाव डालनेवाली मुख्य शक्तियाँ हैं—

(क) मुद्रा-नीति (Monetary policy)।

(ख) पूंजी का गमनागमन जिसमें सट्टेबाजी सम्मिलित है (Capital movements including speculation)

(ग) क देश के माल के लिए ख देश की माँग और इसका विलोम (Converse)। वास्तव में ख देश विनिमय में अपना माल देकर क देश का माल मँगाता है। ख देश का माँग-वक्र जो हमारे ध्यान में है, यह नहीं प्रदर्शित करता कि द्रव्य-मूल्य की किसी अवलि (Series) में प्रत्येक मूल्य पर ख देश क का कितना माल मँगाएगा। इससे व्यापार-पण की किसी अवलि में से प्रत्येक पर माँग की हुई मात्रा (अतः स्वयं उसके माल की वह मात्रा जिसकी पूर्ति वह विनिमय में करेगा) व्यक्त होती है।

पहले हम इन तीनों शक्तियों में से प्रथम दो के विषय में कुछ कहेंगे और तब तीसरे का अधिक विस्तार से विवेचन करेंगे।

(क) मुद्रा-नीति

क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त के संबंध में हम इसका विवेचन कर चुके हैं। उदाहरणार्थ, यदि ग्रेट ब्रिटेन मुद्रा-स्फीति करके मूल्य बढ़ा दे तो पुरानी विनिमय-दर पर पौंड की विदेशी माँग घट जायगी, क्योंकि पौंड की किसी निश्चित मात्रा द्वारा इंग्लैंड में अब पहले की अपेक्षा कम माल खरीदा जा सकेगा। अंग्रेजी मूल्य अधिक होने के कारण, जब कि अन्य देशों के मूल्य

ज्यों के त्यों हैं अंग्रेजों द्वारा पुरानी विनिमय-दर पर विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जायगी। इस प्रकार पौंड का विनिमय-अर्घ गिर जायगा। निःसंदेह यदि ग्रेट ब्रिटेन अन्य देशों की अपेक्षा अधिक मुद्रा-स्फीति या कम मुद्रा-संकोच करता है तब भी यही तर्क लागू होता है। परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, अन्य शक्तियाँ भी परिवर्तित हो सकती हैं, जिससे किसी विशेष समय वार्षिक दर में तत्कालीन क्रय-शक्ति-समता से पर्याप्त भिन्नता हो सकती है।

(ख) पूंजी का गमनागमन

यदि क देश ख देश को पूंजी निर्यात कर रहा है तो स्पष्ट है कि इससे ख की मुद्रा के बदले क द्वारा प्रदत्त मुद्रा की पूर्ति बढ़ जायगी और ख की मुद्रा का विनिमय-अर्घ बढ़ जायगा, चाहे दोनों देशों में से एक में भी मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-संकोच न हुआ हो। अल्प अवधि में, जब यह आशंका रहती है कि एक या दूसरे देश की मुद्रा का विनिमय-अर्घ पर्याप्त घट जायगा; पूंजी का बहुत अधिक गमनागमन हो सकता है, दीर्घकालीन विनियोजन के लिए नहीं, वरन् इस आशा से कि कुछ लाभ होगा अथवा विनिमय-गति के कारण होनेवाली हानि से रक्षा होगी। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए बैंक (The Bank for International Settlements) तथा अन्य संस्थाओं ने इस संभाव्य गतिमान 'शरणार्थी' पूंजी की मात्रा का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है, जो ऊँची व्याज-दर की अपेक्षा अधिक सुरक्षा की खोज में एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में घूमती फिरती है। परन्तु वैध प्रतिबंधों के अभाव में—इस प्रकार की पूंजी की "संभाव्य" (Potential) मात्रा प्रायः असीम होती है क्योंकि नागरिक अपनी मुद्रा को छोड़ कर "भाग" सकते हैं। अल्प अवधि में, इस प्रकार की सट्टेबाजीवाली अल्पकालीन गति इतनी अधिक हो सकती है कि वह किसी देश की मुद्रा की माँग अथवा पूर्ति पर माल के गमनागमन की अपेक्षा अधिक प्रभाव डाल सकती है।

सट्टेबाजी के प्रभाव का एक मनोरंजक दृष्टान्त १८७८ और १८९२ के बीच चाइल देश के पेसो (Peso) के विनिमय-अर्घ द्वारा उपस्थित होता है। चाइल के विदेशी व्यापार के केन्द्रों तथा देश के अन्य भागों के बीच एक स्पष्ट विभाजन था। अतएव जब कभी मुद्रा का क्रमिक निष्कासन (Emission) होता था तब वह विनिमय-दर में परिवर्तन किए बिना देश के आन्तरिक भागों में तुरत आत्मसात् कर लिया जाता था। अतः परिचलित माध्यम की वृद्धि तथा विनिमय-दर में वास्तव में कोई सहसंबंध (Correlation) नहीं था। वास्तव में इस अवधि में विनिमय-दर के परिवर्तन के साथ अधिक सहसंबंध रखनेवाली यदि कोई वस्तु थी तो वह चाइल का सैनिक इतिहास था। विदेशी विनिमय की गति का ग्राफ

ध्यानपूर्वक देखने से पेरू, वोलीविया और आर्जेंटाइना के साथ चाइल के झगड़ों में उसकी विजय और पराजय की ठीक-ठीक तिथियाँ बता देना संभव है। सबसे अधिक विभिन्नता अगस्त १८७९ में थी जब कि भुगतानों के आधिक्य (Balance of Payments) अथवा मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन हुए बिना चाइल का पेसो २५ पेंस से बढ़ कर ३६ पेंस हो गया था।

(ग) वस्तुओं और सेवाओं की व्युत्क्रम पूर्ति एवं माँग (Reciprocal Supply-and-Demand of Goods and Services)

सरलता के लिए हम मान लेते हैं कि इंग्लैंड केवल कोयले का निर्यात करता और कर सकता है, और फ्रांस केवल मद्य का निर्यात करता और कर सकता है। अब भुगतानों के आधिक्य को साम्य मान कर आरंभ किया जाय। मान लीजिए कि इंग्लैंड प्रतिदिन १० टन कोयले का निर्यात और २० गैलन मद्य का आयात करता है। और यह भी मान लिया जाय कि सभी अन्तरण-व्यय छोड़ दिए जा सकते हैं। यदि १ टन कोयले का मूल्य १ पौंड मान लिया जाय और एक गैलन मद्य का मूल्य ५० फ्रैंक हो तो विनिमय-दर १ पौंड = १०० फ्रैंक होनी चाहिए। मुद्रा-नीति के कारण उत्पन्न होनेवाली जटिलताओं से बचने के लिए, मान लिया जाय कि दोनों देश अपने अपने साधन-मूल्यों (Factor-prices) को स्थिर रखते हैं और साधनों की आपेक्षिक पूर्ति, क्रियाकल्प-ज्ञान, आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता और कोयले या मद्य के उत्पादन में परिवर्तन होने से पौंड में कोयले का मूल्य अथवा फ्रैंक में मद्य का मूल्य पर्याप्त प्रभावित नहीं होता। एक टन कोयले का मूल्य सर्वदा १ पौंड और एक गैलन मद्य का मूल्य सर्वदा ५० फ्रैंक रहता है।

अब मान लीजिए कि किसी कारण से अंग्रेजी कोयले के लिए फ्रांस की माँग बढ़ जाती है। तब अधिक कोयला खरीदने के लिए अधिक पौंड प्राप्त करने के उद्देश्य से फ्रांस को इंग्लैंड में अधिक मद्य बेचना चाहिए। परन्तु मद्य के लिए इंग्लैंड की माँग परिवर्तित नहीं हुई है; अतः इंग्लैंड में अधिक मद्य बेचने के लिए मद्य का पौंडों में मूल्य घटाना पड़ेगा। यह कार्य पौंड के विनिमय-अर्घ में वृद्धि द्वारा संपन्न होता है। फ्रांसीसियों के अधिक कोयला खरीदने के इच्छुक होने के कारण पौंड का मूल्य चढ़ जाता है जिससे अंग्रेज अधिक सस्ता मद्य खरीद सकते हैं। फ्रांस का निर्यातक अब भी एक गैलन मद्य के लिए ५० फ्रैंक पाता है परन्तु यह ५० फ्रैंक पहले की अपेक्षा कम पौंडों के बराबर होगा।

मान लीजिए कि विनिमय की नवीन साम्य-दर है १ पौंड = १२० फ्रैंक और इस दर पर प्रतिदिन १५ टन कोयले का निर्यात होता है।

तो इसका अर्थ यह है कि ३६ गैलन मद्य का आयात होता है, व्यापार-पण इंग्लैंड के पक्ष में हो गया है। १ टन कोयले का विनिमय पहले २ गैलन मद्य से हुआ करता था परन्तु अब उससे २$\frac{2}{5}$ गैलन मद्य मिलता है। अर्थात् व्यापार-पण पंचमांश उन्नत हो गया है। और इसी प्रकार पौंड के मूल्य में भी पंचमांश की वृद्धि हो गई है क्योंकि अब १ पौंड में १०० फ्रैंक नहीं वरन् १२० फ्रैंक मिलते हैं। पौंड के अर्घ में वृद्धि व्यापार-पण में उन्नति का द्योतक है[1]।

उपर्युक्त उदाहरण विदेशी विनिमय के क्रय-शक्ति-समता सिद्धांत का एक मौलिक दोष प्रदर्शित करता है। जब यह सिद्धांत केवल यह कहता है कि जिन वस्तुओं का बाजार संसारव्यापी होता है उनका मूल्य (स्थानान्तरण-व्यय को छोड़ कर) भिन्न-भिन्न केन्द्रों में एक समान होता है, तब वह केवल एक साधारण तथ्य का उल्लेख करता है। १ टन कोयले का मूल्य इंगलैंड में १ पौंड और फ्रांस में १२० फ्रैंक है और विनिमय दर १ पौंड = १२० फ्रैंक है। इन निर्दिष्टों (Data) में से कोई दो दिए रहने पर तीसरा साधारण गणित से निकाला जा सकता है। परन्तु जब यह सिद्धान्त इससे आगे बढ़ता है और कहता है कि विनिमय-दर में परिवर्तन, दोनों देशों की मुद्राओं की सभी वस्तुओं को क्रय करने की आपेक्षिक शक्ति में संगत परिवर्तन का द्योतक है, तब इसकी सत्यता में संदेह होता है। हमारे दृष्टान्त में, इंग्लैंड में मद्य के मूल्य के अतिरिक्त, जो कि अब १० शि० प्रति गैलन के बदले ८ शि० ४ पेंस प्रति गैलन है, किसी अन्य वस्तु के मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ है। फ्रांस में कोयले के मूल्य के अतिरिक्त, जो कि अब १०० फ्रैंक के बदले १२० फ्रैंक है और किसी वस्तु का मूल्य परिवर्तित नहीं हुआ है। यदि दोनों देशों में बेची जानेवाली वस्तुओं का अधिकांश स्वदेश में बना हुआ है तो दोनों के मूल्य-स्तरों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है; फिर भी विनिमय-दर में पंचमांश का अन्तर पड़ गया है। अपने व्यापक रूप में क्रय-शक्ति-समता सिद्धांत माँग में वास्तविक परिवर्तन के कारण व्यापार-पण में होनेवाले परिवर्तनों का विचार नहीं करता।

इसका एक बहुत अच्छा दृष्टान्त है १९३१ के पश्चात् येन (जापानी मुद्रा) के विनिमय-अर्घ में ह्रास। जनवरी १९३० में जापान ने युद्धपूर्व-समता (Pre-war parity) अर्थात् २ शि० = १ येन पर स्वर्णमान स्वीकार किया। सितंबर १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग

---

१. यह तभी सत्य होगा जब व्यापार-पण में परिवर्तन केवल माँग में परिवर्तन होने के कारण हुआ हो, लागत में परिवर्तन के कारण नहीं।

कर दिया। येन का भाव चढ़ कर ३ शि० हो गया। जापान ने भी १९३१ के अन्त में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। १९३३ के मध्य तक येन का भाव गिर कर लगभग १ शि० २ पेंस हो गया और उसी पर बना रहा।

येन का भाव पौंड की अपेक्षा इतना अधिक क्यों गिराना पड़ा ? केवल अंशतः मुद्रा-स्फीति के कारण। १९३५ के अंत में जापान में थोक-मूल्य १९३१ के उत्तरार्ध के निम्नतम स्तर से केवल ३७ प्र० श० और फुटकर मूल्य केवल १६ प्र० श० अधिक था। इसका मुख्य कारण था व्यापार-पण में प्रतिकूल परिवर्तन, जो अधिकांश में अमेरिका में जापानी रेशम की माँग घट जाने के कारण हुआ था।

जापान (१० दिसंबर, १९३१=१००)

	१९३३ औसत	१९३४ औसत	१९३५ औसत
निर्यात वणिज ...	१३८	१३२	१३४
आयात वणिज ...	१७१	१८७	१९६

इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन में व्यापार-पण इससे बहुत अधिक अनुकूल हो गया।

४. विनिमय-समक निधियाँ (Exchange Equalisation Funds)

संभव है कि कोई देश यह निश्चय कर ले कि वह अपनी विनिमय-दर को माँग और पूर्ति की स्वच्छन्द क्रिया पर नहीं छोड़ देगा। अतएव संभव है कि वह, प्रायः केन्द्रीय बैंक के नियंत्रण में, एक विनिमय-समक निधि स्थापित करे।

इस प्रकार की निधि की स्थापना करनेवाला सब से पहला देश ग्रेट ब्रिटेन था। यह जून १९३२ में कोषागार विपत्रों (Treasury bills) के रूप में १५ करोड़ पौंड से आरंभ किया गया था और अप्रैल १९३३ में उसमें २० करोड़ पौंड के कोषागार विपत्र तथा जून १९३७ में फिर २० करोड़ पौंड डाल कर उसकी वृद्धि की गई। यह निधि अब भी चालू है।

वित्त-मंत्री ने कहा था कि इस निधि की स्थापना का मुख्य उद्देश्य पौंड-विनिमय-दर में "वास्तविक" (Real) कारणों द्वारा दीर्घकालीन प्रवृत्ति को प्रभावित होने में बाधक न होकर विशुद्ध सट्टेवाजी की गति का प्रभाव कम करना है। यह निधि क्षणिक परिवर्तनों को घटाने के लिए

थी। विशेषतः उसका कार्य "शरणार्थी पूंजी" की वाहर और भीतर की ओर गति को अप्रभावित करना था। नियंत्रण के अभाव में इस प्रकार की पूंजी की, जो अल्पकाल के लिए सुरक्षित विश्रामस्थल ढूंढ़ रही हो भीतर की ओर गति पौंड-अर्घ को पर्याप्त मात्रा में बढ़ा सकती है। पीछे इस चंचल द्रव्य (Hot money) को लौटा लेने से विपरीत परिणाम होगा। यह निधि इस प्रकार के बाधक उतार-चढ़ाव को कम कर सकती है। जव पूंजी देश में आ रही हो तो निधि के कोपागार-विपत्रों में से कुछ वेंच कर अपेक्षित अतिरिक्त पौंड प्रदान किया जा सकता है। इसमें से पौंड देकर उसके विनिमय में मिलनेवाली विदेशी मुद्रा प्राप्त की जाती है। तव व्यवहार में, इस निधि द्वारा उस विदेशी द्रव्य से सोना खरीदा जाता है। जव पूंजी की गति वाहर को होती है तो निधि अपना कुछ सोना निकाल कर और वदले में पौंड प्राप्त करके इस स्थिति का सामना करती है।

अतएव किसी भी समय निधि की संपत्ति का कुछ अंश पौंड के रूप में, कुछ कोपागार-विपत्र के रूप में और शेप स्वर्ण के रूप में रहता है। यदि पौंड के निरंतर वढ़ने की प्रवृत्ति को वह घटाना चाहे तो कुछ समय के पश्चात् उसकी संपूर्ण पौंड-संपत्ति (Sterling assets) स्वर्ण में परिवर्तित हो जायगी और तव यदि उसकी पौंड-संपत्ति में (कोपागार विपत्रों द्वारा अथवा अन्य उपायों से) वृद्धि न की जाय तो वह पौंड के अर्घ को गिराने में असमर्थ होगी। इसी प्रकार उसका संपूर्ण स्वर्ण समाप्त हो जाने के पश्चात् यदि उसकी स्वर्ण संपत्ति में (विदेशी ऋण द्वारा अथवा अन्य उपायों से) वृद्धि न की जाय तो वह पौंड के अर्घ को ऊँचा रखने में समर्थ नहीं होगी।

अंग्रेजी निधि ने पौंड-विनिमय-अर्घ पर कभी ऊर्ध्वमुखी (Upward) और कभी अधोमुखी (Downward) प्रभाव डाला है; परन्तु जव से यह आरंभ हुई है तव से इसका निस्तुप (Net) परिणाम संभवतः अधोमुखी ही हुआ है। क्योंकि जो स्वर्ण उसके पास है वह उसके द्वारा भूतकाल में की गई विदेशी मुद्राओं की माँग का द्योतक है और वह किसी अन्य प्रकार से अस्तित्व में न आता। इस प्रकार इस निधि ने लाभ अर्जित किया है। परन्तु इसके विपरीत १ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष की हानि भी हुई है, क्योंकि विगत कुछ वर्षों में लिए गए अनेक दीर्घकालीन ऋणों के फलस्वरूप वाजार में अथवा हाथ में रहनेवाले कोषागार-विपत्रों का संपूर्ण योग लगभग वही है जो निधि की स्थापना के पूर्व था। अतएव कोषागार (Treasury) को निधि द्वारा प्राप्त स्वर्ण के रखने की लागत का अनुमान दीर्घकालीन व्याज-दर के आधार पर ही करना चाहिए। इस

आधार पर वह लगभग १ करोड़ पौंड प्रति वर्ष होता है। अर्थात् यदि यह निधि न होती तो कोषागार को लगभग ३५ करोड़ पौंड प्रति वर्ष का दीर्घकालीन ऋण न लेना पड़ता।

कुछ अन्य देश, जैसे संयुक्त राज्य और फ्रांस ने भी इसी प्रकार की निधियाँ स्थापित की हैं। संयुक्त राज्य में एक प्रकार से स्वर्णमान है। परन्तु वह उन देशों की विनिमय-दरों पर कुछ नियंत्रण रखना चाहता है जिनमें स्वर्णमान नहीं है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

स्वर्ण-मान (The Gold Standard)

१. स्वर्ण-मान के भेद

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि यदि संसार के सब देश, या कम से कम मुख्य-मुख्य देश, एक ही मुद्रा का व्यवहार करते तो बड़ी सरलता होती और वर्तमान स्थिति में बहुत सुधार होता। यह भी कहा जाता है कि यदि इंग्लैंड के प्रत्येक प्रान्त की अपनी पृथक् मुद्रा होती तो व्यापार और विनियोजन में बहुत बाधा पड़ती। अतएव यह प्रश्न किया जाता है कि तब प्रत्येक मुख्य देश अपनी पृथक् मुद्रा क्यों रखता है? यदि कोई कुशाग्र बुद्धि-व्यक्ति एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का आविष्कार करता और सभी मुख्य मुख्य देशों को उसका व्यवहार करने को प्रस्तुत करता तो क्या आर्थिक उन्नति की प्रगति और भी अधिक न होती?

जो ऐसा कहते हैं वे इस बात को नहीं जानते कि स्वर्ण-मान वास्तव में वही कार्य करता है जो वे चाहते हैं। परिणामत: स्वर्ण-मान वाले सभी देश एक ही मुद्रा का व्यवहार करते हैं। प्रत्येक देश की अपनी पृथक महाजनी प्रणाली होती है और एक अपनी मुद्रा की इकाई को पौंड कहता है, दूसरा डौलर कहता है, तीसरा फ्रैंक कहता है, इत्यादि, परन्तु जो देश स्वर्ण-मान का व्यवहार करता है वह मनमानी मुद्रा-नीति के अनुसरण का अपना अधिकार छोड़ देता है। वह निश्चय कर लेता है कि स्थायी विनिमय-दर के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विनियोजन को होने वाले लाभ के लिये मुद्रा-नीति के क्षेत्र में प्राप्त स्वतंत्रता का बलिदान बुरा नहीं है। वह अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से कर देता है और यही अन्य स्वर्णमानीय देशों ने भी किया है; इससे सभी मुद्राओं का परस्पर संबंध स्थापित हो गया है। स्वर्ण की, अत: इस प्रकार की प्रत्येक मुद्रा की, क्रय-शक्ति संसार भर में उसकी पूर्ति और माँग पर निर्भर रहती है; और सभी स्वर्णमानीय देशों में वस्तुओं का मूल्य-स्तर साथ साथ चढ़ता या गिरता है। इस अध्याय में आगे चलकर हम इन कथनों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे। प्रस्तावना के रूप में यहाँ इस बात पर ध्यान दिलाना आवश्यक जान पड़ा कि स्वर्णमान वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का कार्य करता है।

कोई देश स्वर्णमानीय तब कहा जाता है जब उसकी मुद्रा की एक इकाई की क्रय-शक्ति स्वर्ण की एक निश्चित तौल की क्रय-शक्ति के बराबर रखी

जाती है। ऐसा करने के लिए वहुत-सी विधियाँ हैं। हम उनमें से तीन मुख्य विधियों का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे—(क) पूर्ण स्वर्ण-मान (Full gold standard), (ख) स्वर्ण-पिंड-मान (Gold bullion standard), और (ग) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold exchange standard)।

(क) पूर्ण स्वर्ण-मान

यह तब व्यवहार में होता है जब कि किसी देश की मुद्रा (Currency) में मुख्यत: स्वर्ण-मुद्रा (Gold coins) ही रहती है जिसमें अंकित मूल्य के बराबर सोना रहता है, और जब बिना किसी शुल्क या व्यय के तथा असीम मात्रा तक ऐसी मुद्रा ढलाई जा सकती है और जब मुद्रा को पिघलाने या निर्यात करने पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता। १९१४ के युद्ध के पूर्व इंग्लैंड में पूर्ण स्वर्ण-मान था। सोने के सौवरेन (१ पौंड की मुद्रा) स्वच्छन्दता से परिचलित होते थे। सौवरेन में शुद्ध स्वर्ण की एक निश्चित तौल (११३ १/६२३ ग्रेन) तथा कुछ मिश्रित धातु (Alloy) रहती थी जिसका अर्घ नहीं के बराबर था, परन्तु जिससे मुद्रा अधिक टिकाऊ होती थी। सौवरेन की तौल का (१२३·२७४४७ ग्रेन) ११/१२ शुद्ध (Fine) स्वर्ण था, शेष १/१२ मिश्रित धातु थी; अतएव कहा जाता था कि मुद्रा "ग्यारह-द्वादशांश शुद्ध" (Eleven-twelfths fine gold) स्वर्ण-युक्त है। प्रत्येक व्यक्ति को सौवरेन गलाने अथवा निर्यात करने की स्वच्छन्दता थी जिससे सौवरेन की क्रय-शक्ति ११३ ग्रेन से कुछ ऊपर शुद्ध स्वर्ण की क्रय-शक्ति से बहुत कम कभी नहीं हो सकती थी। इसी तथ्य को हम औंसों में भी व्यक्त कर सकते हैं। ४ १/४ सौवरेनों में एक औंस सोना होता था। अतएव ४ १/४ सौवरेनों से—अर्थात् अंग्रेजी द्रव्य में ४ पौंड ५ शिलिङ्ग, क्योंकि बैंक औफ इंग्लैंड के नोट (जो कम से कम ५ पौंड के हुआ करते थे), चाँदी तथा ताँबे की मुद्राएँ और चेक सभी का विनिमय सौवरेन से हो सकता था—जितना क्रय किया जा सकता था वह एक औंस शुद्ध सोने की अपेक्षा बहुत कम नहीं हो सकता था। इसके विपरीत अंग्रेजी टकसाल सोने को, बिना कुछ लिये सर्वदा सौवरेन में परिवर्तित कर देता था। व्यवहार में प्राय: बैंक औफ इंग्लैंड को, जो टकसाल के अभिकर्ता (Agent) के रूप में कार्य करता था, सोना बेचा जाता था। टकसाल पूरा मूल्य ४ पौंड ५ शि० दे देता था (अथवा ठीक ठीक कहें तो, लगभग आधा पेंस कम देता था क्योंकि ४ १/४ सौवरेनों में १ औंस शुद्ध सोने से कुछ अधिक रहता था), परन्तु देर न हो इसलिये विक्रेता प्राय: बैंक को ही बेचना पसंद करते थे जो उन्हें

थोड़ा-सा कम अर्थात् $\frac{11}{12}$ शुद्ध प्रति औंस स्वर्ण के लिये ३ पौंड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पेंस के बदले ३ पौंड १७ शि० ९ पेंस देता था। अतएव एक औंस शुद्ध स्वर्ण की क्रय-शक्ति अंग्रेजी द्रव्य में ४ पौंड ५ शिलिंग की क्रय-शक्ति से बहुत कम नहीं हो सकती थी।

(ख) स्वर्ण-पिंड-मान

यह तब व्यवहार में होता है जब किसी देश का केन्द्रीय बैंक या कोषागार (Treasury) एक निश्चित मूल्य पर स्वर्ण बेचने और खरीदने के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहता है और सोने के आयात या निर्यात पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। अप्रैल १९२५ से, जब कि इंग्लैंड ने फिर स्वर्ण-मान स्वीकार कर लिया था, सितम्बर १९३१ तक, जब उसने दुबारा स्वर्ण-मान का त्याग कर दिया, वह स्वर्ण-पिंड-मान का व्यवहार करने वाला देश था। बैंक ऑफ इंग्लैंड ३ पौंड १७ शि० ९ पें० $\frac{11}{12}$ शुद्ध प्रति औंस स्वर्ण की दर से सोने की कोई भी मात्रा खरीदने को और ४०० औंस की न्यूनतम मात्रा में ३ पौंड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति औंस की दर से बेचने को प्रस्तुत रहता था। अतएव "दोनों ओर से परिवर्तनशीलता" (Convertibility both ways)—एक ओर सोने की मुद्रा में, दूसरी ओर मुद्रा की स्वर्ण में —बनाये रखता था और सोने का पौंड में मूल्य, १९१४ के पहले की तरह, अपने निश्चित मूल्य ४८ शि० ११$\frac{3}{2}$ पेंस प्रति शुद्ध औंस से १ पेंस से अधिक या कम विरले ही कभी होता था। परन्तु सोने की मुद्रा परिचलन में नहीं थी; चलन (Currency) में केवल कागजी नोट थे। ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ण-पिंड-मान से सोने की बचत होती है क्योंकि मुद्रा के लिये सम्पूर्ण सोना केन्द्रीय बैंक में रखा जा सकता है और उस बहुमूल्य धातु का कोई अंश मुद्रा के रूप में व्यवहृत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। दस बीस वर्ष पहले, जब सोने की कमी पड़ जाने की आशंका थी, इसमें एक बड़ी सुविधा मानी जाती थी परन्तु इधर के वर्षों में अत्यन्त न्यून के बदले अत्यधिक सोना हो गया जान पड़ता है और कुछ अर्थशास्त्री फिर से स्वर्ण-मान अपनाने का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि फिर से स्वर्ण-मुद्रा का व्यवहार होने से वर्तमान काल में बढ़े हुए मुद्रा-संबंधी स्वर्ण के बृहत् भंडार का कुछ अंश व्यवहार में चला जायगा और स्वर्ण-मान की क्रिया-विधि अधिक सरल (Automatic) हो जायगी।

(ग) स्वर्ण-विनिमय-मान

बहुत से देश, जैसे आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष और डेनमार्क, इंग्लैंड से बहुत घनिष्ठ व्यापारिक-संबंध रखते हैं। उनके विदेशी ऋण का अधिकांश पौंड में निश्चित होता है, अथवा इंग्लैंड उनका मुख्य ग्राहक या विक्रेता

या दोनों है। ऐसा देश संभव है यह निश्चय करे कि अपनी मुद्रा का विनिमय-अर्घ पौंड के द्वारा बहुत कुछ स्थायी रखना उसकी सर्वोत्तम मुद्रा-नीति होगी। ऐसे देश को हम, पद में किसी प्रकार की निम्नता न मानते हुए, मुद्रा के क्षेत्र में इंग्लैंड का "पिछलग्गू" (Satellite) कह सकते हैं। संयुक्त राज्य, फ्रांस और कुछ अन्य देशों के भी पिछलग्गू हैं। संभव है पिछलग्गू देश के मुद्राधिकारी (Monetary authorities) जब और जैसा वे चाहें अपने इच्छानुसार "अगुआ" देश (Planet country) के साथ विनिमय-दर को परिवर्तित करने का अधिकार स्वरक्षित रखें। संभव है कि वे तभी तक उसे स्थायी या थोड़ा बहुत स्थायी रखें जब तक उन्हें सुविधाजनक हो और किसी प्रकार की प्रतिश्रुति (Guarantee) न दें कि वे निरंतर ऐसा करते रहेंगे। तथाकथित पौंड-क्षेत्र (Sterling bloc) के सभी देश युद्ध के पूर्व इसी स्थिति में थे।

परन्तु किसी पिछलग्गू देश का केन्द्रीय बैंक या कोषागार, संभव है, अपनी मुद्रा का विनिमय-अर्घ अगुआ देश की मुद्रा के द्वारा स्थिर रखने का निश्चय करे। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष और मिश्र की मुद्राएँ इसी ढंग से पौंड से संबद्ध हैं।

यह संबंध चाहे वास्तविक (De jure) और स्थिर हो या नाम-मात्र का (De facto) और लचीला (Flexible) हो, परन्तु केन्द्रीय बैंक या कोषागार को इंग्लैंड में पौंड का कोष (Reserve) रखना आवश्यक है (यह मानते हुए कि उसकी मुद्रा पौंड से संबद्ध है), और इस कोष को, पौंड बेच कर घटाने के लिये अथवा पौंड खरीद कर बढ़ाने के लिये, प्रस्तुत रहना चाहिये। यदि वह नियमपूर्वक एक निश्चित दर पर लंदन के लिये ड्राफ्ट या हुंडी बेचने और खरीदने का भार लेता है तो नियमतः वह स्वर्ण-विनिमय-मान का व्यवहार करने वाला है। यदि पौंड का मान स्वर्ण है तो इसका अर्थ यह है कि वह स्वर्ण-विनिमय-मान का अनुयायी है।

इससे वह अपने मुख्य मौद्रिक-कोष (Monetary reserve) को स्वदेश में स्वर्ण के रूप में न रख कर व्याजोत्पादक संपत्ति के रूप में, जैसे स्वर्ण-वृत प्रतिभूतियों (Gilt-edged securities) या कोषागार-विपत्रों के रूप में, लंदन में रखने में समर्थ होता है। परन्तु उसे यह भी जोखिम उठाना पड़ता है कि संभव है उस सम्पत्ति का अर्घ स्वर्ण की तुलना में गिर जाय। विशेषतः उसे इस संकट का सामना करना पड़ता है कि संभव है अगुआ देश अकस्मात् स्वर्ण-मान का त्याग या अवमूल्यन (Devalue) कर दे। सितंबर १९३१ में जब इंग्लैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया तब अन्य देशों द्वारा रखी हुई पौंड-संपत्ति

(Sterling assets) का अर्घ स्वर्ण की तुलना में वहुत गिर गया था ।

२. स्वर्ण-मान के नियम

(Rules of the Gold Standard)

किसी प्रकार के स्वर्ण-मान द्वारा उसका व्यवहार करने वाले देशों की विनिमय दर में स्थिरता आती है। क्योंकि यदि देश की मुद्रा स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मान मुद्रा में, किसी निश्चित दर पर परिवर्तनशील (Convertible) और इसका विलोम (Conversely) भी है; तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन देशों की मुद्राएँ लगभग निश्चित दर पर एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं। यदि १ पौंड और ४·८६६ डौलर दोनों ही का स्वर्ण की किसी एक ही मात्रा से विनिमय और उसका विलोम हो सकता है तो १ पौंड का विनिमय-अर्घ अधिक काल तक ४·८६६ डौलर से वहुत अधिक या वहुत कम नहीं रह सकता; यह अधिकता या कमी लंदन से न्यूयार्क या न्यूयार्क से लंदन सोना भेजने के अल्प-व्यय—प्रायः १ प्र. श. से वहुत कम—के वरावर होगी। इसका अर्थ यह है कि किसी माल का डौलरों में मूल्य पौंडों में उसके मूल्य के $\frac{४८६६}{१०००}$ में आयात-निर्यात-कर (Tariff), स्थानान्तरण-व्यय और आयातक (Importer) का लाभ जोड़ने या घटाने से जो आएगा उससे अधिक या कम अधिक काल तक नहीं रह सकता। अर्थात् इससे यह तात्पर्य निकला कि स्वर्ण-मान का व्यवहार करने वाला देश अपने पदार्थों का मूल्य अपनी मुद्रा में जितना चाहे उतना घटा या वढ़ा नहीं सकता। निःसंदेह वह अपने आयात-निर्यात-शुल्क में (Duties) अथवा आयात के नियंत्रणों में, परिवर्तन करके, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, थोड़ा वहुत घटा वढ़ा सकता है। ऐसे परिवर्तनों को छोड़कर उस देश में पदार्थों के मूल्यों की गति अन्य स्वर्ण-मानीय देशों में पदार्थों के मूल्यों के समान होना आवश्यक है।

निःसंदेह मुक्त-विनिमय-दर (Free exchange rates) वाला देश इस प्रकार के नियंत्रणों के अधीन नहीं रहता। वह जो चाहे सो मुद्रा-नीति अपना सकता है। यदि वह चाहे तो द्रव्य की मात्रा वढ़ा कर पदार्थों का मूल्य प्रायः किसी सीमा तक वढ़ा सकता है, अथवा अपने पदार्थों का मूल्य-स्तर वहुत कुछ स्थिर रख सकता है अथवा घटा सकता है; अन्य देशों में चाहे कुछ भी हो रहा हो। यदि और सव वातें ज्यों की त्यों रहें तो अन्य देशों की तुलना में उसकी मुद्रा की आन्तरिक क्रय-शक्ति में परिवर्तन उसकी विनिमय दर के परिवर्तन में व्यक्त होगा। परन्तु कोई

स्वर्णमानीय देश इस प्रकार की स्वतंत्र क्रिया करने में असमर्थ होता है। उसे अन्य स्वर्णमानीय देशों के साथ अपनी विनिमय-दर को प्रायः स्थिर रखना पड़ता है।

मान लिया जाय कि प्रति सप्ताह इंग्लैंड का विकलन (Debits) उसके आकलन (Credits) से अधिक हो जाता है। इंग्लैंड का "विदेशी पावना" (Foreign balance) घट जायगा और अन्य देशों के बैंकों द्वारा रखा हुआ पौंड-पावना (Sterling balances) बढ़ जायगा। अंग्रेज़ी बैंक विदेशी केन्द्रों की हुंडियों और ड्राफ्टों का बढ़ाकर (Premium) उल्लेख (quote) करने लगेंगे; और विदेशी बैंक लंदन के ड्राफ्टों और हुंडियों को घटाकर (At discount) उल्लेख करने लगेंगे। दूसरे शब्दों में पौंड का विनिमय-अर्घ गिरने लगेगा।

यदि पौंड का विनिमय-अर्घ स्वच्छन्दता से परिवर्तित हो सकता तो वह भुगतानों के आधिक्य (Balance of payments) में साम्य स्थापित करने भर को गिर जाता। आयात वस्तुओं का पौंड में मूल्य गिर जाता जिससे आयात घट जाता। इंग्लैंड के निर्यात का विदेशी मुद्रा में मूल्य गिर जाता जिससे उसके निर्यात को उत्तेजना मिलती। परन्तु यदि इंग्लैंड स्वर्ण-मान का व्यवहार करता है तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि, मान लिया जाय कि डौलर की तुलना में पौंड "स्वर्ण-निर्यात-सीमा" (Gold export point) से बहुत नीचे गिर गया हो तो इंग्लैंड के लोग संयुक्त राज्य में अपने पावने वालों को न्यूयार्क की हुंडियों या ड्राफ्टों द्वारा मूल्य भेजने की अपेक्षा सोना भेजकर सस्ते में भुगतान कर सकते हैं। व्यवहार में प्रायः बैंक ही जहाज द्वारा सोना भेजते हैं। अंग्रेजी बैंक अपने विदेशी पावने को मँगाने के लिये ऐसा नहीं करते। अन्य बैंक लंदन में एकत्र अपने पावनों को कम करने के लिये तथा स्वदेश में अपनी नगदी स्थिति (Cash position) ठीक करने के लिये ऐसा करते हैं, क्योंकि उनके जमा में वृद्धि हो गई होती है (क्योंकि इंग्लैंड को निर्यात करने से उनके पौंड-पावने बढ़ जाते हैं और निर्यातकों के जमा में भी संगत वृद्धि हो जाती है)। प्रत्येक दशा में इंग्लैंड से सोना चला जाता है।

इंग्लैंड से सोने का निर्यात स्वयं पावने की एक मद है। अतएव इंग्लैंड के भुगतान-आधिक्य (Balance of payments) में कमी स्वर्ण-निर्यात द्वारा प्रति सप्ताह पूरी की जा सकती है। परन्तु इंगलैंड सोना तो उत्पन्न नहीं करता। अतएव यदि निरंतर कमी होती रहती है तो कभी न कभी उसका सारा सोना चला जायगा। तब बैंक औफ इंग्लैंड सोना देना बंद करने को बाध्य होगा, क्योंकि उसके पास सोना

रहेगा ही नहीं। वह स्वर्ण-मान का त्याग कर देगा। स्पष्ट है कि स्वर्ण-आयात द्वारा स्थिति में सुधार नहीं किया जा सकता। आयात किया हुआ सोना 'देना' का एक और मद हो जायगा और उसे चुकता करना पड़ेगा। उसका फिर निर्यात होने से अतिरिक्त 'पावना' द्वारा उस 'देना' का भुगतान हो जायगा परन्तु कमी ज्यों की त्यों बनी रह जायगी।

इससे हम "स्वर्ण-मान के नियमों" (Rules of gold standard) पर पहुँचते हैं। हम इस बात पर विचार करके, कि यदि इंग्लैंड का सब सोना केवल परिचलन में रहनेवाली स्वर्ण-मुद्राओं के रूप में ही होता तो क्या होता, इन नियमों को, साधारणतया, अच्छी तरह समझा सकते हैं। स्वर्ण-मुद्रा का निर्यात होता और द्रव्य का परिमाण घट जाता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आनेवाली वस्तुओं के मूल्य अन्य देशों में उनके मूल्य की तुलना में गिर नहीं पाते। परन्तु द्रव्य-आय (Money incomes) घट जाती जिससे "घरेलू" मालों और सेवाओं—जैसे मकानों, रेल-भाड़ों और श्रम-सेवाओं—के मूल्य गिर जाते। द्रव्य-आय में कमी होने पर सम्पूर्ण-द्रव्य-व्यय में भी कमी हो जाती, साथ ही आयात भी घट जाता। द्रव्य-लागत (Money costs) में कमी होने से निर्यात को उत्तेजना मिलती। देना (Debit) की अन्य मदें, विदेशी व्याज के देना के समान किसी प्रकार के ठेके द्वारा निश्चित न होने के कारण, धीरे धीरे घटने लगतीं और पावना की मदें बढ़ने लगतीं। उदाहरणार्थ अंग्रेज यात्रियों का विदेशों में व्यय घट जाता और विदेशी यात्रियों का इंग्लैंड में व्यय बढ़ जाता और विदेशों में विनियोजन स्वदेश में विनियोजन की अपेक्षा कम लाभदायक होता। इस प्रकार भुगतानों के आधिक्य में फिर साम्य आ जाता। स्वर्ण-मान का कार्य अपने आप हो जाता और मुद्राधिकारियों के हस्तक्षेप की आवश्यकता न पड़ती।

वास्तव में आधुनिक देशों में उनके मुद्रा-संबंधी सोने के भंडार पर निर्भर कागजी नोटों और बैंक-जमा का एक बड़ा ढाँचा खड़ा रहता है, और वह पूरा भंडार अथवा उसका अधिकांश केन्द्रीय बैंक अथवा कोषागार के पास रखा रहता है। स्वर्ण-मान के नियमों द्वारा मुद्राधिकारियों के लिये यह आवश्यक है कि जब पावना से अधिक देना होने (और उसके जारी रहने की संभावना होने) के कारण सोने का सचमुच निर्यात होने लगे या निकट भविष्य में होने की आशंका हो, तब ऐसा कार्य करें जिसके द्वारा उसी प्रकार साम्य स्थापित हो जाय जिस प्रकार केवल स्वर्णमुद्रा के रूप में द्रव्य रहने पर अपने आप हो जाता। उन्हें द्रव्य-आय और द्रव्य-लागत घटाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसकी प्रचलित विधि है बैंक-दर बढ़ा देना और इसके पूरक के रूप में कभी कभी खुले

बाजार में प्रतिभूतियाँ बेचना जिससे द्रव्य का परिमाण घट जाय।

इसके विपरीत जो देश इसकी विपरीत स्थिति में हैं और उनके यहाँ स्वर्ण का आयात होता जा रहा है उन्हें अपने यहाँ की द्रव्य-आय और द्रव्य-लागत को बढ़ा करके सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। स्वर्ण-विनिमय-मान का एक दोष यह है कि इसमें सामंजस्य स्थापित करने का संपूर्ण भार पिछलग्गू पर ही पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, यदि मिस्र (इजिप्ट) के भुगतानों का आधिक्य प्रतिकूल है तो नैशनल बैंक औफ इजिप्ट द्वारा लंदन में रखा हुआ पौंड-पावना घट जायगा परन्तु इससे इंग्लैंड में या अन्यत्र मुद्रा-प्रसार (Monetary expansion) होना आवश्यक नहीं है। यदि मिस्र को अपनी मुद्रा का विनिमय-अर्घ प्रति पौंड ९७$\frac{१}{१२}$ पियास्तर (Piastres) स्थिर रखना है तो संभवतः उसी को पूरा सामंजस्य करना पड़ेगा। परन्तु यदि मिस्र विशुद्ध स्वर्णमानीय होता तो वह सोने का निर्यात करता और यह सोना जिन देशों में जाता वहाँ मुद्रा-प्रसार होता।

यदि सभी स्वर्णमानीय देश स्वर्ण-मान के नियमों का पालन करते तो विभिन्न देशों में मुद्रा संबंधी स्वर्ण के संपूर्ण भंडार का वितरण प्रत्येक देश की मुद्रा-व्यवहार करने और महाजनी की आदत तथा उस देश के उत्पादन के अर्घ पर निर्भर होता। उदाहरणार्थ, इंग्लैंड में फ्रांस की तुलना में चेक का व्यवहार अधिक प्रचलित है और स्वर्ण-आधार (Gold basis) की अपेक्षा बैंक-नोट तथा बैंक-जमा की मात्रा प्रायः बहुत रहती है। अतएव इंग्लैंड उतनी ही राष्ट्रीय आय (National Income) के आधार के लिये फ्रांस की अपेक्षा बहुत कम सोने की आवश्यकता होगी—वास्तव में संभवतः चौथाई या पाँचवें भाग की ही आवश्यकता होगी। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि किसी एक मुद्रा इकाई द्वारा नापने पर एक देश की राष्ट्रीय आय दूसरों से भिन्न होगी। इस प्रसंग में किसी देश की राष्ट्रीय आय की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह उसके उत्पादन के अर्घ धन (Plus) उसके विदेशी विनियोजन से प्राप्त या ऋण-परिशोध (Reparations) या दान के रूप में प्राप्त आय ऋण (Minus) उन्हीं कार्यों के लिये विदेश को दी जाने वाली कोई रकम के बराबर है। यह वह रकम है जिसे वह देश, बिना ऋण लिये या अपनी सपत्ति का कुछ अंश बचे, उस अवधि में, स्वदेश में या विदेश में व्यय अथवा विनियुक्त कर सकता है। यदि दोनों देशों में स्वर्ण-भंडार और द्रव्य-आयात में प्रकृत अनुपात समान होगा तो एक देश का दूनी आय वाला देश संभवतः पहले का दूना स्वर्ण-भंडार रखेगा। परन्तु यदि दूसरे देश में यह अनुपात दूना होगा तो दोनों में स्वर्ण-भंडार की एक ही मात्रा रखी जायगी और यदि चौगुना होगा तो दूसरा

देश पहले का दूना स्वर्ण-भंडार रखेगा। एक देश के उत्पादन के अर्घ में दूसरे देश की अपेक्षा अधिक वृद्धि होने से उस देश में सोने के आकर्षित होने की प्रवृत्ति होगी और ह्रास होने से उसका सोना बाहर जाने लगेगा। एक ही देश के विभिन्न जिलों में बिना किसी विरोध के इस प्रकार का गमनागमन निरंतर होता रहता है। एक देश से दूसरे देश में इस प्रकार की स्वर्ण-गति (Gold movements) के कुछ मुख्य मुख्य कारणों का विवेचन विभाग ४ में किया जायगा। परन्तु पहले हमें यह बतला देना है कि क्यों और कैसे कोई देश चाहे तो स्वर्ण-मान के नियमों का पालन न करे।

३. व्यवहार में स्वर्ण-मान (The Gold Standard in Practice)

यदि बैंक न होते और संपूर्ण द्रव्य केवल स्वर्ण मुद्राओं के रूप में होता तो किसी देश का प्रतिकूल भुगतान-आधिक्य उस देश के द्रव्य की मात्रा को अपने आप कम कर देता, जिससे उसकी राष्ट्रीय आय घट जाती और अनुकूल भुगतान शेष इसका विपरीत परिणाम उपस्थित करता। परन्तु किसी आधुनिक देश में उसका केन्द्रीय बैंक देश की संपूर्ण द्रव्य-आय पर प्रभाव डाल सकता है। किसी स्वर्णमानीय देश का केन्द्रीय बैंक अथवा जो भी मुद्राधिकारी हो, कुछ परिस्थितियों में स्वर्ण-मान के नियमों का अनुसरण न करने का निश्चय कर सकता है। अतएव विभिन्न देशों में स्वर्ण के वितरण में जितनी भिन्नता अन्यथा होती उससे अधिक—संभवतः बहुत अधिक—हो सकती है।

किसी ऐसे देश के केन्द्रीय बैंक को, जिसमें स्वर्ण का अधिक परिमाण में आयात हो रहा हो, संभव है यह भय हो कि यदि वह उस आयात को देश की आय और मूल्य पर पूरा प्रभाव डालने दे तो उसका परिणाम यह होगा कि थोड़े समय के लिये व्यापार में ऐसी तेजी आयेगी जैसी मुद्रा-स्फीति के समय होती है और फिर मंदी आ जायेगी। अतएव वह अतिरिक्त स्वर्ण को "शक्तिहीन" (Sterilize) करने का निश्चय कर सकता है। वह ऐसे निर्णय पर विशेषतः तब पहुँचता है जब कि स्वर्ण का आयात ऐसी पूँजी के आगमन से होता है जिसकी निकट भविष्य में लौट जाने की संभावना है। इधर के कुछ वर्षों में संयुक्त राज्य में स्वर्ण का बहुत आगमन हुआ है जिसका मुख्य कारण यह था कि अमेरिकी प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिये विदेशी पूँजी आई थी। यह स्पष्ट था कि इन प्रतिभूतियों के क्रेता किसी भी समय उन्हें बेचने का निश्चय कर सकते थे और बेचकर लाभ लेकर अथवा घाटा देकर चलते बनते। अतएव संयुक्त राज्य ने इस स्वर्ण-आगमन को स्वीकृति नहीं दी और उसी के अनुसार आय नहीं बढ़ने दी। उसने पहले तो बैंकों को अधिक स्वर्ण-कोष रखने पर बाध्य करके

और फिर कोषागार द्वारा खरीदे हुए सोने को ताले में बंद करके उसे महाजनी प्रणाली (Banking system) से पृथक् रख कर अपने स्वर्ण-भंडार का द्रव्य-आय से अनुपात बढ़ा दिया। इसी प्रकार इंग्लैंड में, यद्यपि नियमतः वह स्वर्ण-मान का अनुयायी नहीं था, युद्ध के पूर्व कुछ वर्षों में बहुत बड़ी मात्रा में स्वर्ण का आगमन हुआ था जो अंशतः फ्रांस तथा अन्य देशों से शरणार्थी-पूँजी के आगमन से हुआ था, और वह किसी भी समय लौटाई जा सकती थी। १९३९ में उसका संपूर्ण स्वर्ण-भंडार [जिसमें विनिमय-समक-निधि (Exchange equalization fund) में रखा हुआ स्वर्ण भी सम्मिलित था] लगभग ८० करोड़ पौंड का था। १९३१ के अन्त में उसका स्वर्ण-भंडार केवल १२१० लाख पौंड का था। इस स्वर्ण-आगमन को आय के स्तर (Level incomes) पर पूरा प्रभाव नहीं डालने दिया गया। उसका कुछ अंश निधि (Fund) में रख कर शक्तिहीन कर दिया गया। बैंक औफ इंग्लैंड ने अपने स्वर्ण का अर्घापण (Valuation) बाजार मूल्य लगभग १४० शि० प्रति औंस पर न करके पुरानी दर ८४ शि० ११½ पेंस प्रति शुद्ध औंस पर किया; और इसके अतिरिक्त नोटों और जमा से अपना सोने का अनुपात बहुत बढ़ा दिया।

किसी ऐसे देश का केन्द्रीय बैंक, जहाँ से भुगतानों का आधिक्य प्रतिकूल होने के कारण सोना बाहर जा रहा हो, स्वर्ण-मान-नियमों द्वारा व्यक्त मुद्रा-संकोच की नीति का अनुसरण न करने का निश्चय कर सकता है। संभव है कि उसे भय हो कि मुद्रा-संकोच द्वारा अनधियोजन (बेकारी) बढ़ेगा और दिवालियापन तथा कष्ट बढ़ जायँगे। अतएव वह द्रव्य-आय से स्वर्ण का अनुपात घटा दे सकता है जिससे द्रव्य-आय, सोना चले जाने पर भी, पर्याप्त स्थिर रहे। १९२५ से १९३१ के बीच और विशेषतः १९२९ के पश्चात्, इंग्लैंड ऐसी ही स्थिति में था और बैंक औफ इंग्लैंड ने इसी प्रकार का कार्य किया था। मैकमिलन समिति के समक्ष साक्षी देते हुए (प्रश्न ३५३) बैंक औफ इंग्लैंड के सहायक अध्यक्ष (Deputy Governor) श्री अर्नेस्ट हार्वे ने कहा था, "यदि बैंक के क्रमिक परिलेखों (Returns) को आप ध्यान से देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि स्वर्ण की जो मात्रा हमारे यहाँ से बाहर चली गई है उसके स्थान पर लगभग उतने ही की प्रतिभूतियों में वृद्धि कर ली गई है।"

परन्तु अधिकतर केवल इतना ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि भुगतान-आधिक्य में प्रति मास होने वाली कमी को पूरा करने के लिये केन्द्रीय बैंक अपना सोना देने को तैयार नहीं हो सकता। अतएव या तो वह अन्य उपायों का अवलंबन करेगा या अपनी सरकार को ऐसा करने को प्रस्तुत करेगा।

इस प्रकार का एक उपाय है विदेश से ऋण लेना—चाहे अल्पकाल के लिये या दीर्घकाल के लिये। अपनी बैंक-दर बढ़ा कर अथवा दूसरे देशों को उनकी दर घटाने के लिये प्रस्तुत करके अल्प-कालीन ऋण आकृष्ट किया जा सकता है। यदि केन्द्रीय बैंक विदेशों में अपना पावना रखता है तो संभव है उसे घटने दे। यदि विदेशी बैंक उस केन्द्र में पावना रखते हैं, जैसा कि वे प्रायः लंदन में रखते हैं, तो केन्द्रीय बैंक उन्हें इस बात के लिये प्रस्तुत कर सकता है कि वे अपने पावनों में वृद्धि होने दें, परन्तु उसमें से सोना न निकालें; अर्थात् एक प्रकार से अल्प-कालीन ऋण प्रदान करें। परन्तु ये सभी उपाय क्षणिक हैं और यदि भुगतान-आधिक्य निरंतर प्रतिकूल बना रहता है तो दीर्घकालीन समस्या सुलझाई नहीं जा सकती।

यदि वह देश स्वर्ण-मान का त्याग या अवमूल्यन करना [अर्थात् अपनी मुद्रा की इकाई की स्वर्ण-समता (Gold parity) कम करना] नहीं चाहता फिर भी मुद्रा-संकोच से बचना चाहता है तो उसकी सरकार को विनियोजन के प्रवाह (Flow of investment) या विदेशी व्यापार में हस्तक्षेप करना आवश्यक है। उसे अपने देश वालों को विदेशों में विनियोजन करने से रोकना चाहिये जिससे उसका देना घट जाय। बैंक औफ इंग्लैंड ने, उपर्युक्त उपायों में से अधिकांश का अवलंबन करने के अतिरिक्त कभी कभी विदेशों में ऋण देने पर अराजकीय रूप से रुकावट लगा दी थी। परन्तु इस प्रकार की रुकावट बहुत प्रभावशाली नहीं होती है।

दूसरा विकल्प यह है कि सरकार आयात पर कर या अन्य प्रकार का नियंत्रण लगावे जिससे देना घट जाय और इसके पूरक के रूप में निर्यात को प्रोत्साहन दे।

परन्तु स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में पड़े हुए देश के लिए, जो, विदेशी व्यापार या विनियोजन में हस्तक्षेप किये बिना या अपनी पूंजी पर निर्वाह किये बिना अथवा विदेश से ऋण लिए बिना, स्वर्ण-मान बनाये रखना चाहता है, एक ही उपाय है और वह है मुद्रा-संकोच करना जिससे उसकी द्रव्य-आय घट जाय।

४. स्वर्ण-प्रवाह के कारण (The Causes of Gold Flows)

यदि किसी मुद्रा की विनिमय-दर परिवर्तित होने के लिये स्वतंत्र है, तो किसी ऐसे परिवर्तन की, जो उसका विनिमय-अर्घ (Exchange value) बढ़ा या घटा देगा, वही प्रवृत्ति होगी जो स्वर्णमानीय मुद्रा की होती है, अतएव उससे स्वर्ण का आगमन (Inflow) अथवा गमन (Outflow) होगा। गत अध्याय में व्यवहृत शीर्षकों के नीचे हम मुख्य परिवर्तनों का विवेचन करेंगे—अर्थात् मुद्रा नीति, पूंजी-गति और वस्तुओं तथा सेवाओं की व्युत्क्रम (Reciprocal) पूर्ति

और माँग। हम यह मान लेंगे कि परिवर्तन के पूर्व भुगतान-आधिक्य का साम्य था और मुद्रा-संबंधी स्वर्ण का संपूर्ण भंडार ज्यों का त्यों रहता है।

(१) मुद्रा-नीति (Monetary Policy)

मान लीजिये कि **क** देश मुद्रा-स्फीति करता है परन्तु अन्य स्वर्ण-मानीय देश नहीं करते। **क** में सब की आय बढ़ जाती है और सभी वस्तुओं पर, जिनमें आयात की वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं, व्यय किये जाने वाले द्रव्य में भी वृद्धि होती है। आय में वृद्धि का—मुद्रास्फीति के पूर्व पूर्ण अधियोजन (Full employment) मानते हुए—अर्थ है साधन-मूल्यों (Factor-prices) में अर्थात् लागत में वृद्धि जिससे निर्यात घट जाता है। देश से सोना बाहर जाने लगता है और इससे मुद्रा-स्फीति की अवस्था परिवर्तित हो जाती है। यदि सभी स्वर्णमानीय देश एक साथ मुद्रास्फीति या मुद्रा-संकोच करना चाहें, परन्तु सब की गति समान हो, तो स्वर्ण-प्रवाह के बिना भी कर सकते हैं; परन्तु अकेला एक ही देश नहीं कर सकता। यदि **क** में संसार के संपूर्ण स्वर्ण-भंडार का पर्याप्त अनुपात है तो वह स्वयं मुद्रास्फीति करके उस सोने के आधार पर, जो अन्य देश उससे प्राप्त करते हैं, उन देशों में भी कुछ स्फीति कर सकता है। परन्तु वह ऐसा तभी कर सकता है जब राष्ट्रीय आय से स्वर्ण का अनुपात घटाने को प्रस्तुत हो और यदि अन्य देश अपने अनुपात नहीं घटाते तो कुछ समय के पश्चात् वह रुक जायगा, क्योंकि ह्रासमान स्वर्ण-भंडार के आधार पर वह अपनी आय बढ़ाते जाने को प्रस्तुत न होगा।

(२) पूँजी का गमनागमन (Capital Movements)

मान लीजिये कि **क** प्रति मास कुछ धन विदेशों में उधार देता है। इससे उसका भुगतान-आधिक्य प्रतिकूल हो जायगा और सोना बाहर जाने लगेगा। यदि **क** "नियमों" का पालन करता है तो इससे उसकी द्रव्य-आय घट जायगी जिसके परिणामस्वरूप उसका आयात घटेगा और निर्यात को उत्तेजना मिलेगी, अंत में उसका मासिक निर्यात आयात से इतना अधिक बढ़ जायगा (अथवा ठीक ठीक कहें तो देना से पावना अधिक हो जायगा) जितना वह प्रति मास विदेशों को उधार देता है। ऋण प्राप्त करनेवाले देश में स्वर्ण का आगमन होगा जिससे उसकी द्रव्य-आय बढ़ जायगी और तब तक बढ़ी रहेगी जब तक उसके यहाँ आयात की संगत बचत (Corresponding surplus) नहीं हो जाती। निःसंदेह यह आवश्यक नहीं है कि **क** का बढ़ा हुआ निर्यात ऋण लेनेवाले देश में ही जाय; यह अन्तरण (Transfer) किसी तीसरे देश द्वारा भी हो सकता है। **क** द्वारा व्याज-प्राप्ति, और उसके द्वारा पहले दिये गये ऋणों के प्रतिदान (Repayments) का विपरीत परिणाम होगा।

(३) वस्तुओं और सेवाओं की व्युत्क्रम माँग और पूर्ति (Reciprocal Supply-and-Demand of Goods and Services)

इस पर बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है जिनमें से कई साथ साथ परिवर्तित हो सकती हैं। मुद्रा-नीति और व्यापार-नीति के परिवर्तनों के अतिरिक्त होनेवाले मुख्य मुख्य परिवर्तन जनसंख्या, पूंजी, क्रियाकल्प (Technique) और माँग में होते हैं। इन्हीं शीर्षकों के नीचे हम इनका विवेचन करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रसंग में सर्वदा अन्य देशों से सापेक्ष (Relative) परिवर्तन का महत्त्व है निरपेक्ष (Absolute) का नहीं।

(क) जनसंख्या में परिवर्तन (Changes in Population)

मान लीजिए कि आप्रवास (Immigration) के कारण क देश की जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि होती है परन्तु अन्य देशों में नहीं। यदि क में मुद्रा और महाजनी-संबंधी आदतें बदलतीं नहीं तो उसमें द्रव्य की माँग बढ़ेगी। अतएव उसमें आय और मूल्यों में वृद्धि होने लगेगी। उसके निर्यात को उत्तेजना मिलेगी और आयात घटेगा। अन्य स्वर्णमानीय देशों से सोना क में आने लगेगा और उसी में रहेगा। आपाततः (Incidentally) संभव है कि व्यापार-पण (Terms of trade) क के कम अनुकूल हो जाय। क्योंकि बहुत संभावना है कि संसार के बाजार में वह अपना अधिक माल भेजने लगे जिससे उनका मूल्य गिर जाय और दूसरे देशों से निर्यात होनेवाले माल की वह अधिक माँग करे जिससे उनका मूल्य चढ़ जाय। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बढ़ जाने की सम्भावना है।

(ख) पूंजी में परिवर्तन (Changes in Capital)

मान लीजिए कि क में लोग पहले की अपेक्षा अधिक बचाते और स्वदेश में उसका विनियोजन करते हैं, अतएव क में अन्य देशों की अपेक्षा पूंजी की वृद्धि होती है। कुछ समय के पश्चात् इससे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होगी। निर्यात-धन्धे भी संभवतः पूंजी की वृद्धि में—अतएव उत्पादन में भी—भागी होंगे। अतएव क के निर्यात माल का मूल्य गिरेगा, और यह मानते हुए कि उनकी विदेशी माँग पर्याप्त लचीली है, क के निर्यात का संपूर्ण अर्घ (Value) बढ़ेगा। परन्तु क के आयात के संपूर्ण अर्घ में भी उतनी ही वृद्धि होने की संभावना है। क्योंकि अनुमान (Hypothesis) द्वारा क के घरेलू माल का—जो कुछ सीमा तक आयात-मालों के स्थानापन्न होंगे—उत्पादन भी बढ़ जायगा और उनका मूल्य गिर जायगा; परन्तु आयात-मालों के मूल्य नहीं गिरेंगे। अतएव

क का पावना देना से अधिक हो जाता है और वह अन्य स्वर्णमानीय देशों से अधिक सोना प्राप्त करता है जिससे उसका बढ़ा हुआ स्वर्ण-भंडार उसकी द्रव्य-आय को पहले से अधिक बढ़ाने में समर्थ होता है परन्तु उसके स्वर्ण का द्रव्य-आय से अनुपात पहले ही के समान बना रहता है।

(ग) क्रियाकल्प में परिवर्तन (Changes in Technique)

जब क में अन्य देशों की अपेक्षा क्रियाकल्पात्मक उन्नति अधिक हुई हो और यह मान लिया जाय कि उसका प्रभाव क के निर्यात-उद्योगों (Export industries) पर (और उसके उन घरेलू उद्योगों पर जिनके उत्पादन आयात होने वाली वस्तुओं के स्थानापन्न हों) अधिक पड़ा हो तो इसी प्रकार का एक और विश्लेषण लागू हो सकता है। संभव है यह केवल आकस्मिक हो; उदाहरणार्थ, ऐसे आविष्कार हुए हों जिनका संबंध अन्य धंधों की अपेक्षा क के निर्यात-उद्योगों से अधिक हो। अथवा, बहुत संभव है कि क में उसकी पूंजी की वृद्धि के साथ क्रियाकल्पात्मक उन्नति होती जाय। तो क्या होगा?

क के निर्यात-मालों के मूल्य गिर जायगे। यदि उनकी विदेशी माँग पर्याप्त लचीली है, तो अन्य देश उन पर पहले की अपेक्षा अधिक द्रव्य व्यय करेंगे। परन्तु क की निर्यात की माँग पहले घट जायेगी, क्योंकि उसकी द्रव्य-आय ज्यों की त्यों रहती है; और उसके घरेलू मालों के मूल्य गिर जाते हैं और आयात कम नहीं होते। अतएव क में स्वर्ण का आगमन होगा। तब आयात के लिये उसकी माँग फिर बढ़ेगी—अंशतः इस कारण कि उसकी द्रव्य-आय बढ़ जायगी और कुछ इस कारण कि संभवतः अन्यत्र द्रव्य-लागत घट जायगी [क्योंकि संभवतः अन्यत्र साधन-मूल्य (Factor-prices) गिर जायँगे]। नये साम्य (Equilibrium) में के पास अधिक सोना आ जायगा और पहले की अपेक्षा द्रव्य-आय बढ़ जायगी। क का व्यापार-पण पहले की अपेक्षा उसके कम अनुकूल होगा, और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा पहले से अधिक होगी।

दूसरा स्वर्णमानीय देश ख यदि "नियमों" का पालन करता है—अर्थात् सोना बाहर जाने देता है और मुद्रा-संकोच करता है, और साधन-मूल्य घटा कर, अनधियोजन (Unemployment) करके नहीं, अपनी द्रव्य-आय घटा देता है तो वह पहले की अपेक्षा अधिक लाभ में रहेगा। ख में पहले से कम द्रव्य-आय होगी, परन्तु उसके स्वदेशी माल पहले की अपेक्षा उसी अनुपात में सस्ते होंगे और निर्यात की किसी निश्चित मात्रा के विनिमय में वह पहले की अपेक्षा अधिक आयात प्राप्त करेगा।

(घ) माँग में परिवर्तन (Changes in Demand)

मान लीजिये कि स्वदेश के निर्यात-माल की माँग घट जाती है। इसका कारण केवल विदेशी उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन हो सकता है। यह इस कारण भी हो सकता है कि अन्य देश ख के उत्पादनों के आयात पर पहले की अपेक्षा अधिक नियंत्रण लगाने लगे हों। अथवा इसका यह कारण हो सकता है कि ज्ञान की वृद्धि से दूसरे देशवाले स्वदेश में ऐसी वस्तुएँ बनाने लगे हों जो पहले ख देश से आयात होती थीं, अथवा पहले की अपेक्षा कम पदार्थ से उतना ही कार्य कर लेते हों, जैसे ९ टन कोयले से उतना ही कार्य संपन्न करने लगे हों जो पहले १० टन कोयले से होता था। (इससे यदि कोयले की माँग की लोच एक से कम है तो अपेक्षित कोयले की मात्रा घट जायगी।) अथवा यह इस कारण हो सकता है कि विदेशों में सापेक्ष साधन-पूर्ति (Factor-supplies) में परिवर्तन हो गया हो जिसके कारण ख के लिए तुलनात्मक-लागत (Comparative cost) की अवस्था पहले से कम अनुकूल हो गई हो।

ख अपने निर्यात-पदार्थों की माँग में होनेवाले ह्रास को उन पदार्थों की रचना में परिवर्तन करके कुछ कम कर सकता है। परन्तु सभी दशाओं में ख से सोना बाहर जाने की प्रवृत्ति होगी और जबतक उसकी द्रव्य-आय में कमी होने के कारण उसका आयात उस सीमा तक नहीं घट जाता जितने का मूल्य वह अपने निर्यात द्वारा चुका सकता है तबतक सोना बाहर जाता रहेगा।

५. स्वर्ण-मान-प्रणाली की मुद्रा-नीति
(The Monetary Policy of the Gold Standard System)

हम अब तक विचार करते रहे हैं कि द्रव्य की किसी निश्चित मात्रा का विभिन्न देशों में विभाजन किन किन बातों पर निर्भर रहता है। किसी देश या क्षेत्र की द्रव्य-आय उसके उत्पादन के अर्घ धन (+) विदेशी विनियोजन से प्राप्त निस्तुष (Net) आय अथवा ऋण (–) उसके विदेशी व्याज के निस्तुष भुगतान के बराबर होती है। परन्तु सब प्रकार के व्यय के लिये उपलभ्य द्रव्य की मात्रा के अर्थ में उसकी द्रव्य-आय पूँजी के आगमन से बढ़ और गमन से घट जायगी। "नियमों" का निर्माण इसलिये हुआ है कि प्रत्येक देश को वही द्रव्य-आय मिले जिसका वह अन्य देशों की तुलना में अधिकारी है। यदि किसी देश से स्वर्ण का गमन हो रहा है तो यह इस बात का लक्षण है कि अन्य देशों की तुलना में उसकी द्रव्य-आय अधिक हो गई है और उसका घटाना आवश्यक है। यदि उसके मुद्रा-धिकारी, स्वर्ण-गमन की प्रवृत्ति होते हुए भी, उसकी द्रव्य-आय बनाये

रखने के लिये हस्तक्षेप करते हैं तो वे संभवतः पूंजी की अन्तर्मुखी गति (Inward movements) द्वारा ऐसा करते हैं जो अन्यथा नहीं हुई होती अथवा बहिर्मुख गति को रोककर, जैसा कि विभाग ३ में बताया गया है, करते हैं। हमारी दी हुई रूपरेखा के अनुसार स्वर्ण-मान का सिद्धान्त विभिन्न देशों की सापेक्ष आय से संबंध रखता है।

अब प्रश्न यह रह गया कि स्वर्ण-मान-प्रणाली के अन्तर्गत द्रव्य-आय के निरपेक्ष (Absolute) स्तर का निर्णय किन बातों पर निर्भर रहता है। इस प्रणाली के सभी देश वास्तव में स्वर्ण पर निर्भर एक ही मुद्रा (Currency) का व्यवहार करते हैं। मुद्रा-संबंधी स्वर्ण के भंडार में वृद्धि होने से द्रव्य-आय के बढ़ने की प्रवृत्ति होती है और संपूर्ण स्वर्ण-मान-प्रणाली में मूल्य बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार द्रव्य की माँग में कमी होने से, अथवा कुछ लेखकों के शब्दों में, परिचलन के वेग (Velocity) में वृद्धि होने से, यही बात होती है। क्रियाकल्पात्मक उन्नति से उत्पादन और मूल्यों के घटने बढ़ने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु द्रव्य-आय नहीं घटती। इसके विपरीत परिवर्तनों से विपरीत प्रभाव पड़ते हैं।

ये प्रवृत्तियाँ केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य मुद्राधिकारियों द्वारा मर्यादित या प्रतिरुद्ध (Counteracted) की जा सकती हैं। कोई कारण नहीं कि स्वर्ण-मान-प्रणाली मात्र एक ही मुद्रा-नीति का उसी प्रकार अनुसरण न करें जिस प्रकार कोई एकाकी देश करता है। "नियमों" का संबंध केवल सापेक्ष आय से है। परस्पर विनिमय-दर की स्थिरता को नष्ट किये बिना सभी स्वर्ण-मानीय देश साथ साथ मुद्रास्फीति या मुद्रा-संकोच करके अपने स्वर्ण-भंडार का द्रव्य-आय से अनुपात घटा या बढ़ा सकते हैं। वास्तव में स्वर्ण अधिक काल से "व्यवस्थित" मुद्रा (Managed currency) रहा है; स्वर्ण-मान-प्रणाली के अन्तर्गत आय और मूल्यों पर सोने की पूर्ति अथवा द्रव्य की माँग में परिवर्तनों का अनियंत्रित प्रभाव नहीं पड़ने दिया गया है।

प्रणाली मात्र के लिये एक निश्चित नीति का निर्णय करने के लिये विभिन्न मुद्राधिकारी समय समय पर एकत्र हो सकते हैं। दोनों महायुद्धों के बीच के वर्षों में सब की मुद्रा-नीतियों को "परस्पर सम्बद्ध" करने के लिये कुछ प्रसिद्ध केन्द्रीय बैंकों अथवा कोषागारों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन हुए थे। परन्तु अधिकतर प्रत्येक मुद्राधिकारी ने, स्वर्ण-मान का व्यवहार करते हुए, मूल्य अथवा आय को चढ़ाने या गिराने या स्थिर रखने के लिए (जो भी करना अच्छा समझा) जो किया जा सकता था किया। ऐसी दशाओं में सबसे अधिक आय वाला देश सबसे अधिक खिंचाव डाल सकता है, और वह देश था संयुक्त राज्य।

लगभग १९२४ से १९२९ तक संयुक्त राज्य के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण विनियोजन की वृद्धि और क्रियाकल्प की उन्नति थी। इससे केवल संयुक्त राज्य में ही नहीं वरन् सभी स्वर्णमानीय देशों में मूल्य गिर गये। परन्तु ऐसा जान पड़ता था कि संयुक्त राज्य के मुद्राधिकारियों का लक्ष्य पदार्थों के मूल्य का सामान्य-स्तर पर्याप्त स्थिर रखना था। अतएव उन्होंने द्रव्य-आय में बहुत पर्याप्त वृद्धि होने दी। १९२७ के शरद में बैंक औफ फ्रांस लंदन में एकत्र अपने पौंड-पावने में से कुछ निकालने लगा। ग्रेट ब्रिटेन ने मुद्रा-संकोच के कारण अपनी द्रव्य-आय का ह्रास बचाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग माँगा। फेडरल रिजर्व बोर्ड (अमेरिका) ने अपने मितीकाटा (Discount) की दर घटा दी और संयुक्त राज्य ने द्रव्य का परिमाण और द्रव्य-आय और अधिक बढ़ाकर ग्रेट ब्रिटेन का भार कम किया। इससे अमेरिकी तेजी को और भी उत्तेजना मिली। संयुक्त राज्य में मजदूरी बढ़ रही थी परन्तु उस अनुपात में नहीं जिसमें प्रति कर्मचारी उत्पादन बढ़ रहा था।[1] क्रियाकल्पात्मक उन्नति के कारण उत्पादन की प्रति इकाई की लागत में कमी के साथ साथ यदि स्थिर विक्रय मूल्य हो तो लाभ में वृद्धि होती है। १९२४ से १९२९ तक संयुक्त राज्य में लाभ लगभग दूने हो गये थे। वर्द्धमान लाभ की निरंतर आशा से द्रव्य की माँग घट गई; लोग अपनी संपत्ति को द्रव्य रूप में न रख कर बंट-विनिमय-प्रतिभूतियों (Stock exchange securities) में विनियुक्त करना चाहते थे। अतएव उस समय पदार्थ मूल्य (Commodity prices) की स्थिरता को छोड़कर तेजी के सभी लक्षण विद्यमान थे।

इसके अतिरिक्त १९२५ से १९३० तक संयुक्त राज्य ने ६०० करोड़ डौलरों से अधिक विदेशों को ऋण दिया था। इससे उधार लेनेवाले देश, जो अधिकांश में मध्य यूरोप और दक्षिणी अफ्रीका में थे, सोना बाहर भेजे बिना अपनी द्रव्य-आय को स्थिर बनाये रखने में अथवा बढ़ाने में समर्थ हुए।

अक्टूबर १९२९ में वाल स्ट्रीट (अमेरिका) में प्रतिभूतियों के मूल्य का आकस्मिक पतन (Collapse) होने से अमेरिकी तेजी समाप्त हो गई। अब विनियोजन करने की अपेक्षा द्रव द्रव्य रखने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई और पदार्थ-मूल्य गिरने लगे; जिसका अर्थ यह था कि वे केवल संयुक्त राज्य में ही नहीं गिरे वरन् संपूर्ण स्वर्ण-मान-प्रणाली में गिरे। कुछ

---

१. १९२३–२५ से १९२९ तक उत्पादन के सूचक (Index) से विभक्त वेतन-क्रम (Pay roll) लगभग १० प्र. श. गिर गया। दे० "जर्नल औफ पोलिटिकल इकौनोमी", दिसम्बर १९३५, में एच. बार्जर का लेख।

समय के उपरान्त, अमेरिकी विनियोजकों ने विदेशों को ऋण देना बंद सा कर दिया। जर्मनी तथा कुछ अन्य देशों ने जिस तेजी की अवस्था का अनुभव किया था, जो अंशतः उस ऋण के आधार पर थी जो संयुक्त राज्य या ग्रेट ब्रिटेन ने उन्हें दिया था, वह अकस्मात् समाप्त हो गई। ऐसे देशों को, अपने विदेशी ऋणदाताओं को व्याज तथा प्रतिदान (Repayments) देने के लिये, आयात से अधिक निर्यात करना आवश्यक था। केवल कृषि के उत्पादों का निर्यात करनेवाले बहुत से देशों पर, जो ऋण ले रहे थे, दुहरा आघात पड़ा; क्योंकि उनके निर्यातों का मूल्य, जो १९२८ से ही बहुत कुछ गिरने लगा था, अब अत्यधिक गिर गया और साथ ही साथ उन्हें मिलनेवाला ऋण भी घट गया। विदेशों में दिये गये ऋणों में से बहुतों का भुगतान नहीं हो सका। आस्ट्रेलिया तथा आर्जेंटाइना जैसे देशों ने अनुभव किया कि स्वर्ण-मान का व्यवहार बनाये रखने के लिये द्रव्य-आय में जितनी अधिक मात्रा में कमी करने की आवश्यकता थी, उसका सामना वे नहीं कर सकते थे; और उन्होंने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन ने सितम्बर १९३१ में उनका अनुसरण किया और उसके पीछे अनेक देशों ने स्वर्ण-मान छोड़ दिया।

हम इसका विवेचन नहीं करेंगे कि किसी एकाकी देश को, अथवा संपूर्ण स्वर्ण-मान-प्रणाली को, किस प्रकार की मुद्रा-नीति का अवलंबन करना चाहिये। उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण का उद्देश्य केवल यह दिखाना था कि १९२० से १९३० के बीच स्वर्ण-मान का कार्य बहुत असंतोष-प्रद था और उसी के कारण मंदी आई थी, इस आधार पर स्वर्ण-मान के विरुद्ध की जानेवाली अधिकांश आलोचना वास्तव में निराधार है। स्वर्ण-मान का कार्य दोषपूर्ण नहीं था। उसका व्यवहार दोषपूर्ण था। कुछ देशों ने, जैसे ग्रेट ब्रिटेन ने, "नियमों" का पालन नहीं किया। कुछ अन्य देशों ने अत्यधिक ऋण ले लिया। फेडरल रिजर्व बोर्ड ने—१९२७ में इंग्लैंड की प्रेरणा से, जैसा कि हम देख चुके हैं—मुद्रास्फीति-संबंधी नीति का अनुसरण किया और विदेशों को ऋण देकर उन्हें भी वैसा करने दिया। अतएव संपूर्ण स्वर्ण-मान-प्रणाली की मुद्रा-नीति सचमुच ही दोषपूर्ण थी। परन्तु स्वयं स्वर्ण-मान के विरुद्ध यह कोई तर्क नहीं है।

संसार का मुद्रा-संबंधी स्वर्ण-भंडार, जो १९३१ के अन्त में ६० करोड़ औंस विशुद्ध स्वर्ण से कुछ ही ऊपर था, १९३६ के अन्त में बढ़कर ८० करोड़ औंस के लगभग हो गया था। १९३१ में केवल २२४ लाख औंस सोने का उत्पादन हुआ था परन्तु १९३६ में ३५३ लाख औंस हुआ। यह अंशतः रूस में नई खानों की खोज के कारण (जिसके उत्पादन का अनुमान, जो प्रामाणिक नहीं है, १९३१ में १७ लाख औंस था परन्तु

१९३६ में ७४ लाख औंस हो गया था), परन्तु मुख्यतः सोने के मूल्य में वृद्धि के कारण हुआ था। स्वर्ण-उत्पादक देशों ने स्वर्ण-मान त्याग दिया और उनकी मुद्राओं का सोने में अर्घ गिर गया है। स्वर्ण-उत्पादन में मजदूरी तथा अन्य लागतों की वृद्धि सोने के मूल्य में होनेवाली वृद्धि से कम हुई है, इससे उत्पादन में अधिक वृद्धि हुई है। डौलरों या पौंडों में आँका गया संसार का स्वर्ण-भंडार १९३१ की अपेक्षा दूने से अधिक हो गया है क्योंकि डौलरों या पौंडों में सोने का मूल्य ६० या ७० प्रतिशत बढ़ गया है। इसका अर्थ यह है कि यदि प्रायः सभी देश फिर से स्वर्ण-मान को अपनायें तो मुख्य मुख्य देशों को वांछित द्रव्य-आय के निरपेक्ष स्तर (Absolute level) पर कोई समझौता करना होगा और उन्हें उस संयुक्त नीति के अनुसार अपनी अपनी मुद्रा-व्यवस्था करनी होगी। संभवतः वे मुद्रास्फीति के उन प्रभावों से बचना चाहेंगे जो अत्यधिक बढ़े हुए स्वर्ण-भंडार को द्रव्य-आय में संगत वृद्धि करने देने पर पड़ेगा। संयुक्त राज्य और इंग्लैंड वास्तव में गत महायुद्ध के पूर्व बहुत-सा सोना शक्तिहीन कर रहे थे और इसमें संदेह नहीं कि वे बराबर ऐसा करते रहते।

६. स्वर्ण-मान के गुण-दोष

स्वर्ण-मान का एक बड़ा लाभ यह है कि इसका व्यवहार करनेवाले देशों में प्रायः स्थिर विनिमय दर रहती है। व्यापारियों और विनियोजकों के लिये यह सचमुच में एक वरदान है क्योंकि इससे विनिमय में परिवर्तन के कारण हानि होने की आशंका नहीं रहती। अतएव इससे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन और अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन बड़ा सरल हो जाता है। संपूर्ण स्वर्ण-मान-प्रणाली व्यवहार में एक सामान्य मुद्रा पा जाने से उसी प्रकार लाभ उठाती है जिस प्रकार कोई देश अपने भिन्न भिन्न भागों के लिये पृथक् पृथक् मुद्राएँ न रखकर एक मुद्रा के द्वारा लाभान्वित होता है।

इसमें संदेह नहीं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मान से यह उद्देश्य सिद्ध किया जा सकता है। सच पूछिये तो एक निश्चित स्तर पर विनियम-दर रखने के लिये विभिन्न सरकारों के बीच केवल एक समझौते द्वारा भी इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु स्वर्ण-मान ही ऐसा मान है जो सभी महत्त्वपूर्ण देशों द्वारा स्वीकार किया जा सकता है।

परन्तु यदि व्यापारी और विनियोजक डरते हैं कि वह स्थायी न रहेगा तो स्वर्ण-मान के अधिकांश गुण नष्ट हो जाते हैं। इससे विदेशी व्यापार और विनियोजन को जो उत्तेजना मिलती है वह उनके इस विश्वास पर निर्भर रहती है कि वास्तव में विनिमय-दर स्थिर रहेगी। उदाहरणार्थ, १ अक्तूबर १९३६ को फ्रांस के फ्रैंक का अवमूल्यन किया गया। उसमें रहने वाले स्वर्ण की मात्रा $\frac{९}{१०}$ शुद्ध स्वर्ण के ६५·५ मिलीग्राम के बदले

४३ से ४९ मिलीग्राम के बीच कर दी गई। अवमूल्यन के लिये दिये गये तर्कों में से एक प्रबल तर्क यह था कि छः महीने क्या वर्षों से फ्रैंक के प्रति लोगों का अविश्वास था। यह समझा गया कि ६५·५ मिलीग्राम की समता (Parity) पर फ्रांस स्वर्ण-मान का व्यवहार बनाये रखने में समर्थ न होगा। यह सोचा गया कि अवमूल्यन से यह अनिश्चितता दूर हो जायगी। परन्तु वास्तव में वह दूर नहीं हुई क्योंकि व्यापारी और विनियोजक डरते थे—और ठीक ही डरते थे क्योंकि पीछे वही हुआ—कि "ब्लम" की नीति के कारण मजदूरी की लागत में अधिक वृद्धि होने से फ्रैंक को इस नवीन और नीचे स्तर पर भी बनाये रखना असंभव होगा। उसी प्रकार अक्तूबर १९३६ में संयुक्त राज्य तथा इंग्लैंड की सरकारों के बीच किया गया समझौता वास्तव में डौलर-पौंड की विनिमय दर को पर्याप्त स्थिर रखने के लिये एक समझौता था। परन्तु दोनों में से कोई भी सरकार एक दिन की सूचना देकर इस समझौते को तोड़ सकती थी; अतएव इसके द्वारा उससे भी कम विश्वास उत्पन्न हुआ जितना संयुक्त राज्य की तरह, इंग्लैंड के सिद्धान्त रूप में स्वर्ण-मान स्वीकार कर लेने से होता। फिर जो सरकार यह कहती है कि वह स्वर्ण-मान मानती है परन्तु जब चाहे तब स्वर्ण-समता परिवर्तित कर देने का अधिकार स्वाधीन रखती है अथवा जिस मूल्य पर वह सोना खरीदेगी उसके और जिस मूल्य पर बेचेगी उन दोनों के बीच जो बहुत बड़ा अन्तर रखती है (जिसके बीच उसकी मुद्रा की विनिमय-दर घट बढ़ सकती है), वह यह विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकती कि उसकी विनिमय-दर स्थिर रहेगी। स्वर्ण-मान के पक्ष में तर्क वास्तव में सिद्धान्तीय स्वर्ण-मान के पक्ष में तर्क है जिसमें सभी देश उसके "नियमों" का पालन करते हैं जिससे कोई स्वर्ण मुद्रा अविश्वसनीय नहीं होती।

स्वर्णमान द्वारा प्रदत्त स्थिर विनिमय-दर का लाभ उसका व्यवहार करनेवाले देशों की संख्या पर निर्भर रहता है। यदि केवल एक ही देश स्वर्ण-मान का व्यवहार करे तो कोई विनिमय-दर स्थिर न होगी। वर्तमान महाजनी प्रणालियों के साथ स्वर्ण-मान का एक दोष यह है कि स्वर्ण-गति से व्याज-दर में परिवर्तन होता है जिससे केवल द्रव्य-आय को बढ़ाने या घटाने के लिये ही विनियोजन उत्तेजित किया जाता अथवा रोका जाता है।

स्वर्ण-मान के विरुद्ध कुछ तर्क तो केवल भ्रम के कारण उत्पन्न होते हैं। जैसे कभी कभी यह कहा जाता है कि विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण का "अपर्याप्त वितरण" (Maldistribution) है; परन्तु उसका वितरण इस कारण है कि कुछ देश, जैसे फ्रांस, द्रव्य-आय से स्वर्ण का

अनुपात अधिक रखते हैं, अथवा इस कारण कि स्वर्ण-विनिमय-मान की वृद्धि के कारण दो या तीन मुख्य देशों में ही सोना स्थानान्तरित हो गया है, अथवा इस कारण कि कुछ देशों में उत्पादन का अर्घ अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया है। इसी प्रकार कभी कभी कहा जाता है कि स्वर्ण-मान का ठीक व्यवहार करने के लिये यह आवश्यक है कि ऋण-दाता देश ऋणी देशों को तब भी ऋण देते रहें जब उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाय कि वे देश इसलिये कठिनाई में हैं कि वे अंशतः विदेशी ऋण पर निर्वाह करते रहे हैं और वे अपने वर्तमान विदेशी ऋण पर व्याज देने में असमर्थ हैं।

इसके विपरीत यह कहना असत्य है कि स्वर्ण-मान मुद्रास्फीति को रोकता है। यह सच है कि यह नहीं हो सकता कि कोई देश स्वर्ण-मान का अवलंबन भी करे और अन्य स्वर्णमानीय देशों की तुलना में अपने मूल्य अधिक बढ़ा दे। परन्तु प्रणाली मात्र मुद्रास्फीति कर सकती है, जैसा कि हम देख चुके हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि, अल्पकाल में मुद्रा संबंधी स्वर्ण का संपूर्ण भंडार बहुत अधिक परिवर्तित नहीं होता फिर भी अल्प काल में स्वर्णमानीय देशों में स्वर्ण की माँग पर्याप्त मात्रा में परिवर्तित हो सकती है। यह सोचना भ्रम है कि स्वर्ण-मान स्थिर मूल्य-स्तर प्रदान करता है अथवा मंदी और तेजी को रोकता है। किसी ऐसे देश के समान जिसकी मुद्रा स्वतंत्र हो स्वर्ण-मान-प्रणाली की मुद्रा-नीति विवेकपूर्ण भी हो सकती है और अविवेकपूर्ण भी।

मुक्त-विनिमय-दर के लिये सामान्य तर्क यह है कि स्वर्ण-मान अनुयायी देश स्वतंत्र मुद्रा-नीति का अवलंबन नहीं कर सकता। विशेषतः कभी कभी स्वर्ण-मान को बनाये रखने के लिए वह पर्याप्त मुद्रा-संकोच करने को बाध्य हो सकता है। मुद्रा-संकोच को लोग प्रायः नहीं चाहते। इससे स्थिर "देना" का, जैसे राष्ट्रीय ऋण, और बंधक तथा ऋणपत्र (Debentures) पर व्याज का, आपेक्षिक बोझ बढ़ जाता है। इससे प्रत्याशित लाभ कम हो जाता है और विनियोजन रुक जाता है। यदि मजदूरी की दर पर्याप्त रूढ़ हो तो मुद्र-संकोच से अनवियोजन में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। बहुत से देशों ने १९२९ के बाद भयंकर मुद्रा-संकोच का, जो अन्यथा आवश्यक हुआ होता, सामना करने के बदले स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया। स्वतंत्र मुद्रावाले देश को मुद्रा-संकोच करने की कभी आवश्यकता नहीं है। वह अपने प्रतिकूल भुगतान आधिक्य को, अपनी मुद्रा की विनिमय-दर गिरने देकर और अपनी मुद्रा में आय को घटाये बिना, ठीक कर सकती है। फिर भी यदि व्यवसायों में मजदूरी रूढ़ हैं, और श्रम की गतिशीलता में बाधाएँ हैं तो मुक्त-विनिमय-

दर पूर्ण-अधियोजन नहीं करा सकती और यदि किसी देश के निर्यात पदार्थों की माँग गिर जाती है तो उसकी वास्तविक आय में होनेवाले ह्रास को भी वह नहीं रोक सकती है। वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विनियोजन का वलिदान करके किसी देश कोअपना पृथक् मूल्य-स्तर निश्चित करने की स्वतंत्रता प्रदान करती है।

७. अवमूल्यन (Devaluation)

अव हम पाठकों को स्मरण दिलाना चाहते हैं कि भुगतानों के आधिक्य वाले अध्याय को हमने यह कह कर समाप्त किया था कि किसी देश को अपने प्रतिकूल भुगतान-आधिक्य को ठीक करने की पाँच विधियाँ हैं। ये पाँच विधियाँ, विनिमय-पात (Exchange depreciation), मुद्रा-संकोच (Deflation), अवमूल्यन, विनिमय-नियंत्रण और आयात का नियंत्रण हैं। उन्हें यह भी स्मरण दिलाना है कि भुगतानों के आधिक्य से संबंध रखनेवाली लगभग सभी कठिनाइयाँ पृथक् पृथक् मुद्रा और महाजनी प्रणालियोंवाले पृथक् पृथक् राष्ट्रों के अस्तित्व के कारण उत्पन्न होती हैं।

गत अध्याय में मुक्त विनिमय-दर का, जिसमें पहली विधि का अवलंवन किया जाता है, विवेचन हो चुका है। वर्तमान अध्याय में स्वर्ण-मान का विवेचन किया गया है जिसमें दूसरी विधि का उपयोग होता है। इसके आगे वाले अध्याय में विनिमय-नियंत्रण का सामान्य विवेचन होगा, अर्थात् उस विधि का विवेचन होगा जिसका अनुसरण वे देश करना चाहते हैं जो नाम के लिये तो स्वर्ण-मान का व्यवहार करना चाहते हैं परन्तु उसके "नियमों" का पालन नहीं करना चाहते। अंतिम अध्याय में आयात के नियंत्रणों का सामान्य विवेचन होगा। प्रस्तुत विभाग में संक्षेप में तीसरी विधि अर्थात् अवमूल्यन का विवेचन किया जाता है।

जो देश अपनी वर्तमान समता (Parity) पर स्वर्ण-मान का व्यवहार वनाये रखने के लिये पर्याप्त मुद्रा-संकोच करना नहीं चाहता, फिर भी स्वर्ण-मान द्वारा प्राप्त स्थिर विनिमय-दर से लाभ उठाने का इच्छुक है वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने का निश्चय कर सकता है। अवमूल्यन का अर्थ है अपनी मुद्रा की स्वर्ण-समता को घटा देना। कोई मुद्रा केवल रात भर में अवमूल्य की जा सकती है अथवा वह स्वर्ण-मान छोड़कर कुछ महीनों या वर्षों के वाद नीची समता पर उसे फिर अपना सकती है।

यदि सभी स्वर्णमानीय देश एक साथ हों और एक ही सीमा तक अवमूल्यन करें तो उनकी परस्पर की विनिमय-दर ज्यों की त्यों रहेगी। अवमूल्य की गई मुद्राओं में स्वर्ण का मूल्य और केन्द्रीय वैंकों में तथा

अन्यत्र विद्यमान स्वर्ण-भंडारों का मूल्य, तुरत चढ़ जायगा। क्योंकि अवमूल्यन का अर्थ होता है अपनी मुद्रा में सोने का मूल्य बढ़ा देना। इस प्रकार फ्रांस को पहली अक्तूबर १९३६ के अवमूल्यन से प्राप्त "लाभ" १६ और १७ अरब फ्रैंक के बराबर हुआ था (जिसमें से १० अरब स्वर्ण के रूप में फ्रांस की विनिमय-समक-निधि में डाल दिया गया था)। निःसंदेह इस प्रकार का "लाभ" केवल नाम का लाभ होता है क्योंकि संसार के बाजार में वह सोना पहले की अपेक्षा अधिक माल खरीदने में समर्थ नहीं होता; परन्तु उससे अवमूल्यन करनेवाले देश के आय-व्ययक (बजट) में एक उपयोगी अंश-दान (Contribution) प्राप्त हो सकता है।

मुद्रा-संबंधी स्वर्ण-भंडार के नामांकित मूल्य में वृद्धि होने से, यदि आवश्यक हो तो, द्रव्य-आय से स्वर्ण-भंडार का प्रचलित अनुपात कम किये बिना बैंक की साख का पर्याप्त विकास किया जा सकता है। संयुक्तराज्य ने १९३३ के वसंत में स्वर्णमान का परित्याग किया और १९३४ के आरंभ में, विशेषतः अपनी आन्तरिक आय और मूल्य में वृद्धि होने का मार्ग स्वच्छ करने के लिये, पहले की स्वर्ण-समता के ६० प्र० श० से कुछ कम पर फिर से उसने स्वर्ण-मान अपना लिया।

सोने के मूल्य में वृद्धि होने से संभवतः स्वर्ण के उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होगी। स्वर्ण का मूल्य अवमूल्य की हुई मुद्राओं में तुरत चढ़ जाता है परन्तु उसके उत्पादन की लागत में संभवतः कम वृद्धि होती है। अतएव उत्पादन तबतक बढ़ता जाता है (यद्यपि यह स्मरण रखना चहिये कि दक्षिणी अफ्रीका में निम्नकोटि की असिद्ध धातु (Ore) खनी जाने के कारण पहले उत्पादन में कमी होती है) जबतक कि, पूर्ण स्पर्द्धा में, स्वर्ण-उत्पादन की सीमांत लागत इतनी नहीं बढ़ जाती कि वह सोने के बढ़े हुए नये मूल्य के बराबर हो जाय।

विगत कुछ वर्षों में बहुत से देशों की मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ है, उनमें से कुछ का तो कई बार हुआ है, यद्यपि सभी स्वर्णमानीय देशों ने मिलकर साथ साथ अवमूल्यन नहीं किया इसीसे उनमें विनिमय-दर एक समय से दूसरे समय पर्याप्त परिवर्तित होती रही है। डौलरों, पौंडों या फ्रैंकों में आँका गया संसार का मुद्रा-संबंधी स्वर्ण-भंडार, १९३१ की अपेक्षा, दूने से अधिक हो गया है और वार्षिक उत्पादन ५० प्र० श० से अधिक बढ़ा है।

अब मान लीजिये कि केवल एक ही देश अवमूल्यन करता है। उसकी मुद्रा का विनिमय-अर्घ अन्य स्वर्णमानीय देशों की तुलना में उसी संगति में (Correspondingly) कम हो जायगा। इससे उसके निर्यात

तथा अन्य पावने की मदों को उत्तेजना मिलेगी और उसके आयात तथा अन्य 'देना' संबंधी मदों का ह्रास होगा। यदि अवमूल्यन के पूर्व उसका भुगतान-आधिक्य निरंतर प्रतिकूल रहा है तो अब वह कम प्रतिकूल होगा अथवा अनुकूल हो जायगा। फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिये कि फ्रांस के संबंध में ऐसा नहीं हुआ जो कि पहली अक्तूबर, १९३६ को ग्रहण की हुई कम समता (Parity) पर भी स्वर्ण-मान का निर्वाह न कर सका। यह अधिकतर श्रम की लागत में पर्याप्त वृद्धि के कारण हुआ था जो उसी समय हुई, और जिसने निर्यात की उत्तेजना को निष्फल कर दिया। अंशतः यह इस कारण भी हुआ कि फ्रांसीसी आयात का अधिकांश यथांश (Quota) में आया करता था, अतएव फ्रैंक के गिरे हुए विनिमय अर्घ के द्वारा उसका नियंत्रण नहीं हो सका।

यदि अन्य देश अवमूल्यन का अनुकरण न करें तो उससे किसी देश को, स्वर्ण-मान बनाये रखने में समर्थ होते हुए अपनी विनिमय-दर को घटा कर विश्रान्ति पाने का अवसर मिलता है। परन्तु स्वर्ण-मान को बनाये रखने के लाभ तभी प्राप्त होते हैं जब कि देश में सामूहिक विश्वास हो कि नई समता का निर्वाह किया जा सकता है और किया जायगा। यदि कोई मुद्रा कुछ ही वर्षों में कई बार अवमूल्य की जाय तो व्यापारियों और विनियोजकों का विश्वास नहीं रह जाता। अवमूल्यन एक गंभीर कार्य है और यदि असावधानी से किया जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप पुनः अवमूल्यन होता है, तो उसका उद्देश्य विफल हो जाता है।

उन्नतीसवाँ अध्याय

विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control)

१. विनिमय-नियंत्रण के अभिप्राय
(The Motives for Exchange Control)

बड़ी मंदी के समय, बहुत से देशों ने विदेशी विनिमय के सभी लेन-देनों (Transactions) को नियंत्रित करने की एक प्रणाली अपनायी थी और उनमें से कई अबतक अपनाये हुए हैं; यह प्रणाली विनिमय-समक-निधि द्वारा विदेशी-विनिमय बाजार में केवल हस्तक्षेप करने की अपेक्षा बहुत अधिक पूर्ण और प्रभावशालिनी थी। इस प्रणाली का विवेचन हम विशेषत: युद्ध-पूर्व के नाजी जर्मनी से संबंध रखते हुए करेंगे परन्तु हमारा अधिकांश विवरण जर्मनी के अतिरिक्त उन अन्य देशों पर भी लागू होगा जिन्होंने उसे अपनाया है।

जर्मनी में इस प्रणाली का इतना पूर्ण विकास हुआ है[1] कि राइख बैंक (जर्मनी का केन्द्रीय बैंक) के द्वारा जर्मन सरकार का विदेशी व्यापार पर प्राय: पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया है। जर्मनी में अनुज्ञप्ति-पत्र (Licence) बिना कोई निर्यात नहीं कर सकता। अतएव सरकार युद्ध-संबंधी तथा अन्य आवश्यक पदार्थों को प्राथमिकता दे सकती है और ऐसे मालों का आयात कम कर सकती है जिन्हें वह कम महत्त्वपूर्ण समझती है, जैसे विलासिता की वस्तुएँ। कुछ देशों से आनेवाले माल को अन्य देशों के माल की अपेक्षा प्रधानता दी जा सकती है। विशेष प्रकार के निर्यात मालों को अथवा विशेष देशों को निर्यात किये जानेवाले मालों को अधिक या कम मात्रा में प्रोत्साहन दिया जा सकता है। अतएव आयात-कर तथा रेलभाड़ा को कम करने के अधिकारों के साथ-साथ विनिमय नियंत्रण राजनीति का प्रधान अस्त्र हो गया है। यह केन्द्रीय योजना (Central planning) का एक साधन है।

सबसे पहले यह तात्कालिक व्यवस्था के रूप में अपनाया गया था। १९३१ के ग्रीष्म में, जर्मनी के महाजनी-संकट (Banking crisis) के पश्चात् राइख बैंक का स्वर्ण-कोष रिक्त हो चुका था और उसके पास बहुत अपर्याप्त रूप में केवल एक अरब मार्क से कुछ ही अधिक का

---

१. यह युद्ध के पूर्व लिखा गया था।

स्वर्ण-कोष बचा था। १९३१ के आरम्भ में लगभग ३ अरब मार्कों का अल्पकालीन ऋण आहृत (Withdraw) हो चुका था और आगे भी आहरण किया जाना अवश्यंभावी था। जर्मनी की प्रतिभूतियाँ तथा अन्य संपत्तियाँ बेची और विदेशी विनिमय में परिवर्तित की जा रही थीं। जर्मनी को मार्क से पलायन का सामना करना पड़ रहा था। यदि वह विद्यमान समता पर स्वर्ण-मान का निर्वाह करना चाहता तो, इस आशा से कि व्याज की ऊँची दर से पूंजी का देश छोड़ना बंद होगा और संभव है कि कुछ पूंजी बाहर से भी आकर्षित हो, उसके लिये परंपरागत मार्ग था भरपूर मुद्रा-संकोच करना। परन्तु मुद्रा-संकोच से पूँजी-पलायन का तात्कालिक भय नहीं मिट सकता था और उससे अनधियोजन का भय था। दूसरा संभव उपाय था स्वर्ण-मान का परित्याग करना और मार्क के विनिमय-अर्घ को अपना स्तर ढूंढ़ने के लिये छोड़ देना। परन्तु जनता को प्रथम महायुद्ध के पश्चात् की अतिशय मुद्रास्फीति भूली नहीं थी और वह मार्क के विनिमय-अर्घ के पतन का मुद्रास्फीति से साहचर्य मानती थी। अतएव इस उपाय से भी लोगों में यह आतंक और अव्यवस्था फैल जाने का भय था कि मार्क की क्रय-शक्ति घट जायगी। इसके अतिरिक्त इससे अन्य मुद्राओं में व्यक्त तथा विदेशों में देय शुल्क (Charges) का बोझ बढ़ गया होता क्योंकि डौलरों, पौंडों या फ्रैंकों में कोई निश्चित रकम देने के लिये अधिक मार्कों की आवश्यकता पड़ती।

इसी प्रकार के तर्क अवमूल्यन के विरुद्ध भी लागू थे। पीछे निःसंदेह यह अनुभव किया गया कि यद्यपि पर्याप्त मात्रा में अवमूल्यन भुगतान-आधिक्य में साम्य स्थापित कर सकता और विनिमय-नियंत्रण का परित्याग करने दे सकता था, तब भी उसके फलस्वरूप जर्मनी के निर्यात को मिलने-वाली सर्वतोमुखी उत्तेजना से पावनेदारों को ऐसा अवसर मिल सकता था कि वे चुकता-समझौतों (Payments agreements) के द्वारा अपनी पावने की रकम के बहुत बड़े भाग के लिये दावा करें और संभवतः बलपूर्वक ले भी लें। मंदी के पूर्व जर्मनी को दिये गये ऋण का अधिकांश अनुचित ढंग से विनियुक्त हुआ था। इसकी बहुत कम संभावना थी कि जर्मनी अपने व्याज और प्रतिदानों की पूरी राशि चुका सकेगा। ऐसा हुआ कि विनिमय नियंत्रण के द्वारा वह अपने अधिकांश विदेशी ऋण को इस आधार पर हड़प जाने में समर्थ हो गया कि द्रव्य को अन्तरित करने के लिये विदेशी विनिमय उपलब्ध नहीं था। और उसके निर्यात मुख्यतः उन देशों को भेजे जा सकते थे जो उसके पावनेदार नहीं थे।

इस प्रकार १९३१ के ग्रीष्म में, जब कि स्वर्ण-कोष अत्यन्त क्षीण हो चुका था और मार्क से पलायन निरंतर वेग प्राप्त कर रहा था,

निकट भविष्य में चुकता किए जाने योग्य १३ अरब अल्पकालीन पावना (Credit) तथा लगभग २० अरब मार्क के दीर्घकालीन ऋण पर मिलनेवाले ब्याज के द्वारा विनिमय नियंत्रण आरंभ हुआ था। पहले यह अस्थायी विश्रान्ति देने के लिये स्वीकार किया गया था परन्तु अब आर्थिक नीति का एक प्रमुख अंग हो गया है।

२. विनिमय नियंत्रण की विधियाँ

जैसा कि हम देख चुके हैं, विनिमय-नियंत्रण का उद्देश्य है मुद्रा-संकोच किये बिना और मुद्रा का विनिमय-अर्घ नाम के लिये बनाये रखकर पूँजी का पलायन रोकना और केन्द्रीय बैंक के स्वर्ण-कोष को और भी रिक्त होने से बचाना—वरन् संभव हो तो उसमें वृद्धि करना। इस विनिमय-अर्घ पर विदेशी विनिमय के लिये माँग पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। अतएव विनिमय-नियंत्रण का कर्तव्य है कि वह पूर्ति किये जाने-वाले विदेशी विनिमय की रकम को बढ़ाने का प्रयत्न करते हुए विदेशी विनिमय की माँग को कम करे। सबसे रूढ़ विधि यह है कि विदेशी विनिमय के सभी आदान-प्रदान (Transactions) केन्द्रीय बैंक के नियं-त्रण में रहनेवाले एक केन्द्रीय कार्यालय द्वारा हों। इस प्रकार सरकारी दर पर कोई भी विदेशी-विनिमय देकर मार्कों की कोई भी मात्रा प्राप्त कर सकता है। परन्तु जर्मनी का कोई भी व्यक्ति विशेष अनुमति के बिना केवल मार्क देकर विदेशी विनिमय नहीं प्राप्त कर सकता। वह तो प्रायः "आवश्यक आयात" (Essential imports) के लिये दिया जाता है—किसी विशेष विदेशी माल को खरीदने के लिये दी गई विदेशी विनिमय की रकम और उसे पानेवाले आयातकों का निर्णय जर्मनी के अनेक व्यापार-सदनों (Chambers of Commerce) के परामर्श से होता है। सरकारी दर पर कुछ विदेशी विनिमय विदेशों में यात्रा करने के इच्छुक जर्मनों को दिया जा सकता है, और कुछ का उपयोग सरकार के विदेशी ऋण को अंशतः अथवा पूर्णतः चुकाने में किया जाता है।

इस सामान्य विवरण के पूरक के रूप में हम कुछ उन व्यवस्थाओं का उल्लेख कर सकते हैं, जो विदेशी विनिमय की माँग को कम करने और नियमों का उल्लंघन करके पलायन करनेवाली पूंजी को रोकने के लिये की जाती हैं। इसको सभी स्वीकार करेंगे कि जर्मनी से लिये हुए माल या भविष्य में लेनेवाले माल का मूल्य चुकाने के लिये विदेशी व्यापारी प्रति पौंड १२ मार्क के बदले २० मार्क खरीदने में बहुत प्रसन्न होंगे। इसके विपरीत, जर्मनी के आयातक (केन्द्रीय कार्यालय से पर्याप्त विदेशी विनिमय न पा सकने के कारण), यदि २० मार्क के बदले एक पौंड

की दर से भी अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकें तो बड़ा लाभ उठा सकते हैं। फिर जर्मनी में जिन विदेशियों की संपत्ति जकड़ दी गई (Frozen) है वे इस दर पर भी अपनी पूँजी वापस पाने में प्रसन्न होंगे। अतएव सरकारी दर से कम पर मार्कों के बदले विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिये लोगों को प्रेरणा होगी। इस प्रकार चोरबाजारी (Black bourse) आरंभ होती है। परंतु विनिमय नियंत्रण की पूर्ण प्रणाली द्वारा ऐसी कड़ी निगरानी होती है और अवैध लेनदेन के लिये इतना कड़ा दंड दिया जाता है कि चोरबाजारी चल नहीं सकती। देशवासियों द्वारा विदेशी प्रतिभूतियों की खरीद अवैध घोषित कर दी जाती है। उदाहरणार्थ, जर्मनी के नोटों का निर्यात वर्जित कर दिया जाता है (क्योंकि जो विदेशी विनिमय अन्यथा केन्द्रीय कार्यालय के पास पहुँचता वह उनके बदले दिया जाता है) और कुछ देशों में ऐसे नोटों का फिर से आयात भी वर्जित किया जाता है। सभी आयातों की जाँच करके यह निश्चित कर लिया जाता है कि जर्मनी के आयातक ने अपने विदेशी व्यापारी को माल के वास्तविक मूल्य से अधिक का बीजक (Invoice) बनाने के लिये तो नहीं राजी कर लिया है जिससे उस अंतर को वह व्यापारी जर्मनीवाले की ओर से विदेश में विनियुक्त करे। विदेशियों को उनकी जर्मनीवाली संपत्ति बेचकर उसकी आय को विदेशी विनिमय में परिवर्तित करने की अनुमति नहीं दी जाती।

विदेशियों के अल्पकालीन ऋणों के प्रति व्यवहार का उल्लेख करना विशेष आवश्यक है। १९३१ में, जर्मनी में विदेशियों का अल्पकालीन ऋण लगभग १३ अरब मार्क था। इसका लगभग आधा [जिसमें विदेशी बैंकों तथा वित्त-गृहों (Finacne houses) द्वारा जर्मनी के बैंकों तथा व्यावसायिक संस्थाओं को दिये गये स्वीकृति-साख (Acceptance credits) तथा बैंक के उधार (Bank advances) सम्मिलित थे] "तथा-स्थित समझौता" (Standstill Agreement) के अन्तर्गत आता था। पावनेदार अधिक हठ न करके सुविधाजनक मात्रा में प्रतिदान लेना स्वीकार कर लेते थे और फिर से उधार देने लग जाते थे जो एक उपयोगी उपाय द्वारा स्वयंतिरोही (Self-liquidating) माना जाता था। कालान्तर में पावनेदारों द्वारा कम दर पर भुगतान ले लेने और पौंड तथा डौलर के पात (Depreciation) द्वारा यह ऋणग्रस्तता बहुत घट जाती थी। अब यह एक अरब मार्क से कम है। कुछ अन्य अल्पकालीन पावनेदारों से भी [उदाहरणार्थ जिन्होंने जर्मनी की नगर-पालिकाओं (म्युनिसिपैलिटियों) को ऋण दिये थे] इसी प्रकार के समझौते किये गये थे और शेष—जर्मनी की सरकार की एकपक्षीय क्रिया

(Unilateral action) द्वारा—अपनी पूँजी विदेशी विनिमय में वापस मँगाने से वर्जित थे। इन उपायों द्वारा विदेशी विनिमय के लिये माँग कम की जाती थी।

जहाँ तक विदेशी विनिमय की पूर्ति का संबंध था, यह आज्ञा घोषित की गई थी कि देश की प्रजा के अधिकार में जितनी विदेशी मुद्रायें और अर्घ थे वे सब मुद्राधिकारियों के हाथ बेच दिए जायँ; विदेशों में भेजे गये माल और सेवाओं की आय के संबंध में भी यही बात थी। इसमें संदेह नहीं कि इन नियमों का उल्लंघन करने की बड़ी प्रबल प्रवृत्ति थी क्योंकि अवैध रूप से बेचने से विदेशी विनिमय के बदले अधिक मार्क मिल सकते थे। नियमोल्लंघन का एक स्पष्ट ढंग यह है कि जर्मनी के निर्यात के लिये वास्तव में दिये गये मूल्य की अपेक्षा कम मूल्य का उल्लेख करना—इस प्रकार जर्मनी का निर्यातक केन्द्रीय बैंक की जानकारी बिना अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त कर लेता था। इसे रोकने के लिये सरकार की ओर से निर्यात-मूल्यों का निरीक्षण हुआ करता था।

३. रुद्ध खाते (Blocked Accounts)

विनिमय नियंत्रण के कारण बहुत से रुद्ध खाते उत्पन्न हो गये हैं। किसी विदेशी के नाम राइख बैंक में मार्कों में जमा द्रव्य रुद्ध खाता कहलाता है। परन्तु जो विदेशी उसका स्वामी है उसे उस खाते में से आहरण (Draw) करने की अनुमति नहीं होती अथवा यदि होती है तो कुछ परिमित सीमा तक केवल कुछ विशेष कार्यों के लिये, जैसे जर्मनी में यात्रा करते समय व्यय करने के लिये। उसका खाता "रुद्ध" रहता है।

ये खाते अनेक प्रकार से उत्पन्न हुए। उदाहरणार्थ, जर्मनी के जो आयातक पर्याप्त साखवाले (Solvent) थे उन्हें पहले से मँगाये हुए माल का मूल्य चुकाने के लिये विदेशी विनिमय नहीं दिया गया। उन्होंने मार्कों में भुगतान किया परन्तु ये मार्क उन पावनेदारों के नाम रुद्ध खातों में चले गये। इसी प्रकार विदेशी ऋणों के बहुत से 'देने' रुद्ध कर दिये गये। जैसे जून १९३३ में, जब जर्मनी सरकार ने घोषित किया कि वह डेविस और यंग (Dawes and Young) के ऋणों को छोड़कर शेष सभी विदेशी ऋणों का भुगतान रोक देने के लिये बाध्य है, तो सब पावनों की रकमें पावनेदारों के नाम रुद्ध खातों में डाल दी गई। अल्पकालीन 'देने' तथा प्रतिभूतियों की बिक्री और जर्मनी में विदेशियों द्वारा रखी हुई अन्य संपत्तियाँ भी रुद्ध खातों की उत्पत्ति का कारण हुईं।

इन खातों के द्वारा विदेशियों के धन से जर्मनी अपने कुछ निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिये उनकी सहायता कर सका। कुछ विदेशी

पावनेदार घाटे से बचने के लिये अपने खाते राइख बैंक को "बेच" कर मार्क के सरकारी विनिमय-अर्घ से ४० प्रतिशत कम की दर से अपनी मुद्रा में अपना पावना लेने को प्रस्तुत थे। इस प्रकार की बिक्री से उत्पन्न "लाभ" से एक निधि बनाई गई थी जिसमें से राइख बैंक जर्मनी के कुछ चुने हुए निर्यातों को सहायता देता था।

विगत कुछ वर्षों में रुद्ध खाते घटते रहे हैं। १९३६ में उनका संपूर्ण अर्घ केवल ५० करोड़ मार्क था। विदेशी इस बात की प्रतिश्रुति (Guarantee) पाये बिना कि उनका मूल्य उनके देश की मुद्रा में चुकाया जायगा जर्मनीवालों को माल बेचने अथवा अन्य प्रकार की साख देने में यथेष्ट सतर्क हो गये हैं। अब जर्मनी के निर्यातों को एक विशेष निधि से, जो जर्मनी के सब धंधों पर लगाये गये एक विशेष कर से इसी कार्य के लिये बनी है; सहायता दी जाती है, और जर्मनी का अधिकांश विदेशी व्यापार-चुकता समझौतों (Clearing agreements) और भुगतान समझौतों (Payment agreements) के द्वारा होता है।

४. चुकता समझौते (Clearing Agreements)

विनिमय नियंत्रण ने बहुत से चुकता-समझौतों को जन्म दिया। ये समझौते प्रायः उन निर्यातिक देशों द्वारा, जो विनिमय-नियंत्रण का अनुसरण करनेवाले देशों को माल भेजते थे, अपने देशवासियों के हित के लिए कराये गये। दृष्टान्त के लिये हम १ली सितंबर, १९३४, का स्वीडन-जर्मनी समझौता ले सकते हैं।

जर्मनी को निर्यात करनेवाले स्वीडन के व्यापारियों को उनकी मुद्रा में पूरा मूल्य नहीं चुकाया गया था वरन् अंशतः रुद्ध मार्क के खातों में दिया गया था। इससे जर्मनी का निर्यात कम हो जाना स्वाभाविक था। परन्तु १९३३ में स्वीडन को जर्मनी का निर्यात आयात से ९ करोड़ मार्क अधिक था। जिन देशों से जर्मनी ने निर्यात से अधिक आयात किया था उनसे कच्चा माल खरीदने के लिये जर्मनी को स्वीडन के व्यापार से होनेवाली अपनी इस बचत की आवश्यकता थी। इससे सौदा करने में स्वीडन की स्थिति अधिक प्रबल हो गई। वह चुकता-समझौते के लिये हठ कर सकता था, और उसने किया भी, जिसके द्वारा पहले के भेजे हुए तथा भविष्य में भेजे जानेवाले मालों का भुगतान पाने की उसे आशा हो गई और जर्मनी से स्वीडन के पावनेदारों को मिलनेवाले व्याज का अधिक भाग प्राप्त करने की भी आशा हुई।

इस समझौते की शर्तों के अनुसार स्वीडनवासियों को जर्मनी से आयात किये हुये माल का मूल्य स्वीडन की मुद्रा में वहाँ के केन्द्रीय बैंक

में एक विशेष निधि में जमा करना था। उस निधि में से स्वीडन से जर्मनी को निर्यात करनेवालों का भुगतान किया जाने को था, शेष राइख बैंक तथा स्वीडन के उन व्यापारियों के बीच विभाजित होने को था जो जर्मनी के निर्दिष्ट (Specified) पावनेदार थे; जिन्होंने डेविस और यंग ऋण में धन दिया था उन्हें प्राथमिकता दी जाने को थी, और इस प्रकार के पावनेदारों के लिये उपलभ्य पूरी रकम जर्मनी द्वारा आयात से अधिक स्वीडन को निर्यात किये हुये माल के मूल्य पर निर्भर थी।

यह सब होते हुए भी इस प्रकार के समझौतों से पावनेदार देशों को निराशा हुई हैं। उनके निर्यातकों ने, भुगतान हो जाने का निश्चय समझ कर, दूसरे देश को अधिक माल भेजा। यदि उस देश ने मुद्रास्फीति की है अथवा अपने निर्यात उन देशों को भेजने लगा है जिनसे उसे अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त हो सकता है अथवा चुकता-समझौते में निश्चित विनिमय-दर सरकारी दर के अनुसार रखी गई है और जब लेनदेन (Transaction) हुआ था तब की दर नीची थी, तो विनिमय-नियंत्रण करनेवाले देश की निर्यात बचत (Export surplus) आशा से बहुत कम हुई है और दूसरे देश के निर्यातकों को भुगतान पाने के लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी है। जैसे स्विटजरलैंड ने विनिमय-नियंत्रण वाले देश तुर्की से मार्च १९३४ में एक चुकता समझौता किया था। समझौते के पूर्व के बारह महीनों में तुर्की को उसका निर्यात तुर्की से आने-वाले माल का ६३ प्रतिशत था। समझौते के पश्चात् के छः महीनों में वह १८८ प्र० श० हो गया। इसी प्रकार यूगोस्लाविया से जर्मनी की खरीद, दोनों देशों के बीच चुकता-समझौते के कारण, इतनी अधिक बढ़ गई कि १९३५ में यूगोस्लाविया का जर्मनी के ऊपर पावना बहुत बढ़ गया और उसके राष्ट्रीय बैंक को बाध्य होकर, इस पावने को घटाने के लिये, जर्मनी से माल खरीदनेवाले यूगोस्लावियावासियों को पुरस्कार देना पड़ा। चुकता-समझौतों से असंतोष के कारण कुछ ऐसी घटनायें हुई हैं जिन्हें "निजी क्षतिपूर्ति" (Private compensation) कहते हैं। यह वास्तव में बदला (Barter) है। दो देशों के व्यापारी अपने मालों का विनिमय करने के लिये, अपना निजी प्रबंध करने की अनुमति पा जाते हैं। यह स्वाभाविक है कि विनिमय-नियंत्रण करनेवाला देश इस प्रणाली को पसंद नहीं करता क्योंकि इससे उसे विदेशी विनिमय नहीं प्राप्त होता और उसे अपने विदेशी व्यापार को अपने इच्छानुसार चलाने और उस पर मनमाना प्रभाव डालने का अवसर नहीं मिलता। फिर भी ऐसे देशों को, उन मालों को प्राप्त करने के लिये, जिन्हें विदेशी अन्यथा नहीं भेजते, इस प्रकार की कोई न कोई व्यवस्था माननी ही पड़ती है।

५. भुगतान-समझौते (Payments Agreements)

भुगतान-समझौता चुकता-समझौते का उन्नत रूप है। पुराने प्रकार के समझौते में, विनिमय-नियंत्रणवाले देश को निर्यात करनेवालों को उस निधि में से, जो दूसरे देश से आयात करनेवाले उन्हींके देशवासियों द्वारा दी हुई रकम से बनी थी, अपना भुगतान पाने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। कभी कभी उन्हें महीनों रुकना पड़ता था। अतएव उनकी कार्यशील पूंजी फँस जाती थी और कब भुगतान होगा इसकी अनिश्चितता के कारण भावी लेनदेन कम हो जाता था।

ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी के बीच हुये नवंबर, १९३४, के समझौते के अनुसार किसी एक महीने में इंग्लैंड से जर्मनी के आयात की सीमा दो मास पूर्व जर्मनी से इंग्लैंड को होनेवाले निर्यात का ५५ प्र० श० निश्चित कर दी गई थी। आरंभ में विद्यमान व्यापारिक ऋणों को चुकता करने के लिये पृथक् की हुई एक रकम को छोड़ कर, ४५ प्र० श० की बचत अंशतः कुछ व्याज तथा अन्य 'देना' को चुकाने के पश्चात् राइख बैंक के अधिकार में पूर्णतः छोड़ दी जाती है। इस प्रकार यदि जर्मनी के किसी आयातक को इंग्लैंड से आयात करने और उसके लिये विदेशी विनिमय पाने की आज्ञा मिली है तो वह जानता है कि उसे दो महीने के बाद अपेक्षित पौंड की रकम मिलेगी। इंग्लैंड के निर्यातक को अपने जर्मनीवाले ग्राहक से (यह मानते हुए कि उसकी साख अच्छी है) दो महीने में भुगतान पाने का विश्वास रहता है; और दोनों ही पक्षवाले लेनदेन के लिये आवश्यक-धन प्राप्त करने को अध्याहरण (Overdrafts) प्राप्त करने अथवा हुंडी भुनाने के लिये महाजनी प्रणाली की साधारण सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं। क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच सर्वदा प्रत्यक्ष संबंध बना रहता है और विक्रेताओं को अपने ग्राहकों की साख पर ध्यान देते रहना चाहिये; केवल अपनी सरकार द्वारा की गई आर्थिक व्यवस्था पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये।

इस प्रकार भुगतान-समझौते पुराने ढंग के चुकते समझौतों से बढ़कर हैं। फिर भी दोनों ही की उत्पत्ति विनिमय-नियंत्रण के कारण हुई है और ये उस प्रणाली के दोष व्यक्त करते हैं। कुछ देशों में इसका शासन करनेवाले अधिकारियों में इसके कारण बहुत सी बुराइयाँ फैल गई हैं। परन्तु सभी देशों में, तुलनात्मक-लागत (Comparative-cost) की स्थिति द्वारा विदेशी व्यापार को जिस दिशा में जाना चाहिये उससे भिन्न दिशा में व्यापार गया है। उदाहरणार्थ, जर्मनी ने सस्ते में उत्पन्न करनेवाले देशों से माल न लेकर दूसरे देशों से इसलिये लिया है कि उन्हें स्वयं

विदेशी विनिमय देने के वदले वह चुकाने के समय केवल साख द्वारा "भुगतान" कर सकता था; और अन्यत्र से न लेकर अन्य देशों से इसलिये खरीदा है कि पहले वेचे हुये अपने माल के वदले उससे कुछ न कुछ पा जाय। इसमें संदेह नहीं कि विनिमय-नियंत्रणों ने संसार के व्यापार की मात्रा को वहुत घटा दिया और उसका मार्ग वदल दिया है।

तीसवाँ अध्याय

आयात-शुल्क और यथांश (Import Duties and Quotas)

१. संरक्षण के पक्ष में तर्क (Arguments for Protection)

विदेशी व्यापार की पूर्ण स्वतंत्रता सर्वथा अपवाद है। लगभग प्रत्येक देश ने अपने कुछ आयातों पर प्रायः सर्वदा प्रतिबंध लगाए हैं, यद्यपि इन प्रतिबंधों के ढंग और उनकी सीमाएँ भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की रही हैं और विभिन्न कालों में उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न रहे हैं। अनेक प्रकार के प्रतिबंध व्यवहार में लाए गए हैं। उदाहरणार्थ, आयातक अनेक प्रकार के भारस्वरूप शासन-संबंधी नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किए गए हैं। बाहर जानेवाले मालों की अपेक्षा देश के भीतर जानेवाले मालों पर रेलभाड़ा अधिक रखा गया है, स्वास्थ्य और स्वच्छता के नाम पर अनावश्यक मात्रा में कठिन नियम लगा कर जीवित पशुओं तथा अन्य वस्तुओं का आयात रोका गया है; और जैसा हमने अभी देखा है, विनिमय-नियंत्रण के द्वारा सरकार जैसे चाहे वैसे आयात को घटा सकती है। परन्तु सबसे अधिक प्रचलित उपाय है ऐसे शुल्क लगाना, जिन्हें "जकात" या आयात-निर्यात-शुल्क (Duties or tariffs) कहते हैं, और जो कुछ या सभी आयातों पर लगाए जाते हैं, अथवा यथांश (Quota) द्वारा निर्धारित एक अधिकतम मात्रा में आयात करने की अनुमति देना। यह अधिकतम शून्य भी हो सकता है, अर्थात् किसी किसी पदार्थ का आयात निषिद्ध हो सकता है। हमारे विवेचन का क्षेत्र केवल आयात-शुल्क और आयात-यथांश तक सीमित रहेगा।

किसी देश द्वारा ऐसे माल पर, जो वह स्वयं उत्पन्न नहीं करता, लगाए गए आयात-शुल्क अथवा स्वदेश में उत्पन्न होनेवाली उसीके समान वस्तु पर समान मात्रा में लगाए गए उत्पादन-शुल्क (Excise duty) को 'राजस्व-शुल्क' (Revenue duty) कहते हैं। तंबाकू के ऊपर ग्रेट ब्रिटेन द्वारा लगाया गया शुल्क इसका उदाहरण है।[1] माँग पर्याप्त रूढ़ होने के कारण यदि शुल्क के द्वारा आयात और उपभोग की मात्रा पर्याप्त रूप से नहीं घटती तो देश में उत्पादक साधनों का क्षेत्र-परिवर्तन नहीं होता। परन्तु यदि आयात और उपभोग की मात्रा में पर्याप्त ह्रास हो

---

१. भारतवर्ष में चीनी, नमक, दियासलाई और तंबाकू पर लगाए गए शुल्क इसके उदाहरण हैं।—अनुवादक।

जाता है तो निर्यातवाले धंधों में उत्पादन के साधनों का कम अधियोजन होता है, क्योंकि आयात घटाने का अर्थ होता है कालान्तर में निर्यात घटा देना। हमारा संबंध मुख्यतः संरक्षण-शुल्कों से रहेगा जिनका उद्देश्य होता है उसी प्रकार के स्वदेशी माल के उत्पादन को प्रोत्साहन देना।

संरक्षण के समर्थन का आधार शताब्दियों से चला आता हुआ यह विश्वास है कि निर्यातों को प्रोत्साहन देना और आयात को घटाना वांछनीय है। पहले तो यह विश्वास कुछ भद्दा सा जान पड़ता है। निर्वाह-स्तर स्वदेश में उपभोग के लिए उत्पन्न की गई वस्तुओं और आयातों पर निर्भर रहता है; निर्यात का उपयोग तो विदेशी करते हैं। यदि किसी देश के लिए कुछ थोड़े से निर्यातों के वदले निरंतर अधिक आयात प्राप्त कर सकना संभव हो तो ऐसी आशा करना स्वाभाविक है कि उस देश के नागरिक इस योजना का विरोध न करके स्वागत करेंगे। परन्तु भूतकाल में आयात से अधिक निर्यात करना इसलिए वांछनीय माना जाता था कि वह स्वर्ण प्राप्त करने का एक साधन था। इसके अतिरिक्त कभी कभी जव निर्यातवाले धंधों में अत्यधिक अनधियोजन (वेकारी) रहता है तव निर्यात को प्रोत्साहन देना तर्क-सम्मत जान पड़ता है। निर्यात के लिए निर्यात-वृत्ति (Bounties) या आर्थिक सहायता (Subsidies) प्रायः दी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम महायुद्ध के उपरान्त वहुत से देशों ने अपने देश की जहाजी कंपनियों को आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन दिया था। परन्तु निर्यात-वृत्ति का अर्थ होता है सरकार के ऊपर व्यय का भार; जव कि आयात-शुल्क से उसे आय होती है; इसीसे पहली की अपेक्षा दूसरी अधिक पसंद की गई है।

संरक्षण के पक्ष में कुछ तर्क, जिन्हें सर्वसाधारण में अधिक महत्त्व दिया जाता है, अधिकतर दोषपूर्ण हैं। इसका एक मुख्य उदाहरण यह है कि कम मजदूरीवाले देशों से आनेवाले माल पर इसलिए कर लगाना चाहिए कि स्वदेश में कर्मचारियों का निर्वाह-स्तर गिरने न पावे। इस तर्क के दोष हम अध्याय २५ के विभाग ६ में दिखा चुके हैं। फिर, जो लोग किसी विशेष धंधे से संवंध रखते हैं वे कह सकते हैं कि प्रतिस्पर्द्धा करने-वाले आयातों पर संरक्षण-शुल्क लगाने से संरक्षित धंधों की उन्नति होगी। इस तर्क का कोई विरोध नहीं कर सकता; परन्तु वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या देश भर के लिए यह वांछनीय है कि उस धंधे की उन्नति के लिए देश के निर्यात-धंधों का वलिदान कर दिया जाय ? क धंधे के विस्तार से उसके कर्मचारियों तथा हिस्सेदारों की क्रय-शक्ति निःसंदेह वढ़ जायगी; परन्तु यदि उपभोक्ता क के उत्पादन पर अधिक व्यय करते हैं तो दूसरे पदार्थों तथा आयात होनेवाले पदार्थों पर व्यय करने

को उनके पास द्रव्य कम बचेगा। अतएव विदेशी भी उसके निर्यात पर कम व्यय करने को प्रस्तुत होंगे।

संरक्षण के पक्ष में कुछ तर्कों का आधार आर्थिक प्रश्नों से भिन्न है। जैसे, कोई देश लोहे और इस्पात के अपने उद्योग को इसलिए संरक्षण प्रदान करे कि वह युद्ध के लिए अधिक अच्छी तैयारी रख सके, अथवा कृषि को इसलिए संरक्षित करे कि अधिक मात्रा में कृषि पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या को बनाए रखना वांछनीय है। अर्थशास्त्री केवल यही बतला सकता है कि इस प्रकार की नीतियों के फलस्वरूप, जैसा साधारणतः हो सकता था उससे निम्नतर निर्वाह-स्तर के रूप में, कितना त्याग करना पड़ता है; और वह त्याग करने योग्य है या नहीं इसके निर्णय का भार राजनीतिज्ञों अथवा नागरिकों पर छोड़ देता है।

संरक्षण के पक्ष में कुछ तर्क आर्थिक विश्लेषण पर निर्भर हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा कहा जाता है—और ठीक ही कहा जाता है— कि आयात अथवा निर्यात शुल्क लगाने से व्यापार-पण देश के अनुकूल हो जाता है। उनके द्वारा वह क्रेता अथवा विक्रेता के रूप में अपने एकाधिकारत्व का अधिक लाभ उठाने में समर्थ होता है। जैसे, रबड़-प्रतिबंध-योजना (Rubber Restriction Scheme) के अन्तर्गत मलाया द्वारा रबड़ पर लगाए गए निर्यात-शुल्क से उसे रबड़ से अन्यथा होनेवाली आय से अधिक आय प्राप्त करने का अवसर मिला। इसी प्रकार बड़ी मंदी के दिनों में पश्चिमी यूरोप के बहुत से देशों द्वारा कृषिज उत्पादों के आयात पर लगाए गए प्रतिबंधों से उन पदार्थों के मूल्य[1] गिरे रहे और इससे उनका व्यापार-पण आयातक देशों के और भी अनुकूल हो गया—यद्यपि इसका बहुत कुछ लाभ इंग्लैंड को मिला क्योंकि फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशों ने कृषिज उत्पादों का अपने यहाँ आयात बहुत घटा दिया था। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी देश का व्यापार-पण संसार के दो प्रकार के मूल्यों का केवल संबंध है; एक तो निर्यात की जानेवाली वस्तुओं का और दूसरे आयात होनेवाली वस्तुओं का। ऐसा बिरले ही होता है कि कोई एक देश संसार के तुलनात्मक मूल्यों पर पर्याप्त प्रभाव डाल सके। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर प्रतिबन्ध लगाकर जो देश अपनी हानि करता है वह, संभव है, उस लाभ से अधिक हो जो व्यापार-पण की उन्नति से होता है। एक दूसरा प्रसिद्ध तर्क शैशवावस्था में ऐसे धंधों को संरक्षित करने के पक्ष में है जो देश के उपयुक्त हों और जिन्हें उस काल तक विदेशी

---

१. संसार के बाजार में। "संरक्षणवाले" देशों में उनके मूल्य अपेक्षाकृत बहुत ऊँचे थे।

प्रतिस्पर्द्धा से बचाने की आवश्यकता हो जबतक कि वे पर्याप्त प्रतिष्ठित और बिना किसी सहायता के अपने पैरों पर खड़े होने योग्य न हो जायें।

फिर भी सिद्धान्ततः जिन अवस्थाओं में कर लगाना तर्क-सम्मत है उनमें भी व्यवहारतः कर लगाने पर सफलता नहीं मिली है। एक देश द्वारा कर लगाने का परिणाम यह होता है कि दूसरा देश उसके बदले में अपने यहाँ कर लगाता है। शिशुरूप धंधे प्रायः उन्नति नहीं करने पाते और अधिकाधिक संरक्षण माँगते रहते हैं। संरक्षण-कर के कारण उस धंधे से स्वार्थ सिद्ध करनेवालों द्वारा सरकार के ऊपर अनुचित प्रभाव डाला जाता है जिससे अधिक संरक्षण मिले और कुछ देशों में तो इससे बहुत सी बुराइयाँ फैलती हैं। सिद्धान्ततः संरक्षण के लिए चाहे जो कुछ कहा जाय परन्तु व्यवहार में मुक्त-व्यापार (Free trade) सबसे अच्छा है; परन्तु आर्थिक शिक्षा के बिना बहुत कम व्यक्ति इसे ठीक से समझते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलता है जिससे किसी देश के उत्पादक साधन सर्वाधिक लाभदायक ढंग से उपयोग में लाए जा सकते हैं। परन्तु आपातिक (Emergency)व्यवस्था के रूप में संरक्षण विशेषतः उल्लेखनीय है।

२. आपातिक व्यवस्था के रूप में संरक्षण
(Protection as an Emergency Measure)

ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्णमान का परित्याग करने के पूर्व १९३० या १९३१ में आपातिक व्यवस्था के रूप में संभवतः संरक्षण अपनाया होता। उसका भुगतान-आधिक्य प्रतिकूल था और आगामी कुछ वर्षों तक प्रतिकूल बने रहने की संभावना थी। एक संभाव्य उपाय था द्रव्य-आय को घटाना। परन्तु सब का ऐसा विश्वास था कि द्रव्य के रूप में मजदूरी पर्याप्त रूढ़ थी। ऐसा समझा गया कि निर्वाह-व्यय में वृद्धि होने से वेतन-भोगियों को विशेष आपत्ति नहीं होगी परन्तु मजदूरी में किसी प्रकार की कमी का घोर विरोध होगा। इन धारणाओं के कारण तथा आयातों की माँग पर्याप्त रूढ़ होने के कारण निष्कर्ष यह निकाला गया कि मुद्रा-संकोच की परंपरागत नीति का अवलंबन करने से अनधियोजन में बहुत वृद्धि होगी। एक दूसरा संभाव्य उपाय था स्वर्णमान का परित्याग करके पौंड की विनिमय-दर को तबतक गिरने देना जबतक भुगतान-आधिक्य में साम्य न स्थापित हो जाय। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत निर्भर रहता है और विदेशों में उसकी बहुत पूंजी लगी हुई है। अतः वह चाहता था कि यदि संभव हो तो स्वर्णमान का परित्याग न किया जाय। एक और मार्ग था और वह था अवमूल्यन का। परन्तु इससे दो शताब्दियों से अधिक की परंपरा भंग हो जाती। ऐसी परिस्थिति में कुछ लोगों को आयात-

कर लगाना सबसे कम हानिकर जान पड़ता था। आयात-कर लगाने से आयातों की माँग घट जाती जिससे प्रतिकूल भुगतान-आधिक्य कम हो जाता अथवा लुप्त हो जाता। इस प्रकार उसके द्वारा ग्रेट ब्रिटेन अपना सोना रखे रहने तथा और भी अधिक प्राप्त करने एवं निर्वाह-व्यय को बढ़ने देकर द्रव्य-आय को बनाए रखने में समर्थ होता।

वास्तव में ग्रेट ब्रिटेन ने इस उपाय का अवलंबन नहीं किया। मार्च १९३२ तक, जब उसने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया था, उसने साधारण आयात-कर नहीं लगाया। अतएव उस समय आयात-कर के पक्ष में उपर्युक्त तर्क लागू नहीं होता था। केवल पौंड की विनिमय-दर को अपेक्षित सीमा तक गिरने देकर भुगतान-आधिक्य में साम्य नहीं स्थापित किया जा सकता था। नए आयात-करों से पौंड की दर उससे ऊँची बनी रही जितनी वह अन्यथा हुई होती। परन्तु उन करों से कुछ विशेष आयात-पदार्थों का पक्षपात होता था। इसके विपरीत यदि केवल विनिमय-दर के द्वारा साम्य स्थापित किया गया होता तो उपभोक्ता स्वयं यह निर्णय कर सकते थे कि किन किन पदार्थों के बिना वे काम चला सकते हैं।

मंदी के समय जनता प्रायः सहारे के लिए संरक्षण की ओर अधिक झुकती है। उस समय अनधियोजन बहुत बढ़ सकता है, परन्तु स्वदेशी माल से प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले पदार्थों पर कर लगाकर, इस प्रकार देशी धंधों को संरक्षण देकर, वह कम किया जा सकता है। पूर्ण अधियोजन के लिए संरक्षण के कारण निर्वाह-व्यय में वृद्धि भी हो तो होने देना चाहिए। संरक्षित धंधों में अधिक सक्रियता होने से विनियोजन को प्रोत्साहन मिल सकता है जिससे फिर तेजी आ सकती है। यदि प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले आयात-पदार्थ ऐसे मूल्यों पर बेचे जाते हैं जो विदेशी उत्पादकों को कठिनाई से लाभदायक हो सकते हैं तो संरक्षण का पक्ष प्रबल जान पड़ता है।

इसी आधार पर बहुत से देशों ने बड़ी मंदी के आरंभिक वर्षों में अपने संरक्षण में पर्याप्त वृद्धि कर दी थी। विशेषतः पश्चिमी यूरोप के मुख्य मुख्य कृषि-प्रधान देशों ने, उन आयातों से जिनके मूल्य गिर कर १९२८ वाले मूल्य के आधे के लगभग हो गए थे, अपने कृषकों की रक्षा करने के लिए, खाद्य पदार्थों के आयात बहुत घटा दिए थे।

मंदी के समय की व्यवस्था के लिए संरक्षण की इच्छा के साथ सहानुभूति दिखाई जा सकती है। परन्तु जब एक बार आयात पर प्रतिबंध लग जाते हैं तो वे प्रायः बने रहते हैं। जब संकट-काल टल जाता है तब उससे संबद्ध उत्पादकों के विरोध के आगे उनका हटाना कठिन हो जाता है। व्यवहारतः एक देश द्वारा अधिक संरक्षण से दूसरे देशवालों में भी अधिक संरक्षण की प्रवृत्ति होती है। यूरोप में कृषि-संबंधी संरक्षणों के

कारण, जो अब तक बने हुए हैं, समुद्रपार के कृषि-प्रधान देशों में उद्योगों को प्रोत्साहन मिला है। विगत कुछ वर्षों में फ्रांस में—और कुछ कम सीमा तक ग्रेट ब्रिटेन में भी—निर्वाह-व्यय में वृद्धि होने से, द्रव्य-रूप में अधिक मजदूरी की माँग बढ़ी है और संभव है इससे अनधियोजन और अधिक बढ़े। संभव है कि यदि सभी देशों ने संरक्षण बढ़ाने का लोभ रोका होता और मंदी का सामना अन्य उपायों से किया होता तो संसार आज अधिक समृद्ध होता।

३. आयात-शुल्कों का प्रभाव (Effects of Import Duties)

यदि कोई स्वर्णमानीय देश आयात-शुल्क लगाता है तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसके यहां स्वर्ण का अधिक आयात होता है। जिससे वह अपनी द्रव्य-आय तथा पदार्थों के मूल्य (निर्यातों के मूल्य छोड़कर) जितने वे अन्यथा होते उससे अधिक बनाए रखने में समर्थ होता है। मुक्त विनिमय-दर वाला देश निःसंदेह द्रव्य-आय का स्तर अपने इच्छानुसार रख सकता है। यदि वह आयात-शुल्क लगाता है तो शुल्क लगे हुए पदार्थों का मूल्य बढ़ जाता है परन्तु उसका प्रभाव द्रव्य-आय और साधारण मूल्य-स्तर पर पड़ता है या नहीं और यदि पड़ता है तो किस प्रकार—यह उस देश में द्रव्य की माँग पर पड़नेवाले उनके प्रभाव पर निर्भर रहता है।

आयात-शुल्क अप्रत्यक्ष कर के समान है। कर लगे हुए पदार्थ का मूल्य कर लगानेवाले देश में संसार के बाजार की अपेक्षा सर्वदा उतना अधिक होगा जितना आयात-कर बन स्थानान्तरण-व्यय होगा। यदि कर लगानेवाला देश उस पदार्थ की संसार भर की पूर्ति का केवल अल्पांश लेता है, जैसा कि प्रायः होता है, तो उसकी माँग में कमी होने से संसार के मूल्य पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ेगा, अर्थात् कर लगानेवाले देश के उपभोक्ता कर का लगभग पूरा भार वहन करेंगे; परन्तु यदि कर लगानेवाला देश संसार भर की पूर्ति का पर्याप्त अंश लेता है और यदि कर लगाने के फलस्वरूप उसकी माँग पर्याप्त मात्रा में घट जाती है तो उसका परिणाम होगा संसार के बाजार में व्याप्त उस पदार्थ के मूल्य में पर्याप्त ह्रास, अर्थात् कर के पर्याप्त अंश का भार पूर्ति करनेवाले विदेशियों को वहन करना होगा। संरक्षणप्राप्त स्वदेशी उद्योग किस सीमा तक उन्नत होता है यह अंशतः संरक्षित पदार्थ की स्वदेश में माँग की लोच पर निर्भर होता है और अंशतः उस सीमा पर जहाँ तक उसके विस्तार के साथ (पर्याप्त संख्या में उपयुक्त कुशल श्रमी अथवा अच्छी भूमि आदि मिलने की कठिनाई के कारण) उसकी लागत बढ़ी है। यदि कुछ आयात होता ही रहता है तो इससे पता चलता है कि स्वदेशी उद्योग

का अधिक विस्तार होने से लागत और बढ़ेगी और यदि आयात-शुल्क इतना न बढ़ाया गया कि स्वदेशी वस्तु का मूल्य भी बढ़ाया जा सके तो उसका विस्तार लाभप्रद न होगा।

४. आयात-यथांश (Import Quotas)

आयात-यथांश, किसी विशेष अवधि में, आयात किए जा सकनेवाले पदार्थ की अधिकतम मात्रा की—मूल्य की नहीं—सीमा निश्चित करता है। उदाहरणार्थ १९३१ के चतुर्थ चरण में, फ्रांस का मक्खन का आयात-यथांश १२०० क्विटल (एक मीटरीय टन का दशांश = १ क्विटल) था। ग्रेट ब्रिटेन का शूकर-मांस का आयात-यथांश प्रतिवर्ष १,०६,७०,००० हंडरवेट ऋण ग्रेट ब्रिटेन के प्रत्याशित उत्पादन की मात्रा ऋण साम्राज्य के देशों से आयात होनेवाली प्रत्याशित मात्रा थी; सच पूछिए तो यथांश साम्राज्य के बाहरवाले देशों, विशेषतः डेनमार्क, पर लागू था। आयात यथांश सबसे पहले १९३१ में विगत मंदी के समय फ्रांस द्वारा ग्रहण किया गया था। तब से इस प्रणाली का फ्रांस में बहुत विस्तार और विकास हुआ है। उसके अधिकांश आयात अब यथांश के अधीन हैं। थोड़ी बहुत मात्रा में बहुत से अन्य देशों में, विशेषतः यूरोपीय देशों में, यह अपनाया गया है।

"मांडलिक" यथांश (Global quota), जो किसी विशेष पदार्थ की आयात होनेवाली संपूर्ण मात्रा की सीमा निश्चित करता है, सफल नहीं होता। यथांश पूर्ण हो जाने पर राज्य की सीमा पर यदि माल पहुँचता है तो अस्वीकृत कर दिया जाता है। आयातकों को माल की पूर्ति होने का निश्चय नहीं रहता और यथांश पूर्ण होने के पूर्व जिन देशों से कम आयात हुआ रहता है वे पक्षपात का दोष लगाते हैं। अतएव यथांश प्रायः पूर्ति करनेवाले देशों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक की निर्धारित मात्रा प्रायः उस देश से होनेवाले उस वस्तु के आयात और विगत कुछ वर्षों के संपूर्ण आयात के अनुपात के अनुसार निश्चित की जाती है। आयात की संपूर्ण मात्रा का विभिन्न आयातकों में वितरण प्रायः सरकार द्वारा होता है अथवा उसकी ओर से कार्य करनेवाले किसी वाणिज्य-सदन (Chamber of Commerce) द्वारा, जो आयात के लिए अनुज्ञप्ति (License) वितरित करता है। परंतु कभी कभी कोई वाणिज्य-सदन अथवा निर्यात करनेवाले देश की कोई अन्य उत्तरदायी संस्था एक निर्यात-अनुज्ञप्ति द्वारा, जिसके बिना यथांशवाले देश में माल नहीं भेजा जा सकता, भेजी हुई मात्रा में कमी कर देती है।

आयात-शुल्क की प्रणाली के अनुसार आयात किए हुए माल पर

प्राप्त होनेवाले कर से कर लगानेवाली सरकार की आय बढ़ जाती है। यथांश की प्रणाली में स्वदेश के मूल्य (जो आयात के प्रतिबंध के कारण चढ़ जाते हैं) और संसार के मूल्य का अन्तर प्रायः आयातक की जेब में जाता है। परन्तु यदि निर्यातक संगठित होते हैं और यदि उनके पास निर्यात-अनुज्ञप्ति रहती है और उधर यथांश देश के आयातक आयात करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं तो यह अन्तर निर्यातकों को मिलता है। ग्रेट ब्रिटेन के शूकर-मांस के यथांश से इसी प्रकार डेनमार्क ने लाभ उठाया है; परन्तु यह "लाभ" विगत कुछ वर्षों में डेनमार्कीय शूकर-मांस के प्रवेश पर ग्रेट ब्रिटेन द्वारा लगाए गए कठोर प्रतिबंधों के कारण नगण्य हो गया है।

कहा जाता है कि कर की अपेक्षा यथांश में कुछ सुविधाएँ रहती हैं। स्वदेशी उत्पादकों को यह ठीक ठीक पता रहता है कि आयात की कितनी मात्रा आएगी। कहा जाता है कि यथांश कर की अपेक्षा अधिक लचीला होता है क्योंकि विधि (Law) की शरण लिए बिना शासकों द्वारा उनका सामंजस्य हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि ग्राहकों द्वारा कर की अपेक्षा यथांशों का कम विरोध होता है, और वे दूसरे देशों से सौदा करने और सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए बहुत उपयुक्त होते हैं (क्योंकि वे तुरत परिवर्तित किए जा सकते हैं)।

निःसंदेह यथांशों में यह "सुविधा" होती है कि यदि किसी देश ने व्यापारिक समझौतों द्वारा आयात-शुल्क न बढ़ाने के लिए अपने को वचन-बद्ध कर लिया है तो भी वह अपना संरक्षण बढ़ा सकता है। इसके अतिरिक्त यथांशों द्वारा कोई देश सर्वाधिक कृपा-पात्र-राष्ट्र-धारा (Most Favoured Nation clause) का उल्लंघन करने में भी समर्थ होता है। यह धारा अधिकांश में व्यापारिक संधियों का विशेष अंग होती है। यह इस प्रकार विभेदीकरण (Discrimination) को रोकती है कि यदि एक देश के लिए कर घटाया जाता है तो उन शेष देशों के लिए भी उसी प्रकार घट जाता है जो कर घटानेवाले देश द्वारा "सर्वाधिक कृपा-पात्र राष्ट्र" गिने जाते हैं। परन्तु पूर्ति करनेवाले विभिन्न देशों के बीच मनमाने ढंग से यथांश का विभक्त होना स्वाभाविक है।

यथांश का दोष यह है कि इससे शासकवर्ग को अधिक अधिकार मिल जाता है जिससे बहुत सी बुराइयाँ फैलती हैं। इसके अतिरिक्त यदि यथांशवाली सरकार आयात-अनुज्ञप्ति (Import license) का नीलाम नहीं करती—जैसा कि प्रायः नहीं होता—तो वह अपनी उस आय से वंचित होती है जो उसीके बराबर आयात-कर लगाने से हो सकती थी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आयात-यथांश उस पदार्थ के विषय

में संसार के बाजार से उसका संबंध तोड़ देता है। स्थायी आयात-कर के अन्तर्गत यदि निर्यातक देशों में उत्पादन-व्यय गिरता है तो आयात बढ़ता है और स्वदेश में मूल्य गिर जाता है। यथांश में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि आयात की मात्रा निश्चित रहती है। यथांश में संभव है कि संसार के बाजार में उस पदार्थ का मूल्य गिर रहा हो; परन्तु स्वदेशी बाजार में (देश में उसका उत्पादन-व्यय बढ़ते रहने के कारण) चढ़ता जायगा। इस अर्थ में यथांश रूढ़ होते हैं परन्तु आयात-कर के द्वारा आयात होनेवाली मात्रा में लचीलापन आता है।

५. विगत कुछ वर्षों में संसार का व्यापार[1]

(The World Trade During Recent Years)

१९२९ की मंदी के आरंभ से अब तक के संसार के व्यापार पर कुछ कहना हम आवश्यक समझते हैं। पावनेदार देशों ने ऋण देना कम कर दिया, अतः ऋणी देशों को व्याज चुकाने के लिए आयात से अधिक निर्यात बढ़ाना पड़ा। परन्तु पावनेदार देश अपने यहाँ निर्यात से अधिक आयात नहीं करना चाहते थे, यद्यपि वही एक उपाय था जिसके द्वारा समुद्रपार के देशों में लगी हुई उनकी पूँजी की आय उन्हें चुकाई जा सकती थी; अतएव वे आयात कम करने के लिए आयात-कर अथवा यथांशों की व्यवस्था करने लगे। निःसंदेह इससे ऋणी देशों की अवस्था और भी बुरी हो गई।

मंदी के प्रभावों से अपने को बचाने के लिए एक देश ने दूसरे देश के मत्थे भार डालना चाहा। एक ने अपनी मुद्रा का विनिमय अर्घ गिरने देकर अल्पकाल के लिए अपने निर्यात को प्रोत्साहन दिया है जिससे दूसरे देश भी उसके उदाहरण का अनुकरण करें। उसके फलस्वरूप जो यह अनिश्चितता उत्पन्न हुई है कि विनिमय की भावी दर क्या होगी तथा इसके उपरान्त किस मुद्रा का अर्घ गिरेगा, उससे संसार के व्यापार की भारी क्षति हुई है और बाधा उत्पन्न करनेवाली शरणार्थी पूँजी गतिशील हो गई है। सितंबर १९३१ के पश्चात् पौंड की विनिमय-दर और उसके साथ साथ पौंड से संबद्ध मुद्राओं की दर में पतन का जो प्रभाव पड़ा है उससे स्वर्ण में पदार्थों के मूल्य गिरे हैं और जो देश स्वर्णमान बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे थे उनकी कठिनाइयाँ बढ़ गई हैं।

कुछ देशों में बढ़ते हुए संरक्षण के कारण दूसरे देशों में भी संरक्षण बढ़ा है। यदि कुछ देश अधिक स्वावलंबी हो जायँ तो दूसरे भी वैसा

१. युद्ध के पूर्व लिखा गया।

ही करने को विवश होते हैं। एक देश का निर्यात दूसरे देश का आयात होता है और संरक्षण एक ऐसा खेल है जिसमें अनेक भागी हो सकते हैं। जो देश इसमें अपनी बड़ाई समझता है कि वह आयात को रोकने में सफल हुआ है उसे तुरत पता चलता है कि दूसरे देश उसका निर्यात अपने यहां नहीं जाने देते। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि ग्रेट ब्रिटेन तथा कुछ अन्य देशों में सबसे अधिक अनवियोजन उन उद्योगों या प्रान्तों में हुआ है जो निर्यात करनेवाले थे।

विनिमय-नियंत्रण की वृद्धि के कारण विदेशी व्यापार तुलनात्मक लागत द्वारा निर्दिष्ट दिशा से हटकर दुहरे मार्गों (Bilateral channels) पर चला गया है और उसका परिमाण भी घट गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान-बैंक (Bank for International Settlements) की १९३७ की रिपोर्ट के अनुसार १९३६ के अंत में संसार भर का औद्योगिक उत्पादन १९२९ के स्तर से लगभग २० प्र० श० अधिक था। परन्तु संसार के व्यापार का परिमाण १९२९ के स्तर से लगभग १० प्र० श० कम था। जिन लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों को समझने की बुद्धि और घटनाओं को परखने की सूक्ष्म दृष्टि है, उन्हें, विगत कुछ वर्षों की घटनाओं से, स्थायी विनिमय-दर तथा मुक्त व्यापार के पक्ष में अवश्य ही प्रबल प्रमाण मिलेंगे।

युद्धोत्तर काल

एकतीसवाँ अध्याय

युद्धोत्तरकालीन आर्थिक समस्याएँ

१. युद्ध की लागत

पहली अप्रैल १९३९ से ३१ मार्च १९४६ तक के सात आर्थिक वर्षों में अंग्रेजी सरकार का संपूर्ण व्यय ३२९०५० लाख पौंड था। यदि इसमें से युद्धपूर्व की दर से सात वर्ष का व्यय ९४२५ लाख पौंड घटा दें तो उक्त तिथि तक युद्ध का संपूर्ण व्यय २६३०८० लाख पौंड होता है। यदि युद्धजनित देना (Liabilities), जैसे युद्ध में कार्य करनेवालों को पेंशन, इसमें जोड़ दिया जाय तो संपूर्ण व्यय ३० अरब पौंड से ऊपर हो जाता है। परन्तु इसमें वह हानि सम्मिलित नहीं है जो व्यक्तियों तथा व्यवसाय-संस्थाओं को, संपत्ति को क्षति पहुँचने के कारण अथवा उसे अच्छी दशा में न रख सकने के कारण, उठानी पड़ी है।

३२९०५० लाख पौंड संपूर्ण व्यय में से ५१·४ प्र० श० अर्थात् १६९१३० लाख पौंड कर तथा अन्य प्रकार की साधारण आयों द्वारा प्राप्त किया गया था और शेष आयव्ययक (वजट) में अपचय (Deficit) था जो ऋण लेकर पूरा किया गया था। अतः राष्ट्रीय ऋण, जो युद्ध के पूर्व ७ अरब पौंड से कुछ ही ऊपर था, युद्धान्त में २३ अरब पौंड से अधिक हो गया। (इसमें विदेशी ऋण, विशेषतः प्रथम महायुद्ध के फल-स्वरूप संयुक्त राज्य का ऋण, सम्मिलित नहीं है।)

आर्थिक दृष्टि से युद्ध का वास्तविक व्यय अधिकांश में उसी समय वहन किया गया। उस व्यय में उपभोग में कमी, अधिक समय तक कार्य करना और अधिक असुविधाएँ सम्मिलित थीं।

सेना का विस्तार लगभग ५० लाख तक करने के कारण जो मनुष्यों की कमी हो गई थी उसकी पूर्ति के लिए तथा उन्हें शस्त्रादि एवं सब प्रकार की सज्जा से युक्त करने के लिए गृहिणियाँ, अवकाशप्राप्त व्यक्ति तथा अन्य जन अधियुक्त किए गए थे, अनधियोजन का प्रायः लोप हो गया था और काम के घंटे बढ़ा दिए गए थे। उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन से हटाकर श्रम तथा अन्य साधनों का उपयोग युद्ध-संबंधी धंधों में होने लगा था; और उपभोग की मात्रा १५ से २० प्र० श० तक घट गई थी।

परन्तु हम भावी संतानों को अन्य प्रकार के कष्ट भोगने होंगे, अतः यह कह सकते हैं कि वास्तविक लागत का कुछ अंश हमारे ऊपर

पड़ेगा। "पुनः परिवर्तन" (Reconversion)—अर्थात् स्त्री-पुरुषों को सेना तथा युद्ध-संबंधी धंधों से हटाने और उन्हें उन कार्यों में लगाने एवं उत्पादन के यंत्रों को शान्तिकाल के उपयुक्त परिवर्तन करने—की समस्या हमारे सामने आ रही है। और हमें जो संपत्ति दाय (Inheritance) के रूप में मिल रही है, वह उतनी नहीं है जितनी युद्ध न होने पर प्राप्त होती। बहुत समय तक बहुत से अन्य देशों के समान इंग्लैंड में भी वास्तविक पूँजी का अभाव रहेगा।

संपत्ति का विनाश और क्षति यद्यपि उतनी नहीं हुई जितनी रूस और जर्मनी की हुई फिर भी शत्रु द्वारा इंग्लैंड को पर्याप्त हानि पहुँची; भवनों पर बम गिराए गए, जहाज डुबाए गए। अनुमान किया गया है कि भौतिक हानि स्थल पर लगभग १५० करोड़ पौंड की और जहाज एवं माल आदि के रूप में ७० करोड़ पौंड की हुई।

विभिन्न प्रकार की संपत्ति, जिसका उपयोग युद्धोद्योग में नहीं हुआ, उपेक्षित पड़ी रह गई। उदाहरणार्थ, यंत्र तथा यानों का अनुस्थापन अथवा नवीकरण नहीं हुआ। व्यावसाय-संस्थाओं को बहुत कुछ घिसे और पुराने यंत्र; सज्जा आदि पर निर्भर रहना पड़ा। इस रूप में उद्योग-धंधों के लिए क्षति का अनुमान १०० करोड़ पौंड से अधिक किया गया है। इसके अतिरिक्त निजी संपत्ति जैसे भवनादि एवं उपस्कर (Furniture) का भी क्षय हुआ है।

युद्ध-काल में उत्तम गृहों के निर्माण आदि के रूप में होनेवाले विनियोजन पर नियंत्रण होना उचित ही था। यद्यपि इंजीनियरी आदि के यंत्रों का विस्तार हुआ फिर भी हम लोगों के लिए उतनी संपत्ति नहीं बची है जितनी युद्ध न होने पर बचती।

अन्त में संयुक्त राज्य (उधार-पट्टा की व्यवस्था आरंभ होने के पूर्व) तथा अन्य देशों से आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के लिए इंग्लैंड को अपना कुछ सोना (२० करोड़ पौंड) और समुद्रपार की अपनी संपत्ति का कुछ अंश (११९८० लाख पौंड) देना पड़ा। भारतवर्ष और मिस्र आदि देशों में उसके युद्ध-व्यय के कारण लंदन में उक्त देशों का, युद्ध-पूर्व की अपेक्षा ३०० करोड़ पौंड अधिक, पौंड-पावना एकत्र हुआ। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी सरकार ने भारत से खरीदे हुए माल के बदले पौंड (स्टर्लिंग) दिया। यह स्पष्ट है कि कालान्तर में ये पावने माँग लिए जायँगे और इसका अर्थ यह होगा कि इंग्लैंड उतने मूल्य का माल भेजेगा परन्तु उसके बदले कुछ पाएगा नहीं। यद्यपि इन पावनों को जन्म देनेवाला व्यय युद्ध की द्रव्य-लागत में सम्मिलित कर लिया गया है, फिर

दो-चार वर्षों में संभव है कि मूल्य घटाए बिना ग्राहक प्राप्त करना कठिन हो, और तब संभव है कि उसे व्यापार-पण (Terms of Trade) में प्रतिकूल परिवर्तन का सामना करना पड़े। यदि ऐसा नहीं भी होता है तो भी उसके निर्यात की मात्रा युद्धपूर्व से ७५ प्र० श० अधिक रखनी ही पड़ेगी—और अधिकारियों का यह लक्ष्य है जिसे वे १९५१ तक प्राप्त करना चाहते हैं। कुछ प्रकार के निर्यातों में तो औसत से कम वृद्धि होगी —उदाहरणार्थ, लिखते समय कोयले का निर्यात कम है—परन्तु अन्य प्रकार के निर्यातों की मात्रा में ७५ प्र० श० से अधिक वृद्धि होगी ही। बहुत अधिक संभावना है कि यह कार्य असंभव सा हो और युद्धपूर्व की अपेक्षा आयात की मात्रा पर्याप्त कम रखते हुए बहुत समय तक आयात पर नियंत्रण बनाए रखना आवश्यक हो।

युद्धोत्तरकालीन आरंभिक वर्षों के संक्रमणकाल में, जिसमें उसके चालू भुगतान-आधिक्य का अपचय (Deficit) होना अनिवार्य है, संयुक्त राज्य लगभग ९३७५ लाख पौंड तथा कनाडा लगभग ३१२५ लाख पौंड ऋण की सहायता कर रहा है। संयुक्त राज्य ने लगभग २००० करोड़ डालर का अपना उधार-पट्टेवाला ऋण भी छोड़ दिया है। अमेरिकी ऋण का—वास्तव में यह एक प्रकार का "साख-सूत्र" (Line of credit) है जिसका उपयोग इंग्लैंड अपने इच्छानुसार कर सकता है—अमेरिका में ही व्यय होना आवश्यक नहीं है, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उसका अधिकांश वहीं व्यय होगा। न तो उसका यंत्रादि उत्पादक वस्तुओं पर ही व्यय होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, अधिक अंशों में उसका उपयोग खाद्य पदार्थ तथा अन्य उपभोग्य वस्तुओं को क्रय करने में हो सकता है जिससे इंग्लैंड में भवन-निर्माण में अधिक श्रमियों का अधियोजन संभव होगा और वे अन्य प्रकार की उत्पादक वस्तुएँ तथा सज्जा आदि प्रस्तुत कर सकेंगे।

इंग्लैंड बहुत से नए भवन बनाना चाहता है—अधिकारियों द्वारा अगले दस वर्षों में ४० लाख का अनुमान उद्दिष्ट है। उसे अधिक विद्यालयों, अस्पतालों तथा अन्य प्रकार के भवनों की आवश्यकता है। उसे सूती वस्त्र के तथा अन्य प्रकार के यंत्रों की आवश्यकता है और अपने यंत्र, सज्जा आदि की उन्नति करके वह अपने कोयले, इस्पात तथा अन्य धंधों को "आधुनिक" करना चाहता है (जो भी समिति किसी धंधे पर अपनी रिपोर्ट देती है वह उसकी उत्पादन क्षमता में उन्नति और वृद्धि करने पर जोर देती है)। उसने अपने निर्यात की मात्रा में ७५ प्र० श० वृद्धि करना अपना लक्ष्य बनाया है। उसे अपनी सशस्त्र सेना तथा उसकी पूर्ति करनेवाले धंधों में पर्याप्त मनुष्य रखना आवश्यक है। वह अपनी शासन-व्यवस्था के कर्मचारियों में वृद्धि कर रहा है। शिक्षा की अधिक व्यापक

व्यवस्था के लिए—जिसकी आवश्यकता हम सभी समझते हैं—अधिक शिक्षकों की आवश्यकता होगी।

परन्तु उसकी संपूर्ण कार्यशील जनसंख्या केवल २ करोड़ के लगभग है और श्रमियों का यह चाहना स्वाभाविक है कि हमारा कार्य-सप्ताह बढ़े न वरन् घट जाय। इसीसे तथाकथित "जनशक्ति-समस्या" (Man-power problem) उत्पन्न हुई है जो वास्तव में इसी पुस्तक में विवेचित केन्द्रीय आर्थिक समस्या का दूसरा नाम है। इंग्लैंड को, जैसे भी हो, यह निश्चय करना है कि वह किसका त्याग करेगा। वर्तमान समय में यह चुनाव अधिकतर सरकार द्वारा होता है और उसका व्यवहार विभिन्न "नियंत्रणों" (Controls) द्वारा कराया जाता है। उसे अनेक उपभोग्य वस्तुओं का अभाव हो रहा है—समभाजन (Rationing) अभी चालू है और आयात पर अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) द्वारा नियंत्रण है। मुक्त पूंजी जहाँ चाहे वहाँ नहीं जा सकती—भवन-निर्माण के लिए आज्ञापत्र (Permit) और मौलिक पदार्थ उन कार्यों के लिए (जैसे स्थानीय-संस्थाओं की विशेष विशेष क्षेत्रों में, जैसे दक्षिण वेल्स में, आवास तथा विकास-योजनाएँ) सुरक्षित हैं जिन्हें सरकार द्वारा प्राथमिकता दी जाती है।

नीचे हम मजदूर-सरकार की नीति के कुछ आर्थिक पक्षों का विवेचन करेंगे जिसमें राष्ट्रीयकरण, उद्योगों की स्थिति और नीची ब्याज-दर का निर्वाह सम्मिलित होंगे।

२. राष्ट्रीय आय

इधर के कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय की कल्पना को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। उदाहरणार्थ, अनेक देशों ने संयुक्त राष्ट्रों के कष्ट-निवारण एवं पुनर्वास व्यवस्था (United Nations Relief and Rehabilitation Administration) के लिए अपनी राष्ट्रीय आय का १ प्र० श० प्रदान किया है। अंग्रेजी सरकार प्रतिवर्ष एक "श्वेत पत्र" प्रकाशित करती है जिसमें राष्ट्रीय आय का विस्तृत अनुमान दिया जाता है। इसी प्रकार के अनुमान, सरकारी अथवा निजी रूप में, अन्य देशों द्वारा भी प्रकाशित किए जाते हैं।

राष्ट्रीय आय बहुत कुछ वही वस्तु है जो उत्पादन की मात्रा है जिसका विवेचन सातवें अध्याय में हो चुका है। कोई भी वस्तु दुबारा नहीं गिनी जाती। सभी प्रकार की सेवाओं का—चाहे वे सरकार द्वारा हों अथवा अन्य सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा हों—अर्घ इनमें सम्मिलित किया जाता है; रक्षा तथा शिक्षा आदि के समान "निःशुल्क" सेवाओं का अर्घापण उसी दर से होता है जितनी उनकी लागत होती है; गृहिणियों आदि द्वारा की गई अवैतनिक सेवाओं की गणना नहीं होती।

परिभाषा एवं माप की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं; परन्तु हम केवल चार का ही उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं; अर्थात् विदेशी व्यापार, विदेशों से निस्तुष आय, अर्घपात (Depreciation) तथा अप्रत्यक्ष करों एवं आर्थिक सहायता से संबद्ध समस्याएँ।

कुछ उत्पादित वस्तुएँ और सेवाएँ आयात के विनिमय में विदेशों को दी जाती हैं। अतएव उपभुक्त वस्तुओं और सेवाओं का संकलन (उपभोग) अथवा उत्पादक सज्जा और सब प्रकार के भंडार के रूप में युक्त वस्तुएँ (विनियोजन) वही नहीं होतीं जो उत्पन्न वस्तुओं का संकलन (Assortment) होता है। इसमें आयात सम्मिलित किया जाता है और निर्यात नहीं सम्मिलित किया जाता।

राष्ट्रीय आय उत्पादन की मात्रा धन विदेशों से निस्तुष आय है। ('विदेशों से आय' में आयात के विनिमय में विदेशों को दी जानेवाली चालू वस्तुओं और सेवाओं अथवा विदेशों को दिए जानेवाले ऋण के रूप में निर्यात का मूल्य नहीं सम्मिलित किया जाता। ये वतुएँ और सेवाएँ उत्पादन के अर्घ में पहले ही गिन ली जाती हैं। इसमें विदेशी विनियोजन से प्राप्त निस्तुष आय अथवा दान आदि के रूप में—जैसे प्रवासियों द्वारा स्वदेश को भेजा गया धन—प्राप्त द्रव्य सम्मिलित नहीं किया जाता)। इस प्रकार १९३८ में यूनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड, स्कौटलैंड् और आयर्लैण्ड) को विदेशों से २०५० लाख पौंड की निस्तुष आय हुई थी। निःसंदेह कुछ (ऋणी) देशों के लिए यह आय ऋणात्मक होती है। विदेश से लिया गया ऋण राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता, उससे कुछ काल के लिए ऋणी देश को अपने उपभोग अथवा सज्जा में वृद्धि करने की क्षमता प्राप्त होती है परन्तु अन्ततः उसका भुगतान करना अनिवार्य है।

घिसावट और निर्वाह के लिए पृथक्कृत द्रव्य, जो भौतिक पूँजी को अविकल रखने के लिए आवश्यक होता है, प्रायः उत्पादन के मूल्य में से, इस आधार पर घटा दिया जाता है कि वह न तो उपभोग व्यक्त करता है और न निस्तुष विनियोजन वरन् केवल भवन, यंत्रादि तथा अन्य सज्जाओं की मरम्मत, अनुस्थापन, नवीकरण आदि व्यक्त करता है। अप्रत्यक्ष कर उत्पादक उद्योग में किसी प्रकार का अनुदान दिए विना बाजार मूल्य बढ़ा देते हैं। यदि बाजार मूल्य को आधार माना जाय तो कोई देश केवल अप्रत्यक्ष कर बढ़ा कर अपनी राष्ट्रीय आय बढ़ा सकता है। अतः "साधन-लागत" (Factor cost) पर उत्पादन का अर्घ प्राप्त करने के लिए प्रायः अप्रत्यक्ष कर एवं इसी प्रकार के अन्य कर घटा दिए जाते हैं। उसी प्रकार बाजार मूल्य घटाने के लिए दी गई आर्थिक सहायता "जोड़ दी जाती है"।

इस प्रकार यूनाइटेड किंगडम का १९३८ का अनुमित "सतुप राष्ट्रीय उत्पादन" (Gross national product) ५६८६० लाख पौंड था जिसमें विदेशों से निस्तुप आय के रूप में प्राप्त २०५० लाख पौंड सम्मिलित था। घिसावट और निर्वाह-व्यय का अनुमान ४३५० लाख पौंड एवं अप्रत्यक्ष कर (ऋण आर्थिक सहायता) का ६०१० लाख पौंड था। अतः राष्ट्रीय आय (अथवा "साधन लागत पर निस्तुप उत्पादन") का अनुमान ४६१ करोड़ पौंड लगाया गया था। यह केवल संपूर्ण निजी आय का योगफल नहीं है। सबसे पहले, कुछ आय सरकार को, विद्यालयों को तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं को संपत्ति अथवा व्यापार से प्राप्त होती है। दूसरे कंपनियों को प्राप्त लाभ में से कुछ अंश हिस्सेदारों में न बांट कर सुरक्षित कोष में रखा जा सकता है। (परन्तु यह मद ऋणात्मक भी हो सकती है; मंदी के दिनों में कंपनियाँ सुरक्षित कोष में से लाभांश की पूर्ति करती हैं।) ये दोनों मदें उत्पादन के अनुदान की द्योतक हैं अतएव आय का भाग होती हैं; यद्यपि वे व्यक्तियों को नहीं दी जातीं। तीसरे, कुछ वैयक्तिक आय ऐसी होती है जो आर्थिक क्रिया में प्रचलित अनुदान का द्योतक नहीं होती, वरन् सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा पानेवालों को हस्तान्तरित की जाती हैं, उदाहरणार्थ, युद्ध-ऋण पर व्याज और वृद्धावस्था-जीवन-वृत्ति (Old-age pensions)। यूनाइटेड किंगडम में १९३८ में वैयक्तिक आय का संपूर्ण योग ४७७२० लाख पौंड था, परन्तु जोड़ी जानेवाली पहली दो मदों का योगफल ३१३० लाख पौंड और घटाने योग्य हस्तान्तरित भुगतान ४७५० लाख पौंड था।

१९४५ के लिए इस प्रकार अनुमान किया गया है[1] :—

	लाख पौंड
वैयक्तिक आय (कर देने के पूर्व)	८,३५,१०
अन्य निजी आय (,,)	९०,००
व्यापार, संपत्ति आदि से सार्वजनिक आय	१२,३०
	९,३७,४०
हस्तान्तरित भुगतान	८९,१०
राष्ट्रीय आय	८,४८,३०
घिसावट	५२,००
अप्रत्यक्ष कर इत्यादि (आर्थिक सहायता घटा कर)	१,१८,८०
बाजार-मूल्य पर सतुप राष्ट्रीय उत्पादन	१०१९१०

१. दे० "नैशनल इनकम एंड एक्सपेंडिचर औफ दी यूनाइटेड किंगडम, १९३८–१९४५" धारा ६७८४ अप्रैल, १९४६

राष्ट्रीय आय निम्नांकित रुप से विभाजित थी :—

	१९३८ लाख पौंड	१९४५ लाख पौंड
१. भूमि का लगान और भवनों का किराया ...	३८००	३८५०
२. व्याज और लाभ, कृषि का लाभ और स्वतंत्र व्यवसाय का अर्जन सम्मिलित करके	१,३१,७०	२,४४,५०
३. वेतन और मजदूरी	२८३५०	४४२५०
४. सेना का वेतन, भत्ता आदि	७८०	१२२८०
राष्ट्रीय आय	४,६१,००	८,४८,३०

इस प्रकार राष्ट्रीय आय नापने की दो भिन्न-भिन्न रीतियाँ हैं—उसके स्रोतों (उत्पादन के मूल्य) द्वारा और व्यक्तियों में उसके वितरण द्वारा। एक तीसरी विधि भी है—उसके व्यय द्वारा। १९४५ में निजी विनियोजन (Outlay) ९२५१० लाख पौड था, जिसमें से ५६४५ लाख पौंड बाजार-दर से उपभोक्ताओं का व्यय था, २१४८ लाख पौंड प्रत्यक्ष कर था, और १४५८ लाख पौंड निजी बचत थी (जिसमें अवितरित लाभ सम्मिलित था)। यदि संगत परिभाषाओं का प्रयोग किया जाय तो तीनों रीतियों से एक ही परिणाम निकलेगा क्योंकि वे सब एक ही योगफल व्यक्त करती हैं—जितना उत्पन्न किया जाता है, जितना वैयक्तिक तथा अन्य आय में व्यक्त होता है और जितना दे दिया जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि संयुक्त राज्य, इंग्लैंड तथा उसके उपनिवेशों और नार्वे-स्वीडन आदि देशों में जीवन-निर्वाह-स्तर भारत और चीन आदि देशों से ऊँचा है। परन्तु प्रति जन राष्ट्रीय आय के अनुमान को इन अन्तरों का ठीक ठीक माप मान कर उस पर अधिक निर्भर रहना उचित नहीं है। अन्य बातें, जैसे काम के घंटे, भी उपयोगी हैं; गरम देशों में इंधन और गरम कपड़ों पर कम व्यय करने की आवश्यकता होती है और स्थानीय वस्तुओं—जैसे लकड़ी फूस आदि—के मकान बनाए जा सकते हैं और किसानों के परिवारों को, जो अधिकतर स्थानीय उत्पादनों पर जीवन निर्वाह करते हैं, यातायात एवं वितरण के लिए अधिक व्यय नहीं करना पड़ता। ये ऐसी मदें हैं जो उन देशों में जहाँ विशेषीकरण का अधिक विस्तार हुआ है मूल्य और आय दोनों में वृद्धि कर देती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रीय आय और व्यय का विस्तारपूर्वक अनुमान प्राप्त होना जानकारी के लिए बड़ा उपयोगी है। परन्तु इससे आगे जाना और राष्ट्रीय आय के आधार पर आर्थिक नीति का निर्धारण करना अदूरदर्शिता होगी; इस प्रकार के अनुमानों में भूल की मात्रा बहुत अधिक

हो सकती है। उदाहरणार्थ, अधिकतर ऐसा माना जाता है कि संयुक्त राज्य में पूर्ण अधियोजन में उत्पादित वस्तुओं का मूल्य चुकाने के लिए संपूर्ण निजी और सार्वजनिक व्यय पर्याप्त नहीं होगा; अतः संघ-सरकार को अपने आयव्ययक को अपचयी (Deficit) बनाकर भी इतना व्यय करना चाहिए जिससे यह खाई भर जाय। यदि यह खाई वास्तव में अनुमान से बहुत कम चौड़ी हो अथवा हो ही न तो परिणाम होगा व्यर्थ की मुद्रा-स्फीति जिसमें संघ-सरकार व्यय की योजना बना कर फिर उसे रद्द करने अथवा अल्पकालिक सूचना द्वारा घटाने में असमर्थ होगी। इसके अतिरिक्त आर्थिक नीति पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय-आय-अनुमान के आधार पर इंग्लैंड में "जनशक्ति-अभाव" (Man-power shortage) से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निजी व्यय की मात्रा कम करने के लिए कर में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु परिश्रम को प्रेरणा देने के लिए भारी कर का प्रभाव भी अच्छा पड़ सकता है—परिणाम यह हो सकता है कि उत्पादन की मात्रा इतनी घट जाय कि अनुमित से कम हो जाय।

३. आर्थिक नीति के उद्देश्य

जिन व्यापक उद्देश्यों को सरकार पूरा करना चाहती है, उन्हें ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक नीति के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर—विशेषतः इंग्लैंड के विषय में—विचार करना उचित होगा। भिन्न-भिन्न उपायों का विवेचन करने और उनका महत्त्व बतलाने के लिए उन लक्ष्यों का ज्ञान लेना आवश्यक है जिनकी प्राप्ति उनका उद्देश्य है।

वास्तव में आर्थिक नीति तथा अनार्थिक नीति में विभेद करना ठीक नहीं है। किसी भी नीति के आर्थिक तथा अनार्थिक दोनों पक्ष होते हैं। फिर भी कुछ उद्देश्य मुख्यतः आर्थिक नीति के बाहर पड़ते हैं, जिसमें संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष—अर्थात् स्वतंत्रता और शान्ति की रक्षा करना—सम्मिलित है; और कुछ उद्देश्य मुख्यतः आर्थिक नीति के क्षेत्र में पड़ते हैं। अधिकांश में आर्थिक नीति के क्षेत्र में पड़नेवाले उद्देश्यों का लक्ष्य होता है "आवश्यकता से मुक्ति" (Freedom from want)। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए हम आर्थिक नीति के चार मुख्य उद्देश्य अंकित कर सकते हैं—पूर्ण अधियोजन, जीवन-निर्वाह का उच्चतर स्तर, कम आर्थिक असमानता और सामाजिक सुरक्षा।

निम्नांकित चार विभागों में हम इन चारों उद्देश्यों का विवेचन करेंगे। इन सब की ठीक-ठीक परिभाषा करना कठिन है—विशेषतः "पूर्ण अधियोजन" की जिसके बदले "अधियोजन का उच्चतर एवं अधिक स्थायी

स्तर" रखना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा; परन्तु उनके अर्थ के संबंध में किसी प्रकार का वास्तविक संदेह अथवा मतभेद नहीं है। यह सिद्ध करना असंभव है कि कोई उद्देश्य स्पृहणीय है। इन विषयों में लोगों की बड़ी प्रबल धारणाएँ होती हैं—ऐसी धारणाएँ जो संसार को हिला दें; परन्तु इस प्रकार के विश्वास के लिए उसी प्रकार की उपपत्ति (Proof) अथवा अनुपपत्ति की आवश्यकता नहीं होती जैसी रेखागणित के किसी साध्य के लिए अथवा आर्थिक विश्लेषण के लिए होती है। हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि उपर्युक्त चारों उद्देश्य संसार के अधिकांश लोगों द्वारा स्वीकृत एवं अभीप्सित हैं।

क्या आर्थिक क्षेत्र में कोई और भी मुख्य उद्देश्य हैं? मैं समझता हूँ कि नहीं। पोषण, स्वास्थ्य और आवास के उच्चतर स्तर "जीवन-निर्वाह का उच्चतर स्तर" में सम्मिलित हैं। इस पद को और भी व्यापक अर्थ में लेकर इसमें अधिक विश्राम (छोटा कार्य-सप्ताह एवं अधिक अवकाश) और कार्य करने की अवस्था में उन्नति को भी सम्मिलित कर सकते हैं। यह माना जा सकता है कि श्रमियों के जीवन-निर्वाह-स्तर में ये सम्मिलित हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि अधिक विश्राम प्रायः अधिक वेतन का अतएव उपभोग के उच्चतर स्तर का विकल्प होता है। प्रति जन-घंटा उत्पादन में वृद्धि होने से दोनों में से एक अथवा कुछ कुछ दोनों का होना संभव होता है; जब कोई मजदूर-संघ यह जानता है कि उसकी माँगों के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं तो उसे यह निश्चय करना आवश्यक है कि उसे क्या माँगना चाहिए; उदाहरणार्थ, छोटा कार्य-सप्ताह अथवा अधिक वेतन अथवा दोनों।

इन चारों की तुलना में अन्य उद्देश्य संभवतः गौण महत्त्व के हैं। उदाहरणार्थ, कालान्तर में द्रव्य की क्रय-शक्ति को पर्याप्त स्थिर रखने के उद्देश्य पर विचार किया जाय। यह सच है कि द्रव्य के अर्घ में पर्याप्त परिवर्तन होने से ऋणियों और ऋणदाताओं, उधार देनेवालों एवं उधार लेनेवालों के संबंध अप्रिय हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जो ऋणी अधिक मुद्रा-स्फीति के समय अपने ऋण का भुगतान करता है वह पहले की अपेक्षा बहुत कम क्रय-शक्ति वापस करता है। जो लोग राजकीय प्रतिभूति अथवा बैंक जमा के अधिकारी होते हैं, जिनका अर्घ द्रव्य के रूप में स्थिर है, और वे सब लोग जो स्थिर आय पानेवाले होते हैं, मूल्य में वृद्धि होने से कष्ट पाते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि कम बचत करनेवालों, जीवन-वृत्ति पानेवालों, जीवन-बीमा के धारकों तथा इसी प्रकार की स्थिति में रहनेवाले अन्य वर्गों के हित के लिए यह उचित है कि द्रव्य का अर्घ स्थिर रहे। परन्तु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि यदि

उत्पादकता की प्रवृत्ति निरंतर ऊर्ध्वमुखी है तो कोई कारण नहीं कि उपर्युक्त वर्ग के लोग निरंतर ह्रासमान मूल्य-स्तर के रूप में लाभ के भागी न हों, और अधोमुखी उत्पादकता होने पर इसका विलोम होगा। इसी प्रकार यदि अनधियोजन घटाने के लिए द्रव्य का विस्तार करने की आवश्यकता हो तो क्या व्यवहार में इसके द्वारा द्रव्य के मूल्य में ह्रास होने की आशंका होने के कारण इस उपाय का अवलंवन न किया जाय ? ये सभी प्रश्न मतैक्य के अभाव के कारण हैं। परन्तु संभवतः अधिकांश लोग इस बात से सहमत होंगे कि द्रव्य-नीति उपर्युक्त चारों उद्देश्यों का साधन होनी चाहिए, अपने पृथक् सर्वोपरि उद्देश्य, अर्थात् द्रव्य के स्थिर मूल्य, की ओर ही उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिए।

ये चारों उद्देश्य व्यापक रूप से स्वीकृत किए गए हैं परन्तु उनमें परस्पर विरोध भी हो सकता है। यही कारण है कि कभी-कभी अर्थशास्त्री (और अन्य लोग भी) व्यवहार में उन पर सहमत नहीं होते; विभिन्न उद्देश्यों के तुलनात्मक महत्त्व के विषय में उनके मत भिन्न-भिन्न हैं। एक दूसरा कारण यह है कि कोई विशेष उपाय वास्तव में किस सीमा तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होगा इस विषय में उनका मतभेद हो सकता है और इसका कारण यह है कि लोगों की इसके प्रति कैसी प्रतिक्रिया होगी इस विषय में उनका मतैक्य नहीं है। उद्देश्यों के पारस्परिक संघर्ष का एक प्रसिद्ध उदाहरण है अधिकतर सामाजिक हितों पर व्यय किया जानेवाला भारी और वर्धनोन्मुख आय-कर। यह आर्थिक असमानता को घटाने और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य में सहायक होता है। परन्तु इससे उद्योग करने एवं संकट उठाने की प्रवृत्ति को धक्का लगता है जिससे उत्पादन घटता है और उसके परिणामस्वरूप निर्वाह-स्तर गिरता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार की प्रवृत्तियों को कहाँ तक धक्का लगता है; किस सीमा तक सचमुच में उत्पादन घट जाता है, और किसी निश्चित मात्रा में असमानता घटाने के मूल्य के रूप में उत्पादन में कितनी कमी स्वीकार्य है ? यह ऐसा प्रश्न है जिस पर विवेकशील व्यक्तियों में मतभेद हो सकता है और वे व्यावहारिक प्रश्नों पर परस्पर विरोधी मत रखनेवाले हो सकते हैं।

४. पूर्ण अधियोजन

पूर्ण अधियोजन की ठीक ठीक व्याख्या करना कठिन है। अधियोजन अथवा अनधियोजन की गणना में प्रायः स्वतंत्र श्रमी सम्मिलित नहीं किए जाते। फिर भी उनमें पर्याप्त न्यूनाधियोजन (Under-employment) अथवा "प्रच्छन्न अनधियोजन" (Disguised unemployment) हो सकता

है। उदाहरणार्थ, कुछ घनी वस्तीवाले क्षेत्रों में किसानों की भू-संपत्ति (आराजी) इतनी अपर्याप्त होती है कि वे अपनी भूमि पर पूर्णरूप से अधियुक्त नहीं हो सकते; और सस्यावर्तन (Rotation of crops) के द्वारा इस प्रवृत्ति में और भी वृद्धि हो सकती है, क्योंकि कुछ महीनों में—जैसे शीतकाल में—उन्हें करने योग्य कोई काम नहीं होता। यदि केवल अधियुक्तों का विचार किया जाय तो स्वतंत्र श्रमियों के वेतन पर कार्य करने और वेतनभोगियों के स्वतंत्र श्रमी होने के कारण उनकी संख्या में वृद्धि या ह्रास हो सकता है। कार्यशील जनसंख्या की मात्रा ही अस्थिर और अनिश्चित हो सकती है। किसी आपद्काल में, जैसे युद्धकाल में, जब कि मजदूरी बढ़ गई हो, संभव है कि कुछ स्त्रियाँ तथा पुरुष वैतनिक कार्य अथवा कभी कभी खंडकालिक (Part time) कार्य ग्रहण कर लें। इसी प्रकार संभव है कि पूर्णकालिक वेतन पर कार्य करनेवाले श्रमी भी पूर्णरूप से अधियुक्त न हों। उदाहरणार्थ, दूकान पर कार्य करनेवाले कुछ कर्मचारी ग्राहकों के साथ व्यर्थ समय काटने को विवश हों।

यद्यपि "पूर्ण अधियोजन" का सिद्धान्त अस्पष्ट है फिर भी जो इसका उपयोग करते हैं वे इसका ठीक तात्पर्य समझते हैं। उनका तात्पर्य अनधियोजन का पूर्ण अभाव नहीं है। किसी निश्चितकाल में कुछ व्यक्ति कुछ काल के लिए दुर्दिन आदि विशेष परिस्थितियों के कारण अथवा माँग में परिवर्तन या हड़ताल आदि के कारण अनधियुक्त होंगे। कुछ लोग अपेक्षाकृत उत्तम कार्य प्राप्त करने के लिए कार्य छोड़ सकते हैं, कुछ सचमुच में कार्य के अयोग्य हो सकते हैं अथवा संभव है वे कार्य चाहते ही न हों। अतएव प्रायः ऐसा माना जाता है कि इंग्लैंड में किसी भी समय "पूर्ण अधियोजन" के साथ साथ पाँच से दस लाख तक व्यक्ति अनधियुक्त रह सकते हैं। पूर्ण अधियोजन का अर्थ है **निवार्य** अनधियोजन का—विशेषतः मंदी के समय होनेवाले व्यापक अनधियोजन का—अभाव।

इस स्थल पर व्यापार-चक्र के विषय में कुछ और बातें लिखना आवश्यक जान पड़ता है; परन्तु केवल अति संक्षिप्त एवं अपर्याप्त विवेचन के लिए ही स्थान है। इस विषय में स्वर्गीय कीन्स महोदय (Lord Keynes) के विचार प्रायः सर्वमान्य हैं। हमारा निष्कर्ष यह है कि मंदी के समय अनधियोजन का कारण है लोगों का अपर्याप्त व्यय करना। अतः स्थूल उपाय है व्यय को प्रोत्साहन देना—विशेषतः "विनियोजन" को; यहाँ विनियोजन से तात्पर्य केवल विद्यमान संपत्ति का हस्तांतरण नहीं है वरन् नए भवनों, यंत्रों, वस्तुओं की राशि तथा समाज की वास्तविक पूँजी में वृद्धि करने के लिए व्यय करना है। सरकार कर में कमी करके, सुलभ द्रव्य (क्योंकि व्याज-दर कम होने से विनियोजन अधिक

लाभदायक होता है) एवं मजदूरी के लिए आर्थिक सहायता देकर व्यय करने को प्रोत्साहन दे सकती है। वह स्वयं सार्वजनिक कार्यों एवं अन्य सामाजिक हितों के लिए व्यय कर सकती है। मेरे विचार से प्रत्येक मंदी की प्रायः अपनी विशेषता होती है और सर्वोत्तम उपाय विशेष परिस्थिति पर—विशेषतः लोगों की उसके प्रति जैसी प्रतिक्रिया होगी उस पर—निर्भर होगा; अधिकतर श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहित करना आवश्यक होगा; और मंदी हटना आरंभ होने पर, दूसरी मंदी आरंभ किए बिना, विशेष उपायों का अन्त करने की कठिनाइयों का दमन करने के लिए पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता होती है। मेरे विचार से आयात पर नियंत्रण लगाने अथवा बढ़ाने के "उपाय" को केवल राष्ट्रीय नीति मान लेना चाहिए जिससे अन्य देशों में अनधियोजन होने की संभावना रहती है। फिर संभव है कि वे देश भी उसी प्रकार की नीति का अवलंबन करके विचाराधीन देश के निर्यातों का क्रय घटा दें।

तो व्यापार-चक्र का निवारण करके मंदी का आगमन ही क्यों न रोक किया जाय? यह पूर्णरूपेण केन्द्रीय-योजना द्वारा, जैसा कि रूस में होता है, दिया जा सकता है। क्योंकि ऐसी व्यवस्था में बचाने और विनियोजन करने का निश्चय एक ही बात है; वे योजना का एक अंग—वरन् सबसे महत्त्वपूर्ण अंग—हैं। परन्तु पूँजीवाद में ऐसी बात नहीं है। संचय अथवा विनियोजन करने का निर्णय, पर्याप्त सीमा तक, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि लोग १ करोड़ पौंड प्रति वर्ष और बचाने का निश्चय करें तो इसका तात्कालिक परिणाम यह होगा कि उपभोग्य वस्तुओं पर १ करोड़ पौंड प्रति वर्ष कम व्यय होगा अतएव प्रत्याशित मूल्यों पर पूर्व योजनानुसार उपभोग्य वस्तुएँ नहीं बेची जा सकतीं, उपभोग्य वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाले उद्योगों में लाभ घट जायगा और संभव है कुछ हानि भी हो जाय; इसके फलस्वरूप संभव है कि उन उद्योगों का संकोचन (Contraction) हो एवं उनमें अनधियोजन की वृद्धि हो और उनमें विनियोजन भी कम हो। राष्ट्रीय आय में ह्रास होने के कारण समाज द्वारा वास्तव में संचित द्रव्य की मात्रा घट कर उतनी ही हो जाती है जितनी वास्तव में विनियुक्त है। यदि साहसी तथा अन्य लोग एक साथ अपना विनियोजन १ करोड़ पौंड वार्षिक बढ़ाने का निश्चय नहीं करते तो ऐसा होगा ही। (और यदि वे करते हैं तो भी उपभोग्य वस्तु-उत्पादक धंधों तथा टिकाऊ माल बनानेवाले या विनियोजन के धंधों में अपूर्ण गतिशीलता के कारण कुछ अनधियोजन हो सकता है।)

पूर्ण केन्द्रीय योजना (Central planning) द्वारा व्यापार-चक्र नष्ट किया जा सकता है—यह तथ्य इस प्रणाली का समर्थक तर्क

नहीं माना जा सकता। और न तो सब लोग इस बात से ही समहत होंगे कि पूंजीवाद में व्यापार-चक्र के कारण होनेवाले परिवर्तनों को मिटाने के लिए कभी कभी प्रस्तावित सभी नियंत्रण वांछनीय होते हैं। स्थिरता एवं प्रगति के बीच संघर्ष हो सकता है; ज्ञान, रुचि तथा अन्य परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण कुछ अस्तव्यस्तता एवं अनधियोजन हो सकता है; परन्तु यदि सरकार द्वारा उनका सामंजस्य नहीं होने दिया जाता तो इसका परिणाम होगा अपेक्षाकृत निश्चेष्टता देकर अपेक्षाकृत स्थिरता मोल लेना। इस प्रकार का भय विनियोजन की संपूर्ण मात्रा पर लगाए जानेवाले उन नियंत्रणों में रहता है जिनका उद्देश्य वनियोजन के प्रवाह को विभिन्न धाराओं में प्रवाहित करना तथा कालांतर में उसे अधिक सम बनाना होता है। इस विषय पर परामर्श देने के लिए ब्रिटेन की अंग्रेजी सरकार ने एक राष्ट्रीय विनियोजन समिति की (National Investment Council) स्थापना की है, और उसे संभवतः अधिकांश अर्थशास्त्रियों की स्वीकृति प्राप्त है। फिर भी उसमें भय है—संभव है सरकार भयंकर भूल करे और नवीन उद्भावनाओं का गला घोंट दे अथवा अधिक कुशल नवागन्तुकों की काल्पनिक स्पर्द्धा के विरुद्ध स्थापित व्यवसाय-संस्थाओं को संरक्षण प्रदान करे जिससे श्रमी अपने धंधे छोड़कर अन्य धंधों में न जायँ और अनधियोजन न बढ़े।

चाहे जो कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि १९३० में व्यापार-चक्र के विषय में हमारा जो ज्ञान था, आज उसकी अपेक्षा अधिक है और इसकी संभावना कम है कि उस बड़ी मंदी के समान भयंकर और प्रलंबित मंदी फिर आवे। कम से कम सरकारी कर एवं व्यय में परिवर्तन करके व्यय की संपूर्ण मात्रा को कालांतर में अधिक स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया जायगा। संभव है कि विनिमय की स्थिरता (Exchange stability), व्यापार में अधिक स्वातंत्र्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण दान को प्रोत्साहन देकर, व्यापार-चक्र द्वारा होनेवाले परिवर्तनों को कम करने के उद्देश्य से, कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी हों। कुछ सीमा के भीतर मुख्य मुख्य कच्चे मालों के मूल्यों में स्थिरता लाने की योजनाएँ भी (जिनका उल्लेख अध्याय १६ के विभाग ४ के अन्त में हो चुका है) प्रस्तुत की जा सकती हैं; इसी प्रकार कुछ काल के लिए संकट में पड़े हुए देशों को अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाने के लिए ऋण देना भी एक उपाय हो सकता है।

ग्रेट ब्रिटेन में समस्या अनधियोजन की नहीं वरन् उसके विपरीत श्रम की न्यूनता की है। इसका भय नहीं है कि अत्यधिक संचय होगा वरन् संचय इतना कम है कि उससे वास्तविक पूंजी की पुनः प्रतिष्ठा

और उसका विकास नहीं हो सकता और बहुत-सा भावी विनियोजन सरकारी नियंत्रण द्वारा संकुचित अथवा रुद्ध हो जायगा। विगत काल में मजदूर-संघ अधियोजन बनाए रखने के लिए जिन उपायों का अवलंबन करते थे उनमें से कुछ की—जैसे "धीरे चलो" की नीति, व्यवसायों में सीमा-निर्धारण पर जोर देना, अन्तेवास (Apprenticeship) का काल व्यर्थ ही लंबा करना, ठेके के बदले समयानुसार वेतन की प्रणाली—अब बिलकुल ही आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब तो अधिक उत्पादन की आवश्यकता है।

फिर भी ग्रेट ब्रिटेन में कुछ अनधियोजन है ही—विशेषतः उस पिछड़े हुए भाग में जिसे अब "विकास-क्षेत्र" कहते हैं, जैसे दक्षिणी वेल्स। निःसन्देह कार्य उपलभ्य है—उदाहरणार्थ, कोयले की खानों में अधिक श्रमियों की बड़ी आवश्यकता है—परन्तु उस प्रकार का नहीं जिस प्रकार के कार्यों में अनधियुक्तों को आकर्षण होता है अथवा उस प्रकार का जिन्हें उनमें से कुछ (विशेषतः स्त्रियाँ) कर सकें। सरकार की नीति है धंधों की स्थिति पर कुछ नियंत्रण रखना जिससे इन क्षेत्रों में नए अधिष्ठानों का आरंभ हो—अर्थात् धंधे ही लोगों के पास लाए जायें; उन्हें धंधे ढूंढ़ने के लिए अन्य जिलों में न जाना पड़े। कभी कभी इसका अर्थ यह होता है कि जब अधिष्ठान अन्यत्र स्थापित होता, जैसे कच्चे माल के निकट (उदाहरणार्थ अशोधित लौह), या मुख्य बाजार के निकट (उदाहरणार्थ लंदन के) तब की अपेक्षा लागत अधिक पड़ती है। उधर निजी व्यवसाय-संस्थाओं की "लागत" में लोगों के अपने परिचित स्थान छोड़ने, घनी बस्तीवाले क्षेत्रों में (जैसे बृहत्तर लन्दन में) अधिक भीड़भाड़ करने, और अधिक घर, सार्वजनिक उपयोगिता के कारखाने इत्यादि बनाने तथा विकास क्षेत्रों में विद्यमान सुविधाओं का पूर्ण उपयोग करने के बदले उस क्षेत्र का विकास करने की लागत सम्मिलित नहीं हैं। संबद्ध संस्थाओं के लिए सर्वाधिक लाभदायक स्थानों से साहस आदि को अन्यत्र भेजना कहाँ तक वांछनीय है यह ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक दशा में सामाजिक लागत का विचार करते हुए विचारणीय है।

अधिकांश लोग इससे सहमत होंगे कि पूर्ण अधियोजन सर्वथा वांछनीय है। अनधियोजन का अर्थ होता है संभाव्य उत्पादन की हानि और इसकी आशङ्का उन लोगों को सदा शंकित किए रहती है जिन्हें काम छूट जाने और जीविका के चले जाने का भय रहता है परन्तु अन्य लक्ष्य भी वांछनीय हैं। उदाहरणार्थ, स्वातन्त्र्य को मिटा कर साथ साथ अनधियोजन को मिटाना बहुत सरल है। यदि स्वतन्त्र मजदूर-संघों का दमन कर दिया जाय और हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दिए जायँ, यदि श्रमी अपना

काम चुनने या अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र न हों, वरन् जो काम उन्हें दिया जाय उसे करने के लिए विवश हों तब निश्चय ही पूर्ण अधियोजन हो सकता है। फिर जीवन-निर्वाह का स्तर ऊँचा उठाना वांछनीय है, और इस आशङ्का से कि कहीं बेकारी न फैल जाय (जैसे श्रम की बचत करनेवाले यन्त्रों अथवा सस्ते आयात द्वारा) क्रियाकल्पात्मक उन्नति को रोकना या विदेशी व्यापार को संकुचित करना कहाँ तक उचित है, इसमें सन्देह है।

रोके जाने योग्य बेकारी के कारण सम्भाव्य उत्पादन की हानि का प्रायः अतिरञ्जित वर्णन किया जाता है। इसका औसत अच्छे और बुरे सालों को मिलाकर शायद ही कभी ५ प्र० श० से अधिक पड़ता हो[1]। निर्वाह-स्तरों में इसके कारण पड़नेवाला अन्तर उसकी तुलना में नगण्य है जो अधिकांश पाश्चात्य देशों में, विगत दो या तीन पीढ़ियों में, क्रियाकल्पात्मक उन्नति, पूँजी की वृद्धि स्वयं विदेशी तथा प्रादेशिक (Regional) व्यापार के विस्तार से दुगुना या तिगुना हो जाने के कारण हुआ है। अतः यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि—यदि राष्ट्रीय आय और अनधियुक्तों के प्रशिक्षण एवं पुनर्वास के लिए योजनाएँ प्रस्तुत हैं—उत्पादन की विधि अथवा स्थिति, या उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन होने से इतने अधिक लाभ हो सकते हैं कि उनका दमन उचित नहीं है, क्योंकि इससे अस्थायी अनधियोजन फैल सकता है। अर्थात् पूर्ण अधियोजन आर्थिक-नीति का सर्वोपरि लक्ष्य न होना चाहिए, इसमें मतभेद है।

५. उत्कृष्टतर जीवन-निर्वाह-स्तर
(Better Standards of Living)

इस पुस्तक में यह मान लेने की प्रवृत्ति रही है कि आर्थिक नीति का प्रधान लक्ष्य निर्वाह-स्तर को ऊँचा उठाना है। जैसा कि अध्याय ७ विभाग १ में दिया गया है, यह मुख्यतः प्रतिजन—अथवा ऐसा कहना उचित होगा कि (श्रमियों के निर्वाह-स्तर में विश्राम के महत्त्व को भी

---

१. जैसे ग्रेट-ब्रिटेन में दोनों युद्धों के बीच कार्यशील जनता लगभग २ करोड़ रही है। बीसा (Twenties) में बेकारी की संख्या लगभग १० लाख, १९३० से १९३४ के बीच लगभग २५ लाख, और उसके पश्चात् १५ लाख थी। और इसमें से ५ लाख के ऊपर तो अनिवार्य थी। अनेक देशों में बेकारी का प्रतिशत इससे कम था। अतः उत्पादन की हानि ५ प्र० श० से कम थी। एकमात्र ज्वलन्त अपवाद संयुक्त राज्य था जहाँ तीसा में औसत बेकारी लगभग १ करोड़ थी।

विधि (Process) का, जिस पर दूसरी संस्था को पेटेंट द्वारा प्राप्त एकाधिकार है, उपयोग करने के वदले कुछ नियमित द्रव्य प्रदान करती है। इसी प्रकार जव कोई व्यवसाय-संस्था विकने लगती है तो क्रेता विक्रेता का उसकी ख्याति (Goodwill) के लिये एक निश्चित धन देता है; अर्थात् अपने उत्तराधिकारी को एक प्रकार का अधिकार प्रदान करता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति 'सट्टा' (Option) खरीदता है जिसके द्वारा उसे विक्रेता से भविष्य में कुछ खरीदने का अधिकार मिलता है जिसकी निश्चित अवधि और मूल्य सट्टे में लिखा रहता है।

(८) अन्य मुद्राएँ

भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएँ होती हैं; जैसे फ्रांस की फ्रैंक मुद्रा इंगलैंड की मुद्रा द्वारा खरीदी जा सकती हैं। साधारणतः कोई क्रेता सचमुच में फ्रांसीसी मुद्रा या नोट नहीं खरीदता वरन् फ्रांस के किसी वंक में रोकड़ वाकी (Balance) पर अधिकार प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह फ्रैंक में व्यक्त कोई ऋण चुका सकता है। वह मूल्य जिससे एक देश की मुद्रा द्वारा दूसरे देश की मुद्रा खरीदी जा सकती है दोनों देशों के वीच "विनिमय की दर" (Rate of exchange) कहलाती है।

लन्दन के विदेशी विनिमय वाजार के अंग हैं वंकों के विदेशी विभाग, स्वतन्त्र व्यवसायी, जो प्रायः विदेशी वंकों के अभिकर्ता (एजेंट) के रूप में कार्य करते हैं, और विदेशी विनिमय के दलाल जो अपनी पूंजी से नहीं वरन् केवल कमीशन पर काम करते और क्रेता तथा विक्रेता को एक दूसरे के संपर्क में लाते हैं। वंक अधिकतर अपने ग्राहकों की ओर से कार्य करते हैं।

यह वाजार प्रायः पूर्ण है। लगभग सारा कार्य टेलीफोन द्वारा होता है। व्यवसायी और दलाल प्रायः अपने निजी तार रखते हैं जिनका सम्वन्ध उनके मुख्य ग्राहकों से होता है। यदि किसी दलाल का ग्राहक कुछ डालर वेचने का इच्छुक है तो वह वहुत से संभाव्य क्रेताओं के पास टेलीफोन करके पूछेगा जिससे उसे ऐसा क्रेता मिल जाय जो उस दर पर खरीदने को तैयार हो जिस पर उसका ग्राहक वेचना चाहता है। लन्दन से पेरिस तथा अन्य वड़े वड़े योरोपीय नगरों को दिन भर टेलीफोन-संदेश जाया करते हैं। और न्यूयार्क तथा अन्य दूरस्थ नगरों से तार द्वारा प्राप्त आदेशों द्वारा अधिकांश व्यापार होता है। यहाँ यह भी वतला देना आवश्यक है कि किसी विदेशी-विनिमय-कार्यालय में टेलीफोन की घंटी नहीं वजती। यदि वजे तो टेलीफोन पर काम करनेवालों का कार्य कठिन हो जाय। प्रत्येक व्यवसाय-संस्था के नाम के नीचे, जिससे व्यवसायी का प्रायः लेन-देन लगा रहता

ध्यान में रखते हुए) प्रति श्रमी घंटा (Worker hour)—उत्पादन पर निर्भर रहेगा। परन्तु कुछ लोग सोचते हैं कि पूर्ण अधियोजन इससे भी महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि चालक-शक्ति के लिए परमाणु-शक्ति का विकास होने से कोयले की शक्ति से अधिक उन्नति होगी और उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि होगी, परन्तु साथ ही छः लाख कोयला-खनक बेकार हो जायँगे। अतः सर्वोत्तम मार्ग कौन सा होगा इस पर भिन्न भिन्न मत होंगे। यह लिखते समय कम लागतवाली खानों द्वारा उत्पादित प्रत्येक टन पर एक कर लगाकर उसकी आय से अधिक लागतवाली खानों को सहायता देने की युद्धकालीन योजना चालू है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी वेल्स की कोयले की खानें प्रति टन उत्पादित कोयले के लिए कई शिलिङ्ग (१९४५ में औसत सात के ऊपर) पाती हैं। इस आर्थिक सहायता के बिना दक्षिणी वेल्स के कोयले का मूल्य और अधिक होता, और नये कारखानों तथा अन्य अधिष्ठानों की स्थापना के लिए दक्षिणी वेल्स और कम आकर्षक होता। इस योजना का उद्देश्य है दक्षिणी वेल्स के अधियोजन को बनाये रखना, यद्यपि श्रमियों के वेल्स के बाहर अन्य उपयुक्त अधिष्ठानों में जाकर काम करने से उत्पादन अधिक होता।

उत्पादन पर प्रभाव डालनेवाले मुख्य मुख्य व्यापारों का इस पुस्तक में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा चुका है। अधिक उत्पादन प्राप्त करने के महत्त्व से ब्रिटेन की सरकार पूर्णतः अवगत है। यहाँ पर हम दो मुख्य कठिनाइयों का विवेचन करेंगे—प्रेरणा की समस्या तथा पुनः सज्जित करने (Re-equipment) की समस्या।

कार्यशील जनता को पर्याप्त प्रेरणा किस प्रकार दी जा सकती है जिससे वे अधिक समय तक कार्य न करें [यदि वे अधिसमय (Overtime) कार्य करना चाहें तो दूसरी बात है] वरन् प्रति घंटा लगभग उतना ही श्रम करें, जितना युद्ध के पूर्व करते थे और चींटी की चाल से काम करते हुए अधिक समय न लें। केवल द्रव्य के रूप में वेतन बढ़ा देने से समस्या हल नहीं हो जायगी जब तक कि उत्पादन में संगत वृद्धि न होगी, तबतक इसका परिणाम होगा मुद्रास्फीति, अर्थात् उसी परिमाण में वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए अब अधिक द्रव्य लालायित रहेगा, (और विगत दो एक वर्षों में होनेवाली वेतन-वृद्धि से जान पड़ता है कि ऐसा होना असम्भाव्य नहीं है) तथा अधिकतर भ्रम एवं असन्तोष का प्रचार। मजदूरी देने की विधि में परिवर्तन करने से, अर्थात् परिणाम के अनुसार अधिक वेतन देने से, सम्भव है कि कुछ सफलता मिले, परन्तु युद्धपूर्व में ठेके की दर में जिस प्रकार वृद्धि की गयी थी, (और श्रमियों ने उसके फलस्वरूप अधिक उत्पादन किया था) और फिर उसमें

कमी कर दी गयी थी, उसका बहुत कटु अनुभव बहुत से श्रमियों को अभी स्मरण है। उन्हें अब भी भय है कि इस समय अधिक उत्पादन करने से पीछे बेकारी फैल सकती है। इससे वे समयानुसार दर को अधिक पसन्द करते हैं। दूसरी बात यह है कि वे शिकायत करते हैं कि जब वे द्रव्य अर्जन करते हैं तो उससे क्रय करने के लिए बहुत कम वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। यह एक प्रकार का दूषित वृत्त है, क्योंकि उपभोग्य वस्तुओं के अभाव की पूर्ति मुख्यतः अधिक उत्पादन के द्वारा (यद्यपि अंशतः अधिक आयात द्वारा) हो सकती है। १९४५ में कोयले के खनकों के मांस सम-भाजन (Rationing) में वृद्धि कर दी गई थी; परन्तु इस उपाय का अवलम्बन सर्वत्र नहीं किया जा सकता, क्योंकि बहुत-सी उपभोग्य वस्तुओं के समान मांस की पूर्ति अल्प मात्रा में होती है।

आजकल "अर्जन अनुसार दो" (Pay as you earn) के आधार पर जो आय-कर लगाया जाता है उसका प्रयत्न पर अहितकर प्रभाव पड़ता है, विशेषतः अब जब कि युद्ध में विजय प्राप्त करने की देशभक्ति-पूर्ण भावना लोगों में नहीं रह गयी है, और श्रमी वर्षों के कठिन परिश्रम तथा तपस्या के पश्चात् अब कुछ सुखपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं। प्रति पौंड कुछ शिलिङ्ग की साधारण-दर से आनुपातिक आय-कर लगाने का कार्य करने की इच्छा पर वही प्रभाव पड़ता है, जो घंटे के अनुसार वेतन की दर में संगत कमी करने से होता है। इसका विवेचन अध्याय १७ विभाग ७ में हो चुका है और यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्भव है कुछ श्रमी इसलिए अधिक कार्य करें जिससे उनका चालू जीवन-निर्वाह-स्तर अधिक गिरने न पाये। परन्तु ब्रिटेन का आय-कर आनुपातिक नहीं, वरन् प्रगतिशील (Progressive) है अर्थात् अधिक आयवाले से अधिक प्रतिशत कर लिया जाता है। १९४६–४७ में किसी व्यक्ति का प्रथम ११० पौंड कर-मुक्त है और किसी दम्पति का प्रथम १८० पौंड और प्रत्येक बच्चे के लिए ५० पौंड तथा कुछ अन्य व्यय के लिए छूट दी जाती है; अर्जित आय का आठवाँ भाग कट जाता है (परन्तु अधिकतम् कटौती १५० पौंड है); कर-योग्य (Taxable) आय के प्रथम ५० पौंड पर ३ शिलिङ्ग प्रति पौंड की दर से तथा उसके बाद के ७५ पौंड पर ६ शि० प्रति पौंड और शेष पर ९ शि० प्रति पौंड की दर से कर लिया जाता है; प्रति वर्ष २००० पौंड के ऊपर की आय पर एक प्रगतिशील शीर्ष-कर (Sur-tax) भी है।

इसका अर्थ यह होता है कि यदि एक दम्पति के दो बच्चे हों तो वह ३२० पौंड प्रति वर्ष की आय पर कुछ भी कर नहीं देता। यदि सप्ताह के प्रथम चार दिनों के कार्य से उसे ३२ शिलिङ्ग की प्राप्ति हो जाती

है तो पाँचवें दिन उसे कार्य न करने का प्रलोभन हो सकता है क्योंकि इससे वह आय-कर देने वालों की कोटि में आ सकता है, जिससे उसे केवल २५ शि० ६ पें० के लगभग की ही निस्तुप आय हो सकती है। फिर वह यदि ४६३ पौंड प्रतिवर्ष अर्जित करता है तो उसे केवल ३० पौंड अर्थात् औसत ६$\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर के रूप में देना पड़ता है। उसके बाद प्रत्येक पौंड पर उसे ९ शि० अर्थात् ४५ प्र० श० देना पड़ता है। इसी प्रकार ५००० पौंड प्रति वर्ष अर्जित करने वाले व्यक्ति को—जो स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाला है—प्रत्येक अतिरिक्त पौंड पर आय-कर एवं शीर्ष-कर मिला कर १४ शि० ६ पें० देना पड़ता है। वह १४ शि० ६ पें० आगे चलकर ६००० पौंड के बाद १५ शि० ६ पें० हो जाता है। और बढ़ते बढ़ते २०,००० पौंड के बाद १९ शि० ६ पें० हो जाता है। इन सीमान्त ऊँची दरों के कारण—जो सम्पूर्ण आय पर दी जानेवाली औसत दरों से बहुत ऊँची है—श्रमी अतिरिक्त कार्य करने से हतोत्साहित होते हैं। अतः कुछ परिवर्तन वांछनीय जान पड़ता है। स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य कार्यों के लिए सरकारी व्यय अधिक होगा, और आय के प्रधान स्रोत के रूप में आय-कर का दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है; परन्तु अपेक्षाकृत थोड़ी आय पर आय-कर के स्थान पर 'अप्रत्यक्ष' कर (विशेषतः विलासिता एवं अर्धविलासिता की वस्तुओं पर) लगाने से समस्या हल हो सकती है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण वर्तमान समस्या प्रायः प्रत्येक आर्थिक क्षेत्र में सज्जा के रूप में नवीकरण (Renewal), अनुस्थापन (Replacement) और विस्तार की है। लगभग ४० लाख नये भवनों की आवश्यकता है। हमें रेलों के लिए अधिक डब्बों आदि (Rolling stock) की, उत्कृष्टतर स्टेशनों की एवं मार्गों को उन्नत करने की आवश्यकता है। हमें अधिक जहाजों, अच्छे बंदरगाहों, डौकों एवं अधिक मोटर लारियों आदि की आवश्यकता है। लन्दन की यातायात-समस्या को सुलझाने के लिए क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। नये नगर बनाने हैं। हमें अधिक विद्यालयों, अधिक अस्पतालों तथा सामाजिक उपयोगिता के अधिष्ठानों (Establishments) की आवश्यकता है। लगभग प्रत्यक धन्धे को प्रर्याप्त नूतन सज्जा की आवश्यकता है—१५ करोड़ पौंड कोयले की खानों को, १८ करोड़ पौंड इस्पात के धंधे को, इत्यादि। ऐसा कहा जाता है कि संयुक्त राज्य में उत्पादन के अनेक क्षेत्रों में ब्रिटेन की अपेक्षा प्रति श्रमी-घण्टा उत्पादन लगभग दूना है, और इसका मुख्य कारण यह है कि संयुक्त राज्य में कारखानों में काम करनेवालों को श्रम की बचत करनेवाले उन्नत यंत्रों और सज्जा की अधिक मात्रा में सहायता प्राप्त है।

आवश्यकता है यह मानी हुई बात है। परन्तु यह सब एक दिन क्या

एक या दो वर्षों में भी नहीं हो सकता। न्यूनतम १० वर्षीय किसी योजना में भी विनियोजन के लिए कम से कम १०० करोड़ पौंड प्रतिवर्ष की आवश्यकता होगी, जिसका अर्थ होगा युद्धपूर्व के संचय एवं विनियोजन की दर को दुगुना करना। बैंक-जमा व्यवसाय-संस्थाओं द्वारा संचित कोष इत्यादि के रूप में द्रव्य तो है परन्तु श्रम और उपादान (Materials) नहीं हैं। यदि सभी नियन्त्रण हटा दिए जायँ तो ब्याज-दर एकाएक चढ़ जायगी और जिन विनियोजनों को सरकार अधिक प्रोत्साहन देना चाहती है (उदाहरणार्थ, कुछ खानों को आधुनिक रूप देना, श्रमियों के लिए अधिक भवन बनवाना) वे निजी प्रबन्ध में लाभदायक न होंगी। अतः प्राथमिकता (Priorities) का निर्णय सरकार करती है, जो अब भी भवन आदि बनाने तथा लकड़ी एवं लोहा आदि उपादानों के क्रय करने की अनुज्ञा (लाइसेन्स) प्रदान करती है। इस बीच निर्माणात्मक तथा अन्य उत्पादक धन्धों में जितने ही अधिक श्रमी अधियुक्त होंगे उतने कम उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए उपलब्ध होंगे और आयात में जितनी ही अधिक उत्पादक वस्तुएँ होंगी उतनी ही कम उपभोग्य वस्तुएँ होंगी। विनियोजन—अर्थात् भविष्य की व्यवस्था—वर्त्तमान उपभोग का विकल्प है।

इन परिस्थितियों में यह सर्वदा निश्चित नहीं होता कि काम देने वाले विद्यमान यन्त्रों (अथवा अन्य प्रकार की वास्तविक पूँजी) को हटाकर अधिक अद्यतन (Up-to-date) यन्त्रों (जैसे श्रम की बचत करने वाले अथवा बड़े और अधिक कुशल यन्त्रों) की स्थापना करना बुद्धिमत्ता होगी। उदाहरणार्थ, सूती वस्त्र के धन्धे की जाँच का विवरण (१९४६ में) देनेवाली समिति (Working party) के सदस्यों में इस बात पर मतभेद था कि कुछ कारखाने "अनावश्यक" समझकर अनिवार्यतः बन्द कर दिए जायँ। यह ध्यान देने की बात है कि आर्थिक सिद्धान्त यह है कि पुराने यन्त्रों के स्थान पर नये यन्त्र तभी लगाने चाहिए जब कि नये की सम्पूर्ण लागत (Total cost) पुराने की मुख्य लागत (Prime cost) से कम हो। परन्तु इस बात का अनुमान लगाना प्रायः कठिन होता है कि नये की लागत क्या होगी; और अन्य बातों (जैसे किसी विशेष जिले में अधियोजन प्रदान करने के लिए नए कारखाने स्थापित करने की इच्छा) का भी नीति पर प्रभाव पड़ सकता है।

किसी भी सामाजिक प्रणाली में जितना विभाजन के लिए उपलब्ध है, उससे अधिक प्राप्त करना असम्भव है। ग्रेट ब्रिटेन में सार्वजनिक वित्त (Public finance) तथा समभाजन के द्वारा आय का पुनर्वितरण पहले ही इतना हो चुका है कि वास्तविक वेतन में पर्याप्त वृद्धि करने के लिये प्रतिश्रमी उत्पादन में वृद्धि करना एकमात्र उपाय है। इस समय

(१९४६ में) अधिकांश क्षेत्रों में यह युद्ध-पूर्व के स्तर से सम्भवतः नीचे है; (जिसका मुख्य कारण सम्भवतः वास्तविक पूंजी का अभाव है), कुछ कुछ क्षेत्रों में तो बहुत ही नीचे है।

६. न्यूनतर आर्थिक विषमता
(Less Economic Inequality)

अपेक्षाकृत धनवान लोगों पर अधिक कर लगाकर, अपेक्षाकृत निर्धन लोगों के लिए सार्वजनिक व्यय बढ़ाकर–"सुलभ मुद्रा" (Cheap Money) की नीति एवं समभाजन द्वारा आर्थिक विषमताएँ कम कर दी गई हैं— १९४६ में "राष्ट्रीय आय पर श्वेतपत्र" (White Paper on National Income) की तालिका सं० १२ से लिया गया निम्नांकित उद्धरण यह व्यक्त करता है कि युद्धान्त में आय-कर तथा शीर्ष-कर के द्वारा बड़ी-बड़ी व्यक्तिगत आय कितने भारी कर के बोझ से लदी थी।

१९४४ में निजी आय

आय की कोटि (Range)	आयों की संख्या	कर के पूर्व सम्पूर्ण आय (लाख पौंड)	१९४४-४५ की दर से आय-कर तथा शीर्ष-कर देने के पश्चात् सम्पूर्ण आय (लाख पौंड)	कर देने पर बची हुई आय का अनुपात प्र० श०
२५० पौंड के नीचे	—	३५६९०	३४७९०	९७·५
२५० पौं०–५०० पौं०	५२,००,०००	१८३००	१५९००	८६·९
५०० पौं०–१००० पौं०	१४,००,०००	९९५०	७३००	७३·४
१००० पौं०–२००० पौं०	५,२०,०००	७२९०	४५४०	६२·३
२००० पौं०–१०,००० पौं०	१,१७,०००	४१५०	१९५०	४७·०
१०,००० पौं० और इसके ऊपर	८,०००	१५५०	३००	१९·४
अनिर्धारित निजी आय	—	१३०१०	५७३०	४४·०
सम्पूर्ण निजी आय	—	८९९४०	७०५१०	७८·४

इससे यह पता चलता है कि ५०० पौं० से ऊपर की आयवाले २०४५००० व्यक्ति सब मिलकर २२९४० लाख पौंड पाते थे जिसमें से ८८५० लाख पौंड वे आय-कर तथा शीर्ष-कर के रूप में दे देते थे। मान लीजिए कि इन सब लोगों की आय घटकर ५०० पौं० प्रति वर्ष हो जाती

तो कर के रूप में प्राप्त सम्पूर्ण मात्रा १२७२० लाख पौं० (२२९४० पौं०—१०२२० लाख पौंड) हो जाती। निःसन्देह व्यवहार में यदि किसी व्यक्ति की ५०० पौंड प्रति वर्ष से ऊपर की सम्पूर्ण आय कर के रूप में ले ली जाती तो ऐसे व्यक्तियों में से अधिकांश कम काम करते अथवा अपनी सम्पत्ति में से कुछ बेच डालते जिससे ५०० पौंड प्रति वर्ष से अधिक आय न हो। परन्तु यदि ऐसी प्रतिक्रिया न भी होती तो सम्पूर्ण आय १९४४४५ की दर से प्राप्त होनेवाली रकम से केवल लगभग ४००० लाख पौंड[1] प्रति वर्ष अधिक होती। ४००० लाख पौंड राष्ट्रीय आय के ५ प्र० श० से भी कम है; यदि २५० पौं० प्रति वर्ष से कम याने पौने चार करोड़ से कुछ अधिक लोगों में इसे विभक्त किया जाय तो प्रतिजन प्रति सप्ताह ४ शि० से भी कम पड़ेगा। इससे यह व्यक्त होता है कि निर्धनों के हित के लिए (यदि हम १९४४ में ५०० पौंड प्रति वर्ष से ऊपर की आयवालों को धनवान मान लें) धनवानों की आय पर और अधिक कर लगाकर आर्थिक विषमता को दूर करने की बहुत कम गुंजाइश है। अब आय-कर की दर ऊँची रखी जा रही है और सामाजिक सेवाओं पर अधिक व्यय किया जा रहा है (क्योंकि अब युद्ध-व्यय बन्द हो गया है)। यह लिखते समय आय-कर की "प्रामाणिक दर" (Standard rate) ९ शि० प्रति पौंड है, जब कि युद्ध काल में १० शि० थी। परन्तु शीर्ष-कर और बड़ी बड़ी सम्पत्ति पर मृत्यु-कर की दर बढ़ा दी गई है। १ लाख पौंड की "सम्पदा" (Estate) में से लगभग एक चौथाई संपदा-कर (Estate duty) के रूप में चला जाता है; १० लाख की सम्पदा में आधा और २० लाख की सम्पदा में से तीन चौथाई कर के रूप में ले लिया जाता है और केवल ५ लाख पौंड बच जाता है। शराबों (Spirits), मोटरों तथा अपेक्षाकृत धनवानों की विलासिता की अन्य वस्तुओं पर भी भारी कर लगा है।

युद्ध के पूर्व अपेक्षाकृत निर्धनों (५० पौं० प्रति वर्ष से कम आय वालों) के लिए सार्वजनिक व्यय लगभग उतना था जितना वे सम्पूर्ण कर देते थे, जिसमें तम्बाकू, मद्य तथा अन्य वस्तुओं एवं सेवाओं पर के कर सम्मिलित थे।[2] भविष्य में इस प्रकार का सार्वजनिक व्यय युद्ध-पूर्व की अपेक्षा बहुत अधिक होगा; कुछ तो इस कारण कि द्रव्य के रूप में

---

१. यह एक मोटा हिसाब है क्योंकि ५०० पौं०–१००० पौं० के बीच की कुछ आय कर के द्वारा घटकर ५०० पौंड के नीचे चली गयी थी। इसके अतिरिक्त कुछ "व्यक्ति" सपत्नीक हैं।

२. दे० जे. आर. हिक्स: "दी सोशल फ्रेमवर्क", पृष्ठ १८७–८८।

लागत बढ़ गई है, परन्तु अधिकतर इस कारण कि पहले से बहुत अधिक सेवाएँ प्रदान की जायँगी। शिक्षा की योजना में—जो कि पर्याप्त अध्यापकों तथा भवनों के उपलब्ध होते ही पूर्ण वेग से चालू हो जायगी—निम्नांकित बातें सम्मिलित हैं:—१६ वर्षवालों के लिए पूरे समय तथा १८ वर्षवालों के लिए आंशिक समय की अनिवार्य शिक्षा एवं १८ वर्ष से अधिकवालों के लिए शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ, शिशु-शालाओं (Nursery schools) का अधिक विस्तार, विद्यालय-निर्माण की नई कसौटियां और १८ वर्ष की आयु के सभी बच्चों के शारीरिक एवं साधारण विकास के लिए व्यवस्था।[१] सार्वजनिक स्वास्थ्य की योजना में सबके लिए चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ तथा आवास की सुविधाएँ सम्मिलित हैं जिनमें श्रमी वर्ग के आवासों के लिए बहुत बड़ी रकम लगेगी। सार्वजनिक-सुरक्षा-योजना में (Social security programme), जिसमें शिशु-व्यय (Child allowance) सम्मिलित होगा, ३० करोड़ पौं० वार्षिक से अधिक के लिए सरकारी अनुदान (Contribution) लगेगा।[२] रोटी, बच्चों के लिए दूध तथा व्यापक उपभोग के अन्य पदार्थों के मूल्य नीचा रखने के लिए १९४५ में लगभग ४० करोड़ पौंड व्यय किया गया।

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए प्रचुर व्यय का यह अर्थ होगा कि (मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्ति को रोके बिना) कर युद्धकालीन,

---

१. दे० "मिनिस्ट्री औफ एजुकेशन"—ए गाइड टु द एजुकेशनल सिस्टम औफ इंग्लैंड ऐंड वेल्स, पृ. ७–८।

२. दे० लंदन विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित (१९४६) "ब्रिटिश फाइनेंस" में सर रौनल्ड डेविसन का "पेइंग फौर द सोशल सर्विसेज"। उनका अनुमान है कि १९४८ में केन्द्रीय सरकार ६० करोड़ पौंड से २२ करोड़ पौंड सामाजिक बीमा वृत्ति (Social Insurance Benefits) के रूप में (जिसमें औद्योगिक क्षति सम्मिलित है), ६ करोड़ पौंड (संपूर्ण व्यय) शिशु-व्यय के रूप में और ४ करोड़ पौड (संपूर्ण व्यय) आवश्यकता प्रमाणित करने पर राष्ट्रीय सहायता के रूप में देगी। चिकित्सा के लिए संपूर्ण व्यय १५ करोड़ में से केंद्रीय सरकार १०·५ करोड़ पौंड (और स्थानीय संस्थाएँ १ करोड़ पौंड) देंगी। इस प्रकार संपूर्ण व्यय ८५ करोड़ पौंड में से केंद्रीय सरकार ४२·५ करोड़ पौंड, स्थानीय संस्थाएँ १ करोड़ पौंड तथा सार्वजनिक बीमा निधि ४१·५ करोड़ पौंड का भार वहन करेंगी। इन अनुमानों में १९३८ के निर्वाह-व्यय में ५० प्र० श० की वृद्धि मान ली गई है।

स्तर की अपेक्षा बहुत कम नहीं किया जा सकेगा। इसी से लक्ष्यों का संघर्ष होता है। भारी कर से प्रेरणा को धक्का लगता है जिससे उत्पादन घटता है, परन्तु इससे आर्थिक विषमता भी घटती है। यह सत्य है कि सामाजिक हितों पर कुछ व्यय करने का दीर्घकालीन प्रभाव भावी उत्पादन के लिए लाभप्रद होता है। शिक्षा पर व्यय इसका प्रधान उदाहरण है। इससे अवसर की विषमता कम होती है जिससे जीवन के सभी क्षेत्रों में संभाव्य योग्यता का अपव्यय भी कम होता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मुख्यतः संकीर्ण व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए शिक्षा की योजना बनाना घातक होगा। दूसरा प्रसिद्ध उदाहरण है सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए व्यय, जिसमें बच्चों के लिए भोजन तथा दूध सम्मिलित हैं। इसके विपरीत कुछ व्ययों का उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है; जैसे सामाजिक-सुरक्षा-वृत्ति जिससे कार्य करने की रुचि घट सकती है।

आर्थिक विषमता दूर करने की एक दूसरी विधि है, सुलभ-मुद्रा नीति जिसके द्वारा दीर्घकालीन व्याज-दर लगभग २½ प्र० श० वार्षिक रखी जा रही है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ है कि राजकीय प्रतिभूतियों के स्वामियों की आय घट गई है। इन प्रतिभूतियों का अंकित मूल्य बँट-विनिमय (Stock exchange) पर उल्लिखित २१५० करोड़ पौंड सम्पूर्ण प्रतिभूतियों के आध से अधिक है। अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ है कि अधिक आय के इच्छुक अन्य प्रतिभूतियों का अधिक दाम लगाकर मूल्य चढ़ा देते हैं। अतएव सम्पूर्ण नवीन द्रव्य पर, चाहे वह किसी भी रूप में विनियुक्त हो, प्राप्त होनवाली आय कम ही रहती है। इससे राष्ट्रीय आय का वह भाग जो सम्पत्ति के स्वामियों को मिलता है (परन्तु जो अधिकतर अपेक्षाकृत संपन्न होते हैं) घट जाया करता है।

लगभग समस्त खाद्यपदार्थ, वस्त्र एवं कुछ अन्य उपयोग्य वस्तुएँ समभक्त (Rationed) हैं। अतः धनवान व्यक्ति समभक्त वस्तुओं का निर्धनों की अपेक्षा अधिक उपभोग नहीं कर सकते (यद्यपि वे अधिक महँगी कोटि की वस्तुएँ खरीद सकते हैं)। किसी जलपान-गृह के भोजन का मूल्य ५ शि० रखा गया है। अतः धनवान व्यक्ति केवल कुछ ही वस्तुओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय कर सकते हैं, जैसे विद्यमान संपत्तियों (Assets) पर (एक दूसरे से प्रतिभूतियाँ, भवन, पुरानी मोटरें इत्यादि खरीद कर) अथवा यात्रा पर (केवल पौंड मुद्रा के क्षेत्र में) अथवा कुछ असमभक्त (Non-rationed) वस्तुओं पर जैसे पेय, तम्बाकू तथा ताजे फल। अतः समभाजन का एक परिणाम यह हुआ है कि उपभोग में विषमता घटा दी गयी है।

७. सामाजिक सुरक्षा (Social Security)

१९४६ के राष्ट्रीय बीमा विधेयक (Bill) में "राष्ट्रीय बीमा की एक एकीकृत एवं व्यापक प्रणाली की व्यवस्था है जिसमें ग्रेट ब्रिटेन का प्राय: प्रत्येक निवासी आ जायगा", चाहे वह दूसरे द्वारा अधियुक्त हो, स्वत: अधियुक्त हो अथवा अनधियुक्त हो। चाहे इसके जो भी दोष हों पर इसमें सभी लोग आ जायँगे, और पहले की व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह एक विशेषता है। कोई छोटा दूकानदार या किसान या विधवा, संकट के समय, समाज से सहायता पाने की ठीक उसी प्रकार अधिकारिणी है जिस प्रकार कोई श्रमी।

उस विधेयक की मुख्य मुख्य धाराओं की केवल रूपरेखा देना ही हमारे लिए पर्याप्त है क्योंकि उसकी सूक्ष्म बातें इन पंक्तियों के प्रकाशित होने के पूर्व परिवर्तित हो सकती हैं। एक प्रौढ़ व्यक्ति के लिए (अपरिमित काल के लिए) रुग्णता-वृत्ति (Sickness benefit) और अनधियोजन वृत्ति (अपरिमित काल के लिए) और ६५ वर्ष से ऊपर के अवसरप्राप्त पुरुषों एवं ६० से ऊपर की अवसरप्राप्त स्त्रियों के लिए जीवन-वृत्ति (पेंशन) २६ शि० प्रति सप्ताह की दर से निश्चित की गई है। विवाहित व्यक्ति अपनी पत्नी के लिए १६ शि० तथा प्रथम संतान के लिए ७½ शि० अतिरिक्त पाता है। सभी विधवाएँ १३ सप्ताह के लिए अस्थायी वृत्ति पाती हैं और ५० वर्ष से ऊपर अथवा संतान वाली विधवाओं को, अथवा जो स्वत: अपना निर्वाह नहीं कर सकतीं ऐसी विधवाओं को, २६ शि० प्रति सप्ताह की स्थायी जीवन-वृत्ति तथा प्रथम संतान के लिए विद्यालय जाने की अवस्था तक ७½ शि० की वृत्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त मातृ-वृत्ति (Maternity benefit) अभिभावक-व्यय और मृत्यु-अनुदान (Death grants) भी हैं।

कौटुंबिक व्यय, जो प्रथम संतान के अतिरिक्त प्रत्येक संतान के लिए ५ शि० है, और आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिए क्षतिपूर्ति, (राष्ट्रीयकृत) चिकित्सा तथा आरोग्य निकेतन की सेवाओं की व्यवस्था, बच्चों को दूध तथा विद्यालय में भोजन के लिए सहायता की व्यवस्था आदि को मिलाकर विधयक में "सामाजिक सुरक्षा" की पर्याप्त व्यापक रूप में न्यूनतम मात्रा रखी गई है।

आजकल जनमत ऐसे न्यूनतम की आवश्यकता स्वीकार करता है। यह आर्थिक नीति के लक्ष्यों में से एक है। फिर भी यह पूर्ण अधियोजन तथा कम विषमता के साथ आर्थिक प्रगति में बाधक हो सकता है।

वृत्ति का स्तर राष्ट्र की प्रतिजन उत्पादन की मात्रा पर निर्भर होना

चाहिए। धनवान देश निर्धन की अपेक्षा अधिक वृत्ति देने की क्षमता रखते हैं। वृत्ति की मात्रा कौटुंबिक आय की प्रकृत मात्रा के लगभग पहुँच जाने पर इस बात की आशंका रहती है कि बहुत से लोग आवारा और कामचोर हो जायँगे। श्रम की गतिशीलता, जिसका प्रगतिशील देशों में इतना अधिक महत्त्व है, घट जा सकती है। यदि जहाँ के तहाँ रह कर और अनधियुक्त होते हुए भी लोग लगभग उतना ही प्राप्त कर सकते हैं जितना अन्यत्र तो वे अपना जिला छोड़ने अथवा अपना व्यवसाय परिवर्तित करने में हिचकेंगे। इसके अतिरिक्त निर्धन परिवारों की प्रकृत आय भी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होती और अनेक समाजहितैषी उस मात्रा से कम वृत्ति देना पसंद नहीं करेंगे। इस प्रकार आर्थिक प्रगति (जिसके द्वारा जीवन-निर्वाह का स्तर ऊँचा उठता है) और सामाजिक सुरक्षा में परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है।

ब्रिटेन की योजना में सामाजिक सुरक्षा तथा पूर्ण अधियोजन में भी एक प्रकार का संभाव्य विरोध है। किसी अधियोजक को अपने प्रत्येक अधियुक्त प्रौढ़ पुरुष के लिए ४ शि० ७ पें० प्रति सप्ताह और प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री के लिए ३ शि० १० पें० प्रति सप्ताह देना आवश्यक है। ये अनुदान अधियोजन पर एक प्रकार के कर हैं। समृद्धि के समय संभवतः बिक्री घटाए बिना, ऊँचे मूल्य के रूप में ये उपभोक्ताओं के ऊपर डाले जा सकते हैं; परन्तु व्यापार की मंदी के समय यह संभव नहीं है। और इन अनुदानों से श्रम की माँग घटने की आशंका रहती है। अधियोजक ऐसे पदार्थ जिनके उत्पादन में अल्प श्रम की आवश्यकता पड़ती है, उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त होकर अथवा श्रम की बचत करनेवाली विधियों का प्रयोग करके अथवा प्रौढ़ श्रमिकों के स्थान पर किशोर श्रमी रखकर अपना व्यय घटाने का प्रयत्न करेंगे। यह सत्य है कि संभव है इसका परिणाम बहुत स्पष्ट न हो—क्योंकि बहुत से अधियोजक ऐसे समय नए यंत्रों तथा सज्जा में विनियोजन करने को प्रस्तुत न होंगे और समृद्धि के समय भी वे अपना व्यय कम रखने का ही प्रयत्न करेंगे—परन्तु इससे मंदी बढ़ जायगी। अधियोजन-नीति पर प्रकाशित श्वेतपत्र (The White Paper on Employment Policy) में प्रस्ताव किया गया है (परन्तु उसका कारण भिन्न है—अर्थात् व्यय की शक्ति बनाए रखने के लिए) कि ऐसे समय अधियोजकों और कर्मचारियों के अनुदान घटा देने अथवा बंद कर देने चाहिएँ।

इसके अतिरिक्त आर्थिक विषमता दूर करने के विषय में कुछ मतभेद है। यदि मान लिया जाय कि आय-कर के द्वारा "५०० पौंड प्रति वर्ष से ऊपर" वालों से "५०० पौंड और उससे कम प्रतिवर्ष" पाने वालों के पास

है, घुंडी में शीशे के दो छोटे छोटे गोल तवे होते हैं। एक लाल या हरा प्रकाश यह व्यक्त करता है कि संबंध स्थापित हो गया है।

हम देख चुके कि आर्थिक-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य उपभोग्य वस्तुएँ उत्पन्न करना है। और यह भी देख चुके कि अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग, तर्क की दृष्टि से, उपभोग्य वस्तुओं की माँग से 'व्युत्पन्न' (Derived) होती है। प्रथम खण्ड के शेष अध्यायों में उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति को स्थिर मानकर उनकी माँग पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। पूर्ति पर प्रभाव डालनेवाली वस्तुओं का विवेचन दूसरे और तीसरे खण्डों में किया गया है।

अन्तरित करने के लिए गुंजाइश नहीं है, फिर भी पिछली कोटि वालों में, जिनमें से अधिकांश आय-कर नहीं देते, परस्पर पुनर्वितरण के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। तो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिए गए अनुदान को उसकी आय के अनुसार कर देने से, जिसमें निर्धनों को बहुत कम या कुछ न देना पड़े, इस प्रकार का पुनर्वितरण हो सकता है। अभी तो अनुदान समान दर से है। प्रत्येक अधियुक्त पुरुष को, चाहे उसकी आय कुछ भी हो, ४ शि० ७ पें०, (स्वतः अधियुक्त को ५ शि० ९ पें०) प्रति सप्ताह देना पड़ता है। [स्त्रियों के लिए (३ शि० ७ पें० ४ शि० १० पें०, ३ शि० ८ पें०) और १८ वर्ष के नीचे के लड़कों के लिए (२ शि० ८ पें०, ३ शि० ४ पें०, २ शि० ९ पें०) और १८ वर्ष से नीचे की लड़कियों के लिए (२ शि० २ पें०, २ शि० ११ पें०, २ शि० ३ पें०) भी समान दरें हैं]। इस साप्ताहिक रकम का बोझ ४ पौंड प्रति सप्ताह अर्जन करने वाले व्यक्ति की आय पर उससे अधिक है जो १० पौंड प्रति सप्ताह अर्जन करनेवाले की आय पर उसकी दूनी रकम का होगा। फिर चूंकि अधियोजकों के अनुदान उपभोक्ताओं के ऊपर डाल दिए जाते हैं इसलिए धनवान और निर्धन सभी को अधिक मूल्य देने पड़ते हैं जिससे असमानता घटने के बदले बढ़ जाती है।

एक अन्य संभाव्य विकल्प यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे वह धनी हो या निर्धन, अधियुक्त हो या स्वतः अधियुक्त अथवा सर्वथा अनधियुक्त, अस्वस्थ हो या नीरोग—सर्वदा एक न्यूनतम कर-मुक्त आय मिले। उसका व्यय साधारण आय में से होगा जिसमें प्रति सप्ताह विशाल द्रव्यराशि का अन्तरण होगा। इसके परिणामस्वरूप अच्छा वेतन पानेवाले श्रमी, अपनी मजदूरी के अतिरिक्त प्रति सप्ताह जो न्यूनतम आय अनायास प्राप्त कर सकेंगे उसके बराबर ही अथवा उससे कुछ अधिक अतिरिक्त कर देते रहेंगे। इस योजना का मुख्य लाभ यह होगा कि यदि कम वेतन पानेवाले श्रमी (जो कर के रूप में अपेक्षाकृत कम देते हैं) अनधियुक्त रहने के बदले काम करते रहेंगे तो उनकी निस्तुप (Net) संपूर्ण आय उनके वेतन से बहुत अधिक बढ़ जायगी। आजकल स्त्री-बच्चोंवाला व्यक्ति अनधियुक्त रहने पर लगभग वही आय प्राप्त करता है जो वह अपेक्षाकृत न्यून वेतन वाले किसी काम पर अधियुक्त रह कर पाता। इस योजना के अन्तर्गत (इस प्रस्तावानुसार) कार्य करने अथवा अन्यत्र काम ढूढ़ने की प्रेरणा अपेक्षाकृत अधिक होगी। परन्तु इस समय यह प्रस्ताव संभवतः "व्यावहारिक राजनीति" (Practical politics) नहीं माना जायगा [1]

---

१. इस प्रकार के प्रस्ताव के विषय में अधिक जानकारी के लिए दे० एच. एस. बूकर लिखित " Lady Rhys Williams' Proposals

इन विकल्पों में से किसी एक में, विशेषत: दूसरे में, कर-वृद्धि करनी पड़ेगी। यद्यपि ऐसा हो सकता है कि विलासिता, अर्ध विलासिता और संपत्ति (Assets) तथा संभवत: जुआ और विज्ञापन पर कर लगाया (अथवा बढ़ाया) जाय; फिर भी संभव है कि किसी प्रकार के "अर्जन अनुसार दो" वाले करों की आवश्यकता पड़े । क्या इससे कार्य करने की प्रेरणा नहीं घटेगी ?

कोई जरूरी नहीं है कि घटे। कोई श्रमी वास्तव में चाहे जितना भी अर्जन करे परन्तु अपने प्रामाणिक कार्यशील सप्ताह के लिए अपने वेतन की प्रामाणिक दर पर कर क्यों न दे? उसका अतिरिक्त अर्जन (जैसे अधिसमय द्वारा) कर-मुक्त होगा। इसके विपरीत यदि वह स्वेच्छा से प्रामाणिक सप्ताह से कम कार्य करने का निश्चय करे तब भी उसे साप्ताहिक प्रकृत कर (Normal tax) देना ही पड़ेगा । इस प्रस्ताव द्वारा शासन-संबंधी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं परन्तु उन पर विजय पाना कठिन न होना चाहिए ।

एक दूसरा उपाय यह हो सकता है कि किसी श्रमी के ऊपर उसके विगत वर्ष के कर-दायित्व (Tax liability) के आधार पर निर्धारित औसत दर पर इस वर्ष कर लगाया जाय । मान लीजिए कि गत वर्ष उसने ४०० पौंड अर्जित किया; अत: वह ४० पौंड कर का देनदार था। तो इस वर्ष उसके द्वारा अर्जित प्रत्येक पौंड पर २ शि० कर लिया जाय। इससे कम से कम अतिरिक्त अर्जन पर ऊँची "सीमान्त" दर का हानिकर प्रभाव छिप जायगा।

परन्तु इन सब सुझावों के होते हुए भी दुर्भाग्यवश यह सत्य है कि कुछ सीमा तक सामाजिक सुरक्षा का अन्य वांछनीय लक्ष्यों से संघर्ष अवश्य ही होगा जिससे किसी न किसी प्रकार का समझौता अनिवार्य होता है।

८. राष्ट्रीयकरण (Nationalization)

ब्रिटेन की सरकार ने "बैंक औफ इंग्लैंड", समुद्री तार तथा बेतार के तार का एवं कोयले की खानों और आन्तरिक यातायात का राष्ट्रीयकरण किया है। बिजली, गैस, और संभवत: संपूर्ण अथवा आंशिक रूप में इस्पात के धंधे का भी राष्ट्रीयकरण करने का उसका विचार है। साधारण जनता के लिए आकाशमार्गीय यातायात का राष्ट्रीयकरण युद्ध के पूर्व ही हो गया था । पूंजीवाद की आधारभूता संस्थाएँ—अर्थात् निजी संपत्ति, उद्यम-स्वातंत्र्य, और उपभोक्ताओं द्वारा चुनाव की स्वतंत्रता—राष्ट्रीयकृत क्षेत्र के (जिसके अन्तर्गत लगभग २० प्र० श० आर्थिक क्रियाएँ आ जायँगी)

---

for the Amalgamation of Direct Taxation with Social Insurance" *Economic Journal*, June, 1946.

बाहर ही रह जायेंगी, यद्यपि उन पर पर्याप्त नियंत्रण रहेगा। उत्पादन अब भी लाभार्थ उत्पादन रहेगा जिसका पथ-प्रदर्शन- मूल्य-रचना (Price-mechanism) करेगी।

राष्ट्रीयकरण का अर्थ यह है कि सरकार उस व्यवसाय पर स्वामित्व रखने और उसे चलाने के लिए उसकी संपत्ति खरीद लेती है। इसके औचित्य-अनौचित्य के विषय में बहुत वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि संपत्ति का अपहरण नहीं किया जाता। सरकारी बंट (Stock) के रूप में पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति दी जाती है। पहले के स्वामी अब भी अपने स्वामित्व के कारण आय प्राप्त करते हैं परन्तु सरकारी बंट द्वारा उन्हें पहले से कम आय होती है। इसका कारण यह है कि यह आय पहले से अधिक सुरक्षित रहती है। जैसे रेल-बंटाधिकारियों को उनकी प्रतिभूतियों का बाजार-मूल्य—१०० करोड़ पौंड के ऊपर—दिया गया था; परन्तु उन्हें ३½ प्र० श० सरकारी बंट मिले जिससे केवल २५६ लाख पौंड की आय हुई, जहाँ पहले ४६१ लाख पौंड की आय हुई थी। यदि वे अपना बंट बेचते तो उन्हें ऐसी प्रतिभूति पाना कठिन होता जिससे पहले की अपेक्षा कम जोखिम द्वारा पहले के ही बराबर आय होती।

इस मत के समर्थन के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि श्रमी किसी "पूँजीपति" की अपेक्षा सरकार का कार्य करना अधिक पसंद करते अतः अधिक उत्पादन करते हैं। डाक-विभाग के कर्मचारी चाहे भीतर से कितने ही प्रसन्न हों परन्तु ऊपर से तो वे निजी संस्थाओं के तुलनीय कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक विनम्र या कुशल नहीं जान पड़ते। और राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कोयले का प्रति खनक उत्पादन कुछ अधिक नहीं बढ़ा है।

इसके विपरीत यह मत अतिरंजित जान पड़ता है कि सार्वजनिक प्रबंध में नौकरशाही (Bureaucracy) अधिक होती है जिससे निजी व्यवसाय-संस्थाओं की अपेक्षा कार्य करने के लिए उत्साह कम होता है। डाक-विभाग का संचालन साधारणतः संतोषजनक होता है। राष्ट्रीयकृत धंधों का संचालन मंडलियों (Boards) द्वारा करना पड़ता है। यदि उन मंडलियों में प्रथम श्रेणी के शासक तथा विशेषज्ञ रखे जायँ तो कोई कारण नहीं कि वे विशालकाय निजी संस्थाओं के कर्मचारियों से कम कुशल हों।

अधिकतर विचाराधीन धंधे—कोयला, रुई-क्रय, और सड़क-यातायात मुख्य-मुख्य अपवाद हैं—सार्वजनिक हित वाले हैं। वे प्रायः एकाधिकार होते हैं और विभेदात्मक (Discriminating) मूल्य लेते हैं; अतएव बहुत दिनों से उन पर सरकार द्वारा कठोर नियंत्रण रखा जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयकरण से यह नियंत्रण और भी

अधिक पूर्ण और प्रभावशाली हो जायगा। परन्तु यह तो भविष्य ही बताएगा कि सरकार एकाधिकार के दुर्गुणों से कहाँ तक बच सकती है, क्योंकि नीति के संबंध में प्रत्येक मंडली तत्संबंधी मंत्री के अधीन होती है। यदि, सामाजिक लागत का ध्यान रखते हुए, उसका एकमात्र उद्देश्य कुशलता है तो उसे श्रमियों के विशेष वर्गों के—उदाहरणार्थ, रेल-कर्मचारियों का, जो अपने व्यवसाय की दृढ़ता के लिए सड़क-यातायात पर नियंत्रण चाहते हैं, अथवा कोयला-खनकों का, जो कुछ विशेष खानों को खुला रखना चाहते हैं जब कि उनका बंद रहना ही हितकर है—दबाव का सामना करना पड़ेगा। और यदि वह समझती है कि मजदूरों की माँग उचित नहीं है तो उसे अधिक मजदूरी की माँग का भी सामना करना पड़ेगा जो अधिक मूल्य के रूप में उपभोक्ताओं के ऊपर डाल दी जायगी।

राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य संभवतः उन लक्ष्यों की प्राप्ति है जो उसके विना नहीं प्राप्त हो सकते। उदाहरणार्थ, कोयला खनन में पार्श्ववर्ती खानों को एक इकाई मानकर कुछ बचत की जा सकती है; कोयले की विभाजक दीवारों को खोदा जा सकता है, सब खानों के लिए एक ही स्थान से चालक शक्ति दी जा सकती है, इत्यादि। ये बचतें (जहाँ वे वास्तविक बचतें हैं) राष्ट्रीयकरण के पक्ष में पुष्ट प्रमाण हैं क्योंकि स्वेच्छया मिलन (Amalgamation) के द्वारा निजी व्यवसायी उन्हें प्राप्त करने में असफल रहे हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होने चाहिएँ; यदि सीमान्त लागत औसत लागत से कम हो तो उसका घाटा साधारण आय में से पूरा किया जाय। परन्तु "सीमान्त लागत" संशयमूलक पद है। यह इकाई के आकार तथा अवधि की सीमा पर निर्भर रहती है। संभव है कि एक रेलगाड़ी द्वारा एक अतिरिक्त यात्री विना अतिरिक्त व्यय के भेजा जा सके; परन्तु यदि रेलगाड़ी द्वारा सभी यात्रियों को निःशुल्क आने जाने की स्वतंत्रता हो तो यात्रियों की संख्या बहुत बढ़ जायगी, और स्थायी कर्मचारियों, मार्गों तथा गाड़ियों आदि की आवश्यकता बढ़ेगी। इसका कोई संतोषजनक कारण नहीं जान पड़ता कि करदाता मात्र रेलयात्रियों की, अथवा किसी अन्य प्रकार के पदार्थ या सेवा की, इस प्रकार की आर्थिक सहायता करें। प्रत्येक धंधा अपनी लागत—अनुस्थापन तथा नवीकरण की लागत मिलाकर—का भार क्यों न वहन करे? यदि उपभोक्ता अतिरिक्त लागत देने को प्रस्तुत हैं तो अधिक उत्पादन करना वांछनीय है। अतः सर्वोत्तम उपाय यह है कि, जहाँ संभव हो, किसी न किसी प्रकार का द्विधा-तट-कर (Two-part tariff) लगाया जाय और विभेदात्मक कर न लिया जाय।

९. मुद्रास्फीति

१९४५ के शरद से १ अगस्त १९४६ के बीच हंगरी में अभूतपूर्व वर्द्धमान मुद्रास्फीति हुई थी। "मैंचेस्टर गार्डियन" में श्री निकोलस कैल्डर ने लिखा था—"नील, पद्म, शंख आदि शब्द दैनिक संख्यान के शब्द हो गए थे। एक समय डालर का मूल्य पाँच नील शंख (अर्थात् ५ की दाहिनी ओर तीस शून्य) और नोटों का परिचलन ७६०० शंख (अर्थात् ७६ के दाहिने छत्तीस शून्य) तक पहुँच गया था। नई मुद्रा की इकाई 'फ्लोरिन' पुराने "पेंगों" की तुलना में ४ खर्व शंख (अर्थात् ४ के दाहिने उनतीस शून्य) के बराबर है।"

यूनान में भी विद्युद्गति से मुद्रास्फीति हुई थी परन्तु वह उपर्युक्त सीमा तक नहीं गई थी; १९४४ के नवंबर में ड्रैक्मा (यूनानी मुद्रा) का मूल्य अस्थायी रूप से ५००० करोड़ कागजी ड्रैक्मा = १ स्वर्ण ड्रैक्मा के निर्धारित कर दिया गया था।

फिर भी ये उदाहरण उसी प्रकार के अपवाद हैं जिस प्रकार १९२३ में जर्मनी में मुद्रास्फीति हुई थी। युद्धकाल में तथा उसके उपरांत लगभग सभी देशों में मुद्रास्फीति हुई थी परन्तु बहुतों में उसकी सीमा थी।

१९४६ के अंत में ग्रेट ब्रिटेन में परिचलन में नोटों की संख्या १४० करोड़ पौंड के निकट पहुँच गई थी जब कि युद्ध के पूर्व वह लगभग ५० करोड़ पौंड थी; और संपूर्ण बैंक-जमा ५०० करोड़ पौंड से अधिक हो गया था जो कि युद्ध-पूर्व के दूने के ऊपर था। परन्तु मूल्य में वृद्धि उस अनुपात में नहीं हुई थी जिसमें द्रव्य की माँग बढ़ी थी। थोक-मूल्य युद्ध-पूर्व के मूल्य से लगभग ७५ प्र० श० और वेतन-दर लगभग ७० प्र० श० अधिक थी। आर्थिक सहायता, मूल्य-निर्धारण तथा समभाजन के द्वारा सरकारी जीवन-निर्वाह-सूचकांक (Cost of Living Index Number), युद्ध-पूर्व से केवल ३० प्र० श० (या उससे भी कम) अधिक रखा गया था।

४ दिसंबर १९४६ के सप्ताहांत का "बैंक औफ इंग्लैंड" का परिलेख (Return) नीचे उद्धृत है जिसमें निकटतम लाख पौंड तक विभिन्न मदें दिखाई गई हैं और निष्कासन विभाग (Issue Department) में रखे हुए २४७८३३ पौंड की स्वर्णमुद्रा तथा स्वर्ण-पिंड की (१७२ शि० ३ पें० प्रति औंस की दर से) छोटी मद छोड़ दी गई है।

निष्कासन विभाग

	लाख पौंड		लाख पौंड
निष्कासित नोट :—		सरकारी ऋण	११०
परिचलन में	१३७५०	अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ	१३८८०
महाजनी विभाग में	२५०	अन्य प्रतिभूतियाँ	१०
	१४०००		१४०००

महाजनी विभाग

पूँजी	१५०	सरकारी प्रतिभूतियाँ	२९८०
शेष	३०	अन्य प्रतिभूतियाँ—	
सरकारी जमा	१००	मितीकाटा तथा उधार (Advances) २१०	
अन्य जमा—		प्रतिभूतियाँ १७०	
बैंकों का	२८००		३८०
अन्य खाते	५४०	नोट	२५०
		सोने चाँदी की मुद्राएँ	१०
	३६२०		३६२०

१४० करोड़ पौंड के संपूर्ण निष्कासित नोट "विश्वस्त" (Fiduciary) हैं। कोषागार में कुछ स्वर्ण अवश्य है परन्तु अब वह बैंक-परि-लेख में दिखाया नहीं जाता। अनेक देशों के युद्धोत्तरकालीन अनुभवों से इस विचार की पुष्टि मिल गई है कि किसी अपरिवर्तनीय मुद्रा का अर्घ एवं उसकी स्वीकार्यता उसके "पोषक" स्वर्ण-कोष से भिन्न साधनों पर निर्भर रहती है।

पूँजी अब "स्वत्वाधिकारियों की पूँजी" (Proprietors' capital) नहीं है; वह सरकार द्वारा अधिकृत हो गई है। बैंकों का जमा युद्धपूर्व की अपेक्षा बहुत अधिक हो गया है और बैंकों के 'नगद' (जो बैंक-जमा के विस्तार करने का मूल आधार होता है) के आधे से अधिक है।

निम्नांकित आँकड़े[1] लंदन के भुगतान-बैंकों के योगफल हैं। अतएव इनमें लगभग ९० प्र० श० वाणिज्य-बैंकों के आँकड़े सम्मिलित हैं।

लाख पौंड

	अगस्त, १९३९	अगस्त, १९४६
जमा	२२४५०	५१९८०
नगद	२३३० (१०·४ प्र० श०)	५५३० (१०·६ प्र०श०)
आह्वान द्रव्य	१४७० (६·६ ,,)	३१३० (६·० ,,)
मितीकाटा	२७९० (१२·४ ,,)	४६४० (८·९ ,,)
कोषागार जमा की प्राप्ति	—	१५१०० (२९·१ ,,)
विनियोजन	५९९० (२६·८ ,,)	१३९३० (२६·८ ,,)
उधार	९८५० (४३·८ ,,)	८९६० (१७·२ ,,)

इसकी एक विशेषता यह है कि जमा और नगद दोनों ही लगभग दूने

१. इन आँकड़ों तथा सुलभ मुद्रा नीति के विवेचन के लिए देखिये "दी इकनौमिस्ट," १६ नवम्बर, १९४६।

हो गए हैं। जब कि नगद का जमा से अनुपात लगभग पूर्ववत् है। दूसरी विशेषता है उधार द्वारा संपत्ति के अनुपात में ह्रास होना। जमा का अत्यधिक विस्तार होने पर भी संपूर्ण उधार युद्ध-पूर्व की अपेक्षा कम है। उद्योग-धंधोंवाले तथा व्यापारी अब बैंकों से कम ऋण ले रहे हैं जिसका कुछ कारण तो यह है बहुत सी व्यवसाय-संस्थाओं ने स्वयं अपने कोष संचित कर लिए हैं; और कुछ इस कारण कि उनमें से अनेक श्रमी अथवा उपादानों के अभाव में जितना चाहें उतना विस्तार नहीं कर सकते। अतएव बैंक सरकारी प्रतिभूतियाँ ("विनियोजन") बहुत बड़ी मात्रा में रखने लगे हैं। कोषागार जमा की प्राप्ति (Treasury Deposit Reciepts) नामक एक नई मद १९४० के जुलाई से आरंभ हुई है। बैंक-जमा में वृद्धि विशेषतः सरकारी व्यय के कारण हुई है। और सरकार ने उसका अधिकांश इस रूप में ले लिया है जिसके लिए बैंकों को केवल १$\frac{1}{8}$ प्र. श. दिया जाता है जो अक्तूबर १९४५ में घटाकर $\frac{5}{8}$ प्र. श. कर दिया गया। यह प्राप्ति बैंकों द्वारा कोषागार को कम से कम ६ मास के लिए दिया गया ऋण है। व्यवहारतः यदि बैंकों को अधिक ऋण की आवश्यकता होती तो वे उसे निकाल सकते थे। अतः बैंकों की द्रवता बढ़ गई थी। (कोषागार-जमा को सम्मिलित करके) उनका द्रव-संपत्ति का जमा से अनुपात लगभग ४५ प्र. श. है जो कि युद्ध-पूर्व में प्रायः ३० प्र. श. रहा करता था। उनकी संपत्ति पर उनकी औसत आय युद्ध-पूर्व से बहुत कम है क्योंकि उनकी द्रव-संपत्ति बढ़ और व्याज-दर घट गई है। परन्तु उनकी संपूर्ण संपत्ति दूने से अधिक हो गई है। यह लिखते-समय उनकी पूँजी और कोष युद्ध-पूर्व से कुछ ही अधिक हैं।

मुद्रास्फीति का अर्थ प्रायः द्रव्य की मात्रा में वृद्धि समझा जाता है जिससे मूल्य चढ़ जाते हैं। वास्तव में महत्त्व केवल द्रव्यात्मक व्यय का है जो मुख्यतः द्रव्य की माँग में ह्रास के कारण अथवा यों कहें कि परिचलन की गति में तीव्रता आने के कारण बढ़ सकता है। यदि द्रव्यात्मक व्यय के बढ़ने पर संपूर्ण उत्पादन में संगत वृद्धि न हो तो मूल्य चढ़ेंगे। चूँकि सरकारी द्रव्यात्मक व्यय बढ़ने से संपूर्ण द्रव्य-व्यय में वृद्धि हो जाती है—जनता द्वारा व्यय में जो कमी होती है उससे अधिक सरकार द्वारा व्यय में वृद्धि होती है—अतः वह मुद्रास्फीतिकारक होता है। उदाहरणार्थ, कर में से सरकारी व्यय प्रायः मुद्रास्फीतिकारक नहीं होता क्योंकि अन्यथा वही द्रव्य कर-दाताओं द्वारा व्यय किया गया होता। इसके विपरीत यदि कोई सरकार बहुत-सा कागजी नोट छापती है और उन्हीं के द्वारा अपना व्यय चलाती है तो वह मुद्रास्फीति का कारण होता है। आयव्ययक की कमी पूरी करने के लिए ऋण लेकर सरकारी व्यय मुद्रास्फीतिकारक हो

भी सकता है और नहीं भी। यदि ब्रिटेन की सरकार बैंक औफ इंग्लैंड से ऋण लेती है तो वह प्रायः मुद्रास्फीति का कारण होता है। वह द्रव्य व्यय करती है जिससे मूल्य चढ़ते हैं। तब वह द्रव्य बैंकों में बढ़े हुए जमा के रूप में दिखाई पड़ता है जो उन लोगों द्वारा जमा किया जाता है जो सरकार के हाथ माल या सेवाएँ बेचते हैं। साथ ही, चूँकि जमा किए हुए चेक बैंक औफ इंग्लैंड के ऊपर काटे गए हैं इसलिए बैंकों के जमा का योगफल बढ़ जाता है। तब बैंक स्वयं (केवल उनके ग्राहक ही नहीं) अधिक सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीद सकते हैं; इस प्रकार सरकार को व्यय करने के लिए वे अधिक द्रव्य देते हैं। इसी प्रकार मुद्रास्फीति की क्रिया चलती रहती है। यह वह विधि है जो ग्रेट ब्रिटेन में युद्ध-काल में चालू थी और उसके पश्चात् भी चालू है। यह सत्य है कि यदि सरकार ने ऋण कम लेकर और अधिक कर लगाना उचित समझा होता तो द्रव्य रूप में युद्ध का व्यय कम किया जा सकता था। परन्तु वास्तविक लागत पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा होता; यद्यपि मूल्य, द्रव्यरूप में आय तथा राष्ट्रीय ऋण सभी में कम वृद्धि हुई होती।

उपभोग्य वस्तुओं के मूल्य नियंत्रण के अभाव में बहुत तीव्र गति से बढ़े होते क्योंकि द्रव्य की मात्रा अधिक थी और उसके द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम थी। इसमें संदेह नहीं कि अनियंत्रित वस्तुओं के मूल्यों और चोर बाजार के मूल्यों में बहुत वृद्धि हुई। परन्तु अधिकांश उपभोग्य वस्तुओं की माँग समभाजन और नियंत्रण द्वारा बहुत घटा दी गई थी। और कुछ वस्तुओं को—जैसे रोटी और मांस को—सरकारी सहायता मिलती थी। इससे निर्वाह-व्यय-सूचकांक में वृद्धि नहीं होने पाई जिससे मजदूरी-दर में अधिक वृद्धि की माँग का अवसर नहीं आया। इस समय अनेक देशों में मूल्य-स्तर को प्रभावित करनेवाली मुख्य वस्तु संभवतः मजदूरी-दर है। मजदूरी में वृद्धि के साथ साथ यदि प्रति श्रमी उत्पादन में वृद्धि नहीं होती तो उसका भार उपभोक्ता के ऊपर अधिक मूल्य के रूप में पड़ता है।

१०. सुलभ मुद्रा (Cheap Money)

१९१४–१८ के युद्ध में ब्रिटेन की सरकार ने जनता तथा बैंकों से लिए हुए दीर्घकालीन ऋणों पर ५ प्र. श. ब्याज दिया था। विगत युद्ध में उसने दीर्घकालीन ऋणों पर ३ प्र. श. के आसपास दिया (जो कि केवल १$\frac{1}{2}$ प्र. श. निस्तुष के लगभग था क्योंकि उस पर १० शि. प्रति पौंड आय-कर भी था) और बैंक-जमा की अधिकांश वृद्धि को केवल १$\frac{1}{8}$ प्र. श. पर ले लिया। चूँकि नए विनियोजनों पर नियंत्रण होने के

कारण ऋण देने के अन्य क्षेत्र सीमित थे, और चूँकि व्यय करने के क्षेत्र भी बहुत सीमित कर दिए गए थे; इसलिए सरकार नीची दर पर ऋण ले सकती और तीव्र गति से बढ़नेवाले राष्ट्रीय ऋण के व्याज में होनेवाली वृद्धि को रोक सकती थी।

अक्टूबर १९४५ में वित्तमंत्री (The Chancellor of Exchequor) ने व्याज-दर को और भी घटाने का आन्दोलन आरंभ किया। कोषागार-जमा की प्राप्ति (Treasury Deposit Receipts) पर बैंकों को दी जानेवाली दर घटा कर ५/८ प्र० श० कर दी गई और जिस दर पर बैंक तथा अन्य टेंडर देनेवाले लोगों को कोषागार विपत्र (Treasury Bills) दिए जाते थे वह भी १ प्र० श० से घटा कर १/२ प्र० श० कर दी गई। अन्य अल्पकालीन दरें भी, जिनमें बैंकों द्वारा अपने जमा करनेवालों को मुद्दती खाते पर दी जानेवाली दर सम्मिलित थी, संगत मात्रा में घटा दी गईं।

दीर्घकालीन दरों को घटा कर २½ प्र० श० करने का कार्य बारह महीनों में पूरा हुआ। १९४६ के अक्टूबर तक सरकारी प्रतिभूतियों का मूल्य इतना चढ़ गया था कि उनसे केवल २½ प्र० श० की आय हो सकती थी और सरकार २½ प्र० श० पर ऋण ले सकती थी जिसे वह अपने इच्छानुसार (१९७५ में या उसके पश्चात्) दे या न दे।

उपाय यह सोचा गया कि जो ऋण कम व्याज-दर वाले ऋणों में परिवर्तित किए जा सकते हैं उन्हें परिवर्तित कर दिया जाय और नए ऋणों पर व्याज की दर २½ प्र० श० दीर्घकालीन ऋण की दर के बराबर हो। यदि जनता ने पर्याप्त ऋण न दिया होता तो तत्काल के लिए सरकार स्वयं अपनी न बिकी हुई प्रतिभूतियों को अपने किसी न किसी विभाग में पचा लेती। वास्तव में, जनता (और बैंकों) से अनुकूल उत्तर मिला। द्रव्य की मात्रा में अभूतपूर्व गति से विस्तार करके उन्हें ऐसा करने के लिए सहायता दी गई; अप्रैल से सितंबर १९४६ तक छः महीनों में बैंक-जमा की मात्रा ५५४० लाख पौंड बढ़ी अर्थात् १२ प्र० श० की वृद्धि हुई।

ऊपर से तो यह व्याज के मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary theory of interest) का पूर्ण समर्थन करता है। द्रव्य की मात्रा में विस्तार होने से द्रवता बढ़ गई और व्याज-दर गिर गई। परन्तु केवल इतनी ही बात नहीं है। वास्तविक पूँजी का बहुत अभाव होने के कारण "नियंत्रण" की अनुपस्थिति में व्याज-दर बड़ी तीव्र गति से बढ़ी होती। लोग अपने इच्छानुसार विनियोजन नहीं कर सकते थे। वे संयुक्त राज्य अथवा अन्य "दुर्लभ मुद्रा" (Hard Currency) वाले देशों को पूँजी नहीं भेज सकते थे। सरकार से अनुमति प्राप्त किए बिना भवन आदि नहीं बना सकते

थे। यदि सरकार ने किसी के नाम निर्धारित न कर दिया हो तो वह इस्पात, लकड़ी आदि सामान नहीं खरीद सकता था। अतएव भावी विनियोजकों के लिए खुला हुआ मुख्य मार्ग था सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदना; (आपस में साधारण हिस्सों आदि के समान विद्यमान संपत्ति का लेन-देन करने के अतिरिक्त) वे अपने द्रव्य का और किसी प्रकार उपयोग नहीं कर सकते थे।

इसमें संदेह नहीं कि सुलभ मुद्रा की नीति अपना उद्देश्य पूर्ण कर रही है। यह राष्ट्रीय ऋण पर लगनेवाले व्याज को कम किए हुए है; और राष्ट्रीय आय में से व्याज, लाभ और लगान पानेवालों का भाग कम करने में सफल हुई है।

सब प्रकार के नियंत्रणों (Controls) के रूप में जो त्याग करना पड़ रहा है वह लाभप्रद है या नहीं इसमें मतभेद है। तात्कालिक अभाव के कारण संभवत: कुछ नियंत्रण वर्तमान काल में आवश्यक हैं। उनके संचालन में जन-शक्ति लगी हुई है और कभी कभी उसमें कुछ मनमानापन और विलंब भी होता है। इसके वितरीत उनके द्वारा सरकार को, समाज के हित में, यह निर्णय करने का अवसर मिलता है कि दुर्लभ साधनों का (श्रम को छोड़ कर) किन क्षेत्रों में उपयोग किया जाय। भविष्य के लिए विनियोजन की व्यवस्था का क्या रूप होगा—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न साधारणत: व्याज-दर तथा मूल्य-प्रणाली द्वारा नहीं वरन् मुख्यत: सरकार द्वारा हल किया जाता है।

व्याज-दर में वृद्धि होने से संभव था कि संचय को, जिसकी आवश्यकता है, उत्तेजना मिलती और अपनी पूँजी पर निर्वाह करने की लोगों की प्रवृत्ति कम होती। भविष्य में कभी मंदी की आशंका होने पर इससे व्याज-दर को घटने में उत्तेजना मिलती; स्थायी सुलभ मुद्रा सरकार को उस शस्त्र से वंचित कर देती है, यद्यपि यह शस्त्र बड़ा शक्तिशाली नहीं है।

जैसी वस्तुस्थिति है उसमें आर्थिक प्रणाली में द्रव्य की वृद्धि करने और फिर लोगों को अपने इच्छानुसार विनियुक्त अथवा संचय करने से रोकने के कारण एक प्रकार की दबी हुई मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई है। जबतक उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि नहीं होती तबतक सरकार मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को रोकने और व्याज-दर को नीचा रखने में तभी सफल हो सकती है जब वर्तमान काल में चालू "नियंत्रणों" में से अधिकांश ज्यों के त्यों बने रहें।

११. समभाजन (Rationing)

युद्धकाल में उपभोग को परिसीमित करना आवश्यक था। युद्ध संबंधी कार्यों के लिए श्रम तथा अन्य साधनों की आवश्यकता थी। जो कुछ भी

तीसरा अध्याय

माँग

१. माँग का अर्थ

किसी निश्चित मूल्य पर किसी वस्तु की माँग उस वस्तु की वह मात्रा है जो किसी निश्चित समय (जैसे वर्ष, महीना या सप्ताह) में उस मूल्य पर खरीदी जायगी। माँग का अर्थ सर्वदा किसी निश्चित मूल्य पर माँग से होता है। जबतक मूल्य न बताया गया हो या व्यक्त हो तब तक "माँग" शब्द का कोई अर्थ ही नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष इतने हजार मोटरों अथवा इतने लाख टन कोयले की माँग है यह कहने का केवल यही अर्थ हो सकता है कि कुछ वर्षों तक मोटर और कोयले का मूल्य बहुत कुछ स्थिर रहा है और ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष बिक्री की मात्रा उल्लिखित संख्या के आस पास रही है। परन्तु ऐसे कथन का, शाब्दिक अर्थ लेने पर, कोई तात्पर्य नहीं निकलता। क्योंकि यदि मूल्य भिन्न भिन्न रहें तो बिक्री की मात्रा अर्थात् माँग भी भिन्न होगी। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मोटरों का मूल्य बहुत गिर जाय तो लगभग दूनी मोटरें बिक सकती हैं। और इसके विपरीत यदि उनका मूल्य बहुत चढ़ जाय तो उनकी बिक्री आधी हो जायगी। किसी वस्तु की बिक्री की मात्रा उसके मूल्य पर निर्भर रहती है। उसी के अनुसार उस मात्रा में परिवर्तन होता रहता है; अथवा यों कह सकते हैं कि किसी एक मूल्य पर माँग दूसरे मूल्य पर की माँग से भिन्न होती है।

इससे स्पष्ट है कि माँग का अर्थ है किसी निश्चत अवधि में माँग—चाहे वह दिन हो, सप्ताह हो, महीना हो, या वर्ष हो। उदाहरण के लिए हम सप्ताह को इकाई मानेंगे क्योंकि अधिकांश मजदूरों को साप्ताहिक मजदूरी दी जाती है और बहुत सी गृहिणियां अपनी गृहस्थी की व्यवस्था सप्ताह भर के लिए करती हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि माँग का अर्थ इच्छा अथवा आवश्यकता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोग मोटरकार नहीं खरीद सकते फिर भी उन्हें उसकी इच्छा रहती है और बहुत से बच्चे जितना दूध पाते हैं उससे अधिक की इच्छा रखते हैं; परन्तु जबतक इच्छा के साथ-साथ

उन्मुक्त किया जा सकता था वह उपभोग्य वस्तुओं (और उनके उपादानों) के उत्पादन और विवतरण से हटा कर सेना और युद्ध-संबंधी धंधों में लगाया गया था और युद्ध-संबंधी पदार्थों तथा शस्त्रों के लिए स्थान रिक्त करने के उद्देश्य से आयात की मात्रा बहुत घटा दी गई थी। अतः सबसे समान त्याग कराने के लिए समभाजन ही सबसे उपयुक्त उपाय था।

अब, युद्ध के पश्चात्, यंत्रों, पशुओं, यातायात के साधनों तथा अन्य प्रकार की वास्तविक पूँजी के अभाव के कारण उपभोग्य वस्तुओं की और भी कमी हो गई है। उपलभ्य श्रम तथा साधनों का अपेक्षाकृत अधिक अंश, कुछ वर्षों तक, युद्धकाल में हुई वास्तविक पूँजी की क्षति को पूरा करने और उत्पादन की क्षमता को बढ़ाने में लगेगा। अतः ऐसी आशा की जाती है कि भविष्य में उपभोग्य वस्तुओं तथा सेवाओं (जिनमें आयात और आवास की व्यवस्था सम्मिलित होगी) की मात्रा तीव्र गति से बढ़ेगी। इस बीच उपभोग्य वस्तुओं का अभाव होने के कारण समभाजन की व्यवस्था बनी हुई है।

केवल अधिकतम मूल्य निर्धारित करके निर्वाह-व्यय को कम करने का प्रयत्न करना कुछ लाभदायक न होगा। इससे वस्तुएँ—जैसे मुर्गी के बच्चे—बाजार से लुप्त हो जाती और छिप कर ऊँचे मूल्य पर (चोर बाजार में) बिकती हैं। इसके विपरीत समभाजन में उपभोक्ताओं को व्यापारियों पर आश्रित होना और पंक्ति-बद्ध होकर खड़ा रहना पड़ता है।

समभाजन में माँग की मात्रा घटकर उपलब्ध पूर्ति के बराबर हो जाती है। धनी निर्धन से आगे नहीं बढ़ सकता, प्रत्येक को अपना अपना भाग मिलता है। "प्वाइंट्स" की प्रणाली, जो वस्त्रों तथा कुछ खाद्य-पदार्थों पर लागू की गई थी, विशेष रूप से लचीली है। इससे उपभोक्ताओं को चुनाव करने की कुछ स्वतंत्रता मिलती है और साथ साथ जिस वस्तु की माँग उसकी पूर्ति से बहुत अधिक बढ़ रही है उसके लिए अपेक्षित "प्वाइंटों" की संख्या बढ़ाकर तथा बिना बिकी हुई वस्तुओं की संख्या घटा कर माँग को पूर्ति के बराबर करने में सहायता मिलती है।

यद्यपि समभाजन आपदकाल में उपभोग को कम करने की सबसे उपयुक्त विधि है फिर भी इसके द्वारा उपभोक्ता की चुनाव की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है जिससे वे कुछ निश्चित द्रव्य व्यय करके उतनी तुष्टि नहीं प्राप्त कर पाते जितनी अन्यथा पाते। यदि किसी समभक्त (Rationed) पदार्थ का मूल्य बढ़ने न भी दिया जाय तो भी जो व्यक्ति उसकी अधिक मात्रा खरीदना चाहता है और नहीं खरीद सकता वह उपभोक्ता के रूप में बहुत दयनीय आर्थिक स्थिति में रहने को विवश कर दिया जाता है। समभाजन का उसके ऊपर वही प्रभाव पड़ता है जो सम-

भक्त वस्तुओं पर मूल्य बढ़ जाने का पड़ता है। यह एक "तटस्थता-वक्र" (Indifference curve) रेखाचित्र द्वारा बड़ी सरलता से दिखाया जा सकता है।
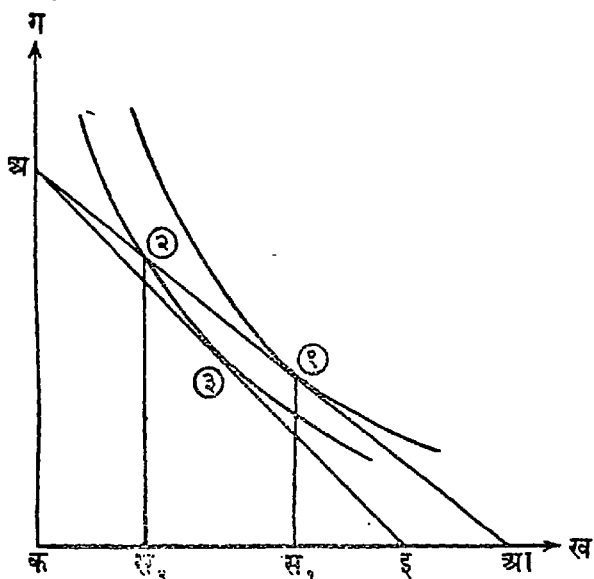
समभक्त वस्तुएँ

चित्र ३८

समभाजन न रहने पर व्यय करने योग्य क अ आयवाला व्यक्ति इस आय को किसी पदार्थ (अथवा पदार्थों के समूह) में, जो बाद में समभक्त हो जाता है, और अन्य उपयोगों में से किसी में जैसे चाहता वैसे बाँट सकता था। वह मूल्य रेखा अ आ पर कोई स्थान चुन सकता था। (यदि वह संपूर्ण आय को उसी पदार्थ पर व्यय करता तो वह उसका क आ अंश खरीद सकता था) परन्तु वास्तव में वह (१) वाली स्थिति को चुनता जहाँ पर अ आ उसके तटस्थता वक्रों में से एक पर स्पर्श रेखा (Tangent) के रूप में है) वह उस पदार्थ का क $स_1$, अंश खरीदता। अब मान लीजिए कि समभाजन प्रणाली कर दी गई है। समभक्त पदार्थ (अथवा पदार्थ-समूह) का मूल्य ज्यों का त्यों रहता है परन्तु वह केवल क $स_2$ अंश ही खरीद सकता है। अब उसकी स्थिति (२) वाली है। यह (१) की अपेक्षा निम्नतर तटस्थता वक्र पर है। यह उसी तटस्थता वक्र पर है जिस पर (३) है। परन्तु, समभाजन न रहने

पर, वह (३) तक तभी जा सकता था जब समभक्त पदार्थ का मूल्य $\frac{\text{क अ}}{\text{क आ}}$ से चढ़कर $\frac{\text{क अ}}{\text{क इ}}$ हो जाता। अतः क स$_2$ मात्रा तक समभाजन हो जाने से यद्यपि मूल्य ज्यों का त्यों रहता है फिर भी उसकी आय क अ से उसकी तुष्टि घट कर उतनी हो जाती है जितनी समभाजन न होने पर समभक्त पदार्थ के मूल्य में उपर्युक्त वृद्धि होने पर होती।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भविष्य

स्मरण होगा कि स्वर्णमान का सिद्धान्त यह है कि किसी देश को अपने भुगतान आधिक्य (Balance of payments) में साम्य बनाए रखने के लिए आवश्यक सामंजस्य अपनी द्रव्य-आय में परिवर्तन द्वारा स्थापित करना चाहिए। जिस देश का निर्यात [और अन्य पावना-मदें (Credit items)] उसके आयात (तथा अन्य देना-मदों) से अधिक हो रहा हो उसमें स्वर्णागम की प्रवृत्ति होती है; अतः उसे अपनी द्रव्य-आय का विस्तार करना चाहिए जिससे उसके आयातों की माँग बढ़े और निर्यातवाले धंधों की द्रव्य-लागत में भी वृद्धि हो। जो देश इसकी विपरीत स्थिति में हो उसे अपनी द्रव्य-आय घटानी चाहिए अर्थात् मुद्रा-संकोच करना चाहिए। मुद्रा-संकोच की परंपरागत विधि है व्याज-दर बढ़ाना और द्रव्य की मात्रा घटाना। परन्तु व्याज-दर में वृद्धि ऐसे समय हो सकती है जब अधिक विनियोजन के द्वारा अधियोजन के विस्तार की आवश्यकता हो परन्तु व्याज-दर में वृद्धि होने से विनियोजन को उत्तेजना मिलने के बदले उसमें रुकावट पड़ती है। इसके अतिरिक्त स्थायी "सुलभ मुद्रा" नीति का इससे विरोध होगा। और संभव है कि मजदूर-संघ द्रव्य के रूप में वेतन घटाने का विरोध करें जिससे मुद्रा-संकोच के द्वारा राष्ट्रीय द्रव्य-आय में कमी हो सकती है—परन्तु वेकारी और दिवालिएपन द्वारा। अतः मुद्रा-संकोच अवांछनीय होता है। अधिक संभावना यह होती है कि कोई देश भयंकर मुद्रा-संकोच का सामना करने के बदले आयात पर भारी प्रतिबंध लगावे अथवा स्वर्णमान का त्याग कर दे।

अतः यहाँ पर विषम समस्या उपस्थित हो जाती है। कोई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परम वांछनीय हो जाती है और वास्तव में स्वर्णमान इसकी पूर्ति करता है। परन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली का सदस्य बने रहने के लिए किसी देश को मुद्रा संकोच करने की आवश्यकता पड़ सकती है और व्यवहार में इसके फलस्वरूप अनधियोजन और संकट उपस्थित हो सकता है।

"ब्रेटन वुड्स समझौता" इस विषम समस्या से बचने का मार्ग निकालने का प्रयत्न करता है। उसमें बहुपक्षीय (Multilateral) आधार पर

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार को उत्तेजना देने के लिए सहयोग और परामर्श के लिए एक संस्था की व्यवस्था है। विनिमय-दरों का स्थायित्व भी लक्ष्य में रखा गया है। प्रत्येक देश अपनी मुद्रा के लिए एक स्वर्ण-समता (Gold parity) निश्चित करेगा और उस समता को वनाए रखने का प्रयत्न करेगा। जब आवश्यकता होगी तब एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) द्वारा उसकी सहायता की जायगी। प्रत्येक सदस्य-देश का एक यथांश (Quota) होगा जिसपर उक्त कोष में उसका अनुदान और कोष से ऋण लेने की मात्रा दोनों ही निर्भर होंगे। उसे अपने यथांश का २५ प्र. श. (अथवा अपने स्वर्ण-कोष का १० प्र. श., जो भी कम हो) सोने में और शेष अपनी मुद्रा में देना होगा। जुलाई १९४४ में ब्रेटन वुड्स कानफरेन्स में निश्चित चौवालीस देशों के यथांशों का योग ८८० करोड़ डालर है। सबसे बड़े यथांश संयुक्त राज्य (२७५ करोड़ डालर), युनाइटेड किंगडम (१३० करोड़ डालर) और रूस (१२० करोड़ डालर) के हैं। फिर भी यह लिखते समय इसकी संभावना कम जान पड़ती है कि रूस उक्त कोष का (अथवा बैंक औफ इंटर्नैशनल सेट्लमेंट्स अथवा इंटर्नैश्नल ट्रेड औगेंनाइजेशन आदि संस्थाओं का, जिसका हम नीचे उल्लेख करेंगे) सदस्य बने।

यदि किसी देश का देना पावना से अधिक हो और वह अपने भुगतान आधिक्य के विषय में अस्थायी कठिनाई में हो तो वह किसी एक वर्ष में अपने यथांश के २५ प्र. श. के बराबर कोष से विदेशी मुद्रा खरीद सकता है। इस प्रकार वह अस्थायी कठिनाई पर विजय प्राप्त कर सकता अथवा सांस लेने का अवकाश पा सकता है जिसमें वह आंतरिक सामंजस्य के द्वारा अपना भुगतान-आधिक्य साम्य स्थिति में ला सके।

यदि उसकी कठिनाइयाँ अधिक स्थायी और गंभीर हों तो वह अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता है—अर्थात् उसकी स्वर्ण-समता घटा सकता है। किसी "मौलिक असाम्य" (Fundamental disequilibrium) को ठीक करने के लिए १० प्र. श. से अधिक का अवमूल्यन करने के लिए कोष की स्वीकृति आवश्यक है।

अतएव यह कोष उस विषम समस्या को सुलझाने का एक प्रयत्न है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। एक स्वर्णमान प्रणाली स्थापित कर दी गई है। परन्तु यदि कोई देश चाहे तो मुद्रा-संकोच का निवारण कर सकता है; वह अपनी मुद्रा का विनिमय-अर्घ (Exchange value) घटा सकता है। परन्तु इस प्रकार का ह्रास भी साधारणतः परामर्श और समझौता के पश्चात् होगा; उसके द्वारा अन्य देश प्रतिक्रियात्मक कार्य करके संसार के व्यापार का संकोच नहीं करेंगे, जैसा कि तीसा में हुआ था।

यदि कोई देश "वणिकों" (Mercantilists) की भाँति ऊँचे तटकर (Tafiffs) तथा अन्य प्रतिवंधों द्वारा आयातों को रोक कर अपना निर्यात वढ़ाना चाहता है तो कोष द्वारा उसकी मुद्रा "दुर्लभ" (Scarce) घोषित की जा सकती है, और सदस्य उससे अपनी खरीद कम करने— उसके विरुद्ध विभेंद करने—के अधिकारी हो सकते हैं। यदि सभी देश चाहें, तो समान प्रतिशत में अपनी स्वर्ण-समता घटाकर अपने विनिमय-स्थायित्व को अक्षुण्ण रखते हुए, साथ साथ मुद्रास्फीति कर सकते हैं। यदि द्रव्य के रूप में वेतन में वृद्धि उत्पा- दन में वृद्धि की अपेक्षा अधिक होती है तो इस व्यवस्था काअवलंबन किया जा सकता है जिससे मजदूरी घटने के वदले निर्वाह्-व्यय वढ़ जायगा।

एक अन्तर्राष्ट्रीय वैंक भी स्थापित किया जानेवाला है जिसकी पूंजी लगभग १० हजार अरव डालर (१ के दाहिने १३ शून्य) होगी। इसके यथांश भी लगभग वही हैं जो 'कोष' के। संयुक्त राज्य का यथांश कुछ अधिक है। वैंक का मुख्य उद्देश्य है व्यक्तिगत विनियोजकों द्वारा विशिष्ट योजनाओं के लिए सरकारों को दिए गए ऋणों की प्रतिश्रुति (गारंटी) देना, प्रतिवंध यह है कि वे सरकार साधारणतया उपयुक्त दर पर ऋण न प्राप्त कर सकें। ऋणों का उपयोग पुनर्निर्माण, पुनरावास (Rehabi- litation), और आर्थिक साधनों की उन्नति के लिए होगा जिससे वे देश अपने पैरों पर खड़े हो सकें। वैंक द्वारा प्रतिश्रुत किए गए अथवा अपने पास से दिए गए ऋणों का योग उसकी पूंजी और कोष से अधिक नहीं होना चाहिए। वह प्रतिश्रुति करने के लिए १ से १½ प्र० श० प्रति वर्ष तक व्याज लेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन (International Trade Orga- nisation) नाम की एक और भी संस्था स्थापित होनेवाली है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संवंध रखनेवाले विषयों में देशों द्वारा उचित सद्‌व्यवहार का निर्वाह करने के लिए वनाए गए नियमोंवाले आज्ञापत्र (Charter) की धाराओं का पालन कराने का प्रयत्न करेगी। इसका सामान्य उद्देश्य है अन्तराष्ट्रीय व्यापार में सब प्रकार की विभेदात्मक क्रियाओं का निवारण तथा प्रतिवंधों को हटाना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति कहाँ तक होगी यह भविष्य वतलाएगा। आर्थिक राष्ट्रीयता की शक्तियाँ अव भी वहुत प्रवल हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्देश्य भी हैं—जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा (National defence), पूर्ण अधियोजन, पिछड़े हुए देशों का उद्योगीकरण—जो व्यवहार में व्यापार-स्वातंत्र्य की प्रगति में वाधक हो सकते हैं। मेरे मत से, विभिन्न देशों के विशेषीकरण से होनेवाले लाभों का वलिदान किए विना, इन अन्य उद्देश्यों

की पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा हो सकती है; परन्तु इस विषय पर भिन्न भिन्न मत हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में कुछ लोग द्विपक्षीय मार्ग (Bilateralism) का अनुसरण करना चाहते हैं। उनका कहना है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन भिन्न भिन्न देशों से इस प्रकार के दीर्घकालीन समझौते करे जिससे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा प्रदान की हुई कुछ सुविधाओं के बदले वे उसके निर्यातों को विशेष सुविधा प्रदान करें, अथवा प्रतिवर्ष उनकी एक निश्चित मात्रा खरीदें तो उसे कुछ सुरक्षित एवं स्थायी बाजार मिल जायँ जिनमें उसका आदान-प्रदान स्थायी रूप से होता रहे, चाहे उसकी मात्रा कुछ कम ही क्यों न हो। परन्तु यदि ऐसे व्यापारिक समझौतों द्वारा वे देश बहुत से बाजारों से बहिष्कृत हो जायँ तो संभवतः वे भी अन्य देशों के साथ वैसे ही समझौते करेंगे। इसके अतिरिक्त संभव है कि अपने निर्यातों को आर्थिक सहायता प्रदान करके अथवा इस शर्त पर ऋण देकर कि उन्हीं के निर्यातों पर उसका व्यय हो वे ग्रेट ब्रिटेन को उसके कुछ सुरक्षित बाजारों से भी बहिष्कृत करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार की वस्तुस्थिति ग्रेट ब्रिटेन के लिए कदाचित् ही लाभदायक हो। इससे उसका निर्यात ७५ प्र० श० कौन कहे कुछ भी अधिक नहीं बढ़ सकता। एक बहुत छोटे द्वीप पर बसा हुआ ४७० लाख जन-संख्यावाला ग्रेट ब्रिटेन अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पर्याप्त वृद्धि किय बिना अपना वर्तमान निर्वाह-स्तर बनाए रखने में समर्थ नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार से अनेक अन्य देशों की अपेक्षा उसे अधिक लाभ होगा। अतः इन पंक्तियों का लेखक आशा करता है कि वह संसार के विभिन्न राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक आर्थिक सहयोग बढ़ानेवाले भिन्न भिन्न समझौतों और योजनाओं का हृदय से समर्थन करने में एवं योगदान देने में कटिबद्ध रहेगा।

अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावली

A

Abscissa—भुज।
Absolute Price—निरपेक्ष मूल्य।
Acceptibility—स्वीकार्यता।
Accepting House—स्वीकारी गृह।
Acceptor—स्वीकर्ता।
Accommodation Bill—अनुग्रह विपत्र।
Account—लेखा।
  Statement of—लेखा-विवरण।
Accountant—संख्याता, मुनीम।
Adjustment—सामंजस्य।
Adulteration—अपमिश्रण।
Ad Valorem—यथामूल्य।
Advance—उधार, ऋण देना।
Adverse—विरुद्ध, विपरीत।
Agreement—संविदा।
  —Clearing—चुकता समझौता।
  —Deed—संविदा-लेख।
  —Payment—भुगतान समझौता।
All-embracing—सर्वस्पर्शी।
Allocation—बँटवारा।
Allotment—बाँट।
Allowance—भत्ता।
Amalgamated—मिलित।
Amalgamation—मिलन।
Ambiguous—संशयात्मक।
Amortisation—ऋण-परिशोध।
Amount—रकम, राशि।
Annuity—वार्षिकी।
Anticipation—अनुमान, प्रत्याशा।
Apparatus—प्रसाधक।
Appreciate—वर्द्धनोन्मुख होना।
Appreciation—अधिमूल्यन।
Apprentice—अन्तेवासी, परिवासिक।
A Priori—नियमतः, प्रथमतः।
Approval. on—जाकड़ पर।
Arable—कृष्य।
Arbitration—मध्यस्थ निर्णय।
Arbitrator—मध्यस्थ।
Arithmetical Progression—समानान्तर वृद्धि।
Article—वस्तु।
Articles of Association—कार्य-संचालन नियम।
Assessment—निर्धारण।
Asset—संपत्ति।
Assortment—संकलन।
Assumption—मान्यता।
Audit—लेखा-परीक्षा।
Authorised—प्राधिकृत।
Automatic—स्वयंचालित।
Automatic charging—स्वयं जागर।
Average—औसत।

B

Backing—पुष्टि।
Balance—शेष, रोकड़ बाकी।
  —of Payment—भुगतान आधिक्य।
  —Sheet—आय-व्यय-फलक, स्थिति-विवरण।
Balancing Item—संतुलन मद।
Bank—बैंक।

Bank-Return— बैंक-परिलेख।
-Commercial—वाणिज्य बैंक।
-Industrial -औद्योगिक बैंक।
Banking—महाजनी।
Branch Banking—विकेंद्रित महाजनी।
Barter—बदला।
Bearer cheque—धनीजोग-चेक।
Bill—विधेयक, विपत्र।
-of Exchange—हुंडी, विनिमयपत्र।
-of Lading—वहनपत्र।
-Sight—दर्शनी हुंडी।
-Time—मुद्दती हुंडी
-Trade—व्यापारी हुंडी।
-Treasury-कोषागार-विपत्र।
Black leg— असहमत श्रमी।
Blocked Account—रुद्ध खाता।
Bond—बंध।
Book Entry—पंजी-निवेश।
Borrower-ऋणग्राही,उधार लेनेवाला।
Borrowing—उधार-ग्रहण।
Bounty—निर्यात-वृत्ति।
Budget—आयव्ययक।
Bullion—धातु-पिंड।
Bunker Fuel—जहाज का इंधन।
Bureau—कार्यालय।
Business—कारबार।
Byproduct – उपोत्पाद।

C

Calculation—कलन।
Call money—आह्वान-द्रव्य।
Capacity—सामर्थ्य।
Capital—पूँजी, मूलधन।
-Circulating—चालू पूँजी।
-Goods—उत्पादक वस्तुएँ।
-movement—पूँजी की गति।
Capitalist—पूँजीपति, पूँजीवादी।
Capitalistic—पूँजीवादीय।
Cartel—समवाय-संघ, मूल्य-संघ।
Cash—नगद, भुनाना।
-Reserve—नगद कोष।
Category—कोटि।
Central Bank—केन्द्रीय बैंक।
Cerial—अन्न।
Charge—शुल्क।
Cheap money—सुलभ मुद्रा।
Cheque—चेक।
-Bearer—धनीजोग चेक।
-Crossed— रेखांकित चेक।
-Order—शाहजोग चेक।
C. I. F.—भाड़ा सहित।
Circulating Capital—चालू पूँजी।
Circulation—परिचलन।
Citrus Fruit—जंभीरादि फल।
Classical Economist—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री।
Claim—दावा।
Clearing—भुगतान।
-Agreement—भुगतान-समझौता।
-House—भुगतान-घर।
Client—ग्राहक, असामी।
Code—संहिता।
Coherent—संबद्ध।
Coin—मुद्रा।
Coinage—टंकण।
Coincidence—अनुरूपता, संपात।
Cold storage—शीत-कोष्ठ।

Collapse—आकस्मिक पतन।
Collateral—आनुषंगिक।
Colonisation—उपनिवेशन।
Combination—संयोग, समुच्चय।
Commerce—वाणिज्य।
Chamber of—वाणिज्य-सदन।
Commercial—वाणिज्य संबंधी।
—Bank—वाणिज्य बैंक।
—Bill—वाणिज्य विपत्र।
Commission—आयोग, दस्तूरी।
Commissioner—आयुक्त।
Committee—समिति।
Commodity—पदार्थ।
Communication—संचार, वार्तावहन।
Company—समवाय।
Comparative cost—तुलनात्मक लागत।
Compensation—प्रतिकर।
Composition—संयोजन, रचना।
Concealed Reserve—प्रच्छन्न कोष।
Concept—सिद्धान्त, कल्पना।
Condition—शर्त, प्रतिबंध, दशा।
Conditional—सप्रतिबंध।
Conference—सम्मेलन।
Consolidated—पुंजीभत।
Consols—बंट।
Constant—अचल, स्थिर।
—Return—स्थिर उत्पत्ति।
Consumer—उपभोक्ता।
Consumption—उपभोग।
—Goods—उपभोग्य वस्तुएँ।
Constructional—निर्माण-संबंधी।
Contingency—आकस्मिकता, प्रसंग।
Contour—समतल रेखा।
Contract—ठेका, संविदा।
Contribution—अंशदान।
Control—नियंत्रण।
Conveyance Allowance—यानभत्ता
Conveyor System—वहन प्रणाली।
Convex—उन्नतोदर।
Co-ordinate—नियामक (गणित)।
Co-ordination—संपर्कस्थापन।
Corresponding—संगत, संवादी।
Cost—लागत, परिव्यय।
Cost of Living—निर्वाह-व्यय।
Council—परिषद।
Counteracting Influence—प्रतिक्रियात्मक प्रभाव।
Countervailing Duty—प्रतिशुल्क।
Credit—आकलन, साख।
Cryptic—गुप्त।
Cumulative—संचयी।
Currency—मुद्रा, प्रचलन।
—Agreement—मौद्रिक समझौता।
—Note—नोट।
Current—प्रचलित, चालू।
Custodian—संरक्षक।
Custody—संरक्षकत्व।

D

Data—निर्दिष्ट।
Dealings—व्यवहार।
Debenture—ऋणपत्र।
Debit side—विकलन पक्ष।
Debt—ऋण।
Deductive—निगमनात्मक।
Deed—विलेख।
Defence—प्रति रक्षा।

Deferred—विलंबित।
Deficit—कमी, घटती।
–Budget—अपचयी आयव्ययक।
Deflation—मुद्रा-संकोच।
Delimitation—परिसीमन।
Demand—माँग।
–Bill—दर्शनी हुंडी।
–Curve—माँग-वक्र।
–Schedule—माँग-सरणि।
Demarkation—सीमांकन।
Deposit—जमा।
Depositor—जमा वाला।
Deposit of Mineral—खनिज-निचाय।
Delivery—संप्रदान।
Development—विकास, घटना।
Device—विधि, उपाय।
Depreciation—पात, अवमूल्यन।
Depreciating—पतनोन्मुख।
Devaluation—अवमूल्यन।
Devalue—अवमूल्यन।
Dictator—अधिनायक।
Dimensional—विस्तारी।
Diminishing Utility—ह्रासमान उपयोगिता।
Dilemma—द्विविधा।
Disintegration—विघटन।
Discrepancy—असंगति।
Discriminating monopoly—विभेदक एकाधिकार।
Discrimination—विभेद।
Disbursement—वितरण।
Discount—मितीकाटा, भुनाना।
–House—मितीकाटा घर।
Discounted Value—घटित अर्घ।
Displacement Cost—अपसारण लागत।
Dividend—लाभांश।
Document—लेखा।
Draft—ड्राफ्ट।
Drain—निर्गम, निकास।
Draw—आहरण।
Drawee—आहार्यी।
Drawer—आहर्ता।
Drawn—आहृत।
Dress-designing—परिधान-निर्माण।
Dumping—खेपना।
Duty—शुल्क।
Countervailing—प्रति-शुल्क।
Customs—सीमा-शुल्क।
Death—मरण-शुल्क।
Estate—संपत्ति-शुल्क।
Excise—उत्पादन-शुल्क।
Export—निर्यात-शुल्क।
Import—आयात-शुल्क।
Revenew—राजस्व-शुल्क।
Stamp—मुद्रांक-शुल्क।
Succession—उत्तराधिकार-शुल्क

E

Earmarking—पृथक्करण।
Economic—आर्थिक।
Economies of Scale—मात्रा-बचत।
Efficiency—कुशलता, क्षमता।
Effective Demand—प्रभावक माँग।
Elasticity—लोच।
Ellipse—दीर्घ वृत्त।
Emergency measure—आपातिक व्यवस्था।

व्यय करने का सामर्थ्य और अभिलाषा न हो तब तक बिक्री की मात्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

२. माँग-सरणि और माँग-वक्र
(Demand Schedule and Demand Curve)

किसी विशेष बाजार में, एक निश्चित अवधि में, किसी वस्तु की माँग का पूर्ण विवरण अर्थात् उस माँग की अवस्था या उसके प्रतिबन्ध (Conditions) यह व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक मूल्य पर, किसी विशेष अवधि (जैसे सप्ताह) में, बिक्री की मात्रा क्या होगी। इस प्रकार का विवरण जो एक तालिका (Table) के रूप में रहता है माँग-सरणि (Demand Schedule) कहलाता है।

किसी वस्तु की माँग बहुत सी बातों पर निर्भर रहती है, जैसे किसी उप-भोग्य वस्तु की माँग उपभोक्ताओं की संख्या, उनकी आय, उनकी रुचि, और प्रतिद्वन्द्वी वस्तुओं तथा स्वयं उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहती है। माँग-सरणि तैयार करने के समय यह मान लिया जाता है कि उपर्युक्त सभी बातें अपरिवर्तित अर्थात् स्थिर हैं। इस प्रकार यह वस्तु की बिकी हुई मात्रा पर मूल्य के प्रभाव को पृथक् करने का—बिक्री की मात्रा को वस्तु के मूल्य के 'फलित' (Function) के रूप में दिखाने का—प्रयत्न करती है।

उदाहरण के लिये नीचे हम एक काल्पनिक माँग-सरणि का एक अंश देते हैं। हम मान लेते हैं कि यह ग्रेट ब्रिटेन में प्रति सप्ताह फुटकर बेचे जानेवाले मक्खन से सम्बन्ध रखती है। वास्तव में मक्खन के बहुत से भेद और कोटियाँ (Grades) हैं जो भिन्न भिन्न मूल्यों पर बिकती हैं, जैसा कि प्रायः सभी तथाकथित "पदार्थों" (Commodities) में होता है। परन्तु हम यह मान लेते हैं कि यह मक्खन अथवा मक्खन की कोटि, जिसके आँकड़े हम दे रहे हैं, समजात (Homogeneous) हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि इसका बाजार पूर्ण है और स्थानान्तरण का व्यय कुछ नहीं है[१]। हम माँग-सरणि का केवल एक अंश दो कारणों से दे रहे हैं; पहला तो यह कि सम्पूर्ण सरणि, जिसमें यह दिखाया गया हो कि, शून्य से ले कर जिस मूल्य पर बिक्री शून्य हो जाय वहाँ तक, प्रत्येक साधारण मूल्य पर बिक्री की मात्रा कितनी होगी, इतनी लम्बी होगी कि उसको देने के लिये यहाँ स्थान नहीं है, और दूसरे यह कि यदि अन्य बातें, जिनका माँग पर प्रभाव पड़ता है, स्थिर रहें तो निकट भविष्य में मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है। इसलिए साधा-रणतः माँग-सरणि का वही अंश व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है जो प्रचलित मूल्य के आस पास होता है।

१. और (अन्य दृष्टान्तों के सदृश) समभाजन (Rationing) की व्यवस्था नहीं है। समभाजन का विवेचन इकतीसवें अध्याय में किया गया है।

Gold Drain—स्वर्ण निर्गम।
Gold Point—स्वर्ण सीमा।
Goods—माल।
Goodwill—ख्याति।
Government Security-सरकारी प्रतिभूति।
Grade—कोटि।
Grant—अनुदान।
Gross Income—सतुष आय।
Guarantee—प्रतिश्रुति।

H

Hand-maid—दासी।
Harmony—मेल।
Harmonise—मेल करना।
Hide—चमड़ा।
Hoard—संग्रह, संचय, बटोरना।
Holding Company—सूत्रधारी कंपनी।
Homogeneous—समजात।
Horizontal—क्षैतिज।
Hyperbola—अतिपरवलय।
Hypothesis—कल्पना।

I

Identical—तद्रूप।
Illustration—दृष्टान्त।
Immigration—आप्रवासन।
Impact—संघात।
Imperceptible—प्रत्यक्ष।
Imperceptibly—प्रत्यक्षतः।
Impulsive—आवेगात्मक।
Incidence—भार।
Increasing Utility—वर्द्धमान उपयोगिता।
Indestructible—अविनश्वर।
Index Number—सूचकांक।
Indifference Curve—तटस्थता वक्र।
Indivisible—अविभाज्य।
Inductive—व्याप्तिमूलक।
Inevitable—अनिवार्य।
Inflation—मुद्रास्फीति।
Inheritance—दाय।
Instalment—खंडिका।
Intact—अविकल।
Integration—अनुकलन।
Intensive—गहन।
Intention—संकल्प।
Intermediate Product—अधपका माल।
Inter-related—परस्पर संबद्ध।
Introspection—अन्तरीक्षण।
Investment—विनियोजन।
Invoice—बीजक।
Iron ore—असिद्ध लौह।
Issue—निष्कासन।
Issue Department—निष्कासन विभाग।
Issue House—निष्कासन गृह।
Item—मद।

J

Joint-Stock Company—संयुक्त-पूँजी कंपनी।
Journeyman—प्रशिक्षित कर्मचारी।

L

Labour Union—श्रमी-संघ,
—मजदूर-संघ।
Laissez Faire—यथेच्छं कुर्वन्तु।
Land Tenure—भूधृति, भू-प्रबंध।
Large Scale Production—
—महामात्रोत्पादन।
Law of Constant Returns—
—अचल उत्पत्ति नियम।
Law of Diminishing Returns
—ह्रासमान उत्पत्ति नियम।
Law of Diminishing Utility—
—ह्रासमान उपयोगिता नियम।
Law of Increasing Returns—
—अचल उत्पत्ति नियम।
Leather—चर्म।
Legally—वैध रूप से।
Legal minimum—वैध न्यूनतम।
Legal Tender—वैध ग्राह्य।
Leguminous—नेत्रजनशोपक।
License—अनुज्ञप्ति।
Limitation—परिसीमा।
Limited Liability—परिमित
—दायित्व।
Liquid Asset—द्रव संपत्ति।
Liquidate—तिरोहित करना।
Liquidation—तिरोहण,
—तिरोभाव।
Liquidity Preference—
—द्रवताधिमान।
Liquid money—तरल द्रव्य।
Loan—उधार।
Location—स्थिति।
Loyal—प्रेमी।
Loyalty—सम्मान।

M

Machine—यंत्र।
Machinery—यंत्र, साधन।
Manufacture—निर्माण।
Manufacturer—निर्माता।
Market—बाजार।
Marketable—विक्रेय।
Marketing—क्रय-विक्रय।
Market Value—प्रचलित अर्घ,
तात्कालिक अर्घ।
Material—सामग्री, उपादान।
Mercantile Marine—वणिक् पोत।
Merchandise—वाणिज्य, पण्य।
Middleman—मध्यजन।
Migration—निष्क्रमण, प्रव्रजन।
Mineral Resources—खनिज
संपत्।
Mining—खनन।
Mobility—गतिशीलता।
Monetary Policy—द्रव्य-नीति।
Money—द्रव्य।
—At Call—आह्वान द्रव्य।
—At Short Notice—अल्पसूचना-
देय द्रव्य।
Monopoly—एकाधिकार।
Monopsony—क्रयैकाधिकार।
Morale—नैतिकता, नैतिक स्तर।
Motive—अभिप्राय।
Movable—जंगम।
Movement of factors—साधनों
का गमनागमन।
Multilateral—बहुपक्षीय।

N

Natural Resources—प्राकृतिक —साधन ।
Negative—ऋणात्मक ।
Negotiable Document—विनिमय-साध्य लेखा ।
Net Income—निस्तुष आय ।
New Deal—नई देन, नवीन व्यवहार ।
Nominal Capital—निर्धारित पूंजी ।
Nominal Wage—निर्धारित वेतन ।
Non-cumulative—असंचयी ।
Normal—प्रकृत, अभिलंब (गणित)
Normal Price—सामान्य मूल्य ।

O

Objective—ध्येय, लक्ष्य ।
Obligation—आभार, ऋण, दायित्व ।
Occupation—उपजीविका, व्यवसाय ।
Occupational Scale—व्यावसायिक मान ।
Offset—प्रभावहीन करना ।
Open market operation—खुले बाजार में क्रय-विक्रय ।
Operator—चालक ।
Opportunity Cost—अवसरलागत ।
Option—विकल्प, सट्टा ।
Order—आदेश ।
 -Cheque—शाहजोग चेक ।
Ordinate—कोटि (गणित) ।
Ore—असिद्ध खनिज ।
Organisation—संगठन ।
Organised Collection—निकाय ।
Out-of-date—दिनानीत ।
Overdraft—अध्याहृत ।
Overdraw—अध्याहरण ।
Overestimate—अध्यनुमान ।
Overhaul—संमार्जन ।
Overtime—अधिसमय ।

P

Paid out Cost—चुकता लागत ।
Paid up Capital—चुकता पूँजी
Paper Title—कागजी अधिकार ।
Parabola—परवलय ।
Partner—भागी ।
Partnership—भागिता ।
Patent—एकस्व, पेटेंट ।
Pay—दान, वेतन ।
Payable—देय ।
Payee—आदाता ।
Paymaster—वेतनाध्यक्ष ।
Payment—भुगतान ।
Payment Agreement—भुगतान समझौता ।
Pay-roll—वेतन-सूची ।
Peak Demand—चरम माँग ।
Permit—अनुमति पत्र ।
Perpendicular distance—लांबिक दूरी ।
Pit head—खान का मुहाना ।
Planned—योजित ।
Planning—योजना ।
Plant—कारखाना, यंत्र ।
Pool—गाँज, ढेर, गाँजना ।
Positive check—प्रकृत उपाय ।
Potential—संभाव्य ।
Predict—प्राक्कलन ।

Preference— अधिमान।
Preferential shares— अधिमान्य अंश।
Premises—परिभूमि।
Premium—भरण।
Preventive Check—प्रतिरोधक उपाय।
Price—मूल्य।
Price-mechanism—मूल्य-रचना।
Prime Cost—मुख्य लागत।
Private Property—निजी संपत्ति।
Producers' Goods—उत्पादक-वस्तुएँ।
Product—उत्पाद।
Production—उत्पादन।
Profit—लाभ।
Promissory Note—प्रतिश्रुति पत्र।
Proposition—साध्य।
Proprietor—स्वत्वाधिकारी।
Proprietorship—स्वत्वाधिकार।
Provision—व्यवस्था।
Public Utilities—जनहितकार्य।
Pull—खिंचाव।
Purchasing Power Parity—क्रयशक्ति समता।

Q

Quality—कोटि।
Quantity—परिमाण।
Quantity Theory—परिमाणवाद।
Queue—पंक्तिबद्धता।
Quota—यथांश।
—Global—मांडलिक यथांश।
Quotation—उल्लेख।

R

Range—श्रेणी, कोटि।
Ration—राशभक्त।
Rational—विवेकशील।
Rationalisation—वैज्ञानिक गठन।
Rationale—युक्ति।
Rational Quantity—सुमेय राशि।
Rationing—राशभाजन।
Raw material—कच्चा माल।
Reaction—प्रतिक्रिया।
Rebate—बाद।
Receipt—प्राप्तिका, रसीद।
Reciprocal—व्युत्क्रम।
Register—निबंधन करना, पंजी।
Registrar—निबंधक।
Reimbursement—प्रतिदान,चुकती।
Remuneration—पारिश्रमिक।
Relief Work—सहायता कार्य।
Reciprocate—व्युत्क्रम से करना।
Reciprocation—व्युत्क्रमीभवन।
Record—अभिलेख।
Refrigerator—शीतक।
Relative—सापेक्ष।
Relative Price—सापेक्ष मूल्य।
Remittance—प्रेषण।
Renew—पुनरुज्जीवित करना।
Renewal—नवीकरण, पुनरुज्जीवन।
Reparation—ऋण चुकाई।
Replace—अनुस्थापन।
Reserve—कोष।
Reserve Fund—संरक्षित निधि।
Reshuffling—पुनर्गठन।
Resistance—प्रतिरोध।
Resource—साधन।

Restriction—नियंत्रण, रोक।
Return—उत्पादन, उत्पत्ति।
Returns—परिलेख।
Revenue—राजस्व।
Risk—जोखिम।
Risk Premium—संकट-भरण।
Role—स्थान, भूमिका।
Royalty—रायल्टी।
Running Brokers—फेरीवाले दलाल।

S

Safety Valve—संरक्षक पिधान।
Salesmanship—विक्रयदक्षता।
Sanction—अनुज्ञा।
Saving—संचय, बचत।
Scale of Preference—अधिमान-माप।
Scarce—दुर्लभ।
School of Thought—विचारक-संप्रदाय।
Score—(क्रिकेट) लाभ, कृति।
Seams—श्रेणियाँ, परतें।
Self-liquidating—स्वयं-समाप्यक।
Series—अवलि।
Share—हिस्सा।
Shareholder—हिस्सेदार।
Shift—पाली।
Similar Triangle—अनुरूप त्रिभुज।
Situation—स्थिति।
Skin—त्वचा।
Sliding—संवलन, खसकनेवाला।
Small Scale Production—अल्प-मात्रोत्पादन।
Smuggling—शुल्क-निवारण।
Sole Producer—एकाकी उत्पादक।
Solvent—वित्तशाली।
Sovereignty—राजसत्ता।
Specialisation—विशेषीकरण।
Specialised—विशेषित।
Specialist—विशेषज्ञ।
Specie—मुद्रा।
Specific—विशिष्ट।
Specification—पृथक्करण, छँटाई।
Spectacular—प्रेक्षणीय।
Stabilise—स्थायीकरण।
Stability—स्थायित्व।
Standard of Life—जीवन-स्तर।
Standard of Living—जीवन-निर्वाह-स्तर।
Stage—अवस्था।
Standardisation—प्रमाणीकरण, मर्यादीकरण।
Statement—कथन, वक्तव्य, परिवृत्त।
State Enterprise—सरकारी उद्यम।
Staple—प्रधान।
Sterelise—प्रभावहीन करना।
Store—भंडार।
Strictly Speaking—सूक्ष्मतः।
Stock—राशि, वंट।
Stock-Exchange—वंट-विनिमय।
Structure of Production—उत्पादन का स्वरूप।
Subjective—निजी, निजात्मक।
Successive—क्रमिक।
Substitute—स्थानापन्न।
Substitution—प्रतिस्थापन।

Superficial—अनावश्यक, स्थूल।
Supplementary Cost-पूरक लागत।
Supply—पूर्ति।
Surplus—आधिक्य, अतिरेक।
Surplus Budget-उपचयी आयव्ययक
Survey—पर्यवलोकन।
Sweated Industry—शोषित धंधा।

T

Table—सारणी, तालिका।
Tangent—स्पर्शरेखा।
Tariff—तटकर।
Taste—रुचि।
Tax—कर।
–Inheritance—दाय-कर।
Technical Knowledge—क्रिया-कल्प-ज्ञान।
Technique—क्रियाकल्प।
Terms—शर्तें, पण।
Terms of Trade—व्यापार-पण।
Territorial Mobility of Labour—श्रम की क्षेत्रीय गतिशीलता।
Theoretical Proposition—सैद्धांतिक प्रश्न।
Thing—चीज, वस्तु।
Time Bill—मुद्दती हुंडी।
Total—संपूर्ण।
Trade Bill—व्यापारी हुंडी।
Trade Cycle—व्यापार-चक्र।
Transfer—अंतरण।
Transaction—व्यवहार, आदान-प्रदान, लेन-देन।
Transport—स्थानान्तरण।
Treasury—कोषागार।
Treasury Bill—कोषागार-विपत्र।
Truism—नग्न सत्य।
Trust—प्रन्यास।
Twopart Tariff—द्विधा तट-कर।

U

Unemployment—अनधियोजन, बेकारी।
Unemployment Relief—अनधियोजन सहायता।
Unemployment Benefit—अनधियोजन वृत्ति।
Uniform—समान।
Unilateral Action-एकपक्षीय क्रिया।
Unit—इकाई।
Unity—एक।
Up-to-date—अद्यावधि।

V

Valuation—अर्घापण।
Value—अर्घ।
–Face—अंकित मूल्य।
Variable—चल, परिवर्तनशील।
Velocity—वेग।
Version—कथन, रूप।
Vertical—शीर्ष।
View—मन्तव्य।
Vitamine—खाद्यौज।

W

Wage—वेतन, मजदूरी।

Legal minimum–वैधन्यूनतम वेतन।

Living—निर्वाह वेतन।

Ways and means Advances—कामचलाऊ उधार।

Weight—महत्त्व, गुरुत्व।

Weighted Index Number—महत्वप्रदत्त सूचकांक।

Window Dressing—सजधज।

Working Capital—चालू पूँजी।

जब मूल्य							
१५	पेंस प्रति	पौंड (भार) है तब	१००	लाख पौंड (भार)	प्रति सप्ताह की माँग है		
१४	,, ,,	,, ,, ,,	१३०	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		
१३	,, ,,	,, ,, ,,	१४०	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		
१२	,, ,,	,, ,, ,,	१७०	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		
११	,, ,,	,, ,, ,,	२००	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		
१०	,, ,,	,, ,, ,,	२१०	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		
९	,, ,,	,, ,, ,,	२२०	,, ,,	,, ,, ,, ,, ,,		

मक्खन पर उपभोक्ताओं का साप्ताहिक व्यय—अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य जो क्रेताओं ने प्रति सप्ताह व्यय किया और विक्रेताओं न मक्खन के बदले पाया—प्रति इकाई मूल्य को इकाइयों की उस संख्या से, जो उस मूल्य पर खरीदी जा सकती है, गुणा करने पर सरलता से जाना जा सकता है। इसी प्रकार हमारी तालिका यह बतलाती है कि १५ पेंस प्रति पौंड मूल्य होने पर उपभोक्ताओं का साप्ताहिक व्यय १५०० लाख पेंस, १४ पेंस प्रति पौंड पर १८०० लाख पेंस, १३ पेंस प्रति पौंड पर १८२० लाख पेंस, १२ पेंस प्रति पौंड पर २०४० लाख पेंस, ११ पेंस प्रति पौंड पर २२०० लाख पेंस, १० पेंस प्रति पौंड पर २१०० लाख पेंस, और ९ पेंस प्रति पौंड पर १९८० लाख पेंस होगा।
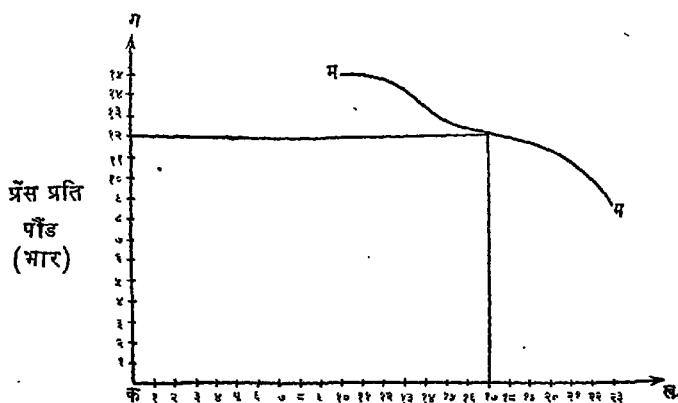
प्रति सप्ताह माँग
एक इकाई = १० लाख पौंड (भार)

चित्र १

किसी मूल्य पर प्रति सप्ताह व्यय होनेवाले द्रव्य की मात्रा एक आयत के रूप में व्यक्त होती है, जैसे उपर्युक्त आयत १२×१७० लाख पेंस = २०४० लाख पेंस (प्रति सप्ताह) व्यक्त करता है।

हमारी माँग-सरणि में सात बातें हैं। इनमें से प्रत्येक को आयताकार नियामकों (Rectangular Coordinates) की प्रणाली में एक विन्दु द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। (साप्ताहिक) माँग की मात्रा को प्रायः पड़ी रेखा क ख की ओर और प्रति इकाई मूल्य को खड़ी रेखा क ग की ओर नापते हैं। जो विन्दु हमारे लम्ब पर क से १२ (पेंस) की ऊँचाई पर होगा और क से दाहिनी ओर पड़ी रेखा पर १७० लाख पौंड प्रति सप्ताह होगा वह यह अर्थ रखता है कि १२ पेंस प्रति पौंड मूल्य पर प्रति सप्ताह १७० लाख पौंड की माँग होगी। इसी प्रकार आगे के लिये भी हम मान सकते हैं। उदाहरणार्थ हम मान सकते हैं कि यदि १० पेंस प्रति पौंड (भार) की दर से प्रति सप्ताह २९० लाख पौंड की माँग होगी और ९ पेंस प्रति पौंड की दर से २२० लाख पौंड की माँग होगी तो ९½ पेंस प्रति पौंड की दर पर २१० लाख से अधिक परन्तु २२० लाख से कम कोई बीच की मात्रा माँगी जायगी, इत्यादि। इस क्रम की मान्यता (Assumption) पर हम भिन्न भिन्न विन्दुओं को मिला कर एक माँग-वक्र (Demand Curve) तैयार कर सकते हैं।

३. ठीक ठीक माँग-सरणि प्रस्तुत करने में कठिनाई

(The Difficulty of Estimating Actual Demand Schedule)

काल्पनिक माँग-सरणि, जैसा हमने अभी उदाहरण के लिये प्रस्तुत किया है, बनाना बहुत सरल है। परन्तु इसका ठीक ठीक अनुमान करना सरल नहीं है कि किसी विशेष वस्तु अथवा सेवा की माँग-सरणि कैसी होगी।

किसी विशेष समय प्रत्येक पदार्थ का एक मूल्य होता है और उसी मूल्य पर प्रति दिन अथवा प्रति सप्ताह उसकी अनेक इकाइयाँ खरीदी जाती हैं। अब प्रश्न यह है कि यदि मूल्य में परिवर्तन हो जाय तो कितनी इकाइयाँ खरीदी जायँगी। भूतकाल में जो हो चुका है केवल उसके आँकड़े एकत्र करने से ही यह नहीं जाना जा सकता। उदाहरणार्थ, ऐसा हो सकता है कि उस पदार्थ का आज जो मूल्य है तीन वर्ष पहले १० प्रतिशत अधिक रहा हो और बिक्री आज की अपेक्षा ३० प्रतिशत कम रही हो। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यदि इस समय मूल्य १० प्रतिशत बढ़ा दिया जाय तो बिक्री की मात्रा ३० प्रतिशत कम हो जायगी; क्योंकि हो सकता है कि माँग पर प्रभाव डालनेवाली अन्य शक्तियाँ जो आज से तीस वर्ष पहले थीं आज उनसे कुछ भिन्न—अथवा बिल्कुल ही भिन्न—हों। उदाहरणार्थ तेजी के समय पदार्थों का मूल्य और बिक्री की मात्रा दोनों ही मन्दी के समय की अपेक्षा अधिक रहती हैं। परन्तु किसी भी समय, चाहे वह मन्दी का हो या तेजी का, मूल्य में वृद्धि होने पर बिक्री की मात्रा घट जायगी। भूतकाल की बिक्री और मूल्यों के आँकड़े प्रायः वर्तमान काल की माँग पर कुछ

प्रकाश डाल सकते हैं; परन्तु उनका उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये और विभिन्न समयों पर उपभोक्ताओं की संख्या, उनकी द्रव्य-आय (Money-income), उनकी रुचि, व्यापार की अवस्था और अन्य पदार्थों के मूल्य आदि के कारण होनेवाले परिवर्तनों का पूरा विचार कर लेना चाहिये। माँग की अवस्था का सबसे अच्छा अनुमान प्रायः वे लोग लगा सकते हैं जो वास्तविक अथवा संभाव्य (Potential) क्रेताओं के सम्पर्क में रहते और उनके विकल्पों (Alternatives) से परिचित रहते हैं जिससे वे भलीभाँति अनुमान कर सकते हैं कि मूल्य में वृद्धि या ह्रास होने से उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी।

कुछ पदार्थों की वर्तमान माँग के आधार पर उनकी भावी माँग का अच्छा अनुमान लगाना प्रायः कुछ व्यवसायियों और अन्य व्यक्तियों तथा सरकारों के हितों में अच्छा होता है। एकाधिकार की स्थितिवाले—अर्थात् जो पदार्थ का मूल्य अपने आप निश्चित कर सकते हैं—क्रेताओं के सामने प्रायः यह समस्या खड़ी होती है। इस अर्थ में प्रत्येक एकाधिकारी (Monopolist) को—चाहे वह उत्पादकों का कोई संघ हो जिसके हाथ में किसी विशेष पदार्थ, जैसे टिन या चाय, की पूर्ति का नियन्त्रण हो, या किसी अंकित (Branded) वस्तु का उत्पादक हो, अथवा केवल किसी स्थानीय सिनेमा का मालिक हो—यह जानने के लिये कि कौन सा मूल्य अधिक लाभदायक होगा, माँग का बहुत अच्छा अनुमान करने में समर्थ होना चाहिये। आय की खोज में चिन्तित वित्त-मन्त्री को जिस वस्तु पर वह नया कर लगाना अथवा उस पर प्रचलित कर को बढ़ाना चाहता है उसकी माँग का कुछ अनुमान अवश्य होना चाहिए। क्योंकि उस कर से होनेवाली आय उस वस्तु की बिक्री के ऊपर निर्भर रहेगी और कर लगाने के कारण उसकी बिक्री की मात्रा घट जा सकती है। कुछ वर्ष हुए ब्रिटेन के एक वित्त-मंत्री ने एक प्रकार की उत्तम शराब पर कर की दर बढ़ा दी। इससे उसका मूल्य चढ़ गया और बिक्री इतनी घट गई कि उस कर से होनेवाली आय, जब कर की दर कम थी तब की अपेक्षा, कम हो गई; अतः दूसरे वर्ष के बजट में वह कर घटा कर फिर पहले जैसा कर दिया गया। इसी प्रकार जो यंत्रादि के उत्पादक विशेषतः गेहूँ पैदा करने वाले किसानों को यंत्र तथा खेती के औजार आदि बेचते हैं उनके लिये गेहूँ की माँग का अनुमान रखना हितकर होता है। उदाहरणार्थ असाधारण रूप से अच्छी पैदावार होने से गेहूँ का भाव गिर जा सकता है जिससे संभव है गेहूँ के उत्पादक किसानों की आय इतनी कम हो जाय कि यंत्रादि के लिये उनकी माँग घट जाय।

परन्तु यह लिखते समय हमारा कार्य किसी विशेष पदार्थ की वास्तविक माँग-सरणि का अनुमान करना नहीं है, वरन् मूल्य कैसे निश्चित होते हैं इसका सामान्य परिचय देना है। इस कार्य के लिये माँग-सरणि का स्पष्ट ज्ञान हमारे लिये आवश्यक है। माँग-सरणि में उल्लिखित और माँग-वक्र (Demand Curve)

पर विन्दु द्वारा व्यक्त प्रत्येक विवरण एक भिन्न अनुमान (Hypothesis) से संबंध रखता है। यदि मक्खन का मूल्य १३ पेंस प्रति पौंड हो तो प्रति सप्ताह १४० लाख पौंड की माँग होगी। इसके विपरीत यदि मूल्य ११ पेंस प्रति पौंड हो तो २०० लाख पौंड प्रति सप्ताह की विक्री होगी, इत्यादि। वास्तव में किसी एक समय केवल एक ही मूल्य हो सकता है। मान लिया जाय कि वास्तविक मल्य १२ पेंस प्रति पौंड है और १७० लाख पौंड प्रति सप्ताहकी विक्री है; तो माँग-सरणि उस समय की माँग की अवस्था व्यक्त करेगी। यदि मूल्य घटा कर ११ पेंस प्रति पौंड कर दिया जाय तो विक्री वढ़कर २०० पौंड प्रति सप्ताह हो जायगी। परन्तु यह माँग की अवस्था में परिवर्तन नहीं कहा जायगा। इसके विपरीत विक्री ठीक ठीक २०० लाख पौंड प्रति सप्ताह, न इससे कम न इससे अधिक, तभी होगी जवकि माँग की अवस्था ठीक एक सी रहे। माँग-सरणि यह व्यक्त करती है कि किसी निश्चित मूल्य पर कितना खरीदा जायगा। यदि वास्तविक मूल्य में परिवर्तन होता है जिससे खरीद की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाता है, जैसा कि मांग-सरणि में दिखाया गया है, तो विक्री की मात्रा में विस्तार या संकोच माँग की अवस्था में परिवर्तन के कारण नहीं जो कि अनुमान (Hypothesis) से स्थिर मान लिया गया है, वरन् वाजार में वास्तविक मूल्य में परिवर्तन के कारण है।

माँग-सरणि यह व्यक्त करती है कि यदि माँग पर प्रभाव डालनेवाली अन्य वातें अपरिवर्तित रहें तो किसी निश्चित मूल्य पर किसी विशेष समय कितना खरीदा जायगा। यदि अन्य वातें परिवर्तित हो जायें तो पुरानी माँग-सरणि विश्वस्त नहीं रह जाती और उसके स्थान पर वाजार में प्रचलित वर्तमान माँग की अवस्था को स्पष्ट चित्रित करनेवाली दूसरी सरणि होनी चाहिये।

४—अधिकांश माँग-वक्र नीचे की ओर क्यों झुकते हैं
(Why Most Demand Curves Slope Downward)

अधिकांश माँग-वक्र अपनी पूरी लम्बाई भर दाहिनी ओर नीचे की ओर झुकते जाते हैं, यद्यपि कुछ भागों में अन्य भागों की अपेक्षा वहुत अधिक झुकाव हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि जवतक माँग की अवस्था में परिवर्तन करनेवाली कोई वात नहीं होती, तवतक किसी निश्चित मूल्य पर उससे अधिक मूल्य की अपेक्षा पदार्थ की अधिक मात्रा खरीदी जायगी। मूल्य में वृद्धि विक्री की मात्रा घटा देगी और मूल्य में ह्रास अधिक या कम मात्रा में विक्री को वढ़ा देगी। अब हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि ऐसा क्यों होता है।

किसी उपभोग्य वस्तु (जैसे मक्खन) की सम्पूर्ण साप्ताहिक विक्री म अनेक उपभोक्ताओं द्वारा विभिन्न मात्राओं में की गई विक्री सम्मिलित है। यदि अन्य वातें, जिन पर मक्खन की माँग निर्भर है, ज्यों की त्यों रहें तो उसका प्रति पौंड मूल्य कम होने पर कुछ उपभोक्ता अधिक मक्खन

खरीदेंगे। और यदि उसका मूल्य अधिक हो तो कुछ उपभोक्ता कम खरीदेंगे। हम यह दिखाकर इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं कि मूल्य में परिवर्तन होने पर क, ख, ग, घ, ङ, च, इन छः उपभोक्ताओं की, अलग अलग क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी।

मूल्य प्रति पौंड (पेंस)	[प्रति सप्ताह खरीदी जानेवाली मात्रा (पौंडमें)] क	ख	ग	घ	ङ	च	योग पौंड
१५	२	०	१/४	३	३/४	१	७
१४	२	०	१/४	३१/४	१	११/२	८
१३	२	१/२	१/४	३१/२	११/४	११/२	९
१२	२	१/२	१/४	३१/२	११/४	१३/४	९१/४
११	२	१/२	१/२	४	११/४	२	१०१/४
१०	२	१	१/२	४१/२	११/४	२	१११/४
९	२	१	३/४	४३/४	२	२	१२१/२

कम मूल्य पर भी कुछ उपभोक्ता (जैसे क) पहले की अपेक्षा अधिक नहीं खरीदेंगे परन्तु कुछ जो पहले बिलकुल नहीं खरीदते थे (जैसे ख १४ पेंस या अधिक मूल्यपर) वे अब थोड़ा सा खरीदेंगे और अन्य भी अपनी खरीद की मात्रा बढ़ा देंगे। यह समझाने के लिये कि कम मूल्य पर संपूर्ण बिक्री अधिक क्यों होगी हमें व्यक्तिगत उपभोक्ता के व्यवहार और उसके कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

हम मान लेते हैं कि हमारे उपभोक्ता ने साप्ताहिक व्यय के लिये द्रव्य की एक मात्रा निश्चित कर रखी है। (यदि द्रव्य-आय में परिवर्तन होता है तो माँग की अवस्था भी बदल जायगी)। उसे यह निश्चय करना आवश्यक है कि यह साप्ताहिक द्रव्य की मात्रा किस प्रकार व्यय की जाय। जितना ही अधिक द्रव्य वह मक्खन पर व्यय करता है उतना ही कम उसे अन्य वस्तुएँ खरीदने के लिये बचेगा। अतएव मक्खन पर उसका व्यय मक्खन और अन्य वस्तुओं के बीच उसके अधिमान-माप (Scale of preferences) का द्योतक कहा जायगा।

यदि हम किसी व्यक्ति का भिन्न भिन्न उपभोग्य-वस्तुओं के बीच अधिमान-माप जानते हैं तो पहले से ठीक ठीक बता सकते हैं कि वह किसी निश्चित साप्ताहिक व्यय को विभिन्न वस्तुओं पर, जिनमें से प्रत्येक का मूल्य हमें विदित है, किस प्रकार वितरित करेगा। उसका अधिमान-माप उसकी रुचि की मात्रात्मक अभिव्यक्ति (Quantitative expression) है। पाठक शायद यह समझते हों कि यह मान लेना कि प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित अधिमान-माप होता है सत्य नहीं है। अब हम इसके विरुद्ध उठाई जाने योग्य कुछ संभाव्य आपत्तियों (Objections) पर विचार करेंगे।

यह कहा जा सकता है कि उपभोक्ता की खरीद अनेक प्रकार की परिस्थितियों के कारण परिवर्तित हो सकती है, जैसे जलवायु या उसका अपना स्वास्थ्य अथवा वस्तुओं का विज्ञापन। यह सच है। परन्तु ऐसे परिवर्तनों को हम उसकी "रुचि" में परिवर्तन मान रहे हैं। यदि उपभोक्ताओं की रुचि परिवर्तित हो जाती है तो पुरानी माँग-सरणि लागू नहीं होती। परन्तु हमारा विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी निश्चित माँग-सरणि का एक विशेष स्वरूप क्यों है?

यह कहा जा सकता है कि यदि किसी व्यक्ति की रुचि अपरिवर्तित भी रहे तो भी वह ठीक उसी प्रकार के भोजन की माँग नहीं करेगा जिस प्रकार का उसने कल खाया है। इन सबका तात्पर्य यह है कि हमें पर्याप्त रूप से लंबी अवधि का विचार करना चाहिये। जिससे वह भोजनादि सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के विषयों म अपनी इच्छा पूर्ण करने का अवसर पा सके.

यह कहा जा सकता है कि वह अपने साप्ताहिक व्यय का एक अंश भूतकाल में किये हुये अपने निश्चय के परिणामस्वरूप पहले ही "पृथक्" (Earmarked) कर सकता है। उदाहरणार्थ उसने शायद द्रव्यकी एक निश्चित मात्रा प्रति सप्ताह मकान भाड़ा के रूप में देने का ठीका किया हो। परन्तु शेष द्रव्य को वह अपने इच्छानुसार व्यय करने के लिये स्वतंत्र है और यदि मूल्य में परिवर्तन होने के कारण वह किसी कम या अधिक कियायेवाले मकान में जाना चाहता है तो उस का प्रबंध बड़ी सरलता से हो सकता है; अधिक से अधिक उसे मकान का ठीका समाप्त होने तक रुकना पड़ सकता है।

यह कहा जा सकता है कि कुछ लोग दूसरों के लिये खरीदते हैं; जैसे घर का मालिक अपने परिवार के लिये खरीदता है, माता-पिता अपने बच्चों के लिये सामान खरीदते हैं और कुछ लोग दूसरोंको उपहार देने के लिए कुछ वस्तुएँ खरीदते हैं। परन्तु इससे हमारे तर्क में कोई बाधा नहीं पड़ती। मूल्य का निर्धारण समझाने के लिये हमें क्रेताओं के अभिप्राय (Motives) की छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है। हमें केवल यही जानना चाहिए कि यदि उनके सामने कुछ निश्चित प्रकार के मूल्य रखे जायँ तो वे अपने व्यय का वितरण किस प्रकार करेंगे।

यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्तियोंको अपने अधिमान-माप (Scale of preferences) के केवल एक अंश का ज्ञान रहता है। उदाहरणार्थ यह असम्भव है कि अधिकांश घर के मालिकों ने इस पर विचार किया हो कि यदि मक्खन का मूल्य गिर कर १पेंस प्रति पौंड हो जाय या चढ़कर ५ शि० प्रति पौंड होजाय तो वे कितना मक्खन खरीदेंगे क्योंकि जिन बातों के होने की कम सम्भावना है उन पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसी कारण उदाहरण के लिये हमने माँग-सरणि का केवल एक अंश ही लिया है। परन्तु यह बतला देना आवश्यक है कि हमने यह मान लिया है कि कोई क्रेता इस प्रकार आचरण

करता है मानो उसने अपना निश्चित "अधिमान-माप" बना लिया हो। परन्तु ऐसा हो सकता है कि किसी व्यक्ति को शायद अपनी रुचि का ज्ञान भी न हो। फिर भी यदि वह नियमित आचरण करता है तो उसके आचरण का निरीक्षण करके हम उसके अधिमान-माप का आवश्यक अंश तैयार कर सकते हैं।

अतएव हमारी मान्यता (Assumption) की उपर्युक्त आपत्तियों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि अधिकांश व्यक्तियों का आचरण बिना सोचे समझे हुआ करता है, क्योंकि वे असावधानी से और अकस्मात् व्यय करते हैं, जिसमें कोई योजना या पूर्वनिश्चित विचार नहीं हुआ करता, तो यह हमारी मान्यता (Assumption) की वास्तविक आपत्ति होगी; परन्तु वास्तव में अधिकांश लोग इस प्रकार आचरण नहीं करते; अगर करें तो उन का काम ही न चले। उनकी आय उनकी इच्छाओं की अपेक्षा इतनी परिमित है कि उन्हें विवश होकर अनेक विकल्पों को तौलना पड़ता है और द्रव्य का अधिक से अधिक लाभ उठाने लिये व्यय करने के पहले बहुत सोचना पड़ता है।

अतएव अपने व्यय की व्यवस्था करनेवाले एक विशेष विवेकशील उप-भोक्ता के ऊपर अब हम विचार करेंगे। मान लिया कि वह अपने पाई पाई का बहुत सावधानी से हिसाब रखता है। तो उसकी समस्या यह है कि एक निश्चित बाजार-मूल्य के आधार पर वह अपने व्यय को विभिन्न वस्तुओं पर किस प्रकार वितरित करे कि अपने अधिमान-माप के अनुसार उसे उस व्यय से अधिक से अधिक तुष्टि हो। उस द्रव्य से जितने प्रकार की वस्तुएँ वह खरीद सकता है उनमें से उस प्रकार की वस्तुएँ खरीदने का प्रयत्न करेगा जिन्हें वह अधिक पसंद करता है। यदि वह सफल होता है तो अपने व्यय की इस प्रकार व्यवस्था करेगा कि किसी वस्तु पर उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे एक पाई भी कम या अधिक व्यय न हो।

इसे व्यक्त करने का दूसरा ढंग यह है कि हम कहें कि वह अपने साप्ताहिक व्यय से अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। "उपयोगिता" (Utility) शब्द में कोई चमत्कार नहीं है। यह संभव है कि एक प्रकार के भोज्य पदार्थों पर अधिक और दूसरे प्रकार पर कम व्यय करके वह अधिक शक्ति प्राप्त करे, अथवा यह संभव है कि यदि वह भोजन और व्यायाम पर अधिक व्यय करे और कपड़ों और मनोरंजन पर कम तो अधिक स्वस्थ रह सकता है; अथवा हो सकता है कि शराब पर कम व्यय करने से वह अधिक कुशल हो सके। परन्तु संसार जैसा है उसे समझने के लिये हमें जानना चाहिये कि लोग वास्तव में कैसा आचरण करते हैं, यह नहीं कि हम समझते हैं कि उन्हें ऐसा आचरण करना चाहिए। एक प्रकार की वस्तुओं से दूसरे प्रकार की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है, यह कहने का तात्पर्य केवल

इतना ही है कि वह पहले प्रकार की वस्तुओं को दूसरे प्रकार की वस्तुओं से अधिक पसंद करता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[1]

अब हमें "सीमा" (Margin) की महत्त्वपूर्ण कल्पना (Conception) का परिचय देना चाहिये। यदि हमारा उपभोक्ता अपने परिमित द्रव्य को अपने इच्छानुसार सर्वोत्तम ढंग से व्यय करने में सफल होता है तो किसी एक वस्तु से मिलनेवाली प्रत्येक पाई के मूल्य की सीमान्त उपयोगिता किसी भी दूसरी वस्तु से मिलनेवाली प्रत्येक पाई के मूल्य की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगी। यदि हम पाई को अपनी इकाई मानें और यदि वह प्रतिदिन १ आना मक्खन पर व्यय करता है तो उसे १ पाई मूल्य के मक्खन की सीमान्त उपयोगिता उसकी संपूर्ण उपयोगिता में वह योग (Addition) है जो उसे प्रतिदिन ११ पाई के बदले १२ पाई का मक्खन खाने से मिलती है। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि यह वह अतिरिक्त उपयोगिता है जो उसे प्रतिदिन मक्खन पर व्यय होनेवाली अन्तिम पाई से प्राप्त होती है। परन्तु यह कथन कुछ असंयत इसलिये है कि किसी एक पाई का मक्खन दूसरी पाई के मक्खन से अभिन्न है। यदि वह मक्खन पर प्रतिदिन एक आना कम और चाय पर एक आना अधिक व्यय करके अधिक उपयोगिता प्राप्त कर सकता है तब भी उसने अपनी समस्या ठीक से हल नहीं की और यह अनुभव करके वह चाय पर अधिक और मक्खन पर कम व्यय करने लगेगा। यदि उसकी उपयोगिता सचमुच बढ़ जाती है तो वह एक वस्तु से कम करके दूसरी पर प्रतिदिन एक पाई भी अधिक व्यय करना नहीं चाहेगा। अर्थात् जो वस्तुएँ वह खरीदता है उन सबकी सीमान्त उपयोगिता (एक पाई को इकाई मानकर) उसके लिए समान होगी।

अब हमें ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता (Diminishing Marginal Utility) के तथाकथित "नियम" (Law) पर विचार करना है। यह अन्तरीक्षण (Introspection) और दूसरे लोगों के आचरणों के निरीक्षण द्वारा प्राप्तज्ञान के आधार पर स्थापित एक प्रकार का सिद्धान्त है। इसके अनुसार यदि कोई उपभोक्ता, जिसकी रुचि निश्चित है, किसी एक ही वस्तु का अपना (दैनिक या साप्ताहिक) उपभोग बढ़ाता है तो उसके लिये उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता की तुलना में घट जायगी। और

१. निःसंदेह किसी व्यक्ति के कुछ क्रय करने का निश्चय उसके उन अनुमानों पर निर्भर रहता है जिनके आधार पर वह यह जानता है कि विभिन्न वस्तुओं से उसे प्राप्त होनेवाली आपेक्षिक उपयोगिताएँ क्या होंगी। संभव है उसका अनुमान ठीक न हो। उदाहरणार्थ, हो सकता है कि वह किसी अभिनय का टिकट खरीदे परन्तु अभिनय देखने पर उसे निराशा हो। परन्तु प्रत्याशित उपयोगिता और प्राप्त उपयोगिता का इस प्रकार का अन्तर प्रायः उन वस्तुओं में नहीं पाया जाता जिन्हें वह अधिकतर खरीदता है।

तब यह और भी स्पष्ट रूप से घटी जान पड़ेगी जब उस वस्तु का उपभोग बढ़ाने के लिये, वह अन्य वस्तुओं का उपभोग घटा देता है, क्योंकि इससे विचाराधीन वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की तुलना में उन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उसके लिये बढ़ जायगी। इस नियम की हम इतनी लंबी परिभाषा इसलिये कर रहे हैं जिससे यह अर्थ न निकले कि निरपेक्ष उपयोगिता (Absolute Utility) नापी जा सकती है। एक वस्तु द्वारा प्राप्त उपयोगिता दूसरी वस्तुओं से प्राप्त उपयोगिता से सर्वदा सापेक्ष (Relative) होती है। कोई उपभोक्ता उपयोगिताओं—अर्थात् विभिन्न वस्तुओं से उसको प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओं—की तुलना कर सकता है, और प्रायः करता भी है, यद्यपि निरपेक्ष उपयोगिता को नापने का कोई साधन नहीं है।

अधिकांश व्यक्तियों के अधिमान-माप इस नियम के अनुसार होते हैं इसलिये हमें यह जानने का एक कारण मिल जाता है कि अधिकांश माँग-वक्र नीचे की ओर क्यों झुकते हैं। मान लिया कि किसी उपभोक्ता ने मक्खन की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की (जिन्हें वह खरीदता है) सीमान्त उपयोगिता के तुल्य कर लिया है। तो जैसी स्थिति है उसमें वह प्रतिदिन अधिक मक्खन नहीं खरीदेगा क्योंकि ऐसा करने के लिये उसे किसी अन्य वस्तु पर व्यय घटाना पड़ेगा और उस अन्य वस्तु को जिसका उसे त्याग करना पड़ेगा उस अतिरिक्त मक्खन से वह अधिक महत्त्व देता है। परन्तु यदि मक्खन का मूल्य गिर जाता है तो स्थिति बदल जाती है। अब वह प्रति आना में पहले की अपेक्षा अधिक मक्खन पाएगा। अतएव मक्खन की जो मात्रा वह पहले खरीदता था उसमें वृद्धि कर देगा जिससे उसकी सीमान्त उपयोगिता उसके लिए कम हो जायगी और घटते घटते उस स्तर पर पहुँच जायगी जहाँ अन्य वस्तुओं से प्राप्त होनेवाली एक आने की उपयोगिता एक आने में प्राप्त मक्खन की नवीन उपयोगिता के तुल्य हो जायगी। इस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य में ह्रास होने से उसकी अधिक मात्रा बिकेगी। उस वस्तु पर उपभोक्ता का संपूर्ण व्यय पहले की अपेक्षा कम होगा या अधिक यह दूसरा प्रश्न है।

सीमान्त उपयोगिता का यह सिद्धान्त (Concept) अवसर लागत (Opportunity Cost) के सिद्धान्त के साथ साथ विभिन्न वस्तुओं के आपेक्षिक मूल्यों का कारण बतलाता है। प्रत्येक उपभोक्ता का अधिमान यह निश्चय करता है कि कुछ निश्चित मूल्यों पर वह प्रत्येक वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। वह अपने व्यय को इस प्रकार वितरित करेगा कि एक आने की एक वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता एक आने की किसी दूसरी वस्तु की (जिसे वह खरीदता है) सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो। साथ ही प्रत्येक वस्तु का मूल्य ठीक उतना ही नीचा होगा जिससे प्रति सप्ताह या प्रति वर्ष बाजार में

बिकने के लिये आनेवाला सब माल बिक जाय। बाजार में बिकने के लिये आनेवाली किसी वस्तु की मात्रा उत्पादन के उपलभ्य साधनों और उनके वैकल्पिक (Alternative) उपयोगों पर निर्भर रहती है। उत्पादन का कोई साधन या उपादान (Factor) यदि किसी अन्य क्षेत्र में जाकर कुछ अधिक मूल्यवान पदार्थ उत्पन्न कर सकता है तो उसकी प्रवृत्ति उसी क्षेत्र में जाने की होती है। अतएव बिक्री के लिये आनेवाली एक वस्तु की मात्रा में वृद्धि (यदि यह मान लिया जाय कि उसकी संपूर्ण मात्रा बिक जाती है) उसकी आपेक्षिक सीमान्त उपयोगिता गिरा देगी, अतः अन्य वस्तुओं की तुलना में उसका मूल्य भी गिर जायगा। और इसी प्रकार किसी वस्तु के प्रतिकूल लोगों की रुचि में परिवर्तन होने पर यदि उसकी पूर्ति ज्यों की त्यों रहे तो उसकी आपेक्षिक सीमान्त उपयोगिता घट जायगी अतः उसका आपेक्षिक मूल्य भी गिर जायगा।

यह ध्यान रखना चाहिये कि आपेक्षिक मूल्य के साथ साथ सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन होता है, न कि संपूर्ण उपयोगिता में। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि कोई व्यक्ति प्रतिदिन १० आना मक्खन पर व्यय करता है और १० आना समाचारपत्रों पर। इसका यह अर्थ नहीं है कि मक्खन से उसे प्राप्त होनेवाली संपूर्ण उपयोगिता समाचारपत्रों से मिलनेवाली संपूर्ण उपयोगिता के बराबर है। यदि उसे दोनों में एक को चुनना पड़े तो शायद वह सब समाचारपत्रों के बदले केवल आधी रोटी पसंद करे। परन्तु अन्तिम पाई से, जिसे वह समाचारपत्रों पर व्यय करता है, उसे उतनी ही अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है जितनी मक्खन पर व्यय होनेवाली अंतिम पाई से मिलती है। यदि ऐसा न होता तो वह तबतक मक्खन पर अधिक और समाचारपत्रों पर कम व्यय करता जबतक दोनों से प्राप्त होनेवाली सीमान्त उपयोगिता बराबर न हो जाती। सीमा (Margin) का यह सिद्धान्त (Concept) मूल्य के विरोधाभास (Paradox of Value) को समझने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ रोटी और मक्खन रत्नों की अपेक्षा अधिक "उपयोगी" कहे जाते हैं, तो फिर ये इतने सस्ते क्यों हैं? इसके लिये हमें सीमा की ओर दृष्टि डालनी चाहिये। रत्नों का क्रेता भोजन, वस्त्र और अन्य वस्तुओं पर शायद पहले ही इतना व्यय कर चुका है कि वह १०० रु० प्रति वर्ष अतिरिक्त भोजन, वस्त्र या अन्य वस्तुओं पर व्यय न करके रत्नों पर ही व्यय करना चाहता है। यदि उसे भोजन या रत्नों में से एक का त्याग करना पड़े तो निःसन्देह वह रत्नों का त्याग करेगा। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के निर्णय का अवसर ही नहीं आता है। लोगों को प्रायः एक वस्तु की कम मात्रा और दूसरे की अधिक मात्रा के बीच अथवा पहली की अधिक मात्रा और

दूसरी की कम मात्रा के बीच चुनाव करना पड़ता है। वे सीमान्त उपयोगिताओं को समान करना चाहते हैं, संपूर्ण उपयोगिताओं को नहीं।

इस संबंध में वस्तु की इकाई सदा वह मात्रा होनी चाहिये जो मुद्रा की किसी निश्चित इकाई (जैसे आना) द्वारा खरीदी जा सके। कोई उपभोक्ता मक्खन और दूध से उसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओं को समान करता है ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मक्खन का अंतिम तोला प्रतिदिन उसे वही अतिरिक्त उपयोगिता प्रदान करता है जितना दूध का प्रत्येक छटांक प्रतिदिन देता है। तोला और छटांक मनमाने माप या इकाइयाँ हैं। तुलना करने के लिये हमारे माप विभिन्न उपयोगों में वितरित किये जानेवाले परिमित "साधन" (Resources) होने चाहिये। इस प्रसंग में परिमित साधन द्रव्य है, विभिन्न उपयोग भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं, और समुचित इकाई आना है। बाजार में प्रचलित मूल्य सभी उपभोक्ताओं के लिये समान है। प्रत्येक उपभोक्ता अपने अधिमान-माप के अनुसार अपनी खरीद को घटाता बढ़ाता है। अतएव विभिन्न उपभोक्ताओं की रुचियों में अन्तर प्रति इकाई के लिये भिन्न भिन्न मूल्य देने में नहीं व्यक्त होता वरन् भिन्न-भिन्न मात्राएँ खरीदने में व्यक्त होता है।

५. अपवादी माँग-वक्र (Exceptional Demand Curves)

कुछ माँग-वक्र अपनी लंबाई के कुछ अंश में ऊपर को मुड़ते हैं और यह व्यक्त करते हैं कि प्रति इकाई ऊँचे मूल्य पर अधिक इकाइयाँ खरीदी जा सकती हैं। हाँ कोई भी माँग–वक्र अपनी पूरी लंबाई भर ऊपर को नहीं मुड़ता—इसका यह तात्पर्य है कि यदि किसी वस्तु का मूल्य ऊँचा हो तो उस पर व्यय होनेवाले द्रव्य की मात्रा बहुत होगी और असीम (Infinity) तक पहुँचेगी।

जब किसी पदार्थ का मूल्य बहुत चढ़ जाता है तब कभी कभी लोग उसको खरीदने के लिए अधिक उत्सुक हो जाते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि शायद इसका मूल्य और भी ऊपर चढ़े। बंट–विनिमय (Stock Exchange) में क्रय–विक्रय होनेवाली प्रतिभूतियों (सिक्युरिटियों) के संबंध में ऐसा होता है। परन्तु ऐसा व्यापार (Phenomenon) लोगों के अनुमान में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की अवस्था में परिवर्तन माना जाता है, न कि ऊपर मुड़नेवाले माँग–वक्र द्वारा व्यक्त स्थायी माँग की अवस्था।

कुछ संपन्न उपभोक्ता कुछ विशेष वस्तुएँ, जैसे बहुमूल्य रत्न, विशेषतः इसलिए खरीदते हैं कि उनका मूल्य अधिक है और उन्हें रखने से उनकी सम्पत्ति का प्रदर्शन होता है। ऐसे उपभोक्ता इन वस्तुओं का मूल्य अधिक होने पर और भी अधिक खरीदते हैं। परन्तु अधिकतर ऐसी वस्तुओं की

बाजार-मांग का वक्र, जो सभी उपभोक्ताओं की सम्मिलित माँग व्यक्त करता है, नीचे की ओर झुकेगा।

फिर भी कभी कभी ऐसा हो सकता है कि, उपभोक्ताओं के अज्ञान के कारण, यदि मूल्य अधिक है तो बिक्री की मात्रा अधिक हो। जैसे कहा जाता है कि सन् १९१४ के महायुद्ध के ठीक पहले चित्रों की एक पुस्तक १० शि. ६ पे. मूल्य की प्रकाशित हुई थी और उसकी केवल कुछ ही प्रतियां बिकी थीं। युद्ध के बाद वही पुस्तक ३ पौं. ३ शि. मूल्य रखकर प्रकाशित की गई और उसकी बहुत प्रतियाँ बिकीं। संभवतः उपभोक्ताओं ने सोचा कि ३ पौं. ३ शि. की पुस्तक अवश्य ही रखने योग्य होगी। परन्तु ऐसे उदाहरण बिरले होते हैं।

अपवादी माँग-वक्र के अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण (इंगलैंड में) रोटी और आलू के समान जीवनोपयोगी पदार्थों द्वारा उपस्थित होते हैं। मूल्य की कुछ श्रेणी (Range) तक बहुत संभव है कि अधिक मूल्य पर अधिक रोटी या आलू खरीदा जाय।

पाश्चात्य देशों में सामान्य रूप से व्यवहार में आनेवाले खाद्य पदार्थों में रोटी सबसे अधिक सस्ती एवं प्रति पेंस अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में शरीर के लिये उष्णता और शक्ति प्रदान करनेवाली एवं भूख की तृप्ति करनेवाली वस्तु है। मान लीजिये कि उत्पादन-व्यय बढ़जाने के कारण रोटी के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। यदि अन्य वस्तुओं का मूल्य ज्यों का त्यों रहे और द्रव्य-आय भी ज्यों की त्यों बनी रहे तो उपभोक्ताओं की दशा पहले से बुरी हो जायगी; उनकी वास्तविक आय गिर जायगी। उपभोक्ता को अनुभव होगा कि किराये आदि पर न व्यय करके खाद्यपदार्थोंके लियेजो साप्ताहिक द्रव्यकी मात्रा उसने निश्चित कर रखी थी, रोटी का भाव चढ़ जाने से, उसके द्वारा अब कम मात्रा में खाद्य पदार्थ खरीदे जा सकेंगे। यदि वह पहले ही के समान सभी अन्य वस्तुएँ खरीदता है, अतएव रोटी पर भी पहले ही के बराबर द्रव्य व्यय करता है, तो पहले की अपेक्षा उसे कम मात्रा में रोटी मिलेगी और यदि वह बहुत निर्धन है तो उसे और उसके परिवारवालों को अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिलेगा और आधा पेट खाकर रहना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति का सामना पड़ने पर, बहुत निर्धन उपभोक्ता अपने व्यय के वितरण में परिवर्तन करेगा और कुछ वस्तुओं पर, जिनमें कुछ ऐसी वस्तुएँ होंगी जो भूखवर्द्धक किन्तु कम शक्तिदायक होंगी, खर्च घटा देगा, जिससे वह केवल पहले के बराबर ही नहीं वरन् उससे अधिक मात्रा में रोटी खरीद सके। ऐसा सचमुच हो सकता है यह इस से जाना जाता है कि यदि मूल्य ज्यों का त्यों रहे और द्रव्य-आय में वृद्धि हो जाय तो निर्धन परिवार प्रायः रोटी पर कम व्यय करते हैं।

अतएव रोटी आदि दो चार पदार्थों के माँग-वक्र अपनी लंबाई के कुछ भागों में ऊपर की ओर मुड़ सकते हैं।

६. माँग की लोच (Elasticity of Demand)[1]

एक महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त माँग की लोच का है। इस सिद्धान्त का संबंध मूल्य में अल्प परिवर्तन से माँग की मात्रा पर पड़नेवाले प्रभाव से है।

किसी निश्चित मूल्य पर किसी पदार्थ पर व्यय होनेवाले द्रव्य की संपूर्ण मात्रा उस मूल्य पर उस पदार्थ की "सम्पूर्ण" लागत (Total outlay) कही जा सकती है। यदि एक दूसरे के आस-पास दो मूल्य सब उपभोक्ताओं को समान संपूर्ण लागत लगाने को प्रेरित करें तो उन दोनों मूल्यों के बीच माँग की लोच एक (Unity) कही जायगी। जैसे माँग-सरणिवाले हमारे उपर्युक्त उदाहरण में १४ पेंस और १३ पेंस के बीच माँग की लोच एक है; क्योंकि संपूर्ण लागत १८२० लाख पेंस पर स्थिर है।

यदि निचले मूल्य पर संपूर्ण लागत अधिक है तो माँग की लोच दोनों मूल्यों में एक से अधिक है। यह १३ पेंस और १२ पेंस के बीच है क्योंकि १३ पेंस मूल्य रहने पर संपूर्ण लागत १८२० लाख पेंस और १२ पेंस पर २०४० लाख पेंस होती है।

यदि ऊँचे मूल्य पर संपूर्ण लागत अधिक है तो दोनों मूल्यों के बीच माँग की लोच एक से कम है। यह ११ पेंस और १० पेंस के बीच है क्योंकि ११ पेंस पर संपूर्ण लागत २२०० लाख पेंस और १० पेंस पर २१०० लाख पेंस है।

इस प्रकार किसी माँग-सरणि के भिन्न भिन्न भागों में माँग की लोच एक निश्चित मात्रा के बाद एक से कम होगी क्योंकि अन्य आवश्यकताओं के दवाव के कारण किसी एक वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय के एक निश्चित अंश से अधिक व्यय नहीं करना चाहेगा, परन्तु वास्तव में बहुत से पदार्थों पर संपूर्ण लागत इस प्रकार के अधिकतम से बहुत नीचे रहती है।

चित्र १ में प्रति इकाई मूल्य और खरीदी जानेवाली मात्रा का संबंध दिखाया गया है। इन्हीं आकड़ों को व्यक्त करने का दूसरा ढंग यह हो सकता है कि संपूर्ण लागत और खरीदी गई मात्रा का संबंध दिखाया जाय। यह उपर्युक्त माँग-सरणि के अनुसार चित्र २ में दिखाया गया है। यहां प्रत्यक्ष रूप में प्रति इकाई मूल्य नहीं दिखाया गया है। संपूर्ण लागत को माँग की जानेवाली संख्या से भाग देने पर यह प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि क च इकाइयां खरीदी जाती हैं तो संपूर्ण लागत क छ (पेंस) होगी और मूल्य (प्रति पौं०) होगा $\frac{\text{क छ}}{\text{क च}}$ (पेंस)। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के रेखाचित्र

---

१. आगे का विवेचन अपवादी माँग-वक्र पर लागू नहीं होगा।

(Diagram) पर एक दृष्टि डाल कर ही यह जान सकते हैं कि किसी विन्दु पर माँग की लोच एक से कम है या अधिक। यदि वक्र ऊपर की ओर (वांयें से दाहिने) जा रहा है तो लोच एक से अधिक है, यदि वक्र नीचे की ओर जा रहा है तो लोच एक से कम है और यदि वक्र एक पड़ी रेखा के रूप में है तो लोच एक के वरावर है।

यदि उपभोक्ताओं की संख्या, आय और रुचि दी हुई है तो किसी विशेष मूल्य के आसपास किसी पदार्थ की माँग की लोच, अन्य पदार्थों के वदले उसके उपयोग की (उपभोक्ताओं द्वारा कल्पित) संभावनाओं पर निर्भर रहती है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी। जैसे कुछ सीमा (Range) तक चीनी की माँग वहुत लचीली हो सकती है क्योंकि उसके मूल्य में थोड़ी कमी होने से लोग गुड़ के स्थान पर उसका व्यवहार करने लगेंगे। इसी प्रकार यदि क्रेता अन्य रत्नों को हीरे का स्थानापन्न (Substitute) न मानें तो कुछ सीमा तक हीरों की माँग वहुत रूढ़ (Inelastic) हो सकती है। इससे यह सूचित होता है कि यह धारणा, कि विलासिता की वस्तुओं की मांग लचीली और आवश्यकता की वस्तुओं की माँग रूढ़ होती है, भ्रामक है।
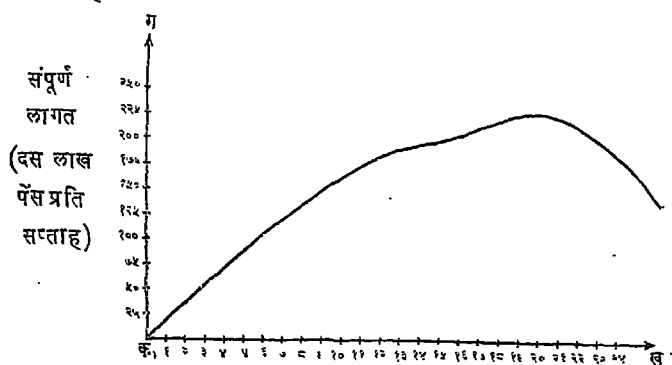
प्रति सप्ताह की माँग
प्रत्येक इकाई = १० लाख पौंड
चित्र २

एक दूसरी वात यह है कि वहुत सी वस्तुएँ कई प्रकार से काम में आती हैं। जैसे कोयले की माँग कारखानों की भट्ठियों, रेलों, जहाजों, गैस के कारखानों, विजलीघरों, अन्य कारखानों, घरों इत्यादि की माँगों के योग पर निर्भर रहती है। इस प्रकार की वस्तु के मूल्य में ह्रास किसी विशेष कार्य के लिये माँग की हुई उसकी मात्रा में वहुत विस्तार का कारण हो सकता

है। यदि मक्खन का उदाहरण लें तो कुछ सीमा तक उसके मूल्य में ह्रास, भोजनादि के लिये मक्खन की माँग में यथेष्ट विस्तार कर सकता है। परन्तु जब ऐसा होगा तब अन्य चिकने पदार्थों—जैसे घी, तेल, वनस्पति घी इत्यादि—की मात्रा कम माँगी जायगी। इस प्रकार के उदाहरण हमारे इस साधारणीकरण (Generalisation) के कि माँग की लोच प्रतिस्थापन (Substitution) की संभावना पर निर्भर रहती है अपवाद नहीं है।

टिप्पणी (Note)

किसी मूल्य पर माँग की लोच मूल्य में एक प्रतिशत ह्रास होने पर माँगी हुई मात्रा में प्रतिशत वृद्धि के द्वारा नापी जा सकती है; अथवा, दूसरे शब्दों में, माँगी हुई मात्रा में प्रतिशत वृद्धि को मूल्य में (अल्प) प्रतिशत ह्रास से भाग देने पर माँग की लोच निकल सकती है[१]। उदाहरणार्थ यदि मूल्य में १ प्रतिशत ह्रास होने से किसी निश्चित समय बिक्री १००० से १०२० अथवा २००० से २०४० हो जाती है तो उस मूल्य पर माँग की लोच २ है; यदि मूल्य में २ प्रतिशत ह्रास होने से बिक्री १००० से १०१० हो जाती है तो उस मूल्य पर माँग की लोच $^{१}/_{२}$ है, यदि मूल्य में $^{१}/_{२}$ प्र० श० ह्रास से बिक्री ५० से ५५ हो जाती है तो उस मूल्य पर माँग की लोच २० है।

इस विधि के प्रयोग से प्राप्त फल उपभोक्ताओं की संपूर्ण लागत में परिवर्तन से प्राप्त फल से भिन्न हो सकता है। मान लिया कि मूल्य में १० प्र. श. ह्रास (१०० से ९०) होने से बिक्री में १० प्र. श. वृद्धि (१०० से ११०) होती है तो उपर्युक्त विधि से नापने पर माँग की लोच ठीक एक हुई। परन्तु संपूर्ण लागत (१००×१००=१०००० से ९०×११०=९९०० तक) घट गई है। इस भिन्नता का कारण यह है कि यह धारणा (Notion) माँग की लोच को ठीक **एक बिन्दु पर** व्यक्त करती है न कि मूल्य की एक निश्चित श्रेणी पर।[२]

एक बिन्दु मू पर माँग-वक्र की लोच किस प्रकार नापी जा सकती है

---

१ इस कल्पना के लिये हम मार्शल के ऋणी हैं (. Principles of Economics, पृ. १०२)।

२ इस विषय पर दे० "The Diagrammatical Representation of Elasticity of Demand" by A. P. Lerner in The Review of Economic Studies, Vol I, No. 1.

उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार (मूल्य की किसी निश्चित श्रेणी पर) चाप-लोच (arc elasticity) को ठीक ठीक नापने पर यह भिन्नता दूर की जा सकती है।

यह दिखाने के लिये[३] उसी वक्र पर मू से नीचे हम एक दूसरा विन्दु मो लेते हैं और लंब क ग को त तथा पड़ी रेखा क ख को ता पर काटनेवाली एक सरल रेखा द्वारा दोनों विन्दुओं को मिला देते हैं।

स मू मूल्य पर माँगी जानेवाली मात्रा क स है।

मो ह मूल्य पर माँगी जानेवाली मात्रा क ह है।

मूल्य में ह्रास मू ट को र मान लिया जाय।

विक्री की वृद्धि ट मो को व मान लिया जाय।

माँगी जानेवाली मात्रा $\frac{\text{व}}{\text{क स}}$ में मूल्य में आनुपातिक ह्रास $\frac{\text{र}}{\text{मू स}}$ से भाग देने पर जो फल निकलेगा वही माँग की लोच है।

$$\frac{\text{व}}{\text{क स}} \div \frac{\text{र}}{\text{मू स}} = \frac{\text{व}}{\text{क स}} \times \frac{\text{मू स}}{\text{र}} = \frac{\text{व}}{\text{र}} \times \frac{\text{मू स}}{\text{क स}}$$

छोटा त्रिभुज मू ट मो वड़े त्रिभुज मू स ता के अनुरूप (Similar) है।

अतः $\frac{\text{व}}{\text{र}} = \frac{\text{स ता}}{\text{मू स}}$ । अतः $\frac{\text{व}}{\text{र}} + \frac{\text{मू स}}{\text{क स}} = \frac{\text{स ता}}{\text{मू स}} + \frac{\text{मू स}}{\text{क स}} = \frac{\text{स ता}}{\text{क स}}$
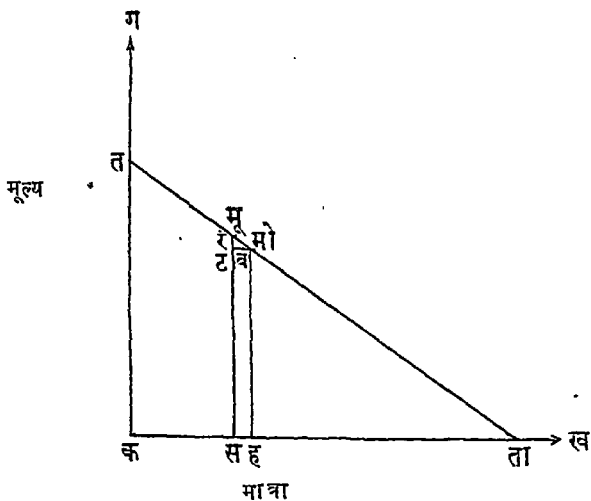
चित्र ३

जब मू और मो के वीच की दूरी अनिश्चित रूप से घटा दी जाती है तो

३. मार्शल के गणितीय परिशिष्ट (Mathematical Appendix) में दी हुई उपपत्ति (Proof) का सारांश।

एक बिन्दु दूसरे को ढक लेता है और ता त मांग-वक्र की मू बिन्दु पर स्पर्शरेखा (Tangent) हो जाती है।
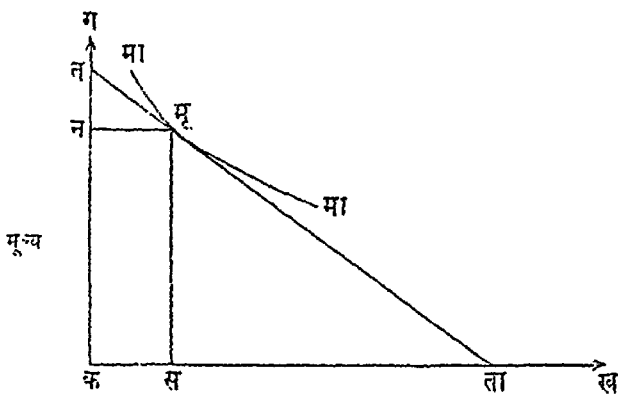
चित्र ४

मू पर मांग की लोच $= \frac{\text{स ता}}{\text{क स}}$ जो कि वही है जो $\frac{\text{क न}}{\text{न त}}$ या $\frac{\text{ता मू}}{\text{मू त}}$ है।

अतः कोई सरल रेखा-मांग-वक्र त ता, जो क ग लंब को त पर काटती है और क ख पड़ी रेखा को ता पर काटती है, लोच में (ढाल या झुकाव चाहे कम हो या अधिक) त असीम (Infinity) से ता शून्य तक बदलती रहेगी। ऊपरसे एकतिहाई नीचे तक लोच २, आधे पर १ और दो तिहाई नीचे आने पर $\frac{1}{2}$ होगी, इत्यादि

समानान्तर मांग-वक्रों की एक ही मूल्य पर भिन्न भिन्न लोचें होंगी। उदाहरणार्थ–
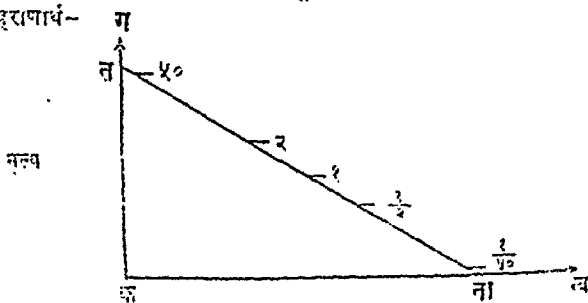
चित्र ५
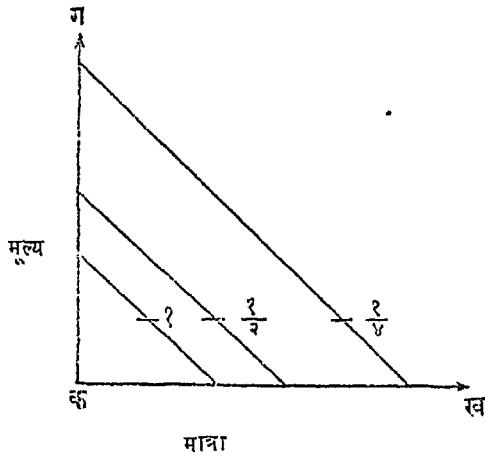
चित्र ६

यदि किसी मूल्य पर माँग-वक्र की लोच १ है जिससे कि उपभोक्ताओं की संपूर्ण लागत सर्वदा एक ही रहती है, तो माँग-वक्र एक आयताकार अतिपरवलय (Hyperbola) होगा, जैसा कि नीचे के वक्रों में से कोई एक है।
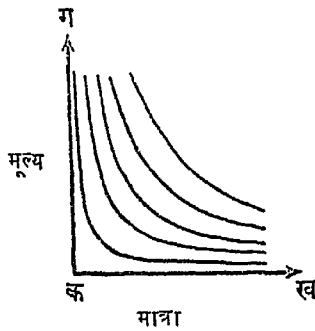
चित्र ७

चौथा अध्याय

स्थिर माँग पर मूल्य (Price with a Fixed Demand)

१. प्रस्तावना

अब हम इस पर विचार करेंगे कि यदि किसी वस्तु की माँग सप्ताहों तक अपरिवर्तित रहती है तो उसका मूल्य कैसे निश्चित होता है। हम माँग को स्थिर मान लेते हैं इसलिये मूल्य पूर्ति—अर्थात् विक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा—पर निर्भर रहेगा।

साधारण बोलचाल में "पूर्ति" (Supply) शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इसका अर्थ संसार भर में प्राप्त होनेवाली संपूर्ण राशि (Stock) हो सकता है। जब संपूर्ण राशि की वृद्धि नहीं हो सकती अथवा आगामी साल दो साल में केवल अल्प प्रतिशत बढ़ाई जा सकती है तब यह शब्द प्रायः इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे शेजाँ (Cezanne) नामक चित्रकार के चित्रों की "पूर्ति" का अर्थ हो सकता है उसके द्वारा लिखित सभी चित्र जो अब भी वर्तमान हैं; और संसार भर के सोने की "पूर्ति" का अर्थ हो सकता है सोने की संपूर्ण मात्रा जो वर्तमान है, क्योंकि खानों और नदियों से प्राप्त वार्षिक उत्पादन संपूर्ण मात्रा का अल्प प्रतिशत होता है। इसी प्रकार नित्यप्रति उत्पन्न होनेवाली किसी वस्तु की "पूर्ति" का अर्थ होगा समय की प्रत्येक अवधि (दिन, सप्ताह आदि) में उसकी प्रकृत (Normal) उत्पत्ति। जैसे यह कहा जा सकता है कि संसारभरकी गेहूँ की पूर्ति इतने करोड़ मन प्रति वर्ष है। यदि सामान्यतः राशि छोटी हो तो इस अर्थ में प्रायः इस शब्द के प्रयुक्त होने की संभावना रहती है। परन्तु पूर्ति का अर्थ समय की प्रत्येक इकाई में विक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा भी हो सकता है। आर्थिक विश्लेषण में यही अर्थ अधिक उपयोगी होता है अतएव हम इसी अर्थ में इसका प्रयोग करेंगे।

इस अर्थ में पूर्ति का अर्थ "किसी मूल्य पर पूर्ति" होता है, क्योंकि एक मूल्य पर जितना विक्री के लिये प्रस्तुत होता है दूसरे पर उससे अधिक हो सकता है। पूर्ति की अवस्था अथवा प्रतिबंध (Conditions) भी एक पूर्ति-सरणि (Supply Schedule) के द्वारा व्यक्तकी जा सकती है जो पूर्ति-वक्र के रूप में चित्रित की जा सकती है। मूल्यों की एक अवलि (Series) में से किसी एक पर किसी पदार्थ की कितनी मात्रा उत्पन्न और विक्री के लिए प्रस्तुत की जा सकती है इसका निश्चय करनेवाले प्रभावोंको समझनेके पहले उत्पादन और व्ययके सिद्धान्त (Theory of Cost) का विवेचन कर लेना आवश्यक है। अभी हम यह मान

लेते हैं कि अधिकतर किसी निश्चित समय (अथवा जबतक पूर्ति को प्रभावित करनेवाली अन्य शक्तियाँ अपरिवर्तित रहें) किसी निश्चत मूल्य पर, उससे कम मूल्य पर होनेवाली पूर्ति की अपेक्षा, अधिक पूर्ति होगी, और अधिकतर पूर्ति-वक्र नीचे की ओर झुकेगा। पूर्ति होनेवाली मात्रा की प्रतिशत वृद्धि को मूल्य में होनेवाली (अल्प) प्रतिशत वृद्धि से भाग देने पर जो फल निकलता है उसी से पूर्ति की लोच नापी जाती है। पृष्ठ ६५ पर मक्खन की पूर्ति-सरणि का उदाहरण अंकित है और उसके अनुसार पूर्ति-वक्र चित्र ९ में दिखाया गया है।

२. स्थिर (साप्ताहिक) पूर्ति पर मूल्य

मान लिया जाय कि प्रति सप्ताह किसी वस्तु की कोई निश्चित मात्रा उत्पन्न और विक्री के लिये प्रस्तुत होती है। यदि उसकी माँग की अवस्था अपरिवर्तित रहती है तो यह जानना कठिन नहीं है कि उसका मूल्य क्या होगा। आरंभ में मूल्य में थोड़ा चढ़ाव-उतार हो सकता है परन्तु यदि सप्ताहों तक एक ही अवस्था बनी रहती है तो मूल्य उस स्तर पर स्थिर हो जायगा जिस पर उस वस्तु की संपूर्ण मात्रा प्रति सप्ताह बिक जाती है।

उदाहरण के लिये मान लिया जाय कि वह वस्तु मक्खन है और उसकी माँग की अवस्था वही है जो हमने अपने दृष्टान्तवाली माँग-सरणि में व्यक्त की है। यदि प्रति सप्ताह विक्री के लिये प्रस्तुत मक्खन की मात्रा १७० लाख पौंड है तो उसका मूल्य १ शि० प्रति पौंड होगा। १ शि० से ऊँचे मूल्य पर प्रति सप्ताह कुछ मक्खन विना विके रह जायगा। इससे विना विके मक्खन की राशि बढ़ती जायगी और थोड़े ही दिनों में अपनी राशि को खाली करने के उत्सुक व्यापारी मक्खन का मूल्य घटा देंगे। जबतक मक्खन के साप्ताहिक उत्पादन में ह्रास होने की आशंका अथवा माँग बढ़ने की आशा न हो तब तक राशि रखने से किसी को कोई लाभ नहीं होगा। पहले तो कुछ व्यापारी यह सोचेंगे कि शायद इन दोनों में से कोई एक हो, परन्तु कुछ समय के बाद उन्हें अनुभव हो जायगा कि यह उनका भ्रम था। १ शि० से कम मूल्य पर १७० लाख पौंड प्रति सप्ताह से अधिक की माँग होगी। कुछ भावी क्रेता—जो आवश्यकता पड़ने पर १ शि० प्रति पौंड से अधिक देने को तैयार होंगे—खरीदने में असमर्थ रहेंगे। पहले तो ये भावी क्रेता पंक्ति बाँध कर दूकानों के सामने खरीदने के लिये खड़े होंगे (जिसके नमूने ग्रेट ब्रिटेन में १९१८ में और जर्मनी में युद्धोत्तरकालीन मुद्रास्फीति के समय, और गत महायुद्ध के समय भारतवर्ष में भी देखने में आये हैं) जिससे माल बिक जाने के पहले उन्हें मिल जाय। परन्तु शीघ्र ही विक्रेता वस्तुस्थिति का अनुभव करके मूल्य बढ़ा देंगे। १ शि० प्रति पौंड ही एक मात्र मूल्य है जिसपर सभी मक्खन बिक जायगा और सभी क्रेताओं को उतना मिल जायगा जितना

वे खरीदना चाहते थे। वही साम्य मूल्य (Equilibrium Price) होगा, क्योंकि यह माँगी हुई और बिक्री के लिये प्रस्तुत की हुई मात्रा को, (साप्ताहिक) पूर्ति के अनुसार (साप्ताहिक) माँग को नियंत्रित करके, समान बनायेगा।

यदि प्रति सप्ताह बिक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा केवल १३० लाख पौंड होगी तो मूल्य १ शि० २ पें० प्रति पौंड पर स्थिर होगा; क्योंकि यह मूल्य ठीक उतना ही ऊँचा होगा जिसमें प्रति सप्ताह माँगी हुई मात्रा १३० लाख पौंड तक सीमित रहे।

जब बिक्री के लिये प्रस्तुत वस्तु की साप्ताहिक मात्रा सर्वदा एक सी रहे, मूल्य चाहे कुछ भी हो, तो पूर्ति-वक्र एक लंब के रूप में होगा जैसा कि नीचे के चित्र में प प है और साम्य मूल्य वहाँ होगा जहां स्थिर माँग-वक्र उसे काटता है।
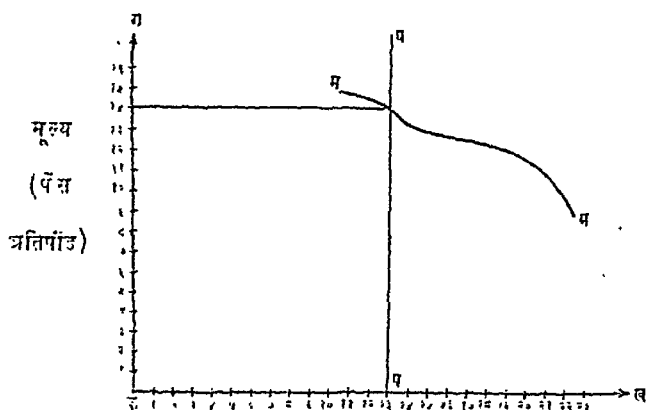
मात्रा
१ इकाई = १० लाख पौंड (भार)
चित्र ८

३—अस्थिर (साप्ताहिक) पूर्ति पर मूल्य

[Price with a Variabbe (weekly) Supply]

अब मान लिया जाय कि बिक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा प्रति सप्ताह एक सी नहीं है। यदि और कुछ नहीं होता, जैसे उत्पत्ति व्यय में परिवर्तन, जिससे पूर्ति की अवस्था में स्थायी परिवर्तन हो जाय, तो भी प्रति सप्ताह बिक्री के लिये बाजार में आनेवाली मात्रा में अस्थायी प्रभावों के कारण—जैसे ऋतु में परिवर्तन—परिवर्तन हो सकता है। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या वह वस्तु खराब हुये बिना संग्रह की जा सकती है? यदि अमरूद की तरह यह एक

या दो दिन से अधिक नहीं रखी जा सकती तो इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन विक्री के लिये आनेवाली मात्रा पर अपना पूरा प्रभाव डालेंगे। परन्तु यदि सरलता से उसकी राशि रख सकते हैं तो प्रस्तुत होनेवाली मात्रा में वृद्धि मूल्य को उतना नहीं घटायेगी। बढ़ी हुई पूर्ति के कारण मूल्य कुछ दूर नीचे गिरने पर कुछ विक्रेता सोचेंगे कि अपेक्षाकृत नीचे मूल्य पर वेचने की अपेक्षा उस वस्तुकी राशि रखना अधिक लाभदायक होगा। वे जान जायंगे कि प्रति सप्ताह प्रस्तुत होनेवाली औसत मात्रा में परिवर्तन होने की कम संभावना है जिससे इस सप्ताह में अधिक मात्रा में पूर्ति होने पर दूसरे या तीसरे सप्ताहमें औसत से कम पूर्ति होने की संभावना है। अथवा उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो सकता है कि निकट भविष्य में प्रस्तुत होनेवाली मात्रा वहुत कम होगी। अतएव इस आशा से कि इससे उन्हें राशि रखने के व्यय से अधिक लाभ हो जायगा वे उस वस्तु की तबतक के लिए राशि रखेंगे जबतक कि मूल्य चढ़ कर फिर प्रकृत (Normal) मूल्य की ओर या उससे ऊपर न चला जाय। इस प्रकार वे पूर्ति में—अर्थात् विक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा में-परिवर्तन उपस्थित करते हैं अतएव मूल्य में भी परिवर्तन होता है; परन्तु यह परिवर्तन प्रति सप्ताह विक्री लिये प्रस्तुत मात्रा के परिवर्तन से कम होता है।*

मान लिया जाय कि मक्खन की पूर्ति-सरणि का उपयोगी अंश इस प्रकार है:-

जब मूल्य	१५ पेंस	प्रति पौंड	है तो	२५०	लाख पौंड	प्रति सप्ताह	पूर्ति होगी
,,	१४	,,	,,	२२०	,,	,,	,,
,,	१३	,,	,,	१९०	,,	,,	,,
,,	१२	,,	,,	१७०	,,	,,	,,
,,	११	,,	,,	१५०	,,	,,	,,
,,	१०	,,	,,	१२०	,,	,,	,,
,,	९	,,	,,	८०	,,	,,	,,

* इसका एक उदाहरण न्यूजीलेंड की मांस-मंडली (Meat Board) द्वारा उपस्थित होता है, अथवा किसी भी महत्त्वपूर्ण मांस-निर्यातक देश से मिल सकता है। न्यूजीलेंड से मांस का जहाज लंदन में अनियमित रूप से पहुँचता है। पहिले यह समझा जाता था कि स्मिथफील्ड के वाजार में मांस का जहाज पहुँचने पर मांस का मूल्य वहुत अधिक गिर जाया करता है। अतएव विशेषतः इसी कारण से मांस-उत्पादकों ने अपना मांस वेचने के लिये एक मांस-मंडली (Board) वनाया। स्मिथफील्ड के पास मंडली की अपनी भूमि और भवन है जहां शीतक (Refrigerator) है जिसमें मांस सुरक्षित रख सकते हैं। मंडली जब देखती है कि पूर्ति वढ़ जाने से मूल्य वहुत गिर गया है तव वह मांस को इस आशा से रोक रखती है कि वाद में मूल्य चढ़ जायगा।

मूल्य में वृद्धिका दोहरा प्रभाव पड़ेगा। इसके कारण माँग की मात्रा पहले की अपेक्षा कम और उत्पादन तथा बिक्री के लिए प्रस्तुत मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी। इसके विपरीत मूल्य में ह्रास माँग की मात्रा को बढ़ायेगा और पूर्ति की अवस्थाएँ अपरिवर्तित रहें तो भी मूल्य १ शि० प्रति पौंड पर स्थिर रहेगा। क्योंकि यही वह साम्य (Equilibrium) मूल्य है जिस पर प्रति सप्ताह माँगी हुई मात्रा बिक्री के लिये प्रस्तुत मात्रा के बराबर होती है। चित्र ९ में यह उस बिंदु द्वारा व्यक्त होती है जिस पर माँग-वक्र और पूर्ति-वक्र एक दूसरे को काटते हैं।
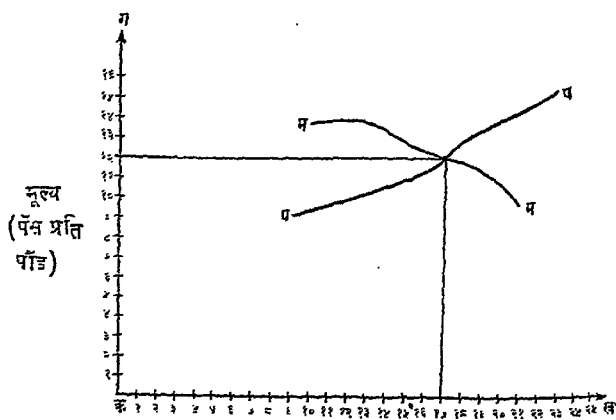
प्रति सप्ताह माँग अथवा पूर्ति की मात्रा
(एक इकाई=१० लाख पौं०)
चित्र ९

यह ध्यान रखना चाहिये कि माँग-वक्र एक प्रकार के प्रभावों को और पूर्ति-वक्र दूसरे प्रकार के प्रभावों को व्यक्त करता है। प्रत्येक वक्र दूसरे से (अधिकतर) बिल्कुल स्वतंत्र रहता है। मूल्य दोनों प्रकार के प्रभावों का साम्य (Equilibrium) व्यक्त करता है।

यदि पूर्ति पर नियंत्रण रखनेवाली शक्तियों में परिवर्तन हो जाय तो पुरानी पूर्ति-सरणि प्रचलित पूर्ति की अवस्था का द्योतक नहीं रह जायगी और उसके साथ दूसरी सरणि बनानी होगी जो उसे व्यक्त करे। माँग ज्यों की त्यों रहने पर नवीन पूर्ति-वक्र संभवतः माँग-वक्र को पुराने विन्दु से भिन्न स्थान पर काटेगा ; अर्थात् पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन संभवतः साम्य मूल्य में परिवर्तन उपस्थित करेगा।

यदि पूर्ति की नवीन अवस्था में किसी विशेष मूल्य पर पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ विक्री के लिये प्रस्तुत होती हैं तो उसे "पूर्ति में वृद्धि" कहते हैं। और साम्य मूल्य पहले की अपेक्षा नीचा हो जाता है। इसके विपरीत यदि किसी विशेष मूल्य पर पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ विक्री के लिये प्रस्तुत की जाती हैं तो उसे "पूर्ति में ह्रास" कहते हैं और साम्य–मूल्य पहले से ऊँचा हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि पूर्ति में वृद्धि होती है तो पूर्ति-सरणि इस प्रकार होगी :—

यदि मूल्य

१५ पेंस प्रति पौंड है तो		४०० लाख पौंड प्रति सप्ताह पूर्ति होगी।			
१४	,,	३५०	,,	,,	,,
१३	,,	३००	,,	,,	,,
१२	,,	२७०	,,	,,	,,
११	,,	२३०	,,	,,	,,
१०	,,	२१०	,,	,,	,,
९	,,	१५०	,,	,,	,,

माँग ज्यों की त्यों रहने पर नवीन साम्य-मूल्य १० पेंस प्रति पौंड होगा। यदि पूर्ति घटती है तो नवीन पूर्ति-सरणि इस प्रकार हो सकती है:—

जब मूल्य

१५ पेंस प्रति पौंड है तो			१७० लाख पौंड प्रति सप्ताह पूर्ति होगी।			
१४	,,	,,	१३०	,,	,,	,,
१३	,,	,,	११०	,,	,,	,,
१२	,,	,,	९०	,,	,,	,,
११	,,	,,	७०	,,	,,	,,
१०	,,	,,	६०	,,	,,	,,
९	,,	,,	४०	,,	,,	,,

नवीन साम्य-मूल्य १ शि. २ पेंस प्रति पौंड होगा।

कोई कारण नहीं कि नवीन पूर्ति-वक्र पुराने के ठीक समानान्तर हो। परन्तु यदि उस पदार्थ की बिक्री पर कर लगा दिया जाय, जिससे विक्रेताओं को प्रति इकाई पर, जो वे वेंचते हैं, एक निश्चित द्रव्य की मात्रा देनी पड़े, तो यह एक "नवीन" पूर्ति-वक्र द्वारा दिखाया जा सकता है जो पुराने के ठीक समानान्तर होगा। नया वक्र बाँई ओर को हटा हुआ पुराना वक्र ही होगा। उदाहरणार्थ यदि मक्खन–विक्रेताओं को १ शि. प्रति पौंड कर देना पड़े तो १ शि० २ पेंस बाजार–मूल्य पर अब जिस मात्रा में पूर्ति होगी वह केवल १९० पौंड प्रति सप्ताह होगी, क्योंकि यही वह मात्रा है

जिसकी पूर्ति १ शि. १ पेंस प्रति पौंड निस्तुष (Net) मूल्य पर की जायगी और १ शि० २ पेंस बाजार-मूल्य विक्रेताओं के लिये केवल १ शि. १ पेंस निष्तुष मूल्य व्यक्त करता है क्योंकि इसमें से १ पेंस उन्हें सरकारी कर दे देना पड़ेगा। इसी प्रकार १ शि० १ पेंस पर पूर्ति होनेवाली मात्रा १७० लाख पौंड होगी क्योंकि यही वह मात्रा है जो १ शि० निस्तुष मूल्य पर बिक्री के लिये प्रस्तुत होगी, इत्यादि। यदि माँग-वक्र नीचे की ओर मुड़ता है तो बाजार-मूल्य कर की पूरी मात्रा के बराबर अपने पुराने स्तर से ऊपर नहीं चढ़ेगा। वह कितना चढ़ेगा यह माँग और पूर्ति की लोचों पर निर्भर है। यदि माँग बहुत कम लचीली है और आवश्यक भाग में माँग-वक्र लगभग एक पड़ी रेखा के समान है तो मूल्य बहुत कम चढ़ेगा; यदि माँग बहुत लचीली है और माँग-वक्र लगभग लंब के रूप में है तो मूल्य कर की लगभग पूरी मात्रा के बराबर चढ़ेगा। यदि पूर्ति बहुत कम लचीली है तो मूल्य बहुत कम चढ़ने की संभावना होगी; यदि पूर्ति बहुत लचीली है तो मूल्य की प्रवृत्ति कर की पूरी मात्रा के बराबर चढ़ने की होगी।
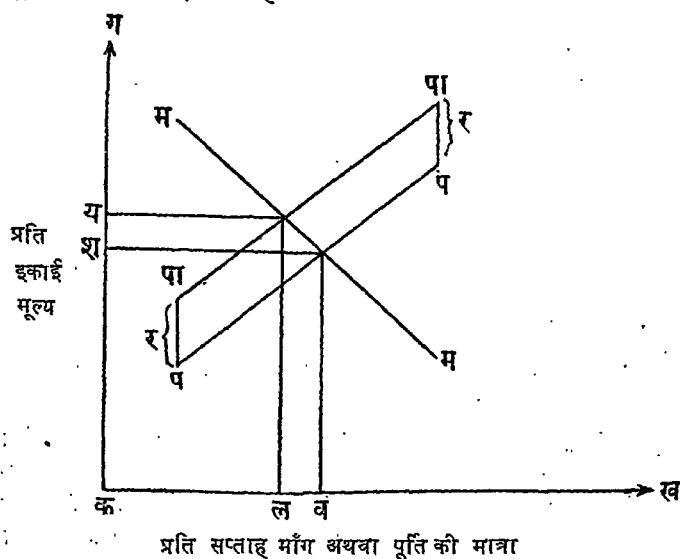
चित्र १०

उपर्युक्त रेखाचित्र यह व्यक्त करता है कि पूर्ति में ह्रास (पुराना पूर्ति-वक्र प प और नया पा पा है) किस प्रकार मूल्य को श से क य तक चढ़ा देता है। यह ध्यान देने योग्य है कि यदि पूर्ति में परिवर्तन प्रति वस्तु की बिक्री

पर लगाये गये कर र के कारण है तो नवीन मूल्य क य पुराने मूल्य क श से कर की पूरी मात्रा के बराबर नहीं बढ़ेगा। सुविधा के लिये हमने दोनों वक्र सरल रेखा के रूपमें व्यक्त किया है।

४–स्थिर राशि होने पर मूल्य

(Price with a Fixed Stock)

कुछ वस्तुओं की राशि बढ़ाई नहीं जा सकती। जैसे मान लिया कि किसी पुस्तक के प्रथम संस्करण को ठीक १००० प्रतियाँ बची हैं। अधिक प्रतियाँ छापी जा सकती हैं परन्तु वे वास्तव में प्रथम संस्करण की प्रतियाँ तो होंगी नहीं। कुछ वस्तुओं की राशि में वृद्धि की संभावना नहीं रहती और उन्हें स्थिर मान सकते हैं। जैसे मान लें कि किसी कम्पनी के साधारण हिस्से ठीक एक लाख हैं और, जबतक कि कम्पनी अपने साधारण हिस्से की पूँजी को बढ़ाने का निश्चय नहीं करती, अधिक हिस्से जारी नहीं किये जायेंगे। कुछ वस्तुएँ जिनका उत्पादन लगातार होता रहता है बहुत टिकाऊ होती हैं–जैसे भवनादि–और–विशेषतः जब उनके उत्पादन में यथेष्ट समय लगता हो–उनकी चालू उत्पत्ति वर्तमान राशि का अत्यल्प अनुपात होती है। निकट भविष्य में वर्तमान राशि की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये कुछ काल के लिए उस लगभग स्थिर मान सकते हैं।

विक्रेता और सट्टेबाज (Speculators) ऐसी वस्तुएँ सम्भवतः इस आशा से खरीदेंगे कि पीछे उन्हें लाभ उठाकर बेचें परन्तु अन्ततः उनकी माँग उन लोगों से होती है जो उन्हें रखना या उनका व्यवहार करना चाहते हैं। जैसे मकानों की माँग अन्ततः उन लोगों द्वारा होती है जो उनमें रहना चाहते हैं। इस अध्याय में आदि से अन्त तक हम यह मान कर चलते हैं कि माँग में परिवर्तन नहीं होता। यदि ऐसी बात है तो सट्टेबाज कुछ समय तक माल खरीद कर एक दूसरे को बेच सकते हैं, परन्तु सब सट्टेबाजों का विचार करने पर कोई लाभ नहीं होगा और कुछ समय पश्चात् वे अनुभव करेंगे कि माँग में वृद्धि होने की आशा नहीं है और इससे सट्टेबाजी समाप्त हो जायगी। अतएव हम सट्टेवाली माँग का नहीं वरन् केवल अन्तिम माँग का विचार करेंगे।

हमारी समस्या यह बतलाने की है कि यदि माँग अपरिवर्तित रहती है तो किसी स्थिर राशि का प्रति इकाई मूल्य कैसे निश्चित होता है। हाँ, यदि वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ समजात (Homogeneous) नहीं हैं तो उनका मूल्य भिन्न भिन्न हो सकता है। एक भवन, जो दूसरे से बड़ा या अधिक हवादार अथवा अधिक आकर्षक है, अपेक्षाकृत अधिक मूल्य में बिकेगा या अधिक किराये पर उठेगा; वास्तव में दोनों "भवन" दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

परन्तु यदि भिन्न-भिन्न भवन एक दूसरे के पूरे स्थानापन्न हैं, जिससे उनके मूल्यों में साथ साथ वृद्धि या ह्रास होता है, तो हमारी व्याख्या उस पर लागू होगी जिसे भवन-मूल्यों का "सामान्य स्तर" (General level of House Prices) कह सकते हैं। उदाहरण के लिये हम एक विशेष पुस्तक के प्रथम संस्करण की एक हजार प्रतियाँ लेते हैं और यह मान लेते कि एक प्रति से दूसरी प्रति म कोई अन्तर नहीं है और बाजार भी लगभग "पूर्ण" है।

ऐसी परिस्थिति में इस प्रथम संस्करण की प्रत्येक प्रति का एक ही मूल्य होगा परन्तु कुछ समय बाद कोई लेन-देन नहीं होगा। जो लोग उस मूल्य पर बेचने को तैयार होंगे अपनी पुस्तकें बेच चुके रहेंगे (और जो उस मूल्य पर खरीदने को तैयार होंगे खरीद चुके रहेंगे)। अनुमान (Hypothesis) से माँग स्थिर मान ली गई है; अतः "मूल्य" वही होगा जो किसी प्रति का स्वामी (यदि उसे बेचने को तैयार हो तो) पा सकता है।

प्रत्येक प्रति का स्वामी संभाव्य (Potential) विक्रेता है, परन्तु एक ऐसा मूल्य है जिससे नीचे वह नहीं बेचेगा। इस मूल्य को उसका "सुरक्षित" (Reserve) मूल्य कह सकते हैं। यदि उसका सुरक्षित मूल्य १०० रु० है और उसकी प्रति नीलाम पर चढ़ाई जाय और सबसे ऊँची बोली ९९ रु० हो तो वह उस पुस्तक से पृथक् होने की अपेक्षा स्वयं ९९ रु० ८ आना बोल कर उसे ले लेगा। निःसंदेह भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सुरक्षित मूल्य भिन्न भिन्न होते हैं। और यदि किसी व्यक्ति के पास बहुत सी प्रतियां हैं तो शायद वह एक प्रति को दूसरी की अपेक्षा सस्ती बेचने को तैयार हो और दूसरी को तीसरी की अपेक्षा सस्ती इत्यादि। अच्छा, अब हम पीछे चलें जबकि मूल्य स्थिर होने के पूर्व पुस्तक की प्रतियों का लेन-देन चल रहा था। उस समय प्रत्येक प्रति के स्वामी का अपना पृथक् सुरक्षित मूल्य था। यह मानकर कि वे सब अपनी प्रतियां अपने अपने सुरक्षित मूल्यों पर बेचने को तैयार थे हम इन सुरक्षित मूल्यों से एक पूर्ति-सरणि प्रस्तुत कर सकते हैं। मान लिया कि सबसे अधिक सुरक्षित मूल्य क का है जो २०० रु० है उसके नीचे ख का १९० रु० है, उससे नीचे ग का १८५ रु० है, इत्यादि। मान लिया कि सबसे कम मूल्य ह का है जो केवल ५० रु० मांगता है, उससे अधिक स का ५५ रु० है, इत्यादि। तो पूर्ति-सरणि से व्यक्त होगा कि ५० रु० मूल्य पर (ह की) एक प्रति बिकने को प्रस्तुत होगी; ५५ रु० पर (स और ह की) दो प्रतियां प्रस्तुत होंगी, इत्यादि, और अंत में कह सकते हैं कि १८५ रु० पर ९९८ प्रतियां, १९० रु० पर ९९९ प्रतियां और २०० रु० पर पूरी एक हजार प्रतियां बिक्री के लिये प्रस्तुत होंगी।

इस पूर्ति-सरणि के साथ ही जिनके पास पुस्तक की प्रतियां नहीं हैं

अथवा जो अतिरिक्त प्रतियां खरीदना चाहते हैं उन लोगों की माँगों से युक्त, एक माँग-सरणि भी हम तैयार कर सकते हैं। एक रेखाचित्र द्वारा साम्य-मूल्य एक विन्दु के रूप में, जिस पर पूर्ति-वक्र मांग-वक्र को काटता है, दिखाया जा सकता है। साम्य-मूल्य ज्ञात करने का एक दूसरा उपाय यह होगा कि भिन्न भिन्न पुस्तक-स्वामियों के सुरक्षित मूल्यों और भावी क्रेताओं के माँग-मूल्यों को एकत्र करके एक सम्मिलित माँग-सरणि तैयार की जाय। क्योंकि किसी संभाव्य विक्रेता का सुरक्षित मूल्य (अथवा, अधिक सूक्ष्मतः उससे कुछ कम) वह मूल्य माना जा सकता है जिस पर वह स्वयं अपनी प्रति की "माँग करता है"

उदाहरणार्थ मान लीजिये कि सबसे अधिक माँग-मूल्य का का है जो २०० रु० देगा, उसके बाद खा का जो १९८ रु० देगा फिर गा का जो १९० रु० देगा। तो सम्मिलित माँग-सरणि इस प्रकार आरंभ होगी कि २०० रु०
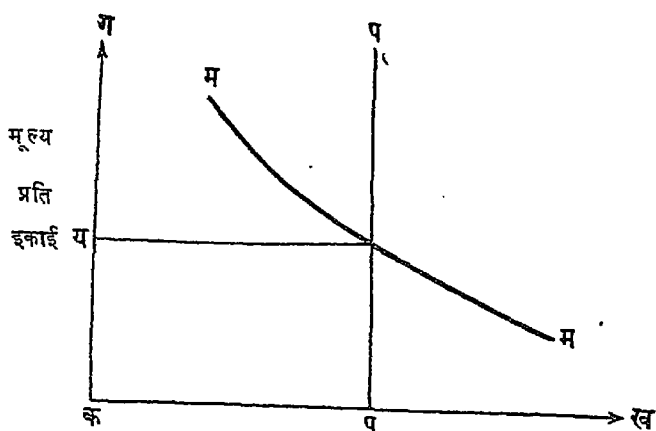
स्थिर राशि की मात्रा

चित्र ११

मूल्य पर दो प्रतियों की माँग होगी (एक क द्वारा दूसरी का द्वारा), १९८ रु० मूल्य पर तीन प्रतियों की माँग होगी (क, का और खा द्वारा), और १९० रु० मूल्य पर पाँच प्रतियों की माँग होगी (क, का, खा, गा और ख द्वारा)। परन्तु कोई कारण नहीं कि इनमें से कोई इतना अधिक मूल्य दे, क्योंकि इससे कम मूल्य पर वेचने के लिये अनेक विक्रेता तैयार होंगे। यदि बाजार पूर्ण है तो मूल्य, समस्त एक हजार प्रतियों को बिक जाने के योग्य, पर्याप्त नीचे स्तर पर स्थिर होगा। यह निम्नलिखित रेखाचित्र में दिखाया गया है। प प

लंब एक हजार प्रतियों की स्थिर राशि व्यक्त करता है। म म वक्र सम्मिलित माँग-सरणि का द्योतक है। मूल्य क य वह होगा जिस पर म म वक्र प प को काटता है। यह स्पष्ट है कि यदि स्थिर राशि कम होती तो साम्य-मूल्य अधिक होता और यदि स्थिर राशि अधिक होती तो साम्य-मूल्य कम होता। माँग की अवस्था निश्चित रहने पर मूल्य स्थिर राशि की मात्रा पर—अर्थात् चित्र के अनुसार क से लंब प प की दूरी पर—निर्भर होगा।

पाँचवाँ अध्याय

माँग में परिवर्तन

१. माँग की वृद्धि और ह्रास

हम देख चुके हैं कि यद्यपि संभव है किसी वस्तु की माँग की अवस्था अपरिवर्तित रहे फिर भी पूर्ति की वृद्धि के कारण जब मूल्य गिरेगा तो विक्री की मात्रा में विस्तार होने की संभावना रहेगी। इसे कभी कभी माँग का "विस्तार" (Extension) कहते हैं। "माँग की वृद्धि" (Increase) पद का प्रयोग "माँग की अवस्था में परिवर्तन" होने—अर्थात् किसी दिये हुये मूल्य पर जितना पहले खरीदा जाता था उससे अधिक खरीदे जाने—के लिए किया जाता है। इसी प्रकार माँग का "संकोच" (Contraction) पद का प्रयोग यह व्यक्त करने लिये किया जाता है कि माँग की अवस्था में परिवर्तन होने से नहीं वरन् मूल्यमें वृद्धि होने के कारण विक्री घटती है; और माँग का "ह्रास" (Decrease) पद का प्रयोग माँग की अवस्था में परिवर्तन व्यक्त करने अर्थात् किसी दिये हुये मूल्य पर पहले की अपेक्षा कम खरीदे जाने के लिये किया जाता है।

इस अर्थ में माँग में वृद्धि या ह्रास का अर्थ यह होता है कि माँग की अवस्था में परिवर्तन हो गया है। पुरानी माँग-सरणि अब माँग की अवस्था का सच्चा चित्र नहीं उपस्थित करती और उसके स्थान पर उसका वास्तविक चित्रण करनेवाली दूसरी सरणि होनी चाहिये। वर्तमान वक्र की ओर बढ़ने के बदले—विस्तार हो या संकोच—पुराने वक्र के स्थान पर नया वक्र बन जाता है। जैसे यदि मक्खन की माँग में वृद्धि होती है तो (पृ०४४ पर दी हुई) पुरानी माँग-सरणि के स्थान पर निम्नांकित नई सरणि बन जायगी।

यदि मूल्य

१५	पेंस	प्रति पौंड है तो	२००	लाख पौंड	प्रति सप्ताहकी	माँग	होती है।
१४	"	"	२२०	"	"	"	"
१३	"	"	२५०	"	"	"	"
१२	"	"	२८०	"	"	"	"
११	"	"	३००	"	"	"	"
१०	"	"	३१०	"	"	"	"
९	"	"	३२०	"	"	"	"

किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने से उसके मूल्य में वृद्धि होने की संभावना रहती है; यदि पूर्ति की अवस्था वही रहे तो उसका मूल्य चढ़ जायगा। जसे यदि मक्खन की माँग–सरणि वैसी ही रहे जैसी पृ० ६५ पर दिखाई गई

है तो माँग की उपर्युक्त वृद्धि के अनुसार बाजार में परिवर्तन हो जाने पर नवीन साम्य-मूल्य १ शि० २ पेंस प्रति पौंड होगा, क्योंकि यही वह मूल्य है जिस पर प्रति सप्ताह विक्री के लिए बाजार में आनेवाली मात्रा, अर्थात् २२० लाख पौंड, खरीदी हुई मात्रा के बराबर होगी। निम्नाङ्कित रेखाचित्र में माँग में वृद्धि मांग-वक्र को **म म** से **मा मा** तक हटा कर व्यक्त की गई है जिससे मूल्य **क द** से **क दा** तक बढ़ जायगा और विक्री की मात्रा **क न** से **क ना** तक बढ़ जायगी। माँग में कमी होने का निःसंदेह विपरीत प्रभाव पड़ेगा।
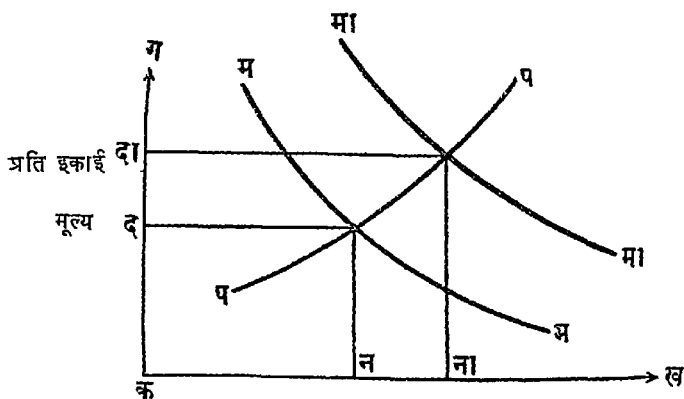
प्रति सप्ताह माँग या पूर्ति की मात्रा

चित्र १२

इस अध्याय में माँग पर प्रभाव डालनेवाली मुख्य-मुख्य बातों का विवेचन किया गया है---इसमें किसी विशेष पदार्थ की माँग में वृद्धि या ह्रास करानेवाले मुख्य मुख्य परिवर्तनों का दिग्दर्शन कराया गया है। हम मुख्यतः उपभोग्य वस्तुओं को ही ध्यान में रखेंगे परन्तु माँग और पूर्ति के संबंध में हमारे साधारणीकरण (Generalisations) उन सभी वस्तुओं पर लागू होते हैं जिनका कुछ मूल्य होता है। साहसियों (Entrepreneurs) द्वारा खरीदी जानेवाली वस्तुओं और सेवाओं की माँग उपभोक्ता द्वारा उन उपभोग्य वस्तुओं की माँग के अनुसार परिवर्तित होती है जिनके उत्पादन में उनका योग होता है। उदाहरणार्थ सूती कपड़ों की माँग में ह्रास होने से रुई की मांग में ह्रास होने की प्रवृत्ति होती है।

२. द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन

द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन प्रायः अनेक प्रकार के अन्य परिवर्तन उत्पन्न

करता है। इसकी संभावना कम है कि विभिन्न वस्तुओं के आपेक्षिक मूल्य वही रहेंगे और यह भी कम संभव है कि मूल्यों का साधारण स्तर (General Level of Prices) ठीक उसी अनुपात में चढ़ेगा या गिरेगा जिसमें द्रव्य की मात्रा में वृद्धि या ह्रास हुआ है। परन्तु हम द्रव्य-संबंधी परिवर्तनों का विवेचन एक आगामी अध्याय के लिये छोड़ देते हैं। इस स्थल पर हम द्रव्य को केवल एक साधन मान लेते हैं जिससे वस्तुओं के विनिमय में सुविधा होती है और एक परिस्थिति से दूसरी में संक्रमण के विवेचन का प्रयत्न किये बिना हम दो साम्य परिस्थितियों (Equilibrium Situations) की तुलना मात्र करेंगे जो एक दूसरे से केवल उपलभ्य द्रव्य की मात्रा में भिन्न होती हैं।

मान लिया जाय कि एक पौंड बराबर है स्विट्जरलैंडके २०$^{3}/_{४}$ फ्रैंक के और फ्रांसीसी १७६ फ्रैंक से कुछ ऊपर के। मान लिया कि स्विट्जरलैंड की सरकार सुविधा के लिये अपने फ्रैंक का मूल्य घटाकर फ्रांसीसी फ्रैंक के लगभग लाना चाहती है। वह घोषित कर सकती है कि स्विस फ्रैंकों में किये गये सभी वादों में उल्लिखित फ्रैंकों को ८ से गुणा कर दिया जाय; नये ढंग के नोट छापे जा सकते हैं और नये सिक्के ढाले जा सकते हैं; और संभवतः प्रत्येक व्यक्ति को जो किसी बंक में पुराने ढंग के नोट या सिक्के देता है, प्रत्येक पुराने नोट या सिक्के के बदले आठ नये स्विस फ्रैंक दिए जायँ। इस प्रकार का परिवर्तन बड़ी सरलता से और शीघ्र हो सकता है। प्रत्येक वस्तु की बड़ी मात्रा जो पहले प्रति सप्ताह बाजार में बिकने को आया करती थी अब भी बिकने को आयेगी परंतु सभी मूल्य (व्याज की दर छोड़कर) पहले की अपेक्षा अठगुने होंगे क्योंकि उपभोक्ताओं के पास व्यय के लिये पहले का अठगुना द्रव्य होगा।

जब १९२४ में जर्मनी के 'मार्क' का मूल्य स्थायी (Stabilised) किया गया था तो इस प्रकार का परिवर्तन बहुत बड़ी मात्रा में हुआ था। जर्मनी में कागज के नोट छाप कर द्रव्य की मात्रा बहुत बढ़ा दी गयी थी और १९२३ के उत्तरार्ध में वहाँ अधिकांश वस्तुओं का मूल्य अरबों 'मार्क' के ऊपर पहुँच गया था। एक पौंड मुद्रा खरीदने में २० हजार अरब 'मार्क' देने पड़ते थे। जब मार्क का मूल्य स्थिर किया गया तो प्रत्येक हजार अरब 'मार्क' के बदले एक नया मार्क दिया जाता था; पुराना 'मार्क' विधि-ग्राह्य (Legal Tender) नहीं रह गया था और सभी मूल्य गिरकर पहले के एक हजार अरबवें भाग हो गये थे।

कुछ वर्ष पहले फ्रांस में बहुत सी वस्तुओं का मूल्य महायुद्धपूर्व-मूल्य का लगभग सातगुना था। परन्तु फ्रैंकों की मात्रा में यह वृद्धि अनेक वर्षों में हुई थी और उस प्रकार की वृद्धि नहीं थी जो कलम घुमा देने से क्षण में हो

जाती है, जैसा कि ऊपर माना गया है। अतएव उसके साथ अन्य परिवर्तन भी हुए थे जिनका विवेचन हम यहाँ नहीं कर सकते।

वस्तुओं के विनिमय में केवल द्रव्य दिया जाता है अतएव द्रव्य के रूप में आय में वृद्धि और संपत्ति के मूल्य में वृद्धि होने से वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने की—अतएव उनका मूल्य चढ़ जाने की—संभावना रहती है। यदि हम दो ऐसे समाजों की कल्पना करें जो और सब बातों में तो समान हों परन्तु उनमें से एक में द्रव्य की मात्रा दूसरे की दुगुनी हो, तो पहले में समस्त आय और मूल्य दूसरे के दुगुने होंगे।

३. वास्तविक आय में परिवर्तन

किसी व्यक्ति की "वास्तविक" (Real) आय का अर्थ वे वस्तुएँ और सेवाएँ हैं जिन्हें वह अपनी द्रव्य-आय (Money income) से खरीद सकता है। मन्दी के समय द्रव्य की मात्रा में वृद्धि होने से कभी कभी मन्दी कम होने की संभावना रहती है और जो लोग बेकार रहते हैं तथा जो संपत्ति व्यवहार में नहीं आती है उन सबका उपभोग होने लगता है, बेकारी दूर हो जाती है और लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है। परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं हो सकता, यहाँ तक कि मन्दी में भी नहीं। दुर्भाग्यवश जब चाहे तब केवल कागज के नोट छाप देने से वास्तविक आय में वृद्धि करना असंभव है। क्रियाकल्प (Technique) में उन्नति होने से ही किसी समाज की वास्तविक आय में वृद्धि हो सकती है। आविष्कारों और अनुसंधानों के फलस्वरूप जब क्रियाकल्पात्मक ज्ञान (Technical Knowledge) में उन्नति होती है और जब उद्योग-धंधों और व्यापार में उनका उपयोग होता है तब उतने ही श्रम तथा अन्य साधनों से पहले की अपेक्षा अधिक उत्पादन होता है

क्रियाकल्पात्मक ज्ञान में उन्नति होने से पूर्ति की अवस्था में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, गत बीस-पच्चीस वर्षों में मोटरकार बनाने के क्रियाकल्प में निरंतर उन्नति हुई है। नवीन और उत्कृष्ट नमूने बराबर बाजार में आते रहे हैं और उत्पादन-व्यय की प्रवृत्ति घटने की ओर रही है। मोटरकार का पूर्ति-वक्र परिवर्तित होता रहा है। पहले कुछ वर्षों की अपेक्षा आज उतने ही मूल्य में किसी विशेष प्रकार की अधिक मोटरें उत्पन्न करके बेची जा सकती हैं। अतएव यह विचार उठ सकता है कि क्रियाकल्प की उन्नति के कारण वास्तविक आय में होनेवाले परिवर्तनों का विवेचन पूर्ति में परिवर्तन शीर्षक के नीचे होना चाहिये और प्रस्तुत अध्याय में, जहाँ माँग में परिवर्तनों का विवेचन हो रहा है, उसके लिये स्थान नहीं है। परन्तु ऐसी बात नहीं है।

अनक परिवर्तनों का प्रभाव माँग और पूर्ति दोनों की अवस्थाओं पर पड़ता है और क्रियाकल्प में उन्नति एक विशेष प्रकार का उदाहरण है।

मान लीजिये कि किसी उपभोक्ता की वास्तविक आय लगभग १० प्रतिशत बढ़ जाती है और उसकी रुचि अपरिवर्तित रहती है। तब इसकी संभावना कम है कि वह अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं पर पहले के ही अनुपात में वितरित करेगा। अर्थात् इसकी कम संभावना है कि वह प्रत्येक वस्तु, जो पहले खरीदता था, ठीक ठीक १० प्रतिशत अधिक मात्रा में खरीदेगा। यह संभव है कि वह कुछ वस्तुओं के क्रय की मात्रा में १० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि कर दे और कुछ में १० प्रतिशत से कम। जो वस्तुएँ वह खरीदता है उनमें से कुछ की मात्रा में वह कमी कर सकता है अथवा उनका क्रम बिलकुल बन्द कर सकता है और संभव है अब वह ऐसी वस्तुएँ खरीदने लग जाय जो पहले बिलकुल नहीं खरीदता था। हम यह मान लेते हैं कि उसका अभिमान-माप वही रहता है परन्तु उसकी वास्तविक आय में वृद्धि उसकी कुछ अथवा सभी वस्तुओं के माँग-वक्र को परिवर्तित कर सकती है।

कोई ऐसा परिवर्तन—जैसे क्रियाकल्प में उन्नति, जिससे वास्तविक आय में वृद्धि होती है—विभिन्न वस्तुओं के पूर्ति-वक्र को प्रायः परिवर्तित कर देता है। परन्तु इस समय माँग का जो कार्य है उसी पर अपने विचार केन्द्रित करने के लिये मान लिया जाय कि क्रियाकल्प में साधारण और सम (Uniform) उन्नति हुई है और उसके साथ ही साथ द्रव्य की मात्रा में भी इतनी वृद्धि हुई है कि उपभोक्ताओं की द्रव्य-आय बढ़ गई है जिससे पूर्ति-वक्र अपरिवर्तित रह गया है। तब लगभग एक से आय-स्तरवाले परिवारों के व्यय दूसरे आय-स्तरवालों के व्यय से किस प्रकार भिन्न होते हैं इसको ध्यानपूर्वक देखने से हमें इसका अच्छा अनुभव हो सकता है कि किस प्रकार माँग में परिवर्तन होता है। अपने व्यक्तिगत रुचि में तो लोग निश्चय ही भिन्न होते हैं परन्तु उनमें इतनी समानता होती है कि उनके संबंध में यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि यदि कुछ परिवारों के पूरे समूह की आय में वृद्धि हो जाती है तो भी वे अपनी आय को लगभग उसी प्रकार व्यय करेंगे जिस प्रकार पहले से उस स्तर पर रहनेवाले परिवार करते हैं।

इस प्रकार यह निश्चय सा जान पड़ता है कि यदि लोगों की आय बढ़ती है तो अपनी आय का जो अनुपात वे भोजन पर व्यय करते थे वह घट जायगा और जो अनुपात रोटी पर व्यय करते थे वह और भी घट जायगा। उदाहरणार्थ १९०४ में इंगलैंड की सरकार के श्रमविभाग द्वारा मजदूरों के पारिवारिक बजटों की जो जाँच की गई थी उससे निम्निलिखित परिणाम निकले थे:--

साप्ताहिक आय की श्रेणी (Range)	औसत आय	औसत व्यय		आयका प्रतिशत जो व्यय हुआ	
		भोजन पर	रोटी पर	भोजन पर	रोटी पर
शि०	शि०	शि०	शि०		
२५ के नीचे	२१.४	१४.४	३.०	६७	१४.३
२५ से २९	२७.०	१७.८	३.३	६६	१२.३
३० से ३४	३१.९	२०.८	३.३	६५	१०.३
३५ से ३९	३६.५	२२.३	३.४	६१	९.२
४० और अधिक	५२.०	२९.७	४.३	५७	८.३

लगभग यही बात लगान पर भी लागू होती है। जैसे लंदन के जीवन और श्रम की नवीन जाँच (New Survey of Life and Labour) से पता चला कि पूर्वी लंदन में पहले ४३ शि० औसत साप्ताहिक पारिवारिक आय का २१.४ प्र०श०किराये पर व्यय होता था, पीछे वह घट कर २३० शि० औसत साप्ताहिक आयका ६.१ प्रतिशत हो गया। "मध्यम श्रेणी" के परिवारों की आय में वृद्धि होने से प्रायः उनके भोजन, वस्त्र और निवास पर व्यय की अपेक्षा उपस्कर (Furniture), शिक्षा, यात्रा और मनोरंजन आदि पर अधिक व्यय होता है।

पारिवारिक व्यय की जो अनेक जाँचें हुई हैं उनसे ठीक ठीक निष्कर्ष निकालने में सावधान रहना चाहिये। उदाहरणार्थ यह सत्य नहीं जान पड़ता कि ज्यों ज्यों आय बढ़ती है त्यों त्यों किराये पर व्यय होनेवाले द्रव्य का अनुपात घटता जाता है। कुछ विशेष कोटि की आयवाले (जैसे पूर्वी लंदन में १०० शि० से १५० शि० प्रति सप्ताह तक पानेवाले) आय में वृद्धि होने पर किराये पर पहले ही जितना अथवा पहले से कुछ ही अधिक व्यय करते हैं। वे प्रायः उन्हीं मकानों या कमरों में रहते हैं जिनमें पहले रहते थे। उस कोटि से ऊपर पहुँचने पर लोगों में समाज में उच्च स्थान पाने की आकांक्षा होती है और किराये पर अतिरिक्त आय का अधिकाधिक अनुपात व्यय होने लगता है। परन्तु अन्तिम परिणाम यह हो सकता है कि ज्यों ज्यों आय में वृद्धि होती जाय त्यों त्यों किराये पर व्यय होनेवाले प्रतिशत का क्रमशः ह्रास होता जाय, परन्तु ह्रास की गति समान हो। इसके अतिरिक्त मांस पर प्रति व्यक्ति व्यय में ह्रास का, जो कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) में वर्षों से हो रहा है, आंशिक कारण यह हो सकता है कि आय में क्रमशः वृद्धि हो रही है और कुछ अंशों में लोगों की मांस की ओर से कुछ अरुचि और फल-तरकारियों की ओर बढ़ती हुई रुचि इसका कारण हो सकती है।

फिर भी यह प्राय: निश्चित सा जान पड़ता है कि जब किसी व्यक्ति की आय बढ़ती है तो उसकी प्रवृत्ति सस्ती और घटिया वस्तुओं के स्थान पर, जो अब तक उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं, "उत्तम" (Superior) वस्तुएँ खरीदने की होती है। जैसे भारत में लोग वनस्पति घी के स्थान पर शुद्ध घी का, मोटे चावल के बदले महीन चावल का और धोती कुरते के बदले कोट पेंट का व्यवहार करने लगते ह। या तो वे उन सस्ती और घटिया चीजों पर कम व्यय करने लगते हैं या उनका खरीदना बिलकुल ही बन्द कर देते हैं। चावल, दाल और आटे पर व्यय कम करके वे अधिक हल्की और पौष्टिक वस्तुओं—जैसे दूध, घी, फल, तरकारियाँ, मेवे—आदि पर अधिक व्यय करने लगते हैं। यदि उनकी आय में पर्याप्त वृद्धि होती है तो वे ऐसी वस्तुएँ भी खरीदने लगेंगे जो पहले उनके वित्त के बाहर थीं। जैसे वे मोटरकार खरीद सकते है (जिसका अर्थ यह है कि भविष्य में वे पेट्रोल का उपभोग करने लगेंगे और पहले रेल, ट्रक या लारी से यात्रा करने में जो व्यय करते थे उसकी अपेक्षा कम व्यय करेंगे) या रेडियो लगवा सकते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उनकी रुचि में परिवर्तन हो गया है; बस इसका केवल यही अर्थ है कि अब वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और अच्छी तरह कर सकते हैं।

इस प्रकार वास्तविक आय में वृद्धि होने पर घटिया चीजों की अपेक्षा उत्तम वस्तुओं की, जो पहले विलासिता अथवा अर्द्धविलासिता की सामग्री मानी जाती थीं, माँग अधिक बढ़ने लगती है। किसी व्यक्ति की वास्तविक आय में १ प्रतिशत वृद्धि होने पर किसी वस्तु के लिये उसकी माँग में प्रतिशत वृद्धि को, अथवा माँग की मात्रा में वृद्धि के प्रतिशत को, आय में वृद्धि के प्रतिशत से भाग देने पर जो फल निकलता है उसे कभी कभी उस वस्तु के लिए उस व्यक्ति की "माँग की आय-लोच (Income elasticity of Demand) कहते हैं।

४. जनसंख्या में परिवर्तन

अन्य बातें ज्यों की त्यों रहने पर किसी वस्तु की संपूर्ण माँग में उपभोगी जनसंख्या के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है; परन्तु अन्य बातें ज्यों की त्यों रहें इसकी संभावना कम रहती है।

यदि किसी देश की जनसंख्या आप्रवासियों (Immigrants) के कारण बढ़ती है तो संभव है आप्रवासियों की रुचि अन्य निवासियों से कुछ भिन्न हो। इसलिये उन खाद्य पदार्थों की माँग, जिनको आप्रवासी ही अधिक पसंद करते हैं,—उदाहरणार्थ कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ जिनके वे आदी हो गये है—अन्य वस्तुओं की माँग की अपेक्षा अधिक बढ़ेगी। प्रव्रजन (Migration) के अतिरिक्त जन्म-मृत्यु से भी किसी देश की जनसंख्या में परिवर्तन

होता है। जिस देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है उसमें बूढ़ों की अपेक्षा बच्चों का अनुपात अधिक होगा, जिस देश की जनसंख्या का ह्रास हो रहा है अथवा ह्रास की ओर प्रवृत्ति है उसमें विपरीत परिणाम देखने में आएगा। जैसे ग्रेट ब्रिटेन में १९३७ में लगभग २३ प्रतिशत व्यक्ति १५ वर्ष के नीचे और लगभग १३ प्र० श० व्यक्ति ६० वर्ष के ऊपर के थे। १९६७ में १५ वर्ष के नीचेवाले संभवतः केवल १० प्रतिशत रह जाएँगे और ६० वर्ष के ऊपरवाले २३ प्र० श० हो जाएँगे।। स्पष्ट है कि इस प्रकार के परिवर्तन से बूढ़ों की आवश्यकतावाली वस्तुओं,—जैसे कृत्रिम दाँत, स्नान-कुर्सियाँ (Bath-chairs) छड़ी या बैसाखी—की माँग बढ़ेगी और बच्चों की आवश्यकता वाली वस्तुओ-जैसे खिलौने, बच्चों की गाड़ी (Perambulators) आदि—की माँग घटेगी।

विवाह-योग्य व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि (जो जनसंख्या में परिवर्तन हुये विना भी हो सकती है) होने से मकानों और उपस्करों (Furniture) की माँग बढ़ेगी।

५. संपत्ति के वितरण में परिवर्तन

किसी व्यक्ति की माँग की शक्ति उसकी आय की मात्रा पर और, यदि वह अपनी संपत्ति वेचने या उसे बंधक रखकर अपने व्यय के लिये ऋण लेने को तैयार हो तो, उसकी संपत्ति पर निर्भर रहती है। जो व्यक्ति २००० रु० प्रति वर्ष व्यय करता है वह २०० रु० प्रति वर्ष व्यय करनेवालों की अपेक्षा वाजार पर दसगुना "खिंचाव" (Pull) डालता है क्योंकि सभी के रुपये समान हैं। अतएव यदि कुछ लोग पहले की अपेक्षा अधिक धनी हो जायँ और कुछ कम तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं की माँगों में परिवर्तन होने की संभावना रहती है। क्योंकि इसकी कम संभावना है कि पहले वर्ग के लोग अपने अतिरिक्त व्यय को ठीक उसी प्रकार वितरित करेंगे जिस प्रकार दूसरे वर्ग के लोग पहले किया करते थे। जिन वस्तुओं पर पहले वर्ग के लोग अपना व्यय वढ़ा रहे हैं उनकी माँग बढ़ने की और जिन वस्तुओं पर दूसरे वर्ग के लोग अपना व्यय घटा रहे हैं उनकी माँग घटने की संभावना है।

मान लीजिये कि कोई समाज, धनवानों पर कर लगाकर और निर्धनों को आर्थिक सहायता देकर, अपने सदस्यों में संपत्ति के असम वितरण को कम करता है। तो विशेषतः बहुत धनी वर्ग द्वारा खरीदी जानेवाली वस्तुओं—जैसे मोटरकार, रोएँदार कोट (Mink coats), हीरे, मोती आदि—की माँग घट जायगी। इसी प्रकार बहुत निर्धन वर्ग द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं-जैसे सूती मोजे, सस्ते माँस आदि—की माँग भी घट जायगी। इसके विपरीत जिन वस्तुओं को पहले निर्धन वर्ग अर्द्धविलासिता की वस्तुएँ मानता था उनकी माँग बढ़ जायगी।